डॉ० जगदीश गुप्त
प्रागैतिहासिक
भारतीय
चित्रकला
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली - ७
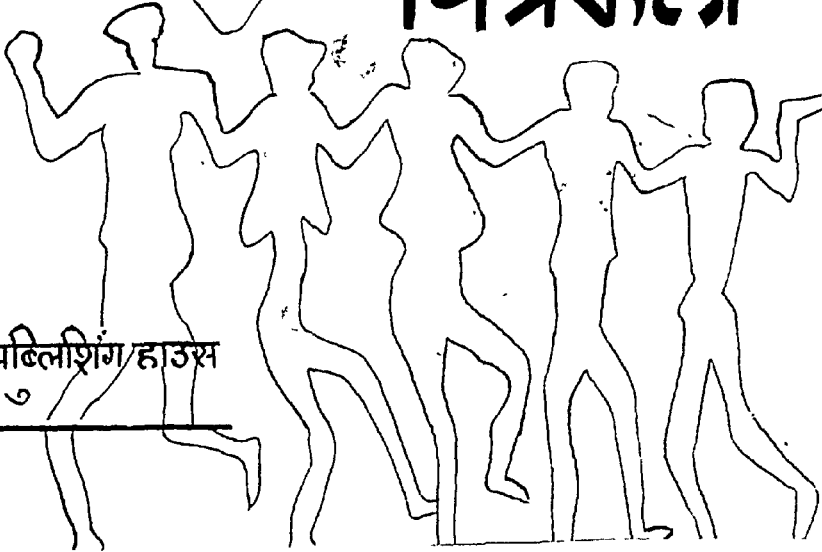
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
'चन्द्रलोक', जवाहरनगर, दिल्ली-७
विक्री-केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली-६
मुद्रक : भारत मुद्रणालय, दिल्ली-३२

Very ancient rock paintings had been discovered in Europe, and yet more, many of which were, held to be very old, had been found in Africa: without doubt it was now the turn of India to be included as a centre of palaeolithic art.

—ले०, डी० एच० गॉर्डन, प्रि० वैं० इं० क०, पृ० ९८

योरोप में अत्यन्त पुरातन शिला-चित्र खोजे जा चुके हैं, उनसे भी अधिक पुराने चित्र अफ़्रीका में पाये गये हैं जिनमें बहुत से तो अतिशय प्राचीन माने गये हैं। निस्संदेह अब भारत की पारी है कि पुरा-पाषाण-कालीन कला के एक केन्द्र के रूप में उसे भी मान्यता दी जाय।

इस किताब पर अगर किसी का हक़ हो सकता है
तो भारती का ही
जिसके साथ की गयी 'पिकनिक' का दिन
मेरे लिये शिला-चित्रों की खोज का पहला दिन सिद्ध हुआ।

अनुक्रम

आ|भा|र

● उन अज्ञात चितेरों के प्रति

—जिनके निर्मित किये हुए शिला-चित्रों ने अप्रतिम रचना-शक्ति और सहज कलात्मक अभिव्यक्ति के विचित्र आकर्षण द्वारा मेरे मनोजगत् को इतने वर्षो तक निरन्तर आपूरित रखते हुए इस कठिन कार्य को पूरा करने की वास्तविक प्रेरणा प्रदान की।

● कॉकबर्न, कार्लाइल, सिल्वेराड तथा डी० एच० गॉर्डन

—भारतीय शिला-चित्रों के विषय में प्राथमिक शोध-कार्य करने एवं उन्हें प्रकाश में लाने के निमित्त।

● पर्सी ब्रॉउन, असितकुमार हालदार, रविशंकर रावल

—भारतीय कला के ऐतिहासिक विकास-क्रम में प्रागैतिहासिक चित्रकला को प्रतिष्ठित करने के पूर्व-प्रयत्न के लिए।

● अमरनाथ दत्त, मनोरंजन घोष

—भारतीय शिला-चित्रों के सम्बन्ध में शोध का आरंभ करने और उन्हें प्रथम बार प्रकाश में लाने के लिए।

● स्टैला क्रैमरिश, डॉ० संकालिया, डॉ० बी० बी० लाल, डॉ० वाई० डी० शर्मा तथा डॉ० राजबली पाण्डेय

—अध्ययन-कक्ष में आकर प्रकाशन के पूर्व कुछ अनुकृतियों का अवलोकन करने तथा महत्वपूर्ण समस्याओं पर सत्परामर्श प्रदान करने के लिए।

● डॉ० रत्नचन्द्र अग्रवाल

—विदेशी चित्रों की भी कुछ अनुकृतियों को सम्मिलित कर लेने के उपादेय एवं समुचित सुझाव के लिए।

● डॉ० मोतीचन्द्र और राय कृष्णदास जी

—निष्ठापूर्वक हिन्दी में मौलिक कला विषयक ग्रंथ लिखने की पूर्व-परम्परा स्थापित करने एवं परोक्ष रीति से उसके संवहन की भावना उत्पन्न करने के लिए।

● डॉ० फ़ादर कामिल बुल्के

—कुछ उपयुक्त शब्दों के चयन में सहायता तथा कार्य की प्रगति के प्रति, सहपाठी के सहज मैत्रीपूर्ण भाव से, सतत जिज्ञासा के लिए।

● फादर रेगो, डॉ० वार्ष्णेय तथा डॉ० हरदेव बाहरी

—जर्मन, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का सही उच्चारण निर्धारित करने में सहयोग देने के लिए।

● रंगनाथन एवं कोटेश्वर राव

—विशेषतः परिशिष्ट भाग में आये हुए भारतीय नामों के वास्तविक उच्चरित रूप से परिचित कराने के लिए।

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, श्यामकुमार पाण्डे, सत्येन् मुकर्जी

—सागर, रायसेन, भोपाल, होशंगाबाद आदि के अनेक छाया-चित्रों तथा अन्य आवश्यक लिखित अलिखित सूचनाओं एवं मैत्रीपूर्ण परामर्श के लिए।

● वि० श्री० वाकणकर

—विदेशी शिला-चित्रों के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त अनुभव द्वारा भारतीय शिला-चित्रों के काल-निर्णय की समस्या के निदान में सहयोग, स्वलिखित अंग्रेजी और फ्रेंच पत्रकों के उदारतापूर्वक प्रेषण तथा चम्बल-घाटी-क्षेत्र के शिलाश्रयों एवं गुफाओं में उत्खनन-कार्य से अवगत कराने और मान-चित्र के दो अंश-विस्तारों के निर्माण में सहायता देने के लिए।

● स्वराजप्रकाश गुप्त

—राष्ट्रीय संग्रहालय के पुस्तकालय से महत्वपूर्ण पुस्तकों के अवलोकन की सुविधा दिलाने, काल-निर्णय के प्रश्न पर विचार-विमर्श करने तथा कुछ नवीन शोध-सूचनाएँ देने और मान-चित्र में स्थान-निर्देश करने में सहायता प्रदान करने के लिए।

● विजयशंकर श्रीवास्तव एवं डॉ० सत्यप्रकाश श्रीवास्तव

—राजस्थान-क्षेत्र की स्वतन्त्र स्थिति के विषय में सुझाव देने, जयपुर संग्रहालय से भरतपुर के शिला-चित्रों का छाया-चित्रों सहित विवरण भिजवाने के लिए।

● बालचन्द्र जैन, प्रसन्न भाई घगट

—मध्यप्रदेश के शिला-चित्रों विषयक परामर्श एवं पत्राचार के लिए।

● प्रो० गोवर्धनराय शर्मा एवं डॉ० राधाकान्त वर्मा

—मिर्जापुर-क्षेत्र के शिला-चित्रों से सम्बन्धित समस्याओं के विषय में परामर्श एवं निजी छाया-चित्र प्रदान करने के लिए।

● डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय, रामकृष्ण द्विवेदी

—महत्वपूर्ण पुस्तकों की प्राप्ति एवं कुछ लिखित अंशों को भाषांतरित करने के निमित्त।

● अशोक प्रधान

—भारतीय पुरातत्व-विभाग से छाया-चित्रों की प्राप्ति का समर्थ माध्यम बनने के हेतु।

● भारतीय पुरातत्व-विभाग

—अनेक छाया-चित्रों की प्राप्ति एवं प्रकाशन की अनुमति के लिए।

● यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, पब्लिक लाइब्रेरी, प्रयाग संग्रहालय तथा प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

—अनेक दुष्प्राप्य पुस्तकों के उपयोग के लिए।

- रामनारायण उपाध्याय

  —प्रागैतिहासिक कला विषयक कतिपय लेखों की सूचना एवं लोक-कला गत साम्य-निर्देशन के लिए।

- उदयशंकर शास्त्री

  —मनोरंजन घोष के मोनोग्राफ के लिए।

- डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री, कुंजविहारी अग्रवाल

  —अमरनाथ दत्त की अलभ्य पुस्तक की अप्रत्याशित प्राप्ति के लिए।

- चन्द्रभूषणधर द्विवेदी

  —मिर्ज़ापुर के कतिपय छाया-चित्रों की उपलब्धि के निमित्त।

- प्रयागनारायण त्रिपाठी

  —अन्तिम अंश में आये अँग्रेजी उद्धरणों के परिष्करण तथा भाषा-विषयक उपयोगी सम्मति देने के लिये।

- साही, रघुवंश, लक्ष्मीकान्त, विपिन और रामस्वरूप

  —प्रश्नों को उभारकर मँझधार में अकेला छोड़ देने के लिए।

- मूलशंकर शर्मा और नरेन्द्रदेव द्विवेदी

  —क्रमश: मिर्ज़ापुर बाँदा क्षेत्र से सम्बद्ध उपयोगी सूचनाओं के लिए।

- प्रेमकान्त टंडन

  —सहायक ग्रंथों की सूची तथा पारिभाषिक शब्दावली को प्रस्तुत करने में सहायक होने के लिए।

- अशोककुमार रस्तोगी

  —मिर्ज़ापुर का मान-चित्र प्राप्त करने के लिए।

- विद्याधर और क्षेत्रपाल

  —निर्देशानुसार नामानुक्रमणिकाओं की प्रस्तुति और पुनर्व्यवस्था के लिए।

- अनुराग गुप्त

  —विदेशी चित्रों की यथा-निर्देश अनुकृति के लिए।

- माधव जी और विचित्र जी

  —ब्लाकों के निर्माण एवं मुद्रण तथा प्रकाशन-क्रम में पाण्डुलिपि और चित्रों को सुरक्षित रखने के लिए।

- कन्हैयालाल मलिक

  —सद्भावपूर्वक प्रकाशन का भार उठाने के लिए।

- वाचस्पति पाठक

  —ग्रंथ पूरा होने से पूर्व ही प्रकाशन की व्यवस्था करने के निमित्त।

- डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

  —हिन्दी में गंभीर कार्य करने की साशीष निष्ठा उत्पन्न करने के लिए।

संक्षेप एवं संकेताक्षर

ग्रंथपरक

अ० हे० आ०	:	O H A OUR HERITAGE IN ART
इं० आ०	:	IND ARCH INDIAN ARCHAEOLOGY
इं० आ० ले०	:	I A L INDIAN ART AND LETTERS
ज० ए० सो० बं०	:	J A S B JOURNAL OF ASIATIC SOCIETY OF BENGAL
ज० बि० उ० रि० सो०	:	J B O R S THE JOURNAL OF BIHAR AND ORISSA RESEARCH SOCIETY
ज० रा० ए० सो० बं०	:	J R A S B JOURNAL OF THE ROYAL ASIATIC SOCIETY OF BENGAL
दि० ओ० स्टो० ए०	:	O S A THE OLD STONE AGE
प्रि० के० पे०	:	P C P PREHISTORIC CAVE PAINTING
प्रि० पे०	:	P P PREHISTORIC PAINTING
प्रि० प्रो० इं० पा०	:	P P I P PREHISTORY AND PROTOHISTORY IN INDIA AND PAKISTAN
प्रि० बै० इं० क०	:	P B I C PREHISTORIC BACKGROUND OF INDIAN CULTURE
प्रि० रे० रॉ० सिं०	:	P H R & R P S A FEW PREHISTORIC RELICS AND THE ROCK PAINTINGS OF THE SINGANPUR RAIGARH STATE (C. P., INDIA)

प्रो० ए० सो० बं० : P A S B
PROCEEDINGS OF ASIATIC SOCIETY OF BENGAL

फो० हु० सें० के० ग्रा० : F H C C A
FOUR HUNDRED CENTURIES OF CAVE ART

मे० ग्रॉ० स० इं० : M A S I
MEMOIRS OF ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

मानोग्राफ : (A MONOGRAPH) *by* RAI SAHIB MANORANJAN GHOSH, ROCK PAINTINGS AND OTHER ANTIQUITIES OF PREHISTORIC AND LATER TIMES, M A S I, NO. 24, 1932

सा० क० : Sc. & C.
SCIENCE AND CULTURE, VOL. V

व्यक्तिपरक तथा अन्य

उ० प्र० : उत्तर प्रदेश
खं० : खंड
गॉर्डन : डी० एच० गॉर्डन
घोष : मनोरंजन घोष
चि० : चित्र
द्र० : द्रष्टव्य
नं० : नंबर, NO.
प्र० प्र० : प्रथम वार प्रकाशित
पाण्डे : श्यामकुमार पाण्डे
फ० : फलक
फि० : फिगर, Figure, Fig.
म० प्र० : मध्यप्रदेश
मुकर्जी : सत्येन मुकर्जी
मू० अनु० : मूल से अनुकृत
लिखनिया—१ : लिखनिया जो छातु ग्राम के समीप है
लिखनिया—२ : लिखनिया जो राजपुर के समीप है
वाकणकर : वि० श्री० वाकणकर
वॉ० : वॉल्यूम, Volume
सं० : संख्या

पारिभाषिक शब्द

कालपरक—

AGE	:	काल, युग
BRONZE AGE	:	काँस्य-युग
CHALCOLITHIC AGE	:	ताम्र-प्रस्तर-युग, धातु-युग
ICE AGE	:	हिम-युग
IRON AGE	:	लौह-युग
MEGALITHIC AGE	:	महापाषाण-काल
MESOLITHIC AGE	:	मध्य-प्रस्तर-युग, संधि-पाषाण-काल
NEOLITHIC AGE	:	नवीन-प्रस्तर-युग, नव पाषाण-काल
PALAEOLITHIC AGE	:	पुरा पाषाण-काल, प्राचीन प्रस्तर-युग
PERIOD	:	काल-खंड
PHASE	:	कालावधि
PREHISTORY	:	प्रागितिहास
PREHISTORIC	:	प्रागैतिहासिक
PROTOHISTORY	·	आद्येतिहास
PROTOHISTORIC	:	आद्यैतिहासिक
STONE AGE	:	प्रस्तर-युग, पाषाण-युग

अन्य—

ARCHAEO MAGNETISM	:	पुरा चुम्बकीयता
BISON	:	महामहिष
EXCAVATION	:	उत्खनन,खुदाई
EXTINCT	:	निःशेष
HOMO SAPIENS	:	मेधावी मानव
INNER ROOF OF A CAVE	:	गुफा-छत
LAYERS OF PAINTING	·	चित्रण-स्तर
MAGIC	:	यातु (जादू), अभिचार, माया

MAGICIAN : यातुधान, अभिचारी, मायावी
MEGALITHS : महापाषाण
MICROLITHS : लघुपाषाणास्त्र
OXIDATION : ओप उत्पन्न करने की आतंचन प्रक्रिया
OXIDE OF IRON : लोहे का (रासायनिक) अंश
PATINA,PATINATION : ओप
ROCK-SHELTER : शिलाश्रय
THERMOLUMINISCENCE : प्रदाह परक विधि

कलापरक—

BRUISING : कर्षण-चित्र
CARVING : तक्षण-चित्र
COPY : अनुकृति, प्रतिरूप
DECORATION : अलंकरण
DECORATIVE STYLE : अलंकृत शैली, अलंकरण शैली
DESIGN : आकल्पन
DETAIL : अंश-विस्तार
DIAGRAM : आरेख
DRAWING : अंकन
ENGRAVING : उत्कीर्ण-चित्र
FIGURE : आकृति
FILLING : पूरण, आपूरण
FLAT-WASH STYLE (Completely filled) : पूरक शैली
FLAT-WASH STYLE (Partly filled) : अर्धपूरक शैली
FORM : रूप
FRONT VIEW : सम्मुख दृष्टि
GEOMETRICAL : ज्यामितिक
HORIZONTAL : क्षैतिज
LIFE SIZE : जीवाकार, समाकार, सम-परिमाण
MASK : मुखाच्छादन, मुखच्छद, छद्‌ममुख, मुखावरण, मुखौटा, चेहरा
OUTLINE DRAWING (Copy) : बाह्यरेखानुकृति

PHOTOGRAPH : छाया-चित्र
ROCK-PAINTING : शिला-चित्र
SCHEMATIC : योजनाबद्ध, योजनापरक
SEAL : अभिमुद्रा, ठप्पा
SHAPE : आकार
SIDE-VIEW : पार्श्व-दृष्टि
SILHOUTTE : छायाभास, तिमिर-चित्र
SKY-VIEW : ऊर्ध्व-दृष्टि
STENCIL : साँझी, निकृन्त, कटावदार आधार
STENCIL DRAWING : क्षेपांकन
STRAIGHT LINE : सरल रेखा, सीधी रेखा, ऋजु रेखा
STYLIZED : शैलीबद्ध
SUPERIMPOSED : आक्षिप्त
SUPERIMPOSITION : आक्षेपण
SUPER-POSITION STRATA : आक्षेपण-स्तर
SYMMETRY : सम्मात्रा, सममिति
TRACING : अनुरेखन
VIEW : दृष्टि, आलोकन

प्रारम्भ से पहले

प्रागैतिहासिक काल के अस्थि-पंजरों, पाषाण-अस्त्रों तथा अन्यान्य प्रकार के विविध अवशेषों से मनुष्य के अस्तित्व की प्राचीनता का ही बोध होता है किन्तु उसकी अन्तश्चेतना के प्रवाह का परिचय एकमात्र कलाकृतियों से मिलता है; और मानव के सांस्कृतिक इतिहास में उसका यही मानसिक पक्ष विशेष महत्व रखता है। शिला-चित्रों से न केवल प्राचीनतम मनुष्य के स्वभाव, जीवन-संघर्ष और उसकी बाह्य परिस्थितियों के संघात का ज्ञान प्राप्त होता है वरन् उसकी चेतना में निहित सृजनशीलता, मौलिक उद्भावना-शक्ति तथा व्यवस्था की सजगता से युक्त सौन्दर्य-बोध का भी प्रमाण उपलब्ध होता है। कला के प्राचीनतम उदाहरण होने तथा उसकी सुदीर्घ परम्परा के स्रोत का स्वरूप प्रकट करने के कारण उनके द्वारा कला की जटिल अन्तःप्रकृति तथा तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यों एवं तत्त्वों को आकलित करने का निश्चयात्मक आधार मिल जाता है। मानव के मनोविकास में कला-चेतना की अनिवार्य स्थिति एवं योगदान अनुपेक्षणीय है। उससे उसके मनः प्रवाह की एकात्मता और अखण्डता परिलक्षित होती है। मनुष्य-मनुष्य के बीच का सम्बन्ध तथा उसको संभव बनाने वाला सामाजिक परिवेश कला में किन-किन रूपों में प्रतिफलित होता है, इसका भी बहुत-कुछ ज्ञान प्रागैतिहासिक चित्रों के विधिवत् अनुशीलन से प्राप्त किया जा सकता है और अन्यत्र किया भी गया है। सामाजिक विकास की वर्तमान स्थिति तक आते-आते मानव-मन के जो बहुत से आदिम तत्त्व तिरोहित हो गये हैं, प्रागैतिहासिक चित्रकला उनकी ओर सीधा ध्यान आकृष्ट करती है। इस प्रकार मानवीय चेतना को एक अत्यन्त विस्तृत संदर्भ प्राप्त होता है और उसके परिवर्तन, रूपान्तरण एवं क्रमिक उन्नयन के विविध स्तर, जिनका ज्ञान किसी अन्य उपाय से संभव नहीं है, स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। उनसे परिचित होने पर मन में समृद्धि, पूर्णता और आत्म-प्रसार का परितोषकर बोध होता है। आखेट-दृश्य विरोधी पाशविक शक्तियों पर मनुष्य की विजय का जीवन्त उद्घोष करते हैं तथा विषम परिस्थितियों पर अपने मनोबल और बुद्धि-बल से अधिकार प्राप्त करते हुए अधिकाधिक स्वतन्त्र होने की केन्द्रीय प्रवृत्ति को कलात्मक रीति से व्यक्त करते हैं। शिला-चित्र मनुष्य के स्वयं पशुपति बनने की गौरवपूर्ण साक्षी प्रस्तुत करते हैं। वे उसके सांस्कृतिक अभियान के प्रथम आलेख हैं जिनकी प्रामाणिकता अब संदिग्ध नहीं रही है। लेखन के पूर्व आलेखन ही संस्कृति का मुख्य संवाहक था।

कला का महत्त्व

मानव-इतिहास के कुछ विशेषज्ञों में एक धारणा यह भी प्रचलित रही है कि कला सभ्यता के समग्र विकास में केवल अलंकरण के स्थान पर है अतएव संस्कृति के प्राथमिक आधार रूप में उसे दर्शन, धर्म और विज्ञान जैसी महत्ता प्राप्त नहीं होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में 'प्रागैतिहासिकता और शिला-चित्र'

शीर्षक से आगे पृ० १०-१२ पर जो सामग्री दी गयी है वह द्रष्टव्य है। उसमें इसके विपरीत मत का उल्लेख भी किया गया है जिसके अनुसार कला का स्थान मानव-विकास में दर्शन आदि से किसी भी प्रकार कम महत्त्व नही रखता। कला का प्रभाव विश्वजनीन होता है। इस दृष्टि से वह भाषा के सीमित माध्यम से व्यक्त होने वाले सभी प्रकार के साहित्य से ऊपर उठी हुई लगती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कला में वह अद्भुत मायावी प्रभाव लक्षित किया जो अपने सम्पर्क में आनेवाली सभी वस्तुओं को अविनश्वर यथार्थ में परिणत कर देता है और उन्हे हमारी व्यक्तिगत चेतना से सम्बद्ध कर देता है। कला के द्वारा प्रभविष्णुता और स्थायित्व में संवृद्धि, काल्पनिक न होकर प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। शिला-चित्रों में रूपायित अनुभव अनेक सहस्राब्दियों के बीत जाने पर भी निर्जीव नही हुआ और न आकृतियों का कलात्मक प्रभाव ही विनष्ट हुआ। कुछ सीमित अर्थ में ही सही, पर अनुभवों को प्रभावपूर्ण कालजयी रूप देने का श्रेय कला को ही प्रदान किया जा सकता है।

कला के सामाजिक पक्ष का विशेष अनुशीलन करके राधाकमल मुकर्जी भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कला में अज्ञात रूप से गम्भीर प्रभाव डालने की विचित्र शक्ति है। इस प्रभाव-ग्रहण के लिए 'कला या उसके तन्त्र के प्रति सजग होने की आवश्यकता नहीं है।'[1] सभ्यता द्वारा निर्मित एवं पोषित मूल्यों का देश-काल की व्याप्ति में संवहन कला का ही कार्य है। अन्य संस्थान और परम्पराएँ, जिन्हें मनुष्य ने बनाया है, अपना प्रभाव बाहर से डालती है किन्तु कला भीतर से रूपान्तरित करती है। कला, सामाजिक अनुभव और सांस्कृतिक रिक्थ के साथ, मनुष्य की गहनतम प्रवृत्तियों तथा भावनाओं के संश्लेषण एवं समाधान से युक्त स्वरूप के प्रेषण की अभिव्यक्ति है।[2] कला विषयक यह धारणा लेखक द्वारा एक ओर फ्रायड तथा उनके अनुवर्तियों की अतिशय व्यक्तिवादी मनोग्रंथिमूलक व्याख्याओं की सीमा प्रदर्शित करते हुए तथा दूसरी ओर मार्क्स की अत्यन्त वस्तुवादी, बहिर्मुखी, निर्वैयक्तिक व्याख्या की आलोचना करते हुए व्यक्त की गयी है। इसमें मध्यमार्ग के अनुसरण की प्रवृत्ति है जो उचित ही प्रतीत होती है। मुल्कराज आनन्द ने मार्क्सवाद की ओर कुछ अधिक झुकाव रखते हुए कला के मूल्यों का निर्धारण किया है।

क्रोचे, कॉलिंगवुड और हर्बर्ट रीड जैसे पाश्चात्य कला-मर्मज्ञों ने कला की प्रकृति का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करके उसके महत्त्व को अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया है तथा सौन्दर्य-बोध की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिपादित की है। उसे मानव की किसी अन्य प्रवृत्ति या बोध-वृत्ति से स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता।

---

1. Art can profoundly affect man even without his being conscious of it or of its mechanism.

—दि सोशल फंक्शन ऑफ आर्ट, प्रिफेस, पृ० (i)

2. Art is the vehicle of abiding values that civilization creates and nurtures in different countries and epochs. Man's other institutions and traditions work from without; art transforms from within. Art is the expression of communications of man's deepest instincts and emotions reconciled and integrated with his social experience aud cultural heritage.

—वही

क्रोचे के अनुसार प्रतिमामूलक ज्ञान (imagination) और प्रत्ययमूलक ज्ञान (Conception) के बीच विवेक करने के बाद ही कला और सौन्दर्य-बोध की समस्याओं पर विचार किया जा सकता है। इसी से 'प्रातिभज्ञान' (intuition) की स्वतन्त्र सत्ता प्रमाणित होती है जो समस्त कला-व्यापार के मूल में है।[1] कॉलिंगवुड ने तो कला को चेतन की उस आधारभूत अवस्था से सम्बद्ध किया है जिससे सभी प्रकार के अनुभव का उदय होता है।[2] कला का पक्ष लेते हुए हर्बर्ट रीड ने कहा है कि उसके द्वारा वस्तुजगत् की जड़ता को अतिक्रमित करता हुआ संसार का एक ऐसा समग्र स्वरूप भी है जिस तक केवल प्रातिभज्ञान और जैविक प्रवृत्ति के द्वारा पहुँचा जा सकता है। इन दुरूह एवं सूक्ष्म विधियों का विकास ही कला का उद्देश्य रहा है। जब तक हम कला में संग्रथित ज्ञान की न केवल महत्ता अपितु श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि हम मनुष्यता या उसके इतिहास को समझने की क्षमता के निकट भी पहुँच सके हैं।[3] अन्तर्जगत् से सम्बद्ध कला के महत्त्व को पाश्चात्य दृष्टि से भली-भाँति परिचित होकर भी आनन्दकुमार स्वामी ने भारतीय दृष्टि से ही प्रस्तुत करना श्रेयस्कर समझा। उनके मत से किसी वस्तु का सच्चा ज्ञान मात्र उसके व्यावहारिक अवलोकन, प्रतिफलित निवेशन अथवा प्रत्यक्ष-बोध द्वारा नहीं होता; वह तभी होता है जब ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य इस प्रकार एकीभूत हो सकें कि उनका विभेद ही अतिक्रमित हो जाय, 'अनयोरद्वैत' स्थापित हो जाय।[4] कला की रचना-प्रक्रिया और आस्वाद-प्रक्रिया दोनों में एकात्म होने की विशेष स्थिति पर भारतीय चिंतकों ने विशेष बल दिया है। उसमें तन्मयता प्राय: अनिवार्य मानी गयी है और उसकी चरम अवस्था को आनन्द की उच्चतम अवस्था कहा गया है। कला के माध्यम से परमानन्द की उपलब्धि को शैवमत के द्वारा आदर्श के रूप में स्थापित किया गया। मैं नहीं समझता कि कला के पक्ष को उभारने एवं उसकी महत्ता को व्यक्त करने के लिए इससे अधिक कुछ और कहने की आवश्यकता है। पूर्वोक्त अनेक स्थापनाओं के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है परन्तु कला की

---

1. ऐस्थेटिक, अध्याय प्रथम एवं द्वितीय, क्रमश: पृ० ३ और १२।
2. Art is the foundation, the soil, the womb and night of the spirit, all experience issues forth from it and rests upon it...Art is the sleep of the soul.

   —स्पेकुलम मेन्टिस, पृ० ५६
3. ...beyond these objective facts, is a whole aspect of the world which is only accessiseble to instinct and intuition. The development of these obscurer modes of apprehension has been the purpose of art : and we are nowhere near an under-standing of mankind and of the history of mankind until we admit the significance and indeed the superiority of the knowledge embodied in art.

   —आर्ट ऐण्ड सोसाइटी, पृ० xviii
4. True knowledge of an object is not obtained by merely empirical observation or reflex registration (pratyaksa), but only when the knower and the known, seer and the seen, me in an act transcending distinction (anayoradvaita).

   —दि ट्रान्सफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट, पृ० ६

महत्ता उनके द्वारा एक स्वर से प्रमाणित होती है। कला की भाषा अनुवाद-निरपेक्ष विश्वजनीन भाषा है जिसके समक्ष देश और काल की सीमाएँ तिरोहित हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न देश भले ही अपनी कलाकृतियों को क्षेत्र-बद्ध समझें, परन्तु वस्तुतः उन पर मानव मात्र का अधिकार है।

योरोप की प्रागैतिहासिक चित्रकला के संदर्भ में हर्बर्ट रीड का यह कथन भी यहाँ उल्लेखनीय है कि उसकी विशिष्ट व्यावर्तक प्रकृति ने कला के उद्गम से सम्बद्ध उन सारे सिद्धान्तों को एक ही आघात में ध्वस्त कर दिया जो कला की क्रीडापरक या अतिरिक्त ऊर्जापरक व्याख्या करते थे।[1] इसमें संदेह नहीं कि शिला-चित्रों की उपलब्धि ने कला के प्रति मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्त की गयी धारणाओं में आमूल परिवर्तन कर दिया है और गम्भीर कला-चिंतकों को नये सिरे से सोचने पर विवश किया है। मैक्स वर्वोर्न (Max Verworn) ने यह स्थापना प्रस्तुत की कि प्रत्ययमूलक ज्ञान के आविर्भाव से पूर्व मनुष्य में प्राकृतिक-रूपात्मक बिम्बों (Eidetic images) को रूपायित करने की एक नैसर्गिक क्षमता थी। सभी योजनाबद्ध और ज्यामितिक कला (Schematic and geometrical art) इस मूल-शक्ति का अपकर्ष मात्र है। कुछ ऐसी ही धारणा व्यक्त करते हुए शेल्डन चीने ने अपने विश्वकला के इतिहास के प्रथम अध्याय में प्रागैतिहासिक आदिम कलाकारों को संसार के बाल-कलाकार (Child Artist) और उस समय की कला-स्थिति को 'कला का बालपन' (the childhood of art) कहा है तथा उन रचनाकारों को ईश्वर के अधिक निकट बताया है।[2] लास्को की योजनाबद्ध आकृतियों के द्वारा यह विचार भी आधार रहित सिद्ध हो जाता है। भारतीय शिला-चित्रों में यदि उस प्रकार का यथार्थ रूपांकन नहीं मिलता, जैसा योरोपीय चित्रों में प्राप्त होता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यहाँ की समस्त चित्रकला अपकर्ष की स्थितियों से सम्बद्ध है। जैसे यथार्थ रूपांकन की ओर विशेष झुकाव योरोपीय मानस की एक विशेषता मानी जा सकती है, उसी प्रकार लयात्मकता को रूपांकन में समन्वित करने की अदम्य प्रवृत्ति भारतीय मानस की मुख्य विशेषता कही जा सकती है।

कला के अप्रतिम वैभव से सम्पन्न, किन्तु वर्तमान युग में अनेक अवांछित प्रभावों से आक्रान्त इस देश में कला की गौरवमयी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए यह अनिवार्य है कि अपनी परम्परा के वास्तविक रूप की खोज की जाय और उसमें निहित सौन्दर्य-बोध के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाय। परमुखापेक्षिता, अवांछित प्रभाव-ग्रहण तथा पिष्टपेषण से मुक्ति पाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है।

---

1. This exclusive character of prehistoric art seems to me to destroy at one blow all those theories of the origin of art which are based on the play hypothesis or surplus energy hypothesis.

—आर्ट ऐण्ड दि इवोल्यूशन ऑफ मैन, पृ० १७

2. Primitive art, in the right sense, is of that golden time when the soul is near the Great Source, when an hormonious order is devined in nature, when the shaking hands obey an inner feeling of rhythmic progression and cosmic rightness.

—ए वर्ल्ड हिस्ट्री ऑफ आर्ट, पृ० १०५

इतिहास और कला

प्रागैतिहासिक विशेषण लगाने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि कला को काल की सीमा में बाँधकर देखा जा रहा है। जीवन-विकास, विषयवस्तु और रचना-काल की दृष्टि से इसका औचित्य सहज ही समझाया जा सकता है, परन्तु यह प्रश्न गंभीर रूप से उठाया गया है कि ऐसा कहना तत्वत: कहाँ तक उचित है। एक ओर मैक्स राफायल (Max.Raphael) की उद्घोषणा है कि कला का वस्तुत: कोई इतिहास नहीं होता। उसका तो केवल सिद्धान्त हो सकता है, जो मूलत: कलात्मक सृजन का सिद्धान्त है।[1] दूसरी ओर कला और संस्कृति की समस्याओं पर विचार करने वाले बर्नार्ड एस० मायर्स (Bernard S. Myers) की स्पष्ट धारणा है कि अन्य विषयों की तरह ही कला का भी अपना इतिहास होता है, अत: उस पर प्रश्न-चिह्न अंकित नहीं किया जा सकता।[2] मुझे लगता है कि जिस दृष्टि से राफायल की स्थापना सही है वह संभवत: प्रभाव की दृष्टि है। रचना-काल की दृष्टि से कला का इतिहास लिखना सामान्य बात है पर यदि प्रभाव के आधार पर किसी कलाकृति को युग विशेष की सीमा में बाँधने की चेष्टा की जाय तो वह नितान्त असंभव है। वास्तविक कलाकृति का यह गुण ही है कि वह कालजयी होकर अपने युग से ऊपर उठ जाय। आने वाले प्रत्येक युग का उस पर अधिकार हो। माना कि वर्तमान युग की कला को अतीत के अनुभव का विषय नहीं बनाया जा सकता, पर भविष्य के द्वार तो उसके लिए खुले ही रहते हैं। एक विशेष क्रम में उद्भूत होने पर भी कला के प्रभाव को काल की सीमा में बाँधना संभव नहीं है। मायर्स ने भी यह अनुभव किया है कि कला के इतिहास होने का यह अर्थ नहीं है कि हम युगों के पार इस सुवर्ण-मार्ग से परे कुछ देखें ही नहीं।[3]

राफायल का यह भी कहना है कि आधुनिक पुरातत्व-विद्या पाषाण-कालीन विचित्र आकृतियों और प्रतीकों की व्याख्या करने में सफल नहीं हो सकती है जिसका कारण शुद्ध सामग्रीगत कठिनाई है। किन्तु पाषाणकाल की कला का इतिहास लिखने में आधुनिक पुरातत्व-विद्या की जो असमर्थता है उसका कारण वह विसंगति है जो कला के इतिहास की मूल धारणा को व्यक्त करने वाली शब्दावली के अन्तर्विरोध का परिणाम है। कलात्मक दृश्य रूपाकारों का वास्तव में कोई इतिहास नहीं होता। कला कोई ऐतिहासिक क्रिया नहीं है, वह तो सृजनात्मक क्रिया है।[4] कुल मिलाकर राफायल यही कहना चाहते हैं कि

---

1. Art as such has no history, there is only a theory of art which is the theory of artistic creation.

—प्रिहिस्टॉरिक केव पेन्टिंग्स, पृ० १७

2. There is no question that art has a history of its own like any other discipline.

—आर्ट ऐण्ड सिविलाइज़ेशन, प्रिफेस, पृ० viii

3. ...but the fact that art has its own history does not mean, that we do not look beyond this golden path through the ages.

—वही, पृ० ix

4. The modern archaeology is unable sufficiently to explain the paleolithic signs and fantastic figures, the reason for it is a purely material difficulty, but the

कला अपनी रचनात्मक प्रकृति में काल-निरपेक्ष होती है। दार्शनिक स्तर पर यह बात इसलिए सही लगती है कि जो जीवन कलाकृतियों में अवतरित एवं प्रतिबिम्बित होता है, वही तात्विक दृष्टि से कालातीत है। भारतीय दर्शन में शुद्ध चैतन्य को देश-काल से अनवच्छिन्न घोषित किया ही गया है। परन्तु जैसा मैंने कहा है कि यह कालातीत होने की स्थिति अनुभव और प्रभाव के आयाम से सम्बन्ध रखती है। क्रिया का होना काल-निरपेक्ष नहीं हो सकता। सूक्ष्मता से देखा जाय तो काल की धारणा मूलतः क्रिया से ही अनुस्यूत है। दिक् 'स्थिति' सूचक प्रत्यय है और काल 'गति' सूचक। भारतीय मनीषियों ने देश-काल को इसी रूप में ग्रहण किया है। सारा विश्व-प्रपंच स्थिति और गति का ही विचित्र संघात है। ऐसी दशा में मेरे विचार से इस पर बहुत अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है कि कला का इतिहास हो ही नहीं सकता। सच बात तो यह है कि प्रत्येक मौलिक कलाकृति का निर्माण एक घटना है। जिस अर्थ में मनुष्य का, उसके जीवन-विकास का इतिहास संभव है, उसी अर्थ में और उसी मे अनुशासित होकर कला का इतिहास भी लिखा जा सकता है, लिखा जाता है। तथापि जिस तात्विक बात की ओर राफायल ने ध्यान आकृष्ट किया, वह महत्त्वपूर्ण है।

इतिहास अन्ततः ऐसी पुनर्रचनात्मक कल्पना की सृष्टि है जो वर्तमान समय में उपलब्ध तथ्यों को एक पूर्वापर क्रम में प्रत्यभिज्ञान का सहारा लेकर वर्तमान युग के व्यक्तियों द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जाता है। इस दृष्टि से वह वर्तमान का ही अतीत में प्रक्षेपण है। अवर्तमान या अतीत के परिकल्पन का आधार अनिवार्य रूप से वर्तमान में ही निहित होता है। अनेक सहस्राब्दियों की प्राचीनता द्योतित करनेवाले चित्र आज की वास्तविकता के अनुपेक्षणीय अंग हैं, इसीलिए उनके आधार पर अतीत के पुनर्गठन का प्रश्न उपस्थित होता है। जब तक वे अस्तित्ववान् होते हुए भी हमारे प्रत्यक्ष-बोध का विषय नहीं बने, तब तक उनकी सत्ता उपेक्षित रही। आज जब मानव-सामर्थ्य से अन्तरिक्ष के ग्रह-पिंडों का संस्पर्श किया जा रहा है, पृथ्वी पर हं उपलब्ध मानवीय कृतित्व उपेक्षा की वस्तु बना रहे, यह संभव नहीं है। मेरी दृष्टि में प्रागैतिहासिक य ऐतिहासिक तथ्यों का अन्वेषण एवं आकलन अतीतोन्मुखी होने का द्योतक न होकर वर्तमान के प्रति अधिक सचेत होने का प्रमाण है। उपलब्ध सामग्री के स्वरूप-बोध, क्रम-निर्धारण, वर्गीकरण, विश्लेषण तथा सह-संयोजन की वैज्ञानिक पद्धति से समन्वित होकर इतिहास आज के युग-बोध का विशिष्ट अंग बन गया है। कला के संदर्भ में उसे उस सौन्दर्य-बोध से भी जोड़ना पड़ता है जिसकी महत्ता वर्तमान वैज्ञानिक युग में कुछ कम होती जा रही है, किन्तु कम होना चाहिए नहीं। इसकी सजगता लेखन-क्रम में बराबर बनी रही है। प्रागैतिहासिकता के कई अर्थ संभव हैं जिनकी ओर ग्रंथ के आरम्भ में दृष्टिपात किया गया है। किन्तु कला-दृष्टि प्रधान होने के कारण पुरातत्व और इतिहास की समस्याओं को सामान्य रूप से ही प्रस्तुत किया जा सका है, अतः यहाँ उनकी चर्चा करना अनावश्यक है। प्रागैतिहासिक चित्रों का अध्ययन न तो है, और न कभी सुनिश्चित विज्ञान हो

inability of modern archaeology to write a history of palaeolithic art results from the absurdity, the contradiction in terms implied in the very notion of art history......The truth is that they (visible forms) have no history of their own. Art as such is not a historic act, it is a creative act.

—वही, पृ० १७

सकता है, ऐसा अभिमत ऐण्डर्सन ने पहले ही प्रकट कर दिया है।[1] यद्यपि हम आज ऐण्डर्सन की मनः स्थिति से बहुत आगे बढ़ आये हैं परन्तु यह अब भी नहीं कहा जा सकता है कि उनकी बात सही नहीं है।

इतिहास हो या प्रागितिहास, उसमें काल-निर्णय की समस्या इसलिए अत्यन्त प्रमुख हो उठती है कि उसके साथ मूल्य का प्रश्न जुड़ा रहता है। अधिक प्राचीन होने का अर्थ है अधिक मूल्यवान् होना। कला जिस मूल्य-बोध से परिचालित होती है वह इससे भिन्न है। अधिक मूल्यवान् होने का अर्थ है अधिक प्रभावोत्पादक होना। सौन्दर्य-बोध पर आधारित प्रभविष्णुता ही कलागत मूल्यांकन का एकमात्र आधार है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि 'प्राचीनता' और 'सुन्दर' का आधार लेकर चलनेवाली 'इतिहास' और 'कला' की दृष्टियों में कहीं-कहीं संघर्ष भी उपस्थित हो या वे एक-दूसरे को कहीं स्पर्श ही न करें। राफायल ने जो कुछ कला और इतिहास के विषय में कहा है वह दूसरी संभावना को सार्वकालिक वास्तविकता मानकर ही समझा जा सकता है। मुझे दोनों मूल्य-दृष्टियाँ कुछ बिन्दुओं पर मिलती हुई दिखायी देती हैं। विश्व-व्यापी स्तर पर कहा जा सकता है कि कुछ शिला-चित्र मानवीय भावनाओं की प्राचीनतम ही नहीं, सुन्दरतम अभिव्यक्ति भी हैं और इस रूप में वे मनुष्य-मात्र की अतुलनीय सम्पत्ति हैं।

प्रागैतिहासिक चित्र और आधुनिक कला

देश-विदेश के जितने भी कला-विशेषज्ञों ने प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों के कलात्मक स्वरूप का अनुशीलन किया है उनमें से अनेक का ध्यान उसमें और आधुनिक चित्रकला के रूप-विधान में लक्षित आश्चर्यजनक साम्य की ओर गया है। अन्वेषकों ने भी बहुधा इस ओर निर्देश किया है। यहां इस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना तो संभव नहीं है परन्तु दो-एक उदाहरण अवश्य दिये जा सकते हैं। शेल्डन चीनी ने विश्व-कला के पूर्वोल्लिखित इतिहास में ही लिखा है कि अब गुहावासी मानव द्वारा बनाये गये चित्र सबसे रचनात्मक अर्थ में आधुनिक निर्णीत किये जा रहे हैं।[2] 'प्रिमिटिव' का सरल, पुराने ढंग का तथा अपक्व या असंस्कृत (Simple, old fashioned, crude) अर्थ उन पर पूरी तरह लागू नहीं होता और कहीं-कहीं तो वह उसके ठीक विपरीत दिशा में अर्थात् परिपक्वता, परिष्कार और जटिलता की ओर गतिशील दिखायी देते हैं। राफायल योरोपीय गुफा-चित्रों को इसीलिए 'आदिम' मानते ही नहीं हैं। शोधकों ने कुछ प्रमाणों के आधार पर व्यवस्थित शिक्षा-दीक्षा और अभ्यास से समन्वित एक सुविस्तृत परम्परा का अस्तित्व भी सिद्ध किया है। ऐसी दशा में प्रागैतिहासिक चित्रकला को न तो एकदम लोक-कला कहा जा सकता है और न पूर्णतया शैक्षणिक-कला, क्योंकि एक ओर उसमें पर्याप्त परिपाक और परिष्कार मिलता है तो दूसरी ओर प्रचुर प्रयोगात्मकता, स्वच्छन्दता और साहसिकता भी लक्षित होती है। जिन परिस्थितियों ने उसे जन्म दिया और विकसित किया, उनकी विशिष्टता उसमें प्रतिबिम्बित हुई है; अतएव यह ठीक ही है कि वह किसी

---

1. The study of prehistoric drawings is not, and never can be, an exact science.

—ज० बि० उ० रि० सो०, दिसम्बर, १९१८, वॉ० iv, पृ० ३००-३०१

2. The painting by Caveman......are now judged to be modern in the truest creative sense.

—ए वर्ल्ड हिस्ट्री ऑफ आर्ट, पृ० ४

ज्ञात वर्ग में पूरी तरह समाहित नहीं की जा सकती। जैसा ग्रंथ के अन्तिम अंश में निर्दिष्ट किया गया है, शिला-चित्रों मे ढाँचा (Structure) उभर कर सामने आता है। आधुनिक कला मे भी रूप (Form) पर बल दिया जाता है। 'मौलिक उद्‌भावना-शक्ति, जिसकी खोज आज के समीक्षक कला-कृतियो में अनिवार्यत: करते है, शिला-चित्रों में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होती है। जीवन के कठोर यथार्थ से सम्पृक्त, गति और शक्ति से युक्त, निरीक्षण की सूक्ष्मता और संपुंजन की योग्यता से समन्वित, साधारण परिप्रेक्ष्य के बंधन से अनिबद्ध, उन्मुक्त एवं सांकेतिक कल्पना द्वारा प्रस्फुटित ज्यामितिक रूपबोध से परिचालित तथा अनेक प्रकार के निजी प्रयोगों से संवर्धित प्रागैतिहासिक कला अपनी इन्ही अनेक विशेषताओं के कारण आधुनिक प्रयोगशील कला के निकट दिखायी देती है। परन्तु कुछ अन्तर भी ऐसे है जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती है। उसमें वस्तुजगत् की परिचित रूपाकारमयता का निषेध करके अमूर्तन तक अपने को सीमित कर लेने की तनिक भी प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती। जो प्रतीक अर्थगत दुरूहता उत्पन्न करते है वे भी पूरी तरह अमूर्त नही कहे जा सकते। आज की कला की तरह वह नितान्त वैयक्तिक कला नही है; उसमे सामाजिकता का इतना समावेश है कि वैयक्तिकता की पहचान भी संभव नही है, यद्यपि उसके कारण कुछ और भी है। मानव व्यक्तित्व का सम्मान और उसका विशिष्ट विकास जिस रूप में आधुनिक युग के मूल्य-बोध का अंग बन गया है, वैसा उस काल में संभव ही नही था। वर्तमान युग में प्रयोगशीलता मध्यकालीन अतिशय परम्पराबद्धता की प्रतिक्रिया मे वैज्ञानिक नवचिंतन के प्रभाव से आविर्भूत हुई है जब कि पाषाणकालीन कला में जो प्रयोग मिलते हैं, वे प्रतिक्रियामूलक तो लगते ही नही हैं, साथ ही उनकी पृष्ठभूमि भी नितान्त भिन्न है। हाँ, अभिव्यक्ति की कठिनाई पर विजय पाने के लिए जो प्रयोग किये जाते हैं उनसे उनका पर्याप्त साम्य दिखायी देता है। प्रागैतिहासिक कला जिन यातुमूलक मान्यताओं से अनुप्रेरित हुई, उनका लेश भी आज की कला में नही है। वह कला धर्मसापेक्ष मानी जाती है जबकि आधुनिक कला पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष हो चुकी है। यह और ऐसे अनेक अन्तर महज ही निर्दिष्ट किये जा सकते हैं परन्तु इनसे उस दृष्टि का निषेध नही किया जा सकता जो शिला-चित्रों और आधुनिक चित्रो के बीच अनेक प्रकार का साम्य देखती है। ऐण्डर्सन ने १९१८ ई० में, जब भविष्यवादी आन्दोलन इंग्लैण्ड तक फैल चुका था, लिखा है कि आज जब 'फ्यूचरिस्ट' कलाकारो की कृतियों से हर कोई आश्चर्यान्वित होता है, तो क्या यह बुद्धिसंगत लगता है कि अत्यन्त दुरूह होने पर भी आदिम मनुष्य की कलाकृतियों पर ध्यान न दिया जाय। यदि हम आदिम मनुष्य को बिलकुल बेकार का ही नही समझते तो हमें मानना होगा कि उनसे उसके मनोजगत् की झलक तो मिलती ही है।'[१] ब्रॉड्रिक की दृष्टि मे यदि स्पेन के संदर्भ मे पार्पेल्लो से पिकासो तक की कला एक साथ आती है तो क्या आश्चर्य है, यदि भारत में भी होशंगाबाद से हुसेन तक के कला-विकास को साथ-साथ देखना संभव हो जाय।[२]

आधुनिक कला-आन्दोलन ने प्रागैतिहासिक और वर्तमान आदिम कलाकृतियों से मुक्त रूप मे प्रेरणा ग्रहण की है, क्योंकि नागरिक यान्त्रिक जीवन की निष्प्रेरक एकस्वरता और उथलेपन ने उसे जीवन के मूल-स्रोत की ओर पुन: उन्मुख होने को विवश कर दिया है। आगे यह विवशता बढेगी ही, इसका

---

१. ज. वि. उ. रि. सो., वॉ IV, पृ० ३०४

२. प्रि. पे., पृ० ८

घटना अभी संभव नहीं है। बाल-कला की ओर भी, मूल अवस्था से पुन: संपृक्त होने के भाव से ही, प्रवृत्ति बढ़ रही है। रीड ने नीग्रो और बुशमैन कला के सम्बन्ध में कहा है कि प्रारंभिक रूप सदा ही सर्वाधिक प्राणवान होता है।[1] नागरिक-कला के सम्पर्क से आदिम कला की क्षति हो रही है, ऐसा उसके लायोहार्ट आडम जैसे विशेषज्ञों का कहना है।[2] किन्तु नागरिक कला स्वयं आदिम कला से प्राणवत्ता अर्जित कर रही है यह बात असंदिग्ध है। यद्यपि यह भी असत्य नहीं है कि फैशन का रूप पा जाने पर घटिया अनुकृतियों और दिखावटीपन से भरी कृतियों की बाढ़ भी आ जाती है, जैसा अनेक पाश्चात्य देशों में नीग्रो कला को लेकर घटित हो चुका है। शिला-चित्रों में जो भी शक्तिमय आदिम तत्त्व मिलता है उसे बड़ी सजगता से ही आधुनिक भारतीय-कला के संदर्भ में प्रेरक बनाया जा सकता है अन्यथा उसके प्रभाव के भी विकृत अथवा असंस्कृत हो जाने की पूरी आशंका है, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है। यों मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि अपने देश के शिला-चित्रों के विपुल वैभव से सही और गंभीर रूप से परिचित होने पर आधुनिक भारतीय कला को वास्तविक रीति से मौलिक दिशा में प्रवृत्त होने की सम्यक् प्रेरणा प्राप्त होगी। अजंता के चित्रों की उपलब्धि ने जैसे भारतीय कला को एक नवोन्मेष प्रदान किया था, असंभव नहीं कि उससे कई गुना अधिक उन्मेष भारत में शिला-चित्रों की खोज के व्यापक बोध द्वारा अनुभव किया जाय। निश्चय ही उसका प्रतिपालन आधुनिक कला के संदर्भ को छोड़कर नहीं होगा, नहीं हो सकता। अपनी परम्परा को पूरी तरह पहचानने और उससे घनीभूत सम्पर्क स्थापित कर पाने के बाद ही कोई अपने से बाहर प्रभाव विकीर्ण करने अथवा बाहरी प्रभावों को स्वस्थ रीति से ग्रहण करने की शक्ति अर्जित कर पाता है अन्यथा इधर-उधर का हर छोटा-बड़ा प्रभाव उसके विकास में सहायक न होकर उसे घटिया बनाकर छोड़ जाता है। भारतीय कला की वर्तमान स्थिति कुछ ऐसी ही दिखाई देती है। बहुत कम कलाकार ऐसे हैं जो सचमुच देश की सांस्कृतिक जड़ों तक जाकर प्राणरस पाने में संलग्न हैं। यदि संस्कृति को युगीन विकासशील चेतना से संयुक्त करके न देखा गया तो प्रतिक्रियावाद का ख़तरा भी सामने रहता ही है।

नवीन सांस्कृतिक चेतना : नयी युग-दृष्टि

वर्तमान युग अपनी विषमताओं, असंगतियों-विसंगतियों के बावजूद नये मानव-मूल्यों की खोज एवं नये मानव व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करने में संलग्न है। 'नयी कविता' के प्रसंग में मैंने जिसे 'नये मनुष्य की प्रतिष्ठा' कहा है उसका अभिप्राय इसी मूल्यान्वेषण की आधुनिक प्रक्रिया से है जिसमें समस्त जीवन को नये परिप्रेक्ष्य से देखने का आग्रह निहित रहता है। इसका आधार है मनुष्य को सम्मान की दृष्टि से देखना तथा उसे ही केन्द्र में रखकर सारी प्रक्रिया एवं परिवेश को समझना और व्याख्यायित करना। यद्यपि अनेक उच्छृंखल विचारधाराएँ, जिन्हें परिपक्व नहीं कहा जा सकता और जिससे कभी-कभी आत्म-

---

१. 'The elementary is always the most vital.'

—दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृ० ५७

२. Modern education...etc, have discredited the customs and beliefs in which their art was rooted.

—प्रिमिटिव आर्ट, पृ० २०४

घात की गंध आती है, अनेक विचित्र तर्कों द्वारा मनुष्य को विशेष महत्त्व- देने या उसे गौरवान्वित करने का ही विरोध करती हुई दिखायी देती है परन्तु उनकी निजी जीवन-दृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जो व्यापक स्तर पर थोड़ी भी स्थायी प्रेरणा देने में समर्थ सिद्ध हो। इसीलिए मैं मानववादी विचारधारा को ही आधुनिक युग की प्रधान और प्रेरक विचारधारा मानता हूँ। शिला-चित्रों का, इस चिन्तन-प्रणाली और जीवन-दृष्टि से सीधा सम्बन्ध है। यदि हम उनके निर्माताओं को वर्बर असभ्य और असंस्कृत मानते है तो हमारे पास उनकी सृजन-शक्ति और सौन्दर्य-बोध को व्याख्यायित करने का कोई आधार शेष नहीं रहता। उन्हीं की तरह उनकी कला को भी हेय मान लेने के अलावा कोई दूसरा मार्ग नही बचता। परन्तु उसकी कला की प्राणवत्ता और श्रेष्ठता हमारे अनुभव का विषय बन चुकी है और हमने संदेह की सीमा से परे पहुँच कर प्रामाणिक प्रतीति के आधार पर उसे मान्यता प्रदान की है। अब आवश्यकता है उनके विषय में अपना दृष्टिकोण बदलने और मध्यकालीन जाति-वर्ण, धर्म-ईश्वर इत्यादि के नाम पर बनायी गई सीमाओं से ऊपर उठकर संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन करने की। जिन्हें परलोकोन्मुखी आध्यात्मिक दृष्टि से पतित कहकर अनेक जन्म-सिद्ध अधिकारों से वंचित करते हुए अपनी द्विजातीय श्रेष्ठता मनवाने का प्रयास किया गया, आज उन्हीं के भीतर निहित मानवीय गुणों की उदारतापूर्वक खोज की जा रही है। भक्ति-आन्दोलन की पतितपावनी प्रवृति से परिचित होते हुए यह कहना अन्याय होगा कि उनके प्रति प्राचीन और मध्यकालीन सभी विचारक बराबर अनुदार रहे। वस्तुतः संकीर्ण और उदार विचारों और उनसे निर्मित होने वाली तदनुरूप प्रवृत्तियों का संघर्ष पुरातन काल से चला आता है। वेद-त्रयी को मानने वाले आर्य अथर्ववेद को मान्यता देने में इसलिए हिचकिचाते रहे कि उसमें अनार्यों की मन्त्र-तन्त्र आदि से युक्त अभिचारपरक वाणी को भृगु--आंगिरस परम्परा के आर्यो द्वारा ग्राह्य मान लिया गया था। अन्त में वेदचतुष्टय को व्यापक स्वीकृति मिल ही गयी। संकीर्णता अन्ततः उदारता के आगे पराभूत हुई। डॉ० गिडुगु वेंकट सीतापति, जो तेलुगु भाषा के मान्य विद्वान हैं, ने जीवन-व्यापी शोध और शबर जाति के निकट सम्पर्क के आधार पर प्रमाणित किया है कि अथर्ववेद में सम्मिलित अनेक अभिचारपरक मन्त्र शबर भाषा के हैं।

वनजातियाँ : भारतीय संस्कृति के आकलन का तीसरा स्रोत

शबर जाति विन्ध्य के पूर्वीभाग में मुख्य रूप से निवसित रही है जिसमें शिला-चित्र भी उपलब्ध होते हैं। गॉर्डन ने आर्यो और द्रविड़ों से पूर्व भारतवासियों में मुंडा, कोल, हो, संथाल, शबर, भुइयस, भील, कोर्कु तथा कुरम्बस इत्यादि का गौरव के साथ नामोल्लेख किया है।[1] मिर्जापुर क्षेत्र की पनिका, खैरवार चेरों और पंचमढ़ी क्षेत्र की गोंड, भरिया, मवासी आदि जातियाँ भी इस सूची में सम्मिलित की जा सकती हैं। शिला-चित्रों के निर्माण का श्रेय इन्हीं जातियों के पूर्वजों को दिया जा सकता है। यह जातियाँ अधिकतर वनवासी एवं गह्वरवासी रही हैं। भारतीय संस्कृति का समग्र रूप वैदिक-

---

1. All over India, however, among jungle tribes and the so called depressed and scheduled classes, there is an evidence of that great heroic pre-Aryan and pre-Dravidian population.

—प्रि. वै. इं. क., पृ. ३५

पौराणिक तथा सिन्धु घाटी सभ्यता के ज्ञान से ही सामने नहीं आ सकता। उसके लिए इन वन्य जातियों की प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान समय तक की पूरी परम्परा, भाषा और संस्कृति का अन्वेषण एवं अनुशीलन करना होगा। भारतीय संस्कृति के आकलन का यह तीसरा स्रोत अधिक उपेक्षित नहीं रह सकता। शिला-चित्र इसके गोमुख हैं। इन सभी अधः पतित निम्नवर्गीय अनुसूचित जातियों को वैदिक साहित्य में आए हुए 'अयाजवान्', 'शिश्न देवाः', 'पिशगभ्रष्टि', तथा 'अनास' आदि विशेषणों की व्याप्ति में ग्रहण करना मुझे सर्वथा उचित दिखायी नहीं देता और न इन्हें असुर, दास, किन्नर-गधर्व आदि के अन्तर्गत लिया जा सकता है। कुछ नये व्याख्याकार पूर्वोक्त वेद-प्रयुक्त शब्दों से अनार्यों का अर्थग्रहण करना ही उचित नहीं समझते, क्योंकि उनकी दृष्टि में वे आर्यों से भिन्न नहीं थे और आर्य-अनार्य-संघर्ष विदेशियों की कल्पना मात्र है।[1] भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्था के अध्यक्ष पी० एन० ओक तथा स्वामी शकरानन्द जैसे लोग इस दूसरे प्रकार के आग्रह को व्यक्त करते हैं जो मुझे अतिवाद से रहित नहीं लगता। जिन वनजातियों का नामोल्लेख पहले किया गया है, वे निश्चित रूप से आर्येतर मानी गयी हैं और वैदिक साहित्य से उनकी स्थिति पर कोई उपयोगी प्रकाश संभवतः नहीं पड़ता। अहमदाबाद में १९५३ ई० में ओरियन्टल कान्फ्रेंस के अध्यक्षीय भाषण में डॉ० सुनीतकुमार चटर्जी ने भारत में समय-समय पर बाहर से आकर बसने वाली जातियों का क्रमबद्ध विवरण दिया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों से पूर्व का भारतवासियों का योगदान भी पर्याप्त महत्त्व रखता है।[2] आस्ट्रिक परिवार से सम्बद्ध निषादों और नागों तथा मंगोल परिवार के किरातों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है, पर इनमें से कला की ओर किसकी विशेष प्रवृत्ति थी यह निश्चय करना सरल नहीं है। डॉ० टी० बी० नायक ने गोंडों में अपने आवास-गृहों को चित्रों से अलंकृत करने की विशेष प्रवृत्ति लक्षित की है।[3] कहा जाता है कि मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० हीरालाल के विचार से वहाँ के जंगलों में रहनेवाली गोंड, बैगा आदि जातियों का सम्बन्ध रामायणकालीन उस जाति से रहा होगा जिसे आर्यों द्वारा राक्षस की सज्ञा दी गयी थी।[4] गोंडों में तो अब तक रावण को अपना पूर्वज मानकर श्रद्धांजलि दी जाती है। पौराणिक आधार पर राक्षसों का सम्बन्ध यक्षों से सिद्ध होता है जिसके कारण आदिवासियों से उन्हें जोड़ना सहज नहीं। वस्तुतः पौराणिक संदर्भ भी वनजातियों के सही रूप को समझने में विशेष सहायक नहीं हो पाते। समस्या सुलझने के स्थान पर उलझती दिखायी देती है और प्रमाण के स्थान पर कल्पना क्रियाशील हो उठती है। इतर साहित्य में वनजातियों का यदि कोई प्रामाणिक उल्लेख मिले तो अधिक उपादेय हो सकता है जैसे अभिनव गुप्त द्वारा नाट्यशास्त्रोक्त विभाषाओं के प्रसंग में 'गह्वरवासिनांच' का प्रयोग। अभिनव ने विभाषा-भाषियों को 'गह्वरवासी' और 'प्राकृतवासी' नामक दो वर्गों में विभाजित किया है, 'सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनांच प्राकृतवासिनाच'। उनकी व्याख्या के अनुसार संस्कृत का अपभ्रंश है 'भाषा', और भाषा का अपभ्रंश है 'विभाषा।' इससे यही सिद्ध होता है कि जो गह्वरवासी अभिनव की दृष्टि में हैं वे अन्ततः आर्य भाषा से सम्बद्ध विभाषा बोलने वाले हैं; आर्येतर

---

१. 'क्या आर्य-अनार्य संघर्ष हुआ था?,' साप्ताहिक भारत, १२ जून, १९६६
२. सत्रहवें अधिवेशन का अंग्रेजी भाषण, पृ० ११-१३
३. दि लीडर, मध्यप्रदेश सप्लीमेन्ट, जनवरी २३, १९५९, पृष्ठ V, 'ग्लिम्सेज ऑफ ट्राइबल आर्ट'
४. साप्ताहिक भारत, ७ अक्तूबर, १९६२

भाषा-भाषी नहीं। भाषा और उसकी पहचान जिस रूप में आज सुलभ है वैसी मध्यकाल में नहीं थी, अतः विभाषा विषयक उक्त धारणा हमें उसी रूप में मान्य हो, यह आवश्यक नहीं है। चित्रों की भाषा इस प्रकार की भाषा से भिन्न ही होती है अतः इस प्रसंग को यहीं छोड़ता हूँ।

शिल्पियों की हीन सामाजिक स्थिति और चित्रकार

युगों तक हेय माने जाने वाले आदिवासियों से कला की परम्परा का सम्बन्ध होने के कारण भारतवर्ष में शिल्पियों को प्रायः निम्न श्रेणी में रखा गया है। 'बृहस्पति संहिता' और 'गर्गसंहिता' आदि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में इसके प्रचुर प्रमाण मिलेंगे।[1] 'बृहस्पति संहिता' की टीका में 'चित्रकारादयः' लिखकर यह अभिप्राय स्पष्ट कर दिया गया है कि शिल्पियों के वर्ग में ही चित्रकार भी सम्मिलित किये जाते थे। 'गर्ग संहिता' में भी शिल्पी शब्द का कदाचित् यही अभिप्राय ग्रहण किया गया है। यह सत्य है कि 'आत्म-संस्कृतिर्वाव शिल्पानि' जैसी वैदिक उक्ति शिल्प-कर्म और शिल्पी को हीन समझते हुए नहीं निःसृत हुई होगी, किन्तु यह भी सत्य है कि स्मृतियों में जो कुछ लिखा मिलता है वह कलाकार की परम्परागत रूप में मान्य हीन स्थिति का सही दिग्दर्शन कराता है। 'शिल्प' शब्द से अधिकतर लालित्य रहित सामान्य कारीगरी के कार्य का अभिप्राय ग्रहण किये जाने के कारण यह हीनता का भाव उत्पन्न हुआ होगा, ऐसा सोचना भी निराधार नहीं है, परन्तु मूर्तिकारों और अभिनय कुशल नटों को भी श्रेष्ठ वर्ग में स्थान नहीं दिया जाता था। यह कला के प्रति आधुनिक युग के परिवर्तित दृष्टिकोण का ही फल है कि आज तथाकथित अधम और असंस्कृत लोगों की चित्रकारी पर ग्रंथ लिखे जा रहे हैं और अनेक प्रकार का अन्वेषण कार्य एक अभियान के रूप में किया जा रहा है।

अपेक्षित मानवीय संवेदना से युक्त सांस्कृतिक उन्नयन के अभाव में सभ्यता के उपकरणों और बाह्य सुविधा-साधनों का विकास स्वयं इसका प्रमाण नहीं है कि बर्बरता समाप्त हो गयी। विलास और वैभव की सामग्री के साथ-साथ नृशंसता के साधनों की भी वृद्धि होती है और उनके अकल्पनीय भयावह प्रयोग की क्षमता में भी विकास होता है। आज के अणु-अस्त्रों के आघात से विकलांग मनुष्यता अपने को नरभक्षी संस्कारों के त्रास से कहाँ मुक्त कर पायी है जो श्रेष्ठता का दंभ करे।

---

१. (i) कीनाशाः कारुकाः शिल्प—कुसीदि श्रेणि नर्तकाः।
लिंगिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम्॥

—बृ० सं०

(ii) दुर्जनाः शिल्पिनो दासाः दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति नैते सत्कार भाजिनः॥

—ग० सं०

(बृ. सं. का उक्त उद्धरण मुझे 'ब्रह्मविद्या' नामक आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन के वॉ. XXVII खंड १-४, पृ० ७१ पर मिला जिसमें 'शिल्प' के स्थान पर 'मल्लाः' पाठ-भेद का भी निर्देश है। किन्तु इस तरह के इतने प्रमाण मिलते हैं कि उससे मूल स्थापना में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।)

भारतीय प्रतिभा-पारतन्त्र्य : एक प्रत्याख्यान

भारतीय कला-वैभव के सूक्ष्म अनुशीलन तथा इतिहास के सम्यक् अवलोकन से उसमें परम्परानुसरण की प्रवृति के साथ-साथ मौलिक सृजनशीलता भी स्पष्ट लक्षित होती है। किन्तु यह विचित्र बात है कि अनेक विद्वानों ने भारत को मौलिक उद्भावना का श्रेय न देकर प्रतिभा-पारतन्त्र्य का लांछन ही दिया है। यह दूसरी बात है कि नवीन शोध के द्वारा ऐसे अनेक आरोप निराधार सिद्ध हुए हैं और हीनतापरक धारणा बहुत दूर तक पूर्वाग्रह मात्र प्रमाणित हुई है। इसमें संदेह नहीं कि बाहरी प्रभाव पड़े, विदेशी जातियाँ आयीं परन्तु उनसे यहाँ के मौलिक चिन्तन की क्षमता एवं नवोन्मेषी प्रतिभा कुंठित अथवा अपदस्थ नहीं हुई; वह समृद्ध एवं विकसित अवश्य हुई। मुझे लगता है कि भारतीय कला के मूल्यांकन में यही दृष्टिकोण सही दिशा का निर्देश करता है, फिर भी इसके विपरीत धारणा रखने वालों का मत सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। उनकी धारणा में भारत की हीनता निम्नलिखित दो रूपों में व्यक्त हुई है—

(१) भारत में अति पुरातन सामग्री ही नहीं है और यदि कुछ है भी तो वह संसार के सांस्कृतिक इतिहास में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

(२) यहाँ का समस्त सांस्कृतिक विकास विदेशी जातियों और बाह्य प्रभावों की देन है।

इन मान्यताओं का खंडन इस संकीर्ण और कट्टर राष्ट्रीय भावना से नहीं किया जा सकता कि सारे संसार को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाने वाला देश भारतवर्ष ही है, क्योंकि वास्तविकता की उपेक्षा इस मनोवृत्ति में और अधिक दिखायी देती है। संतुलित और यथार्थ-आश्रित दृष्टि बनाये रखने के लिए सत्यान्वेषण की ऐसी निर्मम वृत्ति अपेक्षित होती है जो अपने और पराये के भेद से ऊपर उठने का सामर्थ्य रखती हो। सत्य के अन्वेषण में दृष्टिभेद हो सकता है परन्तु मेरा सत्य तेरा सत्य जैसा विभाजन सम्भव नहीं है।

भारत के प्रति हीन-भाव बहुत कुछ उसकी पराधीनता का प्रतिफल है जिससे उबर जाना अत्यावश्यक है। शताब्दियों तक विदेशी शासन में रहने के कारण इस देश का स्वाभिमान कुंठित होता गया, फलतः उस पर आघात करने में किसी को भी संकोच नहीं हुआ। तेजस्विता के अभाव में यहाँ की विचार-शक्ति या तो मिथ्याभिमान की शरण में जाने लगी या निष्क्रिय क्षोभ का अनुभव करके रह गयी। सक्रिय और साधार प्रतिवाद कम किया गया।

अधिक पुरानी सामग्री के अभाव या उसकी महत्त्वहीनता की बात भारत के प्रसंग में कहने वालों की आवाज़ सिन्धु-घाटी सभ्यता के अन्वेषण के बाद से काफी दब गयी है। उसकी लिपि प्रामाणिक आधार पर पढ़ी जा सकी तो आश्चर्यजनक एवं अप्रत्याशित तथ्यों के उद्घाटन की सम्भावना है। गॉर्डन आदि अनेक विद्वानों ने उसे भी आयातित संस्कृति सिद्ध करने की चेष्टा की है यद्यपि उसकी नगर-कल्पना में ऐसी अनेक बातें हैं जो भारतीय उपमहाद्वीप से बाहर इतर देशों के पुरातन नगरावशेषों में नहीं मिलती।

यहाँ के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में सर आर्थर कीथ की यह धारणा कि प्रारम्भिक मनुष्य के बारे में भारत से तद्विषयक अध्येताओं को कितनी अधिक सामग्री प्राप्त होने की आशा थी और कितनी कम प्राप्त हुई है[1], अब बीती हुई बात हो गयी है। डॉ० संकालिया आदि के द्वारा इस क्षेत्र में जो खोज की

---

1. India is part of the world from which the student of Early Man has expected so *much and so far has obtained so little.*

—दि ऐन्टिक्विटी ऑफ मैन, पृ० २५६

गयी है तथा जो गंभीर और प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है वह निश्चय ही गौरव की वस्तु है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने शिला-चित्रों को अपने अध्ययन में कोई स्थान नहीं दिया है और विदेशों में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सभ्यता के सभी विकास-स्तरों को भारत से बाहर ही आविर्भूत माना है।[1] उनके विचार से इसका उत्तरदायित्व भारत की भौगोलिक स्थिति पर है। मुझे भारत की मौलिक उद्भावना-शक्ति के विरुद्ध ऐसा विचार निष्प्रेरक और भाग्यवाद जैसी पराजित मनोवृत्ति का द्योतक लगता है। उत्कर्षकाल में भारत का जो प्रभाव भारत से बाहर फैला, उसका कारण भी यही भौगोलिक स्थिति कही जा सकती है, अतः भूगोल का तर्क अपने में आत्यन्तिक एवं समर्थ तर्क नहीं है। जिसे हम इधर-उधर खोजते हैं वह बहुधा हमारे पैरों के पास ही हो सकता है, सर मॉर्टिमर ह्वीलर के इस अभिमत को उद्धृत करते हुए डॉ० संकालिया ने स्वयं आगे चलकर मूल-उद्भव की समस्या के प्रति अधिक संतुलित दृष्टिकोण व्यक्त किया है। अर्ध-सत्यों के स्वीकृत सत्यों के रूप में प्रचार से कितनी हानि हो सकती है इसकी ओर भी उन्होंने आर्य और द्रविड़ सभ्यता विषयक भाषाविज्ञानी मत का उदाहरण देते हुए निर्देश किया है।[2]

मनोरंजन घोष ने शिला-चित्रों के विषय में अपने १९३२ ई० में प्रकाशित मोनोग्राफ में कहा था कि भारत में चित्रित गुफाएँ हैं ही नहीं, यहाँ तो शिलाश्रय मिलते हैं।[3] इधर की शोध से प्रमाणित हो चुका है कि भारत में चित्रमय गुफाओं की संख्या भी कम नहीं है। क्षेत्र-परिचय में उनका विवरण देखा जा सकता है।

ब्रॉड्रिक ने बलपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि संसार में चित्रकला के उद्भव का श्रेय वस्तुतः योरोप को ही है। पश्चिमी योरोप के, मानवोद्भव के इतिहास की सापेक्षता में 'आधुनिक' कहे जाने वाले, उत्तर प्राचीन युग के पाषाण-कालीन निवासियों को, जिन्होंने ऑरिग्नेशियन प्रकार के सामान्य पाषाणी उपकरणों का प्रयोग किया, प्रथम चित्रकार थे और इस बात पर बल देना उपादेय है कि ज्ञात परिमाणों के अनुसार चित्रण कला एक योरोपीय आविष्कार है।[4] मनुष्य के उद्भव का प्राचीनतम प्रमाण अफ़रीका में मिले,

---

1. That all the important steps in the march towards civilization—from the state of ape and savage to modern man, such as Tool-making, from that to specialized efforts, and then self sufficiency in food production, discovery of metal technology —were all taken outside India in Africa and in the Fertile Crescent.

—प्रि० प्रो० ई० पा०; पृ० २७५

2. Secondly, owing to India's peculiar geographical position the various discoveries and inventions gradually spread to India and some even managed to survive.

—वही

3. In India, so far as I am aware, no paintings have been found in caves. They have all been found in rock-shelters.

—अध्याय iii, पृ० १४

4. The 'modern' men of the Western European Late Old Stone Age, the men who made and used stone instruments of the general Aurignacian type, were the first

अफ़रीका से योरोप के चित्रों का रूप-साम्य भी लक्षित हो परन्तु, योरोपीय आग्रह यही रहा है कि सभ्यता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का केन्द्र वही रहा है और काले रंग वाले देश केवल अनुसरणकर्त्ता रहे हैं। मैं इस धारणा को एक भ्रामक अर्ध-सत्य के रूप में ग्रहण करता हूँ जिसमें वस्तुस्थिति को संकीर्ण मनोवृत्ति से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। गॉर्डन ने अफ़रीकी चित्रों को योरोप से पहले का माना है। कुछ योरोपीय विद्वानों ने इसके विपरीत उन्हें बहुत अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जैसे विलकॉक्स तथा मिस डोरोथी ब्लीक ने।[1] इस आपाधापी में भारत के शिला-चित्रों का मूल्यांकन ही एक समस्या बन जाता है; भारत की प्रतिभा के स्वतन्त्र स्वरूप का आख्यान तो उससे गहरी और बाद की बात है। उसका सम्बन्ध उस नये दृष्टि-कोण से है जो नयी खोज में सापेक्षता में आत्म-विश्वास अर्जित करता हुआ पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर व्यक्त हो रहा है। अब तक एशिया को योरोप की सापेक्षता में अनेक प्रकार से उपेक्षित और निष्प्रभ रहना पड़ा है, परन्तु भविष्य में यह स्थिति शीघ्रतापूर्वक बदलती दिखायी देती है। प्राचीन गौरव का नयी दृष्टि से मूल्यांकन एवं आकलन व्यापक स्तर पर किया जा रहा है तथा नये तथ्य सामने आ रहे हैं जो उस गौरव को परिवृद्ध करते हैं। रूस में पिछले दशक के भीतर सहस्रों वर्ष पुरातन शिलाचित्र कपोवा की गुफा में खोजे गये हैं।[2] चीन में भी उनकी उपलब्धि हुई है, ऐसी सूचना मुझे भाई वाकणकर से प्राप्त हुई है। भारत की स्थिति पर इस नये संदर्भ में विचार करना होगा और तभी ब्रॉड्रिक की एकांगी-धारणा का पुनर्परीक्षण सम्भव होगा। उसके लिए अफ़रीका से एशिया के सह-सम्बन्ध की पृष्ठभूमि भी आवश्यक होगी।

प्रेरणा, उद्देश्य और सीमाएँ

अभी तक जो कुछ कहा गया है वह सब व्यापक रीति से ग्रंथ-लेखन के उद्देश्य के भीतर ही आता है, किन्तु जो बातें यहाँ दी जा रही हैं वे उद्देश्य का मुख्य रूप व्यक्त करती हैं। एक विशाल चित्रण-परम्परा की प्राथमिक समृद्धि का व्यवस्थित परिचय देते हुए भारतीय चित्रकला के इतिहास को उसकी जड़ों तक पहुँचा देना, उसे लगभग दस सहस्राब्दियों तक साधार पीछे ले जाकर उसके सही रूप और प्रायः अलक्षित महत्त्व का उद्घाटन करना मेरा प्रमुख ध्येय रहा है। कुछ समय पूर्व आकाशवाणी से इस देश की चित्रकला के क्रमिक विकास से परिचित कराने वाली एक वार्ता-माला प्रसारित हुई थी जिसमें ओ० सी० गाँगुली आदि अनेक कला-विशेषज्ञों ने योग दिया था, पर मुझे खेद है कि अपने देश की इस अपार चित्र-सम्पत्ति की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। भारतीय चित्रकला का प्रारम्भ केवल सिंधु-घाटी के पात्र-चित्रों से सम्बद्ध किया गया। कला के जो इतिहास-ग्रंथ चित्रकला का विकास प्रदर्शित करते हैं वे प्रायः अजन्ता से पहले की भारतीय चित्रकला पर या तो कोई प्रकाश नहीं डालते या बहुत कम सामग्री दे पाते हैं। जिन शिला-चित्रों का

---

artists. And it is worth while stressing that pictorial art was, according to the evidence as we now see it, a European invention.

—प्रि० पे०, पृ० ५

1. टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट, १४ मई, १९६४ के अंक में प्रकाशित 'दि रॉक आर्ट ऑफ साउथ अफ़रीका' की समीक्षा
2. भारत, १३ अगस्त, १९६५, पृ० ४

आधार इस ग्रंथ में लिया गया है, वे बाघ और अजन्ता से तुंगह्वांग तक पहुँचाने वाली लम्बी यात्रा के प्रारम्भिक बिन्दु पर स्थित दिखायी देते हैं। उन्हें जाने बिना भारत के भित्ति-चित्रों की विविधतापूर्ण व्यापक परम्परा के क्रमिक विकास का कोई बोध नहीं हो सकता। पंचमढ़ी-क्षेत्र की बनियाबेरी नामक गुफा में अंकित स्वस्तिक-पूजा का भीतरी दृश्य मेरे विचार से भित्ति-चित्रों की परिकल्पना एवं संरचना की वह स्थिति व्यक्त करता है जिसके आगे अजन्ता आदि की उपासना-प्रेरित सुविकसित मध्यकालीन कला तक पहुँचना बहुत असंभव नहीं रह जाता। इस बात का निर्देश मैंने पूजा-प्रतीकों से सम्बद्ध उक्त चित्र के परिचय में भी कर दिया है (दृ० पृ० ४३६--४० फलक IX का परिचय)। भारतीय चित्रकला पर एक-आध विशालकाय ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों को आद्यैतिहासिक सिंधु घाटी के पात्र चित्रों के बाद रखने का अद्‌भुत कार्य किया गया है। एक पुस्तक में सिंघनपुर के साथ जोगीमारा का नाम भी प्रागैतिहासिक शिलाचित्रों के ही प्रसंग में ले लिया गया है। ऐसे अधकचरे प्रयत्न भारतीय कला के विषय में भ्रान्त धारणा उत्पन्न करते हैं और अन्ततः ज्ञान के प्रसार में बाधक सिद्ध होते हैं। मैंने इस बात की पूरी चेष्टा की है कि जो भी सामग्री दी जाय, वह अधिक से अधिक प्रमाण-पुष्ट हो। फिर भी सुझावों और संशोधनों के लिए मैं सदा प्रस्तुत हूँ, क्योंकि मैं भली भाँति जानता हूँ कि ज्ञान की कोई सीमा नहीं है और पूरा ध्यान रखने पर भी अनजान में त्रुटियाँ हो जाना असम्भव नहीं। कोई एक व्यक्ति इतने विशाल क्षेत्रों से सम्बन्धित सामग्री के विषय में सर्वथा आधिकारिक रीति से ऐसा कुछ नहीं कह सकता जो अन्तिम वाक्य हो। वस्तुतः जिस दिशा में यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसमें अभी प्रारम्भिक कार्य भी ठीक से सम्पन्न नहीं हुआ है। मैंने उन्मुक्त-भाव से सबके प्रति विनम्र आभार प्रकट करते हुए प्राप्त सामग्री एवं सूचनाओं का उपयोग किया है। आगे जो उपयोगी सामग्री और प्राप्त होगी उसको समाविष्ट करने में मुझे कोई संकोच नहीं होगा। मानचित्र के अन्तर्गत ऐसी कुछ सामग्री मैंने समाविष्ट कर भी ली है।

उचित तो यह था कि मैं देशभर में स्थित सभी गुफाओं और शिलाश्रयों का स्वतः निरीक्षण करके सभी सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ सामने रखता। परन्तु बिना किसी भीतरी-बाहरी सहायता के, भिन्न प्रकृति का दैनन्दिन कार्य करते हुए तथा अनेक अत्यावश्यक दायित्वों के निर्वाह में संलग्न रहते हुए, मुझे ज्यों-त्यों लगभग बारह वर्ष की अवधि में यह कार्य पूरा कर मिला है। अनेक बार ऐसा लगा कि अब नहीं हो पायेगा, पर थकान से उबरने की चेष्टा करते हुए मुझे बहुधा महसूस हुआ कि मेरे संकल्प ने स्वयं आकर मेरा हाथ थाम लिया है और मैं बढ़ी-गंगा जैसे इसके चौड़े पाट में डूबने से बच गया हूँ। इस कार्य में इतनी देर लगने का श्रेय भी मेरे सिवा और किसे मिलेगा। एक तो कवि-कलाकार ठहरा ऊपर से दीर्घ-सूत्री। जब मन लगा तभी किया, क्योंकि किसी ने मुझे इसके करने के लिए विवश नहीं किया। आत्मा-रोपित होने के कारण इस कार्य से मुझे गहरा आत्म-परितोष मिलता रहा, विशेषतः इस भाव से कि जैसे किसी आन्तरिक-शक्ति ने मुझे ही इस कार्य के लिए नियुक्त किया हो।

मुझे इसके लिए 'पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर' सभी कुछ बनना पड़ा। चित्रों का अधिक से अधिक संकलन, प्रमुख मूल-स्थानों में जाकर उनकी प्रामाणिकता का निरीक्षण-परीक्षण, अज्ञात चित्रों की खोज, उनकी तथा अन्य अननुकृत चित्रों की अनुकृतियों का स्वयं ही निर्माण, अनुकृत एवं प्रकाशित चित्रों की प्रति-कृतियों की रचना, पुरातत्व का क-ख-ग न जानने पर भी पुरातात्विक दृष्टि को प्रस्तुत करने की अनधिकार चेष्टा, चित्रों का वर्गीकरण और परिचय-लेखन, शिला-चित्रों के विषय में हुई शोध का इतिहास देते

हुए सम्यक् आकलन, देशी-विदेशी विद्वानों के कार्य एवं विचारों से परिचय-प्राप्ति, काल-निर्णय तथा कलात्मक महत्त्व-निर्धारण आदि के जटिल प्रश्नों का अनुशीलन, तुलनात्मक दृष्टि-निक्षेप, शैली-शिल्प और रचना-प्रक्रिया की समस्याओं में प्रवेश, आदिम-कला और लोक-कला की सापेक्षता में प्रागैतिहासिक कला की विशिष्ट स्थिति का निदर्शन तथा विभेदक सीमाओं का निश्चय, भारतीय संस्कृति के ज्ञान के एक नये स्रोत के रूप में शिला-चित्रों की महत्ता का प्रतिपादन और पुरातत्त्वज्ञों द्वारा की गयी उनकी उपेक्षा के प्रतिवाद का दु:साहस कुल मिलाकर न जाने क्या-क्या नहीं करना पड़ा। फिर हिन्दी में ऐसे विषय का लेखन जिसके लिए अभिव्यक्ति प्रणाली के स्थिर होने की बात तो दूर, पारिभाषिक शब्दावली तक पूरी तरह निश्चित न हुई हो, अपने में कम कठिनाई उपस्थित करने वाली बात नहीं थी। अनेक स्थलों पर मुझे स्वयं नये शब्द गढ़ने पड़े हैं। परन्तु मेरे मन में सदा यही आया कि यह किताब मुझे हिन्दी में ही लिखनी है, वही मेरा धर्म है; वही ऋषि-ऋण है जिसे मुझे चुकाना है। अपने अँग्रेजी-ज्ञान के प्रति मुझे कभी भ्रम नहीं रहा और 'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' को भूल सकना भी मेरे लिए सम्भव नहीं हुआ। किसी तरह यह बोझीली नाव किनारे आ लगी इसका हार्दिक संतोष मुझसे बढ़कर पाठकजी को होगा जिन्होंने इसके प्रकाशन की व्यवस्था करके मुझे शिकजे में जकड़ दिया। उनके स्नेह-बंधन ने मुझे निरन्तर इस कार्य को पूरा करने की प्रेरणा दी है। मुझे लगता है कि मेरे इस कार्य का उद्देश्य मुझसे अधिक उन्होंने समझा।

इस ग्रंथ में सामग्री का अनुक्रम, योजना और प्रस्तुतीकरण किसी पूर्व निश्चित आदर्श पर आधारित न होकर यथार्थ वस्तुस्थिति, विषय-संगति, चित्रित जीवन एवं चित्रण की विविधता तथा रचना-विधान आदि को दृष्टि में रखकर मौलिक रूप से किया गया है, विज्ञ तथा सामान्य दोनों प्रकार के अध्येताओं को ध्यान में रखकर। विशेष समस्याओं के सतर्क निदान के साथ इसीलिए परिचयात्मक सामग्री भी प्रचुर-मात्रा में दे दी गयी है। चित्र-खण्डों से पहले की लिखित सामग्री विषय से अ-पूर्वपरिचित पाठकों के लिए विशेष उपादेय होगी, और बाद की सभी कोटि के जिज्ञासुओं के लिए। चित्र-खण्डों में जो कुछ कहा गया है उसकी स्थिति मिश्रित है। प्रत्येक खण्ड का प्रारम्भिक अंश उसके समग्र चित्रों को ध्यान में रखते हुए लिखा गया है जब कि चित्र-परिचय चित्र विशेष के सम्बन्ध की प्राय: सभी आवश्यक एवं ज्ञात बातों का उल्लेख करते हुए उसके कलात्मक विन्यास तथा सौन्दर्यपरक प्रभाव पर अधिक बल देकर प्रस्तुत किया गया है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार तुलनात्मक संदर्भ भी दे दिये गए हैं। पूजा-प्रतीक वाले खण्ड को छोड़कर अन्य किसी में अवान्तर प्रसंग और अतिरिक्त सांस्कृतिक पीठिका देने की आवश्यकता नहीं हुई। अन्तिम खण्ड 'विविध' के अन्तर्गत वह सभी कुछ रखना पड़ा जो अन्य नौ खण्डों में औचित्य-पूर्वक समाविष्ट नहीं किया जा सका। इससे अधिक खण्ड-रचना कृत्रिम प्रतीत होने लगी। चित्रों के नीचे फलकों में उनका परिचय न देकर केवल संख्याएँ ही दी गयी हैं क्योंकि विस्तृत परिचय प्रत्येक खण्ड के चित्रों से ठीक पहले दे दिया गया है। चित्रों के नीचे आंशिक परिचय-संकेत, स्थान-नाम आदि देने का विचार आया परन्तु उससे ब्लाकों की व्यवस्था में कठिनाई पड़ी, अत: उसे छोड़ देना पड़ा। उसमें दोहरवकम भी कम नहीं होता।

जैसा कह चुका हूँ, पुरातत्व और प्राचीन इतिहास का क्षेत्र कभी मेरा निजी क्षेत्र नहीं रहा, अतएव उसमें कुछ विशेष करने की मेरी आकांक्षा नहीं है; परन्तु कला के क्षेत्र को अवश्य मैं अपना क्षेत्र मानता हूँ, उसको यथाशक्ति समृद्ध करने की कामना मुझमें रही है। मैं इस बात से प्रसन्न हूँ कि पुरातत्व के क्षेत्र में जो तरुण अध्येता सक्रिय हैं वे कलागत मूल्यों के प्रति अधिक उन्मुख हैं और शिला-चित्रों को

वृद्ध-वर्ग की तरह उपेक्षणीय नहीं समझते। प्रस्तुत अध्ययन में पुरातत्वपरक आयाम अनिवार्य होकर आया है, नहीं तो मेरी ओर से कला-दृष्टि ही प्रधान रही है। मैं कला को संस्कृति का ऐसा अपरिहार्य सृजनात्मक आधार मानता हूँ जो मानव-मन के सबसे निकट है। इस कार्य को पूरा करने में जो तेहरा-चौहरा दायित्व मुझे निबाहना पड़ा है, उसकी गुरुता के प्रति मैं बराबर सचेत रहा हूँ और उन अपूर्णताओं और अभावों के प्रति भी सजग हूँ जो इसमें मुझे स्वयं दिखायी देते हैं। जिन साधनों और जिन परिस्थितियों में मैंने इसे किया है उनमें इससे अधिक की सम्भावना होती तो मैं उसके लिए अप्रयत्नशील नहीं रहता।

इसके प्रकाशन-क्रम में ऐसी स्थिति भी आयी कि लेखन और मुद्रण में जुगलबन्दी चलती रही। संगीत का सुख तो कम ही मिला, पर यन्त्र की यन्त्रणा का अनुभव बराबर होता रहा। ब्लॉक इलाहाबाद में बने, पर उनका मुद्रण लिखित अंश के साथ दिल्ली में हुआ। फलतः उनकी व्यवस्था और सुरुचिपूर्ण विन्यास में जितना योग मैं दे सकता था उतना सम्भव नहीं हो सका। कुछ के मुद्रण में त्रुटियाँ भी हो गयी हैं जिनकी ओर शुद्धि-पत्र में निर्देश कर दिया गया है। लेखन-क्रम में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें सामने आती गयीं जिन्हें समाविष्ट करने में ग्रंथ का कलेवर कुछ अप्रत्याशित रूप में बढ़ गया। इससे प्रकाशन में विलम्ब भी हुआ और प्रकाशक के धैर्य की परीक्षा भी। पर मैं मलिकजी के अप्रतिहत सद्भाव और असीम धैर्य के आगे विनत हूँ कि उन्होंने व्यय-साध्य होते हुए भी इसे यथावत् प्रकाशित करने में कोई संकोच प्रदर्शित नहीं किया। हिन्दी के क्षेत्र में बहुत कम प्रकाशक ऐसे हैं जो कला-ग्रंथ छापने में रुचि रखते हों।

लेखन और मुद्रण दोनों में समय का विस्तार हो जाने के कारण जैसी एकरूपता आदि से अन्त तक अपेक्षित थी वैसी नहीं रह पायी। तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उससे कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। पहले अँग्रेजी उद्धरणों का अनुवाद देने की योजना बनी परन्तु बाद में अनुभव हुआ कि उसे अलग से देने की अपेक्षा उसके अर्थ और भाव को, लिखित अंश में ही समाविष्ट कर लेना अधिक अच्छा होगा। कुछ प्रारम्भिक पृष्ठों को छोड़कर आगे यही क्रम अपनाया गया। कुछ नामों तथा पाद-टिप्पणियों में भी सर्वत्र एकरूपता का निर्वाह नहीं हो सका। देशी-विदेशी नामों के सही उच्चारण और लेखन की समस्या रोमन लिपि की असमर्थता के कारण निरन्तर उलझाव उत्पन्न करती रही। विदेशी शब्दों के बारे में तो कुछ कोश और कुछ विशेषज्ञ सहायक हुए, पर यह विचित्र स्थिति है कि देशी नामों के विषय में कठिनाई अन्त तक बनी रही क्योंकि अंग्रेज़ बहादुर को देशी नामों के सही उच्चारण की चिन्ता ही कहाँ थी और अपनी सरकार अंग्रेजियत से अभी ऊपर उठ नहीं पायी है। यह नहीं कि रोमन लिपि में सही उच्चारण लिखने की विशेष पद्धति नहीं है, परन्तु यह अवश्य है कि जर्नलों, गजेटियरों, इतिहासों और पुरातत्व के ग्रंथों में वह पद्धति अपवाद रूप में ही अपनायी गयी है। देवनागरी लिपि में उच्चारण को अधिक निश्चित रूप से व्यक्त करने की शक्ति है, इसीलिए त्रुटि सहज ही लक्षित हो जाती है। मैंने इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सचेत रहने की चेष्टा की है और बहुत से नामों के सही उच्चारण का पता सम्बद्ध व्यक्तियों से लगाया है। पर प्रत्येक नाम को उसके मूल-स्थान तक जाकर संशुद्ध करना किसी के लिए सम्भव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जो त्रुटियाँ हो गयी हैं उन्हें जहाँ तक हो सका है, सुधारने का प्रयत्न किया गया है। इस संदर्भ में नामानुक्रमणिकाएँ और शुद्धि-पत्र विशेषतः द्रष्टव्य हैं। कुछ पुस्तकें जो पहले प्रकाशित नहीं थीं इसके छपते-छपते प्रकाशित हो गयी हैं, जैसे अल्चिन की कृतियाँ। फलतः उनके सम्बन्ध में पहले कही हुई बात साधारण से संशोधन की अपेक्षा रखती है। इसी तरह मिर्ज़ापुर-क्षेत्र से सम्बद्ध सामग्री पर आधारित 'रेडियो कार्बन

डेटिंग' से प्राप्त अपेक्षाकृत अर्वाचीन तिथियाँ भी उपेक्षणीय नहीं हैं।

कहने को बातें और भी बहुत-सी हैं किन्तु इस विश्वास पर कि समझदार लोग उदारतापूर्वक अपनी ओर से उनका मार्जन कर लेंगे, मैं अब उन्हें अनकहा ही छोड़ता हूँ। यदि मेरे इस कार्य से कला और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय शिला-चित्रों के अध्ययन की कुछ भी उपादेयता सिद्ध हो सकी तथा आगे उनकी खोज को थोड़ा भी बल प्राप्त हो सका, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

—जगदीश गुप्त

मोती महल
४-८-६६

प्रागैतिहासिक कला की अर्थ-व्याप्ति और शिला-चित्रों का महत्त्व

पिछले पृष्ठ का चित्र

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में छातु ग्राम के समीपवाली लिखनिया के शिलाश्रय पर अंकित प्रमुख आखेट-दृश्य के ठीक पिछले भाग में चित्रित विविध प्रकार की आकृतियों की रेखानुकृति।

प्रागैतिहासिकता और उसकी अर्थ-व्याप्ति

ज्ञान की किसी भी दिशा में प्रवेश करनेवाले को यह वोध होना नितान्त स्वाभाविक है कि ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात अथवा अल्पज्ञात की सत्ता अधिक होती है। जिस प्रकार एक नक्षत्र को सूक्ष्म रीति से देखने पर अगणित नक्षत्र स्वतः दिखायी दे जाते हैं, उसी प्रकार एक वस्तु के अध्ययन से यह सहज ही प्रतीत होने लगता है कि अनेक वस्तुएँ अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि ज्ञान की आकांक्षा रखनेवाले एक-मात्र प्राणी 'मनुष्य' की ज्ञान-पिपासा अदम्य है और उसके साधन समय-सापेक्ष एवं सीमित हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि जिस अन्तर्वाह्य सत्ता की वस्तुगत प्रकृति को जानने के लिए वह प्रवृत्त होता है, वह दोनों सिरों पर अछोर और अनन्त है। व्रह्मा द्वारा अपनी कमल-नाल के मूल को खोजने की निष्फलता का उद्घोष करनेवाली पौराणिक कथा प्रतीकात्मक रीति से इसी तथ्य का उद्घाटन करती है। तीसरा एक और अनु-पेक्षणीय कारण यह भी है कि मनुष्य ज्ञानार्जन के प्रसंग में वस्तु-जगत् को ऐसे देखता है जैसे वह स्वयं उसका अंग न होकर मात्र द्रष्टा हो; परन्तु वस्तु सत्य यह है कि किसी भी अवस्था में वह सृष्टि से अपने को तत्त्वतः पृथक् नहीं कर सकता। पूर्ण ज्ञान, विना पूर्ण आत्मिक एकीकरण के संभव नहीं है; इससे यही निष्कर्ष निकलता है। परन्तु यह दिशा, दर्शन और अध्यात्म की दिशा है जिसमें इति-हास की अति सीमित कालात्मक धारणा प्रायः निरर्थक हो जाती है। इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टि कदाचित् भिन्न दार्शनिक चेतना के कारण वैसी नहीं रही जैसी पाश्चात्य एवं इतर देशों में पायी जाती है; विशेषतया आधुनिक युग में। व्यवहारतः आज भारत ने निश्चित तिथिमूलक इतिहास की पाश्चात्य धारणा को न केवल स्वीकार कर लिया है वरन् इस क्षेत्र में उसकी सक्रियता उत्तरोत्तर वढ़ती जा रही है, भले ही इतिहास-दर्शन ने इतिहास की वहुविध व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए उसकी तिथिमूलक और घटनामूलक धारणा के सीमाचिह्न नयी दृष्टि से निर्दिष्ट कर दिए हों। इतिहास वस्तुतः अनेक स्रोतों से अर्जित एक ऐसा ज्ञान है जो वर्तमान समय में उपलब्ध प्रमाणों एवं तथ्यों के आधार पर वर्तमान युग के ही व्यक्तियों द्वारा प्रत्यभिज्ञानमूलक कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष किया जाता है। अतीत की कल्पना का आधार किसी न किसी रूप में

वर्तमान में ही निहित रहता है। वर्तमान से विच्छिन्न करके न अतीत की कल्पना की जा सकती है न भविष्य की, क्योंकि काल अन्ततः एक अखण्ड और समग्रता का बोधक प्रत्यय है जिसकी सत्ता सचेतन मनुष्य को ही प्रतीत होती है।

इतिहास, पुरातत्त्व और नृतत्त्वशास्त्र आदि की सीमा के भीतर जाकर जब हम मानव के अतीत को देखने की चेष्टा करते हैं तो हमें यही बोध प्राप्त होता है कि ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात कहीं अधिक है। इतिहास के क्षेत्र में इसको व्यक्त करने के लिए उसे स्वयं दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है—

१. प्रागितिहास (Prehistory)

२. इतिहास (History)

एक तीसरा मध्यवर्ती विभाजन भी अब मान्यता प्राप्त कर चुका है—

३. आद्यैतिहास (Protohistory)

आद्यैतिहास शब्द के स्थान पर 'पुरा इतिहास' और 'मूल इतिहास' आदि शब्दों का भी व्यवहार हुआ है पर उससे मूल धारणा में कोई अन्तर नहीं आता।

अतीत का यह त्रिधा विभाजन विभिन्न देशों के संदर्भ में विभिन्न काल-क्रमों का द्योतन करता है जिनकी पारस्परिक संगति कठिनाई से बैठायी जा सकती है। मिस्र, सुमेर, रोम, ग्रीस, चीन तथा भारत का इतिहास-युग समान काल से आरम्भ नहीं होता। इसी तरह योरोप और भारत के प्रागैतिहासिक युगों की सीमाएँ भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि आद्यैतिहास की स्थिति प्रागितिहास और इतिहास के मध्य में आती है, अतः उसमें भी समानता नहीं दिखाई देती। वास्तव में आद्यैतिहास का उत्तरांश नवीन शोधों के द्वारा निरन्तर इतिहास में परिणत होता रहता है और इसी तरह नयी खोज के प्रकाश में उसका पूर्वांश प्रागितिहास की सीमा में प्रविष्ट होता जाता है। स्थिति के अनुसार इनकी परिभाषा में भी थोड़ा-बहुत अन्तर आता रहता है।

इतिहास का समारंभ कहाँ से माना जाय, इस सम्बन्ध में कई दृष्टिकोण मिलते हैं। कुछ लोग वर्तमान समय से वहाँ तक के-काल-विस्तार को इतिहास के अन्तर्गत मानते हैं, जहाँ तक विविध घटनाओं की निश्चित तिथियाँ प्राप्त होती हैं। अँगरेज इतिहासकारों द्वारा इसी दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास का आरंभ ई० पू० ३२७-२६ से माना जाता रहा क्योंकि सिकन्दर के आक्रमण की यही तिथि प्रामाणिक रीति से ज्ञात हो सकी थी। वह भी भारतीय स्रोत से नहीं, ग्रीक स्रोत से। किन्तु निश्चित तिथियाँ तभी प्राप्त हो सकती हैं जब उनका लेखा रखने के लिए अतीत में कोई माध्यम अपनाया गया हो। यह माध्यम मुख्यतया लिपि है जिसके अभाव में तिथियों का अनुलेखन सर्वथा असंभव है। ग्रेहम क्लार्क ने पुरातत्त्व और समाज-विषयक अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि प्रागैतिहासिक काल की नितान्त आरम्भिक अवस्था में मानव-समाज और

पशु-समाज के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींच पाना कठिन है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रचना की स्पष्ट परम्परा का संकेत करनेवाले पाषाणास्त्रों के निर्माण से लेकर जहाँ तक सामाजिक विकास में अक्षर-ज्ञान का समावेश नहीं मिलता, वहाँ तक प्रागैतिहासिकता की सीमा मानी जा सकती है और जहाँ से सुसम्बद्ध लेखा प्राप्त होने लगता है, वहाँ से इतिहास कहे जानेवाले काल का आरंभ स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यह धारणा अँगरेजी भाषाभाषी पुरातत्त्ववेत्ताओं की है। वास्तव में इतिहास या प्रागितिहास की ऐसी कोई निश्चित सीमा निर्धारित करना संभव नहीं है, जो सर्वमान्य हो सके।[1]

'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया' के लेखक स्टुअर्ट पिगॉट ने व्यापकतम अर्थ ग्रहण करते हुए पुरापाषाण-काल से लेकर ईस्वी सन् के निकट के तथा कुछ क्षेत्रों में उसके बाद तक के सारे काल-विस्तार को लगभग इसी आधार पर 'प्रागैतिहासिक' शब्द के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। उनके अनुसार भारतीय प्रागैतिहासिक युग की शोध और उसकी व्याख्या उन्हीं विधियों के अनुसार होनी चाहिए जो लेखबद्ध इतिहास से पूर्व के मानव-विकास का अध्ययन करने के लिए योरोप में प्रयुक्त की गयीं।[2]

निश्चय ही पिगॉट महोदय ने प्रागैतिहासिकता को न केवल व्यापकतम अर्थ में ग्रहण किया है वरन् उक्त ग्रन्थ में अपनी धारणा को चरितार्थ करते हुए हड़प्पा से लेकर मौर्य काल तक की प्रमुख घटनाओं को समाविष्ट कर लिया है। कहना न होगा कि उसमें आर्यो का भारतवर्ष में आगमन और ऋग्वेदीय संस्कृति का विकास सभी कुछ सम्मिलित है। यह स्थिति विचित्र लग सकती है क्योंकि इसमें आद्यैतिहास को प्रागितिहास से पृथक् न करके सीधे इतिहास तक की

---

१. No precise delimitation of the range of prehistory is likely to find wide acceptance, though it would probably be agreed by most English speaking archaeologists *that it is concerned with preliterate societies* At the *lower end of the range no* hard and fast line can be drawn between animal and human societies, but for practical purposes one may take the appearance of tools shaped in conformity with a recognizable tradition as a useful datum. As regards an upper limit one might accept the appearance of a more or less continuous written record as marking the end of prehistory and the beginning of what is conventionally regarded as history.

ऑर्कियालॉजी ऐण्ड सोसाइटी, पृष्ठ २२

२. So prehistoric India may in its widest sense embrace all human communities in the sub-continent, from the Old Stone Age to somewhere near the Christian era, or in many regions well beyond this limit. The discovery and interpretation of Indian prehistory must therefore rely on the same methods as have been used in Europe to study the course of human development before the advent of written history.

—प्रि० इं०, पृष्ठ १२

सीमा का संस्पर्श कर लिया गया है। भारत की स्थिति योरोप से भिन्न है, विशेषत: इस अर्थ में कि यहाँ सिंधु घाटी-सभ्यता के अस्तित्व एवं विस्तार का प्रभूत ज्ञान विधिवत् किये गए उत्खनन से प्राप्त उस पुरातात्त्विक सामग्री पर आधारित प्रामाणिक निष्कर्षों के रूप में प्राप्त हो चुका है, जिसमें एक ऐसी लिपि भी आती है, जिसे पढ़ना भर शेष है। लिपि एवं लेखन का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध है। ऐसी दशा में उसे प्रागैतिहासिक मानना सर्वथा संगत प्रतीत नहीं होता। पिगॉट की कृति का प्रथम प्रकाशन १९५० ई० में हुआ, उसके तीन ही वर्ष बाद 'ऐन्शिएन्ट इंडिया' नाम से १९५३ ई० में 'ऑर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' का जो 'स्पेशल जुबिली नम्बर' प्रकाशित हुआ, उसमें हड़प्पा से लेकर इतिहास-काल के आरम्भ तक के समस्त कालखंड को आद्यैतिहासिक अनुसंधान (Protohistorical Investigation) शीर्षक से प्रागितिहास और इतिहास की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में पृथक् करके प्रस्तुत किया गया है। इससे उस स्थिति की विचित्रता और असंगति का परिहार हो गया जो पिगॉट की मान्यता के कारण लगने लगी थी।

'ऐन्शिएन्ट इण्डिया' में इतिहास के प्रसंग को आरम्भ करते समय जो भूमिका दी गयी है, उसमें स्वभावत: भारतीय इतिहास के समारम्भ की समस्या को उठाया गया है और व्यावहारिक निदान के रूप में ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य भाग को विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि अनुमानत: इसी के लगभग देश लौह-युग में प्रवेश करता है तथा उसके विशाल भूभागों में सभ्यता के कतिपय सुनिश्चित लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं। उस लिपि का जिससे भारत की वर्तमान लिपियों का उद्भव हुआ है, व्यवहार या तो प्रारम्भ हो चुका था या होने वाला था और यह ऐसा समय भी था जब ज्ञात तिथि की एक महत्त्वपूर्ण घटना—बुद्ध का आविर्भाव—घटित होती है।[1] 'प्रिहिस्टॉरिक बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन कल्चर' में डी० एच० गॉर्डन ने भी इसी विभाजक रेखा को मान्यता प्रदान की है।[2]

आद्यैतिहास का एक पक्ष इतिहास की ओर झुका रहता है और दूसरा प्रागितिहास की ओर। किन्तु समग्र रूप से वह, इतिहास-पूर्व के अर्थ में, प्रागितिहास का ही अंग कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि ज्ञान की सीमा के विस्तार के साथ उसका कुछ अंश इतिहास में

१. What, however, is to be regarded as the beginning of the historical period in India? The question is as difficult to answer as it is easy to pose. It would be futile to look for a hard and fast line between the protohistoric and the historic periods. Suffice it to say that the present survey begins approximately with the second half of the first millenium B. C., when the country had stepped into the Iron Age, and over large parts certain standard elements of civilization could be discerned. Writing in a script from which the present scripts derive had, or was about to come in vogue. And this was also the time when an important event of known date took place—the coming of Buddha.

—पृष्ठ ११७-११९

२. पृष्ठ १५३

स्वत: अन्तर्भुक्त होता जाय। भारतीय संदर्भ में आद्यैतिहास, जिसमें महापाषाणों (megaliths) का अस्तित्व भी समाविष्ट माना जाता है, के मध्यवर्ती विभाजन ने प्रागितिहास की उत्तर सीमा को, जो पहले सीधे इतिहास को छू रही थी, लगभग तीन सहस्र वर्ष पीछे कर दिया और इतिहास की पूर्व-सीमा को भी प्राय: तीन शताब्दियों का विस्तार प्रदान किया। इस प्रकार यदि आद्यैतिहास को प्रागितिहास के अन्तर्गत मानें तो, और न मानें तो भी, दोनों ही अवस्थाओं में 'प्रागैतिहासिक' शब्द का अर्थ उसके द्वारा परिसीमित हुआ है।

प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के मान्य विद्वान् डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने संक्षेप में प्रागितिहास और इतिहास की समस्या को उठाते हुए लिखा है कि 'साक्षरता ही प्रागितिहास और इतिहास के बीच विभाजक रेखा है। अतएव प्रागैतिहासिक क्षेत्र में मनुष्य का वाङ्मय और मनोमय जगत् अधिकांशत: अज्ञात रह जाता है, यद्यपि लिपि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कुछ प्रतीकों से उसका किंचित् आभास होता है।'[१] लिपि को ही मुख्य विभाजक तत्त्व मानने के पक्ष का और अधिक प्रामाणिकता के साथ निरूपण इस क्षेत्र के अन्यतम भारतीय विद्वान् डॉ० एच० डी० संकालिया के ग्रंथों में हुआ है। उन्होंने इसके विपक्ष को भी प्रस्तुत किया है।[२]

प्रागैतिहासिक शब्द की मर्यादा एवं व्याप्ति की जो समस्या मेरे सामने है, वह 'प्रिहिस्टॉरिक पेन्टिंग' के लेखक ऐलन हॉटन ब्रॉड्रिक के सामने सन् १९४८ में ही आ चुकी थी। उन्होंने जिस रूप में उसका समाधान, अपने कार्य के निमित्त किया, वह मुझे संगत और व्यावहारिक लगता है। इतिहास के पूर्वोक्त त्रिधा विभाजन को उन्होंने सुविधाजन्य और अधिकांशत: परम्परागत घोषित करते हुए मानव-विकास की समग्र कथा को एक अखंड इकाई के रूप में ग्रहण किया है जैसा कि ज्ञान के निरन्तर परिवर्धन के साथ प्रतीत होता जाता है। उनके अनुसार विना किसी व्यवधान के प्रागितिहास आद्यैतिहास में अन्तर्भुक्त हो जाता है और आद्यैतिहास इतिहास में, फिर हमारे लिए आद्यैतिहास और इतिहास के भी समारम्भ की कोई ऐसी तिथियाँ निर्धारित करना सम्भव नहीं है जो भूमण्डल के समस्त क्षेत्रों के लिए मान्य हो सकें।[३]

---

१. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ, भूमिका, पृष्ठ १६

२. (i) इंडियन ऑर्कियालॉजी टुडे, पृष्ठ २६-२८
   (ii) प्रिहिस्ट्री ऐण्ड प्रोटोहिस्ट्री इन इंडिया ऐण्ड पाकिस्तान—भूमिका, पृष्ठ IX-X

३. The division of Man's story into three sections has been made for convenience, and such divisions, it must be admitted, are largely conventional. The more we learn, the better we see that the whole long story of Man is one. Without any break, prehistory merges into protohistory, and protohistory into history. Moreover, we can set for the beginnings of protohistory, and, indeed, of history, no dates which will be valid for all areas of the earth's surface.

—पृष्ठ ३

कहा जा सकता है कि किसी भी असभ्य जाति का 'इतिहास' नहीं होता और हम सभ्यता की परिभाषा एक ऐसी जीवन-प्रणाली के रूप में कर सकते हैं जिसका परिज्ञान लेखन की किसी विधि के प्रकाश में होता है, विशेषतः ऐसे लेखन से जो साहित्यिक रचना के लिए प्रयुक्त होता रहा हो। अतएव यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि 'लेखन के विना कोई सभ्यता सभ्यता नहीं होती' तो इतिहास का आरम्भ अधिक से अधिक तीन सहस्राब्दी ई० पू० तक ले जाया जा सकता है जैसा इजिप्ट आदि देशों के सम्बन्ध में सत्य है।[१] जिस लेखन को सभ्यता और इतिहास दोनों की परिभाषा का आधार माना जा रहा है वह डिरिंजर आदि अनेक लिपि-विशेषज्ञों की मान्यता के अनुसार वास्तव में मूलतः चित्रकला की परम्परा से ही विकसित हुआ है। अतः मेरे विचार से यदि लेखन के स्थान पर चित्रण (आलेखन) को आधारभूत तत्त्व मान लिया जाय तो सभ्यता और इतिहास दोनों की धारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन घटित होगा। साथ-साथ दोनों की पूर्व-सीमा का अपेक्षित परिविस्तार भी हो जायेगा। योरोपीय प्रागैतिहासिक कला को आदिम न माननेवाले मैक्स राफायल जैसे तत्त्वदर्शी विद्वानों का मत निश्चय ही इसके पक्ष में होगा। किन्तु सभ्यता का तात्पर्य जव तक मानसिक विकास एवं कला-चेतना के स्थान पर स्थूल तथा वाह्य उपकरणों से लिया जाता रहेगा, तव तक इतिहास की परिधि संकुचित ही वनी रहेगी। ऐतिहासिक निश्चयात्मकता का एकमात्र आधार तिथि-ज्ञान ही नहीं होना चाहिए। अन्य वस्तुएँ भी निश्चयात्मक निष्कर्ष निकालने में सहायक हो सकती हैं।

आद्यैतिहास के विषय में ब्रॉड्रिक का मत है कि वह इतिहास की तुलना में कम निश्चयार्थक है और इतिहास से सामान्यतया इसी अर्थ में भिन्न समझा जाता है कि उसके अन्तर्गत लेखन का अस्तित्व नहीं रहता। शेप जीवन-प्रणाली, जो उस कालखंड के अन्तर्गत आती है, जिसका परिज्ञान हमें पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर स्पष्टतया हो जाता है, इतिहास-काल के समारंभ की जीवन-प्रणाली से सार रूप में भिन्नता नहीं रखती।[२] इस दृष्टि-

१. We may say that no uncivilized people has a history. And we may define civilization as a way of life illuminated and informed by some method of writing and, moreover, by some method of writing which is employed in literary composition. If, therefore, we adopt the criterion "No civilization without writing", we shall fix the beginnings of history at rather after than before 3000 B. C.

—पृष्ठ ३

२. The term 'prehistory' is of less precise implication than the word history, but it is generally conceded that the protohistoric period in any given region, is that lapse of time during which, as we can see clearly from archaeological evidence, ways of life obtained not essentially different from those at the commencement of the historic times, save only that the former ways of life do not seem to have been enriched by writing.

—पृष्ठ ३

कोण से स्पष्ट है कि ब्रॉड्रिक आद्यैतिहास को प्रागितिहास की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट मानने के पक्ष में हैं। इसमें आद्यैतिहास के उस पक्ष पर विशेष वल दिया गया है जो इतिहास के निकट पड़ता है। पर आगे के प्रतिपादन में लेखक ने उस पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की है जो प्रागितिहास से समीपता रखता है।

वस्तुतः जिन थोड़े से भूभागों में सभ्यता के प्रारंभिक रूप का विकास हुआ, उनमें आद्यैतिहासिक काल पर्याप्त विस्तृत मिलता है। जिन क्षेत्रों में सभ्यता स्वतः विकसित न होकर वाह्य प्रभाव से आयी, हम चाहें तो धातु-युगों के परवर्ती अवस्थानों को भी आद्यैतिहास की संज्ञा दे सकते हैं। परन्तु ऐसे अस्पष्ट अर्थ में गृहीत काल के अन्तर्गत आनेवाली प्रत्येक वस्तु प्रागितिहास की परिधि में आ जाती है।[1]

ब्रॉड्रिक की दृष्टि का पैनापन प्रागैतिहासिकता की समस्या के निदान में वहाँ पहुँचकर सवसे अधिक प्रखर हो जाता है, जहाँ वह उसको काल की भूमिका से किंचित् पृथक् करते हुए स्पष्टतः तात्त्विक आधार पर प्रस्तुत करने लगते हैं। कुछ उदाहरण देकर उन्होंने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि प्रागैतिहासिकता मूलतः कालाश्रित होते हुए भी एक विंदु पर पहुँचकर काल-निरपेक्ष हो उठती है। जो वस्तु प्रकृत्या प्रागैतिहासिक युग से सम्वद्ध रही हो, वह इतिहास-काल के भीतर रहकर भी तत्त्वतः प्रागितिहास का ही वोध कराती है। अफ्रीका में वहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं जो आज वीसवीं सदी में भी नरभक्षी वतायी जाती हैं और उनकी जीवन-प्रणाली भी पाषाण-युगीन ही है। ऐसी दशा में काल का वन्धन प्रायः निरर्थक हो जाता है क्योंकि उन जातियों को ऐतिहासिक कहने की अपेक्षा प्रागैतिहासिक कहना अधिक संगत प्रतीत होता है। ब्रॉड्रिक का कथन है कि इस प्रकार पूर्व-प्रतिपादन को सार रूप में ग्रहण करने पर निष्कर्ष निकलता है कि स्कैण्डीनेवियन कांस्य-युग के शिलांकित उत्कीर्ण-चित्र, या उत्तरी इटली में स्थित कैमोनिका घाटी के लौह-युगीन शिला-चित्र, तुलनात्मक दृष्टि से कम प्राचीन होते हुए भी प्रागैतिहासिक कहे जा सकते हैं जवकि इजिप्ट की चित्रकला कई शताब्दियों अधिक पुरानी होकर भी प्रागैतिहासिक न कही जाकर वलपूर्वक ऐतिहासिक ही कही जायेगी।[2]

---

१. In fact, in those few regions of the earth where early civilization flourished, we encounter a fairly long protohistoric era. We may also, if we will, call 'protohistoric' the later phases of the Metal Ages in areas wherein civilization was not invented but where-into it was imported. But all coming before, such rather vaguely defined protohistoric times is caught into the domain of prehistory. —वही, पृष्ठ ३

२. Thus, to apply what has gone before to the subject of prehistoric art, we must say that, for instance, the Scandinavian Bronze Age rock-engravings or the Camorica Valley (Northern Italy) Iron Age rock-paintings, comparatively recent as they are, may be called 'prehistoric' whereas Egyptian paintings, many centuries more ancient, are emphatically not prehistoric but historic. —वही, पृष्ठ ५

इस प्रकार सार रूप में प्रागैतिहासिक शब्द के तीन अर्थ स्पष्ट रूप से सामने आते हैं जिन्हें विविध विद्वानों ने व्यावहारिक रूप से ग्रहण किया है तथा जो केवल सैद्धान्तिक स्तर तक ही सीमित नहीं कहे जा सकते—

१. जो निश्चित रूप से, इतिहास-काल की निर्धारक विशेपता 'साक्षरता' के आविर्भाव से पूर्व युग का हो।

२. जो आद्यैतिहासिक काल का न हो अथवा होकर भी पूर्णतया निश्चित स्थिति न रखता हो तथा जिसमें इतिहास जैसी परिचयात्मक निकटता, सर्वांगीणता एवं सुसम्बद्धता न मिले।

३. जो ऐतिहासिक युग में अस्तित्व रखकर भी परम्परा, प्रकृति, स्थिति एवं वातावरण से प्रागैतिहासिक युग का ही अधिक प्रतिनिधित्व करता हो।

प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला के संदर्भ में व्यवहारतः मैंने तीसरे अर्थ को भी निस्संकोच ग्रहण किया है।

प्रागैतिहासिकता और शिला-चित्र

प्रागैतिहासिक मानव के मनोजगत् का ज्ञान प्रतीकों से भी कहीं अधिक निश्चयात्मकता, विशदता एवं सूक्ष्मता के साथ शिला-चित्रों द्वारा प्राप्त होता है और इस दृष्टि से मैं उनको अद्वितीय महत्त्व देता हूँ। पुरातनता के प्रासाद में मुझे वे उन अगणित रूपायित गवाक्षों की तरह प्रतीत होते हैं, जिनके माध्यम से अतीत को मानसिक धरातल पर संस्पंदित औ सजीव रूप में प्रत्यक्ष किया जा सकता है जैसा किसी अन्य माध्यम से संभव नहीं है। कलाकार के नाते मुझे प्रागैतिहासिक चित्र एक ऐसा जीवन्त अनुभव प्रदान करते हैं, जो उनमें निहित अप्रतिम कला-चेतना एवं रचना-शक्ति के कारण केवल अतीत का ही बोध नहीं कराता वरन् उनके अस्तित्व को सीधे आधुनिक युग के कला-संदर्भ से जोड़ देता है। किन्तु यह बात व्यक्तिगत और दूसरी दिशा की है। प्रागैतिहासिक चित्रों का महत्त्व इसी से विदित हो जाता है कि योरोप के प्रागितिहास को मुख्यतया उन्हीं की शोध के आधार पर लगभग तीस-चालीस सहस्राब्दियों तक का गौरवपूर्ण परिविस्तार प्राप्त हुआ और कला के क्षेत्र में भी अतुल सांस्कृतिक प्रतिष्ठा उपलब्ध हुई। मनुष्य के भीतर सृजन-शक्ति कितनी पुरातन और कितनी गहराई तक व्याप्त है, इसका जैसा ज्वलंत प्रमाण शिला-चित्रों से प्राप्त होता है, वैसा पाषाणास्त्र आदि अन्य पुरातात्त्विक उपकरणों से कदापि संभव नहीं है। अज्ञात-काल की संस्कृति के आभ्यंतरिक स्वरूप का उद्घाटन लिपि के अभाव में एकमात्र कलाकृतियों के द्वारा

ही हो पाता जिनमें शिला-चित्रों का स्थान सर्वप्रमुख है। उनके द्वारा गुहावासी मानव की अन्तश्चेतना के प्रवाह का परिचय मिलता है, उसकी संघर्षपूर्ण जीवन-प्रक्रिया तथा विषम-तम वातावरण में भी व्यक्त होनेवाली मौलिक उद्भावना-शक्ति एवं उसके सौंदर्य-बोध का भी प्रमाण उपलब्ध होता है, जिससे आज तक चले आनेवाले कला-चेतना के प्रवाह की अखंडता का बोध होता है। योरोपीय शिला-चित्रों की कलात्मक प्रौढ़ता को लक्षित करते हुए 'प्रिहिस्टॉरिक केव पेन्टिंग' में उसके लेखक मैक्स राफायल ने एक मार्मिक प्रश्न उठाया है और वह यह कि सम्पूर्ण प्रागैतिहासिक युग की कला को सीधे-सीधे आदिम (Primitive) मान लेना कहाँ तक उचित है ? योरोपीय संदर्भ में लिखी गयी अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय का आरंभ करते ही उसने स्पष्ट कर दिया कि 'मैं केवल प्राचीनतम रूप में ज्ञात चित्रों का अनुशीलन कर रहा हूँ, जिसका सम्बन्ध न तो आदिम कला से है और न कला की आरंभिक स्थितियों से।' उसके अनुसार कुछ तथ्यों से अपरिचित होने के कारण भ्रमवश ही पाषाणकालीन चित्रों को आदिम बताया जाने लगा। कहा गया है कि उस काल के कलाकार चित्रण-क्रम में सतह को अधिकृत करने या रिक्त स्थान को पुनरुद्भावित करने में असमर्थ थे, अथवा यह कि वे केवल एकाकी पशु का चित्रण कर पाते थे, पशु-समूहों का नहीं तथा सम्पुंजनों का तो उन्हें बोध ही नहीं था। सत्य वास्तव में इसका ठीक उल्टा ही है। हमें शिला-चित्रों में न केवल समूहांकन मिलते हैं वरन् ऐसे सम्पुंजन भी प्राप्त होते हैं जो गुफा की पूरी की पूरी भित्ति या छत पर चित्रित किए गये हैं। हमें स्थान की उद्भावना से युक्त आलेखन मिलते हैं ; ऐतिहासिक चित्र और समस्त कलात्मक वैभव मिलता है, यदि नहीं मिलती है तो केवल आदिम कला।[१] यह कथन योरोपीय चित्रों के विषय में जितना सटीक है, उतना भारतीय चित्रों के विषय में न भी हो तो भी तात्त्विक दृष्टि स्पष्ट है। सामाजिक विकास की वर्तमान स्थिति तक आते-आते मानव-मन के बहुत-से रहस्यमय एवं गूढ़ सत्य प्रच्छन्न हो गए हैं। अथवा जिनका आभास आज की जटिल जीवन-प्रणाली में कठिनता से हो पाता है, उनकी ओर भी प्रागैतिहासिक चित्रकला सीधा ध्यान आकृष्ट करती है। इस प्रकार मानवीय चेतना को एक अत्यन्त विस्तृत सन्दर्भ प्राप्त होता है तथा उसकी आन्तरिक एकता प्रमाणित होती है। मानव-विकास के विविध स्तर

१. The present study deals with the oldest known paintings, it does not deal with primitive art......Thus the dogma that palaeolithic paintings belong to so-called primitive art gained favour. It has been said that palaeolithic artists were incapable of dominating surfaces or reproducing space : that they could produce only individual animals, not groups, but compositions. The exact opposite of all this is true : we find not only groups, but compositions that occupy the length of an entire cave wall or the surface of a ceiling; we find representation of space, historical paintings and even the golden section. But we find no primitive art.

—पृष्ठ १

लक्षित होते हैं जिनसे आत्मीयता स्थापित होने पर सांस्कृतिक समृद्धि और सम्पूर्णता की अनुभूति होती है।

कुछ विशेषज्ञों में एक धारणा ऐसी भी प्रचलित रही है कि कला और कला-कृतियाँ मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में मात्र अलंकरण के स्थान पर हैं। इतिहास के रचनात्मक आधार के रूप में उन्हें दर्शन और विज्ञान जैसी महत्ता भी प्राप्त नहीं होनी चाहिए। सुप्रसिद्ध विद्वान् एच०जी० वेल्स ने एक स्थान पर इसी प्रकार की बात लिखी है।[1] यह विचार वेल्स को कदाचित् अपने गुरु हर्बर्ट स्पेन्सर से प्राप्त हुआ, जिसके पीछे इंग्लैण्ड के संकीर्ण चिंतन की परम्परा ध्वनित होती है। वास्तव में ऐसा सोचना अनुपयुक्त है। कला का स्थान मानव-विकास में किसी भी प्रकार दर्शन और विज्ञान से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए। कलाकार के 'धर्म' की चर्चा करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कला की महत्ता को यथोचित रूप में व्यक्त किया है, जिससे एक प्रकार से पूर्वोक्त धारणा का प्रतिवाद हो जाता है। कविगुरु के अनुसार अमूर्त सत्य भले ही विज्ञान और तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र से सम्बद्ध हों परन्तु यथार्थ जगत् का सम्बन्ध कला से है। कला में वह यातुक प्रभाव निहित रहता है, जो उस प्रत्येक वस्तु को, जो उसकी परिधि में आ जाती है, एक अमृतत्वमय यथार्थता प्रदान करता है तथा उसे हमारे भीतर निहित व्यक्तित्व से सम्पृक्त कर देता है।[2] पाश्चात्य कला-विशेषज्ञ हर्बर्ट रीड भी वेल्स की धारणा के विरुद्ध कला को अभिव्यक्ति के माध्यम और ज्ञान की दृष्टि से दर्शन और विज्ञान से अधिक प्रामाणिक एवं मूल्यवान मानते हैं।[3] इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्र और रीड की दृष्टि मानवीय यथार्थ को अधिक गहराई से देखती है। 'ऑन दि ट्रैक ऑफ प्रिहिस्टॉरिक मैन' के 'एपिलॉग' में हर्बर्ट कुह्न ने धर्म, दर्शन और कला तीनों के उद्भव को प्रागैतिहासिक मानव के आन्तरिक जीवन से सम्बद्ध बताया है।[4]

---

१. Artistic productions, unlike philosophical thought and scientific discovery, are the ornaments and expression rather than the creative substance of history.

—दि आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री

२. (i) Abstract truth may belong to science, and metaphysics, but the world of reality belongs to art. —रेलीजन ऑफ ऐन आर्टिस्ट, पृष्ठ १७

(ii) It has the magic wand which gives undying reality to all things it touches and relates them to the personal being in us.

—वही, पृष्ठ १९

३. Art must rather be recognised as the most certain modes of expression which mankind has achieved...Art is a mode of knowledge, and the world of art is a system of knowledge as valuable to man—indeed more valuable than the world of philosophy, or the world of Science.

४. The three realms of the spiritual life, religion, art and philosophy, have their beginnings in that world of prehistoric man.

—आर्ट ऐण्ड सोसाइटी, पृष्ठ १८-१९
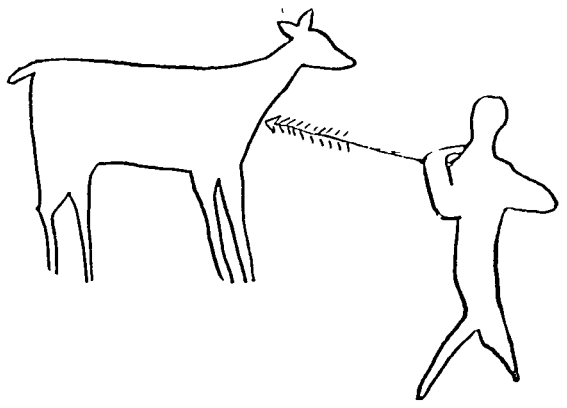
प्रागैतिहासिक

पिछले पृष्ठ का चित्र

रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में १८९९ ई० में मुद्रित कॉकवर्न के कैमूर की पहाड़ियों के गुफाचित्रों से सम्बद्ध लेख के साथ प्रकाशित एक रेखाचित्र जो कंडाकोट के पासवाली लिखनिया की गुफा में अंकित आखेट - दृश्य की अनुकृति ।

प्रागैतिहासिक चित्रों की शोध-कथा

प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों की शोध और उसके अध्ययन-अनुशीलन एवं प्रकाशन का इतिहास अभी एक शताब्दी की परिधि भी पार नहीं कर सका है। उसका समारम्भ बीसवीं शती से लगभग तीन दशक पूर्व उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ, जिसका प्रायः सम्पूर्ण श्रेय विदेशी विद्वानों एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं को है। सामान्यतः मानव-सुलभ जिज्ञासा और विशेषतः आधुनिक युग की मानववादी विचारधारा से एक ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न हुई, जिसने युगों से चली आती हुई वर्गवादी संकीर्ण और आत्म-केन्द्रित जातीय विचार-पद्धति से ऊपर उठकर मानवीय संवेदना के क्षेत्र का विस्तार करते हुए सदा से उपेक्षित आदिवासियों के जीवन और लोक-साहित्य के अध्ययन की गम्भीर प्रेरणा प्रदान की। यह भी उसी का परिणाम है कि आज गहन वनों और दुर्गम पहाड़ियों में अज्ञात काल से छिपी गुफाओं एवं शिलाश्रयों पर अंकित आदिम चित्रों का तत्परता और सहानुभूति के साथ अध्ययन किया जा रहा है।

प्रवृत्तिगत इस मूलाधार के अनन्तर प्रागैतिहासिक चित्रों की शोध और अनुशीलन को जो कुछ शक्ति प्राप्त हुई है, उसका श्रेय उस पुरातत्त्व (Archaeology) को है जिसने पुरातन के प्रति सहज जिज्ञासा को भावमय, तरल और असम्बद्ध कल्पना-जगत् से निकालकर ऐतिहासिक यथार्थ की ठोस व्यवस्था से युक्त वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि यह भी सत्य है कि पुरातत्त्वज्ञों द्वारा कालानुक्रम को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि उपलब्ध पुरातन सामग्री में निहित कला और संस्कृति के अभिव्यंजक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की बहुधा उपेक्षा हो जाती है तथा कभी-कभी नितान्त नगण्य वस्तुएँ आवश्यकता से अधिक महत्ता ग्रहण कर लेती हैं। जहाँ तक प्रागैतिहासिक चित्रों का सम्बन्ध है उनको जितना महत्त्व मिलना चाहिए उतना अभी भारत में प्राप्त नहीं हुआ है। विदेशों में अवश्य न केवल उनके वैज्ञानिक निरीक्षण की परम्परा का सूत्रपात हो गया है वरन् वैज्ञानिक पद्धति से उनका अनुशीलन एवं प्रकाशन भी पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका है। उनके सुरक्षण की दिशा में तो वहाँ अभूतपूर्व व्यवस्था कर दी गयी है जबकि भारत में कुछ अपवादों को छोड़कर अगणित चित्रित गुफाएँ प्रकृति के सहारे यों ही पड़ी हुई हैं। बहुत-सा क्षेत्र ऐसा भी है जहाँ चित्रित शिलाश्रयों एवं गुफाओं की उपलब्धि

की पूर्ण सम्भावना है, क्योंकि कुछ आकस्मिक रीति से यदा-कदा प्रकाश में आती रही हैं, परन्तु अभी तक भारतीय पुरातत्त्व-विभाग ने शोध की इस दिशा में अपने दायित्व का यथोचित निर्वाह नहीं किया है, यह मैं स्वानुभव के आधार पर निस्संकोच कह सकता हूँ। इसका व्यावहारिक कारण जो भी हो, मनोवैज्ञानिक कारण मेरे आगे सर्वथा स्पष्ट है और वह यही कि कालगत अनिश्चय की भावना ने, पुरातत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में इन चित्रों के महत्त्व को वास्तविक रूप में स्थिर नहीं होने दिया है। उनका सहज शंकालु मन पूर्वाग्रह से इतना भर गया है कि इन पर विचार करते हुए भी उन्हें संकोच होता है। इसके प्रमाण में केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। डी० एच० गॉर्डन महोदय जो इस विषय के एक विशेषज्ञ माने जाते हैं, जब अपनी ख्याति-प्राप्त पुस्तक 'प्रिहिस्टॉरिक बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन कल्चर' में प्रागैतिहासिक चित्रों का परिचय देना आरम्भ करते हैं तो उनका पहला वाक्य होता है—

Such is the prestige of rock paintings of palaeolithic date, that anything of that nature failing to establish a title to so great antiquity, forfeits apparently the right to any proper consideration whatsoever.[1]

प्रागैतिहासिकता केवल 'प्राचीन प्रस्तर युग' (Palaeolithic Age) तक ही सीमित नहीं है, उसमें नवीन प्रस्तर युग (Neolithic Age) का भी स्थान है। ऐसी दशा में यह वाक्य पूर्वाग्रह के अतिरिक्त अन्य किस धारणा का द्योतन करता है? केवल प्राचीन-प्रस्तर-युगीन सिद्ध होने पर ही शिला-चित्र सम्यक् रीति से विचारणीय कहे जायेंगे, यह बात विवेकसंगत प्रतीत नहीं होती। फिर चित्रों पर बिना सम्यक् रीति से विचार किये यह निश्चय भी कैसे किया जा सकता है कि वे प्राचीन-प्रस्तर-युग से सम्बद्ध हैं अथवा नहीं। खेद का विषय है कि अपने नव प्रकाशित ग्रंथ 'प्रिहिस्ट्री ऐण्ड प्रोटोहिस्ट्री इन इंडिया ऐण्ड पाकिस्तान' में उसके लेखक डॉ० एच० डी० संकालिया ने गॉर्डन की धारणा का कोई खंडन न करते हुए प्रागैतिहासिक चित्रकला के सम्पूर्ण प्रसंग को मात्र यह कहकर उपेक्षित कर दिया है कि लेखक के पास इस सम्बन्ध में नया कुछ भी कहने को नहीं है।[2]

---

१. प्रिहिस्टॉरिक बैकग्राउण्ड ऑफ इंडियन कल्चर—अध्याय VI, पृष्ठ ६८
(पाषाणयुगीन शिला-चित्रों की प्रतिष्ठा कुछ ऐसी है कि उस प्रकार की कोई वस्तु यदि अपनी इतनी प्राचीनता निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं कर पाती तो वह स्पष्टतः इस बात की ही अधिकारिणी नहीं रहती कि उस पर समुचित रीति से विचार भी किया जा सके।)

२. So also a reference to megaliths and rock-shelters and paintings; both these are well discussed by SIR MORTIMER WHEELER and the late COLONEL GORDON in their respective works. And the writer has nothing new to offer.
—पृष्ठ XII

अतीत का जो अंश कला और साहित्य के माध्यम से अथवा अन्य पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुओं के रूप में वर्तमान की पकड़ में आ जाता है, वह अतीत से अलग होकर वर्तमान का अंग वन जाता है। उसमें कल्पना को उद्दीप्त करने की एक ऐसी अतिरिक्त शक्ति होती है कि वह उसके कारण कुछ संवेदनशील विशेषज्ञों को अन्य अनेक वर्तमान संदर्भो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है और वे उसी के अध्ययन-अनुशीलन में लिप्त हो जाते हैं। उसके सजीव सम्पर्क से उत्पन्न अनुभूति अस्तित्व की अज्ञात गहराइयों तक प्रवेश करके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रमथन करती हुई उसे ऐसी नवीन भावभूमि पर प्रतिष्ठित करती है जहाँ पहुँचने पर सांस्कृतिक वैभव के प्रभुत्व-वोध से एक अद्भुत पूर्णता की प्रतीति होती है। औरों की मैं नहीं जानता, पर कम-से-कम मैंने स्वयं ऐसा ही अनुभव किया है, अतएव मेरे निकट प्रागैतिहासिक चित्रों की शोध का ऐतिहासिक विवरण भी नीरस विवरण मात्र न होकर एक स्पंदनशील भाव-कथा वन गया है। उसे शव्दवद्ध करते हुए मैं प्रायः उसी प्रकार का अनुभव कर रहा हूँ जैसा, भावात्मक आरोह-अवरोह से युक्त, एक कथाकृति को पढ़ते समय हुआ करता है।

कहा जा चुका है कि प्रागैतिहासिक चित्रों की शोध एवं महत्त्व संस्थापन की दिशा में अभी तक विदेशी विद्वान् ही अग्रणी रहे हैं, अतएव यह उचित होगा कि भारतीय क्षेत्र में हुए कार्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए पूर्वपीठिका के रूप में विदेशी—भारतेतर कहना संभवतः अधिक उपयुक्त होगा—क्षेत्रों में हुए कार्य पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए उसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाय। अव तक जितने विद्वानों ने भारतीय शिला-चित्रों के विषय में शोध की है या उनकी समस्या पर विचार किया है, सवने प्रायः निरपवाद रूप में उनको भारतेतर, मुख्यतया योरोपीय शिला-चित्रों की सापेक्षता में रखकर मूल्यांकित करने की चेष्टा की है। यह दूसरी वात है कि इस दिशा में तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति से अभी तक जो भी तथ्य सामने आये हैं या जो भी निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे किसी गम्भीर अनुशीलन और व्यवस्थित अध्ययन के परिणाम न होकर सामान्य धारणा की कोटि में ही आते हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जव तक भारतीय शिला-चित्रों की शोध गम्भीरतापूर्वक कार्यान्वित नहीं कर ली जाती, तव तक अन्य देशों के चित्रों से उनकी तुलना करके किसी सुस्थिर और सम्यक् निष्कर्ष तक पहुँचने की कल्पना व्यर्थ प्रतीत होती है। विना यथेष्ट आधार के महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं निकाले जा सकते।

विदेशों में प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज

ऐलन हॉटन ब्रॉड्रिक ने कदाचित् पहली वार विश्वव्यापी स्तर पर प्रागैतिहासिक चित्रकला का सम्यक् परिचय अपनी संक्षिप्त किन्तु विशिष्ट पुस्तक 'प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग' में प्रस्तुत किया है। यही नहीं उन्होंने अभी कुछ समय पूर्व योरोप की प्रागैतिहासिक कला के जर्मन विशेषज्ञ हर्बर्ट कुह्न के एक नव-लिखित ग्रंथ को *'आन दी ट्रैक ऑफ प्रिहिस्टॉरिक मैन'* नाम से अँगरेजी में अनूदित भी किया है। ऐसे विद्वान् के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि संसार का ध्यान प्रागैतिकासिक चित्रों की ओर उन्नीसवीं शती के आठवें दशक के आस-पास उत्तरी स्पेन में स्थित आल्तामीरा की चित्रमय गुफा की शोध के अनन्तर गया, इससे पूर्व उनका ज्ञान किसी को नहीं था।[1]

स्पेन

उत्तरी स्पेन में कॉन्ताब्रिया (Cantabria) से पिरेन (Pyrenees) तक और उससे ऊपर पुरातन पेरीगॉ (Perigord) तथा वेज़ेयर(Vezere) नदी की प्रसिद्ध घाटी तक लगभग सौ चित्रित गुफाओं की शृंखला फैली हुई है, जिनमें ब्रॉड्रिक के अनुसार सबसे प्रमुख गुफाएँ निम्नलिखित हैं :

१. आल्तामीरा (Altamira)
२. बासोन्दो (Basondo)
३. कूवा देल कास्तिल्यो (Cueva del Castillo)

---

१. Prehistoric engravings and carvings on small objects have been recognized as such since about 1840. However, no prehistoric paintings were known until the revelation of the Altamira cave in Northern Spain during the 70's of the last century.
—Prehistoric Painting, पृ० ५

(प्रागैतिहासिक काल की छोटी वस्तुओं पर अंकित, खचित और उत्कीर्ण चित्रों की उस रूप में मान्यता १८४० ई० से ही होने लगी थी परन्तु प्रागैतिहासिक चित्रों में से किसीकी उपलब्धि उत्तरी स्पेन में स्थित आल्तामीरा नामक गुफा की चित्रराशि के १८७० ई० में हुए आकस्मिक अन्वेषण से पूर्व नहीं हुई थी)

४. ला पसेगा (La-Pasiega)
५. हार्नास द ल पेन्या (Hornos dela Pena)
६. पिन्दाल (Pindal)
७. पेन्या द कोदीमो (Pena de Caudemo)

इन सबमें आल्तामीरा ही सर्वप्रथम खोजी गयी। वही सबसे अधिक प्रख्यात हुई तथा चित्रों की दृष्टि से भी उसी का महत्त्व सर्वोपरि है। उसकी खोज नितान्त आकस्मिक एवं अप्रत्याशित रूप से सन् १८७९ में हुई।

मारसेलिनो द सौतुओला (Marcelino de Sautuola) नामक एक स्पेनी व्यक्ति की पाँच वरस की छोटी-सी लड़की जो ऊपरी गुफाएँ देखने में लीन अपने पिता से अलग होकर नीचे की ओर भटकती हुई चली गयी, आल्तामीरा के सशक्त 'वाइसन' चित्रों को अनेक सहस्राब्दियों के व्यवधान के वाद अपनी भोली आँखों से पहली वार देखने का सौभाग्य पा सकी। वह मारे उल्लास के 'Toros, Toros' चिल्लाती हुई दौड़कर अपने पिता के पास गयी और उसने उन्हें अपनी खोज का प्रथम परिचय दिया। उसकी यह ख़ोज विश्व की चित्रकला के इतिहास में एक नये अध्याय के सूत्रपात का आधार वनी। एवे० एच० ब्रूई (Abbe. H. Breuil) तथा एच० ओवरमायर (H. Obermaier) द्वारा १९३५ ई० में आल्तामीरा सम्वन्धी एक गवेपणापूर्ण सचित्र अध्ययन प्रस्तुत किया गया जिसकी मान्यता एवं ख्याति इस क्षेत्र में प्रायः सर्वत्र हुई। ब्रूई महोदय एम० सी० वर्किट (M. C. Burkitt) के साथ इससे पूर्व सन् १९२९ में दक्षिणी स्पेन के शिला-चित्रों के विपय में 'Rock Paintings of Southern Andalusia' नाम से ग्रंथ रूप में एक विशेप अध्ययन प्रकाशित कर ही चुके थे, उन्होंने योरोप के गुफा-चित्रों के विपय में स्वतंत्र रूप से एक और विस्तृत अध्ययन 'Four Hundred Centuries of Cave Art' प्रस्तुत किया। इसमें स्पेन की आल्तामीरा, कोगुल (Cogul) आदि ३२ चित्रमय गुफाओं का परिचय दिया गया है, जो निम्नलिखित पाँच क्षेत्रों में स्थित हैं :

१. वास्क (Basque)
२. सान्तान्देअर (Santander)
३. अस्तूरियास (Asturias)
४. ओल्ड कस्तिल्य (Old Castile)
५. आण्दालूजिया (Andalusia)

उनका अध्ययन इतना गहन है कि उन्हें प्रागैतिहासिक योरोपीय कला का कदाचित् सबसे वड़ा विशेपज्ञ कहा जा सकता है।

आल्तामीरा के पशु-चित्रों का शैली-साम्य ५००० मील से भी अधिक दूर दक्षिणी

१. Prehistoric Painting, पृ० १६

अफ्रीका के वसूटोलेंड (Basutoland) नामक प्रान्त की खोट्सा (Khotsa) गुफा के पशु-चित्रों से मिलता है। पूर्वी स्पेन की साल्तादोरा (Saltadora) गुफा के चित्रों में जो धनुर्धर मानवाकृतियाँ मिलती हैं उनका आश्चर्यजनक सादृश्य अफ्रीका के उक्त प्रान्त की ही वोगाटी पहाड़ी (Bogati Hill) के चित्रों में अंकित योद्धाओं से लक्षित किया गया है।[१] इसके आधार पर योरोप और अफ्रीका के बीच पुरातन काल में रहे विविध प्रकार के सांस्कृतिक सम्बन्धों की कल्पना भी विद्वानों ने की है। डॉ० कुह्न की स्पष्ट धारणा है कि स्पेनी और अफ्रीकी चित्रों के निर्माता परस्पर सम्बद्ध रहे होंगे, इसीलिए इतना शैली-साम्य मिलता है। पूर्वी स्पेन के 'स्पेनिश लेवा' (Spanish Levant) नाम से प्रसिद्ध एवं अनेकानेक गुफाओं से पूरित तटवर्ती प्रदेश में स्थित यह दो गुफाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं :

१. पार्पेल्लो (Parpello)
२. मीनाटेडा (Minateda)

पार्पेल्लो में अनेक शैलियों के चित्र मिलते हैं और मीनाटेडा में क्रमशः आक्षिप्त एक पर एक १३ चित्रण स्तर प्राप्त होते हैं।[२] लैवेन्टाइन चित्रों की ओर सर्वप्रथम १९०३ ई० में ध्यान आकर्षित हुआ।

स्पेन में वहुवर्णिक एवं सशक्त यथार्थ रूपालेखन से युक्त गुफा-चित्रों, मुख्यतया आल्तामीरा के चित्रों की प्रामाणिकता और प्राचीनता को लेकर भारी विवाद आरम्भ हुआ, जिसका परिशमन फ्रांस के गुफा-चित्रों की समय-समय पर होनेवाली उपलब्धि के द्वारा होता रहा। इधर जब लास्को (Lascaux) के अद्वितीय चित्रों की शोध हुई तो सन्देह की रही-सही छाया भी मिट गयी।

फ्रांस

स्पेन की तरह फ्रांस भी प्रागैतिहासिक चित्रों की दृष्टि से अद्भुत सम्पन्नता रखता है। लास्को की खोज से बहुत पूर्व रिवियेर (Riviere) द्वारा १८९५ में ही दक्षिण-पश्चिमी फ्रांस के उसी दॉर्दान् (Dordogne) प्रदेश में ला मूथ कावेर्न (La mouthe Cavern) के गुफा-चित्रों का परिचय प्राप्त किया गया। इससे स्पेन के चित्रों की प्रामाणिकता का पक्ष सबल होने लगा। १८९६ में देलो (Deleau) ने पेरोनी (Pair-non-Pair) नामक गुफा की शोध की। १९०१ में कैपिटन (Capitan) और पाइरोनी (Peyrony) ने फ़ाँ द गाँ (Font-de-gaume) नामक सुप्रसिद्ध गुफा के विपुल चित्र-वैभव का उद्घाटन किया और १९०८ में कार्तेलाक् (Cartailhoc) तथा रेन्यॉ (Regnault) के संयुक्त प्रयत्न से मार्सूलास (Marsulas) के चित्र प्रकाश में आये।

१. वही, पृ० १२
२. वही पृ० ९-१०

इतने स्थानों पर शिला-चित्रों की खोज होने के वाद और भी अनेक चित्रित गुफाएँ समय-समय पर खोजी जाती रहीं तथा रूप और शैली की इतनी विविधता सामने आयी कि पुरातन कला के विशेषज्ञों को उसका सम्यक् आकलन करना भी दुष्कर हो गया। इस खोज की चरम सीमा १९४० में लास्को की अप्रतिम चित्रराशि की उपलब्धि से हुई,[1] जिसका विशेष अध्ययन १९४९ में फर्नेण्ड विण्डेल्स (Fernand Windels) की प्रकाशित 'दि लास्को केव पेंटिंग्स' (The Lascaux Cave Paintings) नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। इस कृति का महत्त्व एच० ब्रूई (H. Breuil) के आमुख, सी० एफ० सी० हाक्स (C. F. C. Hawkes) की भूमिका तथा लिण्ड्से ड्रमण्ड (Lindsay Drummond) की टिप्पणियों से और भी बढ़ गया है और लास्को के चित्रों तथा उनसे सम्बद्ध अनेकानेक समस्याओं का इससे यथेष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आल्तामीरा के पश्चात् योरोप की चित्रित प्रागैतिहासिक गुफाओं में लास्को का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। दोनों ही प्रायः समान रूप से विश्वविख्यात हुई। वाद में खोजे जाने पर भी महत्त्व की दृष्टि से लास्को के चित्र आल्तामीरा के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं कहे जा सकते। प्राचीनता की दिशा में तो उनका महत्त्व कुछ अधिक ही स्वीकार किया गया है। लास्को के चित्र आरिग्नेशियन काल के माने जाते हैं जब कि आल्तामीरा के मैग्डा-लीनियन काल के ही हैं जो उसके वाद आता है।[2]

लास्को की शोध-कथा भी आल्तामीरा की खोज की पूर्वोक्त घटना से कम रोचक नहीं है। १९४० के सितम्बर १२ को पाँच लड़के अपने खोये हुए कुत्ते तक पहुँचने के लिए एक छेद को खोदते-खोदते लास्को के युगों से अज्ञात चित्रागार में जा गिरे। लास्को की गुफा लगभग २० गज लम्बी और १० गज चौड़ी है तथा उसकी दीवारों के ऊपरी भाग और छत में अनेक गतिशील घोड़ों, वारहसिंगों, प्रधावित उग्र वन-महिषों तथा वृषभों के अद्वितीय शक्ति-सम्पन्न वहुर्वणिक चित्र अंकित हैं, जिनकी शैली जल-रंगों की प्रवहमानता से युक्त सर्वथा विशिष्ट है।

---

१. Until the discovery of Lascaux in 1940, there were comparatively little Prehistoric painting in France which could be unhesitatingly assigned to Aurignacian art-phase.

(सन् १९४० में हुई लास्को की खोज से पहले फ्रांस में ऐसे प्रागैतिहासिक चित्रों की स्थिति अपेक्षाकृत नगण्य थी जिन्हें निःसंकोच आरिग्नेशियन कला-युग की कृति कहा जा सकता है।) वही, पृ० १९

२. This Lascaux period is the first peak of prehistoric pictorial art. The magnificient polychrome paintings of Altamira represent the second peak, the peak of Magdalenian times —Prehistoric Painting, पृ० १५

(लास्को के गुफा-चित्रों का यह निर्माण युग प्रागैतिहासिक चित्रकला का प्रथम उत्थान-काल है। आल्तामीरा का बहुवर्णी चित्र-वैभव द्वितीय उत्थान-काल अर्थात् मैग्डालीनियन विकास-स्तर का द्योतक है।)

स्पेन और फ्रांस के शिला-चित्रों का वर्गीकरण

ओवरमायर और बर्किट दोनों ने फ्रांस तथा स्पेन के चित्रों को संयुक्त रूप से 'फ्रैंको कॉन्ताब्रिया वर्ग' (Franco Cantabrian Group) में रक्खा है। ओवरमायर ने इस वर्ग के तीन विकास-स्तर निर्दिष्ट किए हैं।[१] 'लोअर आरिग्नेशियन' पहला विकास-स्तर है जिसमें वे पशु-चित्र आते हैं जिनमें पशुओं के अनगढ़ उभार काले, पीले और लाल रंगों में अंकित किए हैं। हाथ की छापें भी इसी स्तर से सम्बद्ध हैं। दूसरे अथवा 'अपर आरिग्नेशियन' नाम के विकास-स्तर के पशु-चित्रों में प्राकृतिक एवं यथार्थ रूप-सादृश्य विशेषतः लक्षित होता है। काले और लाल रंगों द्वारा रूप-आलेखन करते हुए शरीर के उभारों के अतिरिक्त सूक्ष्म आवयविक-चित्रण भी किया गया है। तृतीय विकास-स्तर जिसे 'लोअर मैग्डालीनियन' की संज्ञा प्रदान की गयी है, चित्रों के कलात्मक उन्नयन का श्रेष्ठतम स्वरूप प्रस्तुत करता है। अनुपात और सूक्ष्मालेखन का चित्रांकन में साधिकार समावेश हुआ है। मूल चित्रण काले रंग में करके उसे भूरे और लाल से आपूरित किया गया है। इस प्रकार के पशु-चित्रों में वन-महिषों (bisons) के चित्र विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

एच० ब्रूई ने फ्रांस-स्पेन और इटली के गुफा-चित्रों के विकास की चार सौ शताब्दियों का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके अन्त में एक कालानुक्रममूलक वर्गीकरण भी दिया है। उसमें विकास के निम्नलिखित पाँच स्तर माने गए हैं[२] :

१. ऑरिग्नेशियन (Aurignacian)
२. पेरीगॉडियन (Perigurdian)
३. सेल्यूत्रियन (Salutrian)
४. मैग्डालीनियन (Magdalenian)
५. एज़ीलियन (Azilian)

अफ्रीका

लियो फ्रोबेनियस (Leo Frobenius) द्वारा सन् १९१३ में अफ्रीका के पश्चिमोत्तरी भाग में स्थित अल्जीरिया तक फैली ऐटलस पर्वत की शृंखलाओं में अनेक उत्कीर्ण चित्रों (engravings) के साथ-साथ दो वर्ण-विनिर्मित अपेक्षाकृत प्राचीन चित्रों की खोज भी की गयी।[३] जिराफ़, गेंडे, हाथी, वन-महिष आदि महाकाय पशुओं और विशालतम पक्षी शुतुर-

१. Primitive Art (1964), पृ ७८
२. 'Four Hundred Centuries of Cave Art' के अन्त में दिए गये अंश के अन्तर्गत 'An attempt at Chronological classification'
३. Primitive Art, तृतीय संस्करण, पृ० ८२

मुर्ग के अनेक शिला-चित्र ऐटलस-क्षेत्र में पाये गये हैं। यह जीव उत्तरी क्षेत्र में अप्राप्य हैं अत: विद्वानों ने अनुमान किया है कि किसी समय जब इस क्षेत्र की जलवायु अधिक उष्ण होगी और उसमें इन जीवों का भौतिक अस्तित्व रहा होगा तभी इन शिला-चित्रों का निर्माण हुआ होगा। घोड़े और ऊंट के चित्र 'लिबियन बर्बर ग्रुप' (Libyan-Berber-Group) से सम्बद्ध किये जाते हैं तथा उनका रचना-काल बहुत बाद का माना जाता है।[1] इन दो प्रकार के चित्रों के अतिरिक्त सहारा-क्षेत्र के चित्र भी अपनी स्वतंत्र शैलीगत विशेषताएँ रखते हैं तथा वे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बुशमन-चित्रों (Bushman-paintings) से उनकी निकटता लक्षित की गयी है। दोनों में अनेक वर्णो का प्रयोग मिलता है तथा प्राकृतिक यथार्थ रूपालेखन भी दोनों की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। एक अन्वेषक दल ने १९३५ में तासिली (Tasili) पर्वत-क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में स्थित अहागा (Ahagger) नामक पठारी भूभाग में कुछ अन्य बहुवर्णी चित्र खोज निकाले हैं।[2] इनमें अधिकतर पशुओं का ही आलेखन हुआ है। कहीं-कहीं कुछ गतिशील मानवाकृतियाँ भी चित्रित मिलती हैं। इनका भी बुशमन-चित्रों से साम्य लक्षित किया गया है। इजिप्ट के पुरातन चित्रों से भी इनकी समता की गयी है। और इतना ही नहीं काउण्ट द शासेलो लोबाट (Count de Chasseloup Laubat) ने उस समता के आधार पर इनके रचयिताओं को इजिप्ट की संस्कृति का जनक तक मान लिया किन्तु इसका खण्डन लायोंहार्ट आडम (Leonhard Adam) ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट रूप से किया है।[3] उन्होंने इन्हें नवीन प्रस्तर-युग से पहले का नहीं माना है और अधिक-से-अधिक इनके इजिप्ट के राजवंशी काल और उससे पूर्ववर्ती युग के बीच की कड़ी मात्र होने की संभावना स्वीकार की है।

सहारा के रेगिस्तान में इन-एज़ान (In-Ezzan) नामक शीतल जल-स्रोत से युक्त विश्रामस्थल के समीप की चित्रित गुफा-भित्तियों के चित्रों को ब्रूई ने अपने फ्रांसीसी भाषा के एक लेख में तीन वर्गो में विभाजित किया है। पहले वर्ग के चित्र आदिम (Primitive) दूसरे वर्ग के गेरुए रंगवाले चित्र अपेक्षाकृत अधिक परवर्ती तथा तीसरे वर्ग के अश्वों एवं आरोहियों के श्वेतवर्णी चित्र आधुनिक (modern) कहे गये हैं। ब्रूई ने एक ओर स्पेन के लेवन्टाइन-चित्रों से इनका साम्य लक्षित करते हुए शैलीगत-योजनाबद्धता के कारण इन्हें प्राचीन प्रस्तर-युग के अंतिम काल का भी बताया है। ए० एच० ब्रॉड्रिक की धारणा है कि इन-एज़ान के कतिपय चित्र अफ्रीका के दक्षिणी भाग में स्थित रोडीशिया (Rhodesia) और केप (Cape) के चित्रों का स्मरण दिलाते हैं। लायोंहार्ट की तरह वे भी अंतत: दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका तथा स्पेनिश लेवाँ के बीच की कड़ी के रूप में सहारा के इन चित्रों की व्याख्या करते हैं।[4] लिबिया-रेगिस्तान की उवेनाट

१. Primitive Art, तृतीय संस्करण, पृ० ८२
२. वही, पृ० ८५
३. वही
४. Prehistoric Painting, पृ० २७

(Uwenat) पहाड़ियों से ऐसे चित्र अवश्य उपलब्ध हुए हैं जिनसे उलझे सम्बन्ध-सूत्र की जटिल समस्या पर कुछ और प्रकाश पड़ता है। तथा पूर्वोक्त द्विपक्षी साम्य और अधिक मुखरित हो उठता है।[१] उवेनाट-चित्रों और बुशमन-चित्रों, दोनों में स्त्रियों का आलेखन उनके नितम्ब भाग को सामान्य अनुपात से कहीं अधिक उभार देकर किया जाता है।

दक्षिणी अफ्रीका के ट्रांसवाल, रोडीशिया, केप तथा टाँगाँयीका (Tonganyika) आदि प्रमुख क्षेत्रों तक बुशमन-चित्रों के प्रभाव सूत्र फैले हुए मिलते हैं। टाँगाँयीका झील के समीपवर्ती चित्रों की परवर्ती खोज १९३४-३६ में लुटविग (Ludwig) तथा मारगिट (Margit) द्वारा और पूर्ववर्ती खोज एफ० टी० बैगशा (F. T. Bagshawe) द्वारा सम्पन्न हुई। 'आरेंज फ्री स्टेट' में सन् १९४६ में बातिस (Battics) नामक शोधक ने पशु-समूह का एक महत्त्वपूर्ण चित्रांकन खोज निकाला।[२] पीतवर्ण, लघुकाय मानवों की वर्तमान बुशमन जाति के पूर्वज ही प्रस्तरयुगीन बुशमन-कला के वास्तविक जनक रहे हैं। इस जाति में शिला-चित्रों के अंकन की परम्परा आज तक जीवित है। *नये चित्रों के निर्माण के अतिरिक्त इसके भी प्रमाण हैं कि* बुशमन लोगों द्वारा प्रागैतिहासिक चित्रों में १८वीं १९वीं शती ई० तक संशोधन किया जाता रहा। कुछ विद्वानों ने प्रागैतिहासिक बुशमन-चित्रों और वर्तमान बुशमन-जाति की चित्रण-परम्परा में अन्तर देखकर यह भी अनुमान किया है कि संभव है पुरातन चित्र घुमंतू हेमाइट लोगों की कृति रहे हों परंतु अधिक विद्वान् इस पक्ष में नहीं हैं। एच० बैल्फर (H. Balfour), ए० क्रोबर (A. Kroeber), सी० जी० सेलिग्मन (C. G. Seligman) तथा लायोंहार्ट आडम सब यही मानते हैं कि वे चित्र वर्तमान बुशमन-जाति के पूर्वजों के ही बनाये हैं।[३] ऐसी धारणा भी व्यक्त की गयी है कि 'स्पेनिश लेवन्टाइन' चित्रों के निर्माण का श्रेय भी इसी जाति के पूर्वजों को मिलना चाहिए। परन्तु योरोप के अधिकांश विद्वानों ने स्वभावतः इसका तीव्र विरोध किया है। बहुवर्णी बुशमन-चित्रशैली की प्राचीन-नवीन अनेक उपशैलियाँ भी प्राप्त होती हैं। सजीवता, स्वाभाविकता, गतिमयता तथा शक्तिसम्पन्नता, बुशमन-कला की मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं। परिप्रेक्ष्य का असाधारण प्रयोग केवल बुशमन-चित्रों में ही मिलता

१. Here, Indeed, at 'Uwenat', we find, more marked than anywhere else in Northern Africa, examples of an art showing close resemblances to that of Levantine Spain on the one hand, and to that of prehistoric South Africa on the other.

वही, पृ० २८

(उत्तरी अफ्रीका के किसी अन्य स्थान की अपेक्षा यहाँ उवेनाट में अवश्य हमें कला के ऐसे अधिक निश्चित उदाहरण मिलते हैं जो एक ओर लेवन्टाइन स्पेन और दूसरी ओर प्रागैतिहासिक-युगीन दक्षिण अफ्रीका की कला-कृतियों से घनिष्ठ समानता रखते हैं।)

२. वही, पृ० ३२

३. Primitive Art, पृ० ८६

कुछ विदेशी शिला-चित्र
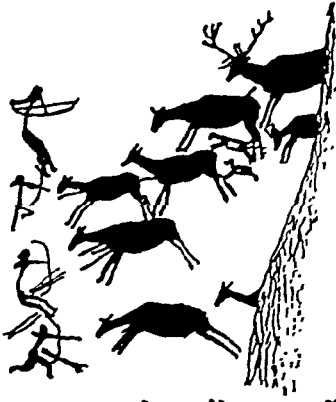
१. आखेट-दृश्य, कूवा दे ला कँवेल्लास, पूर्वी स्पेन

५. प्रधावित धनुर्धर, बसूटोलैण्ड, अफ्रीका

६. मधु-संचय का दृश्य, अल्पेरा, पूर्वी स्पेन

२. कट हाथों की छापे, गार्गास

७. पशु की खाल ओढ़े छद्‌ममुखी अभिचारी मानव, आय फ्रे रे, फ्रांस

३ अभिलेख, ला पसीगा
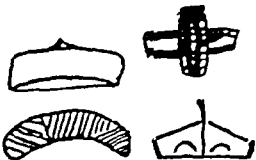
४. विभिन्न प्रकार के टेक्टीफॉर्म

८. धनुर्धर, साल्तादोरा, पूर्वी स्पेन

९. 'एलैण्ड' पशु-चित्र, खोंस्टा, बसूटोलैण्ड, अफ्रीका
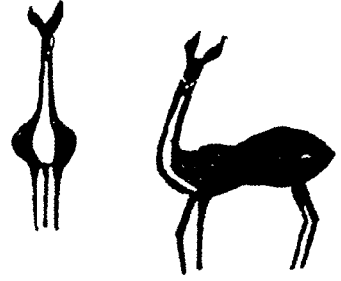
१०. वुशमैन-चित्र, दो शैलीवद्ध हिरन, ग्रैण्डवर्ग, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका
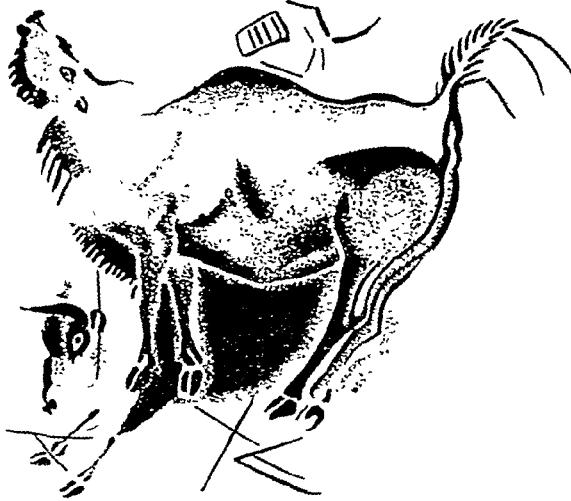
११. बाइसन के एक चित्र पर आक्षिप्त दूसरा चित्र आल्तामीरा, उत्तरी स्पेन

१२. घायल बाइसन, नियाँ (NIAUX), फ्रांस

१३. यातु-वृत्त के भीतर दो हंस, स्पेन

१४. बाइसन, आल्तामीरा, उत्तरी स्पेन

है, अन्य शिला-चित्रों में यह बात लक्षित नहीं होती है। यह जाति बहुत काल तक आखेट-जीवी अवस्था में ही रही। 'काफिर' जाति के आक्रमणों से इसके स्वभाव में आमूल परिवर्तन उत्पन्न हुआ जो परवर्ती काल के बुशमन-चित्रों में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

एम० बर्किट ने 'South Africa, past in Stone and Paint' में तथा सी० लो (C.-Lowe) ने अपनी पुस्तक 'Prehistoric Art in South Africa' में अफ्रीका के प्रागैतिहासिक चित्रों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। बुशमन-कला पर एच० ओबरमायर, एम० एच० टंग (M. H. Tongue) तथा एच० बैलफर ने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं।

आस्ट्रेलिया, साइबेरिया आदि अन्य देश

अफ्रीका की बुशमन-कला के सदृश आस्ट्रेलिया में भी गुफा-चित्रों की परम्परा प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान समय तक प्राय: अखण्ड रूप से जीवित मिलती है। आस्ट्रेलियन आदिवासियों की परम्परागत संस्कृति का उसमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यह भी अनुमान किया गया है कि संभवत: उनका मूल निवासस्थान दक्षिण भारत था।[1] उनकी कला में चित्रण का विशेष स्थान रहा है। सिडनी-क्षेत्र के चित्रों का विशेष अध्ययन फ्रेडरिक डी० मैकार्थी (Fredcrick D. Mac Carthy) तथा उसके सहयोगियों द्वारा सम्पन्न हुआ है। उत्तरी किम्बर्ले के शिलाश्रयों में चित्रित रहस्यमय आकृतियों की सर्वप्रथम खोज सर जार्ज ग्रे (Sir George Grey) ने १८३७ ई० में की तथा १८३९ में उनको प्रथम बार प्रकाशित किया गया। ए० पी० एल्किन (A. P. Elkin) ने आस्ट्रेलिया के शिला-चित्रों के विषय में अपना महत्त्वपूर्ण अध्ययन 'Rock Paintings of North-west Australia' नाम से १९३० में प्रस्तुत किया। और भी अनेक विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया है।

वी० गाल्यूब्यू (V. Goloubew) ने फ्रेंच इंडोचीन में स्थित चापा (Chapa) के समीपस्थ शिलाश्रयों में चित्रित अनेक लांगूल-भूषित मानवाकृतियों की खोज की। न्यू गाइना में भी इसी प्रकार के अनेक शिला-चित्रों की उपलब्धि हुई है जिनमें चार प्रकार की शैलियाँ स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं।[2]

साइबेरिया और मध्य एशिया में भी शिला-चित्रों की प्राप्ति हुई है। यह दूसरी बात है कि उनकी अतिशय प्राचीनता के विषय में कुछ विशेषज्ञ शंकालु हैं। साइबेरिया में आबेंस्क (Abensk) के समीप जो शिला-चित्र मिले हैं, उनमें अनेक धनुष-बाणधारी आखेटक चित्रित दिखायी देते हैं। दो नग्न पुरुष भी अंकित मिलते हैं जिनमें एक भाला लिये हुए है। ऐसे शीत प्रदेश में नग्न मानवाकृतियों का चित्रण अति प्राचीनता का परिचायक लगता है पर प्राचीन

---

१. Primitive Art, तृतीय संस्करण, पृ० १५२
२. Prehistoric Painting, पृ० ३६

पापाणास्त्र आदि की उपलब्धि से समर्थित न होने के कारण विशेपज्ञ इन्हें नवीन प्रस्तर-युग का मानने में भी संकोच करते हैं।[1] नये शोधक नवीन उपलब्धियों के प्रकाश में इन चित्रों के महत्त्व पर पुनर्विचार करें यह स्वाभाविक है।

इस क्षेत्र में प्राप्त अन्य चित्र अपेक्षाकृत बहुत नये हैं और उन्हें सामान्यतः ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में रखना उचित समझा जाता है। इधर कुछ रूसी पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जो खोज की है उससे साइबेरिया में पापाण-युगीन कला का अस्तित्व असंदिग्ध हो गया है। रूसी एशिया में प्रागैतिहासिक चित्रों की सर्वप्रथम उपलब्धि के विपय में एक लेख 'मास्को' न्यूज़ में २७ जनवरी, १९४५ को प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था 'फर्स्ट फाइण्ड्स ऑफ प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग इन सोवियत एशिया' और उसके लेखक थे एम० नीगा (Mezhdunarodnaya Kniga)। पूर्वी साइबेरिया के याकुत्स्क (Yakutsk) क्षेत्र में लेना घाटी (Lena Valley) के मध्य और ऊपरी भाग में प्रोफेसर ओक्लादनिकोव (Okladnikov) को अस्सी के लगभग ऐसे स्थल मिले जिनमें बहुसंख्यक शिला-चित्र अंकित हैं। मिस तात्याना पासेक (Miss Tatyana Passek) ने, जो मास्को की विज्ञान अकादमी से सम्बद्ध हैं, इसी घाटी में स्थित शिश्कीनो (Shiskino) नामक ग्राम के समीप लाल रंग में अंकित एक वन्य अश्व का जीवाकार चित्र उपलब्ध किया। इस चित्र का साम्य पश्चिमी योरोप की गुफाओं में अंकित पापाणकालीन पशु-चित्रों से लक्षित किया गया है।[2] ऐसे ही अन्य अनेक स्थल लेना नदी की सहायक नदियों की घाटियों में खोजे गये हैं। इन स्थलों पर रेंडियर आदि पशुओं के चित्र तथा विविध प्रकार के प्रतीक अंकित मिलते हैं। उज्बेकिस्तान में जरौत साया गॉर्ज (Zaraut-Saya Gorge) की पहाड़ियों पर जो शिला-चित्र मिले हैं, उनकी खोज एक शिकारी द्वारा आकस्मिक रीति से हुई। इनमें धनुर्धर योद्धाओं तथा आखेट-दृश्यों का अंकन हुआ है। मास्को विश्वविद्यालय के प्रोफेसर माइकेल वोयेवोद्स्की (Mikhail Yoyevodsky) के अनुसार मध्य एशिया में यह पहली आदिम 'आर्ट गैलरी' है। उन्होंने इसके चित्रों का रचनाकाल मध्य प्रस्तर-युग (Mesolithic Age) अनुमानित किया है। कुछ चित्रों के नीचे अरबी-भापा के अभिलेख भी मिलते हैं जो ११वीं-१२वीं ईस्वी के हैं। अतः उन्हें शिला-चित्रों के निर्माण-काल का द्योतक नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्र से पुरातन मानव-अस्थि-अवशेप भी मिले हैं जिनसे चित्रों की प्राचीनता की संभावना बढ़ जाती है। अन्य अनेक विद्वान् इस दिशा में शोध-कार्य कर रहे हैं तथा संसार के और कई भागों में प्रागैतिहासिक चित्र उपलब्ध हुए हैं।

---

१. Primitive Art, वही, पृ० १११-११२

२. वही, पृ० ११२-

भारत मे प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज

शताब्दियों ही नहीं सहस्राब्दियों से गुफाओं और शिलाश्रयों में प्रकृति की अनुकम्पा से स्वयमेव सुरक्षित किन्तु कला के क्षेत्र में सर्वथा अज्ञात भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्पित करने का श्रेय उन अँगरेजों को है जो आये तो केवल शासन करने के उद्देश्य से थे किन्तु कुछ स्वभाववश और कुछ इस रहस्यमय लगने वाले देश की कला और संस्कृति की गरिमा से आकर्पित होकर अध्ययन और अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हो गए। भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में उनके इस सक्रिय, प्राथमिक और शोधवृत्ति से युक्त सहयोग की समुचित महत्ता को अस्वीकार करना एक प्रकार की कृतघ्नता होगी।

स्पेन और फ्रांस के प्रागैतिहासिक चित्रों की प्रथम शोध के लगभग एक दशक वाद से ही भारत में भी शिला-चित्रों की उपलब्धि का समारंभ हो गया और ज्ञात तथ्यों के आधार पर इसका प्रथम श्रेय कार्लाइल और कॉकवर्न को एक साथ दिया जाना चाहिए।

कैमूर की पहाड़ियों, जो मिर्जापुर के निकटवर्ती विन्ध्यक्षेत्र में स्थित हैं, के गुफा-चित्रों का परिचय आर्चिवाल्ड कार्लाइल (Archibald Carlleyle) तथा जॉन कॉकवर्न (John Cockburn) को एक दूसरे की सहायता के विना स्वतंत्र रीति से सन् १८८० में मिला। कार्लाइल की शोध का विवरण कहीं प्रकाशित नहीं हुआ, केवल उसकी सूचना भर फरवरी १८८३ ई० की प्रो० ए० सो० वं० (P. A. S. B.) की सूची में दे दी गयी है परन्तु कॉकवर्न ने अपनी शोध का सचित्र वैज्ञानिक विवरण 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल' के जर्नल[1] में सन् १८८३ में ही प्रकाशित करा दिया। उसका सुदीर्घ शीर्षक इस प्रकार है :—

"ऑन दि रीसेंट एग्ज़िस्टेंस ऑफ रिनौसेरस इंडिकस इन दि नार्थ-वैस्ट प्रॉविंसेज़ ऐण्ड ए डेस्क्रिप्शन ऑफ आर्केइक रॉकपेंटिंग फ्रॉम मिर्जापुर, रिप्रेज़ेंटिंग दि हन्टिंग ऑफ दि एनीमल"

कॉकवर्न ने अपने इस लेख के साथ ही गैंडे के 'आखेट-दृश्य' की एक रेखानुकृति प्रकाशित की तथा उसके निर्माण-काल के सम्वन्ध में अपनी शक्तिभर पूरे उत्साह के साथ ऊहापोह भी किया जो आज की विकसित मन:स्थिति में विचित्र लगते हुए भी पर्याप्त रोचक प्रतीत होता है।

---

१. J. A. S. B. Vol. Lll, Part II, No. 1, पृ० ५६-६४

५ जुलाई, १८८१ को केन नदी की घाटी में घूमते हुए वाँदा से सीधे दक्षिण की ओर दो मील पर उन्हें एक गैंडे की अश्मीभूत अस्थियाँ प्राप्त हुईं। इसके अनन्तर १७ मार्च, १८८३ को विजयगढ़ दुर्ग से लगभग ३ मील और सोन नदी से ५ मील की दूरी पर स्थित घोड़मंगर (Ghormangur) नामक शिलाश्रय में उसे पूर्वोक्त आखेट-दृश्य अंकित मिला जिससे गैंडे का अस्तित्व और भी प्रमाणित था। यह चित्र एक वृहत्काय पत्थर के भीतरी भाग में अंकित है जो शिलाश्रय के पथरीले कगार का ही टूटा हुआ अंश लगता है। कॉकवर्न को उस समय देखने पर यह चित्र न तो इसलिए विशेप महत्त्वपूर्ण लगा कि उसमें एक ऐसे विशालकाय पशु का अंकन है जो अव विलुप्त होता जा रहा है, और न इसलिए कि इसमें आखेट का ऐसा दृश्य प्रदर्शित है, जो शताब्दियों पूर्व का है, वरन् इसलिए कि इसमें तत्कालीन भालों और उनके चलाने की भंगिमा स्वाभाविकता एवं स्पष्टता से चित्रित है।[1] एर्सकाइन (Erskine) नामक लेखक की लिखी हुई वावर की जीवनी में चुनार के समीप गैंडों की उपस्थिति का प्रमाण पाकर कॉकवर्न ने पूर्वोक्त चित्र तथा वैसे ही अन्य चित्रों के विपय में यह धारणा वना ली कि वे तीन सौ वर्षों से अधिक पुराने नहीं होंगे। इससे पूर्व वह भारत में पापाण-युग को १०वीं शती ई० तक ही मानने के पक्ष में थे। गैंडे के अन्य शिला-चित्र उन्होंने वुढ़ार (Burhur) परगना के रौप (Raup) नामक गाँव से लगभग ४०० गज की दूरी पर देखे थे। पहले वे पशु को पहचान नहीं पाए। उन्हें लगा कि चित्रकार ने त्रुटि से सुअर का चित्रण करते हुए एक दाँत उसके थूथन पर लगा दिया है। वाद में अनेक स्थलों पर जव उन्हें सुअर का सही अंकन देखने को मिला तो उन्होंने स्वीकार किया कि 'थूथन पर दाँत' वाला पशु वास्तव में गैंडा ही है।[2] मार्च १४, १८८३ की डायरी में उन्होंने लिखा कि विजयगढ़ दुर्ग के समीप स्थित 'हरनी-हरना' (Harni Harna) नामक गुफा में उन्हें साँभर, वारहसिंगे आदि अनेक पशुओं के चित्र देखने को मिले, उनमें घोड़-मंगर के आखेट-दृश्य से मिलता-जुलता गैंडे के आखेट का एक अन्य दृश्य चित्रित है, जिसमें छः आदमी भालों से प्रहार कर रहे हैं। लोहरी (Lohri) नामक गुफा में उन्हें लौह-फलक से युक्त प्रतीत होनेवाला भाला चित्रित मिला तथा एक अन्य आखेट-दृश्य भी उपलब्ध हुआ।[3]

---

१. वही, पृ० ५८

२. Having since found several drawings of boars with the tusko in the right position I consider it impossible that men who represented animals so accurately as these savages would have drawn a boars tusko thus (on the top of the nose).—वही, पृ० १९

(उसके वाद दाँतों के सही स्थान पर प्रदर्शन से युक्त अनेक वाराह-चित्र देखने में आए। अतएव अव मैं यह असंभव समझता हूँ कि जिन चितेरों ने इतनी यथार्थमयता के साथ पशुओं का अंकन किया हो, जैसा कि इन आदिम मनुष्यों के साथ किया है, उन्होंने ही सुअर का दाँत उस प्रकार (थूथन के ऊपर) वना दिया हो)

३. वही, पृ० ६२

कॉकवर्न के पूर्व प्रकाशित लेखों से उत्पन्न समस्याओं पर 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' से सम्वद्ध अनेक गण्यमान्य विद्वानों ने एक वैठक में विचार किया, जिसमें कॉकवर्न स्वयं परिस्थितिवश सम्मिलित नहीं हो सके। वैठक का विवरण विभिन्न मतों के सहित १८८४ ई० को 'प्रोसीडिंग्ज' में प्रकाशित कर दिया गया।

शोध-वृत्ति ने कॉकवर्न को क्या-क्या करने पर विवश किया होगा और कहाँ-कहाँ भरमाया होगा, इसका कुछ अनुमान मैं उस स्वानुभव के आधार पर कर सकता हूँ जो मुझे स्वयं इस क्षेत्र में भ्रमण करने पर प्राप्त हुआ। जितने चित्रों का संदर्भ उन्होंने दिया है, वे मेरे देखने में नहीं आए। संभवतः जो शिलाश्रय उन्होंने देखे वे भिन्न दशा में स्थित रहे होंगे। मुझे कुछ ऐसे चित्र अवश्य देखने को मिले, जिनका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

सन् १८६६ में कॉकवर्न का प्रायः इसी क्षेत्र के कुछ अन्य चित्रों के विषय में एक दूसरा लेख 'जर्नल आव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी' में प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था :—

'केव ड्राइंग्स इन दि कैमूर रेंज, नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज'

इसमें उन्होंने पहले लेख का संदर्भ दिया है तथा कार्लाइल की शोध का भी उल्लेख किया है। गॉर्डन ने इस लेख का संदर्भ देते हुए लिखा है कि कॉकवर्न ने इसके साथ चार अनुकृतियाँ प्रकाशित कीं जवकि वास्तविकता यह है कि प्रकाशित अनुकृतियाँ केवल तीन ही हैं।[1] पहला भल्डरिया, दूसरा लोहरी और तीसरा लिखनिया की गुफा का। कॉकवर्न ने कुछ चित्रों को पाषाण या ताम्र पर अंकित प्राचीन से प्राचीन अभिलेखों से भी अधिक पुरातन स्वीकार किया तथा उन्हें दूरारूढ़ कल्पना द्वारा आर्यों के अभियान से भी सम्वद्ध करना चाहा, परन्तु लेख के साथ प्रकाशित टिप्पणी में प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ द्वारा इतनी प्राचीनता को अमान्य ठहराया गया है। कॉकवर्न इस वात की साक्षी प्रस्तुत करते हैं कि उन्होंने मिर्जापुर, चुनार, पभोसा और चित्रकूट सभी जगह गुफा-चित्र देखे। उनके अनुसार सर्वश्रेष्ठ चित्रांकन कैमूर की दक्षिणी श्रेणी, जो सोन नदी पर झुकी हुई है, के शिलाश्रयों में हुआ है। गुफाओं के समीप उपलब्ध होनेवाले पाषाणास्त्रों का उल्लेख भी उनके लेख में हुआ है।[2] वाँदा जिले के 'मर्कडी' और 'मॅझावन' नामक स्थानों पर वड़ी कठिनाई के वाद दो चित्र-समूह खोजे जा सके तथा इलाहावाद जिले के खैरागढ़ परगने के दक्षिणी भाग में भी चित्रित गुफा मिली, ये सूचनाएँ भी कॉक-

---

१. PBIC, पृ० ६८
'Cockburn published four copies of rock paintings he has found in shelters in the Kaimur with some not very helpful observations.'
(काकवर्न ने उन शिला-चित्रों की चार अनुकृतियाँ प्रकाशित कीं जो उन्हें कैमूर की पहाड़ियों के शिलाश्रयों में मिलीं। अनुकृतियों के साथ संलग्न टिप्पणियाँ अधिक उपादेय नहीं हैं।)

२. JRASB, पृ० ६३

वर्न के लेख में दी गयी हैं।

कॉकवर्न के १८९९ के पूर्वोल्लिखित विवरण के प्रकाशन से पूर्व जनवरी, १८९२ ई० के 'न्यू इम्पीरियल एशियाटिक क्वार्टर्ली रिव्यू' में एफ० फॉसेट (F. Fawcett) का 'प्रिहिस्टॉरिक रॉकपिक्चर्स नियर वेलारी' नामक लेख प्रकाशित हुआ जिससे दक्षिण भारत में भी प्रागैतिहासिक चित्रों की उपलब्धि का परिचय मिलना आरंभ हो गया। १९०१ में इसी शोधक ने 'इंडियन ऐन्टिक्वेरी' के वाल्यूम तीस में 'नोट्स ऑन रॉक कार्विंग्स इन दि एदकल केव, वाइनाड' नाम से एदकल गुफा के खचित चित्रों का सचित्र परिचय दिया जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में अनूदित रूप में समाविष्ट कर लिया गया है। वर्ण-विनिर्मित चित्रों से भिन्न प्रकार की रचना होते हुए भी खचित चित्रों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों की सृष्टि प्रायः एक जैसे वातावरण में, एक जैसी प्रेरणा से हुई।

१९०७ ई० में एक आई० सी० एस० अधिकारी सी० ए० सिल्वेराड (C.A. Silberrad) का प्रो० ए० सो० वं० (P.A.S.B.) की वॉल्यूम आठ में वाँदा ज़िले के शिला-चित्रों के विषय में एक स्वतन्त्र लेख प्रकाशित हुआ। कॉकवर्न ने वाँदा के मर्कंडी और मँझावन नामक जिन दो स्थानों पर चित्र-समूह अंकित देखे थे उनसे भिन्न अनेक नए स्थलों का उल्लेख इस लेख में किया गया है। सिल्वेराड लगभग चार वर्ष तक वाँदा में नियुक्त रहे। इस काल में उन्होंने सरहत, मलवा, कुरियाकुंड और करपटिया नामक गाँवों के समीप शिला-चित्रों की खोज की। उन्हें स्थानीय सूत्रों से अन्य स्थलों पर भी चित्रों के अस्तित्व की सूचना मिली थी जिनमें अमवाँ, उल्दन और वरगढ़ की भौगोलिक स्थिति का विवरण उन्होंने लेख में दे दिया परन्तु वे स्वयं इन स्थानों तक पहुँच कर चित्र न देख सके। अपने लेख के साथ उन्होंने दो वाह्य रेखानुकृतियाँ भी प्रस्तुत कीं जिनमें से पहली अश्व लिये पैदल चलते हुए अश्वारोहियों की है और दूसरी विना पहिए की वैलगाड़ी की। इन दोनों को प्रस्तुत अध्ययन में यथास्थान समाविष्ट कर लिया गया है।

१९०९ ई० के 'इम्पीरियल गज़ेटियर' में कार्लाइल की शोध का ही 'ज० रा० ए० सो, १८९९' का संदर्भ देते हुए पुनः उल्लेख मिलता है। केवल उनके द्वारा खोजे हुए चित्रों की प्राचीनता को ३००० वर्ष से भी अधिक अनुमानित किया गया है तथा चित्रों में अंकित हथियारों के आधार पर उनके नवीन प्रस्तर-युग से सम्बद्ध होने की संभावना भी व्यक्त की गयी है।[1]

डी० एल० ड्रेक द्वारा प्रस्तुत मिर्ज़ापुर के १९११ ई० के गज़ेटियर में पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत इतिहास का परिचय देते हुए वहाँ की चित्रमय गुफाओं को सर्वप्राचीन मानव-निवास-स्थल वताया गया है विशेषतः सोन नदी की घाटी की गुफाओं को। इसमें कॉकवर्न की शोध का उल्लेख किया गया है तथा १८७९, १८८३ और १८९४ के 'ज० ए० सो० वं०' में

१. The Imperial Gazetteer of India
The Indian Empire Vol. II, Historical (1909, edition), पृ० ९४

प्रकाशित सामग्री का तथा 'ज० रा० ए० सो०' के १८९९ वाले लेख का भी संदर्भ प्रस्तुत किया गया है। यह सब होते हुए भी विवरण अत्यन्त संक्षिप्त और अपर्याप्त प्रतीत होता है।

लगभग इसी समय १९१० ई० में एक ऐतिहासिक घटना के रूप में सी० डब्ल्यू० ऐण्डर्सन द्वारा सिंघनपुर के महत्त्वपूर्ण शिला-चित्रों की खोज हुई। ऐण्डर्सन उस समय बंगाल-नागपुर रेलवे के डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर थे। खोज की सूचना कला-मर्मज्ञ पर्सी ब्रॉउन को दी गयी। उन्होंने 'हेरिटेज ऑव इंडिया सीरीज़' में प्रकाशित 'इंडियन पेंटिंग' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक के, १९१७ ई० में मुद्रित प्रथम संस्करण में संतुलित रीति से प्रारंभ में ही उसका उल्लेख किया है। बाद में मिर्जापुर के शिला-चित्रों की ओर भी निर्देश कर दिया गया है। पर्सी ब्रॉउन द्वारा दिया गया भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों का यह संक्षिप्त सूचनात्मक परिचय भारतीय चित्रकला के इतिहास में कदाचित् उनका पहला उल्लेख कहा जायगा। विदेशी चित्रों से तुलना करते हुए ब्रॉउन ने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि प्रागैतिहासिक चित्रों के अनुशीलन से भारतीय चित्रकला के ही उद्‌भव के सूत्र नहीं मिलेंगे वरन् संसार के पूर्वी भाग में मानव-अस्तित्व के प्रारंभिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ेगा। यह बात उस काल में उनके जैसा दूरदर्शी चित्रकला विशेषज्ञ ही आस्थापूर्वक कह सकता था। स्वयं भी उन्होंने सिंघनपुर के चित्रों का सूक्ष्म और विविध पक्षीय अध्ययन करते हुए एक विस्तृत टिप्पणी प्रस्तुत की जो १९२३ ई० में प्रकाशित पंचानन मित्र की 'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया' नामक पुस्तक के परिशिष्ट-भाग में मुद्रित हुई है। इसमें शोध-कथा का वह रोचक अंश भी है जो ऐण्डर्सन ने अपनी खोज का सार प्रस्तुत करते हुए छोड़ दिया है। ऐण्डर्सन का लेख 'ज० वि० उ० रि० सो०' की चौथी वॉल्यूम में १९१८ ई० में १६ चित्र-फलकों के साथ प्रकाशित हुआ। लेखक ने इसके अंतर्गत प्रारंभ में लिखा है कि सन् १९१० में वह सी० जे० वैल्डिंग के साथ बड़ी गुफाओं की खोज के सिलसिले में रायगढ़ के पश्चिमी भाग से मण्ड (Mand) नदी तक के क्षेत्र की जांच करने निकला जिसमें सफलता नहीं मिली परन्तु उसे छोटी गुफाओं की एक ऐसी शृंखला अवश्य हाथ लगी जिसमें बहुसंख्यक आदिम चित्र अंकित हैं। इसके बाद की कथा पर्सी ब्रॉउन की उक्त टिप्पणी में मिलती है और वह यह कि १९११ में ऐण्डर्सन ने अपने कुछ सहयोगियों के साथ पुनः सिंघनपुर जाकर चित्रों की प्रतिकृतियाँ उपलब्ध कीं किन्तु अन्य प्रकार का निरीक्षण-परीक्षण फिर भी शेष रह गया जिसके लिए १९१३ ई० में उन्हें पार्टी समेत एक बार और जाना पड़ा। यह तीसरी बार की यात्रा ऐण्डर्सन महोदय को काफी महँगी पड़ी। वन्य मधुमक्खियों ने गुफाओं में छत्ते बना लिये थे। उन्होंने पार्टी के प्रागैतिहासिक-चित्र-प्रेमियों को मधुपायी समझा और आत्मरक्षा में धावा बोल दिया। सैलानी शोधक मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। स्टेशन तक का डेढ़-दो मील लम्बा रास्ता भागते-भागते ही पूरा किया और जब वहाँ पहुँचे तो भी सिर से पैर तक मधुमक्खियाँ चिपकी रहीं। तेज बुखार में सब के सब प्लेटफार्म पर तब तक पड़े रहे जब तक उपचार की व्यवस्था न हो

गयी ।[१] विजयगढ़ दुर्ग के शिलाश्रयों की कुछ वनैली मधुमक्खियाँ जो देखने में बहुत छोटी पर पिछुआने मे वहुत खोटी थी, मऊ ग्राम तक कितनी त्वरा से हमारा साथ न छोड़ने के लिए तत्पर रहीं—केवल इतने स्वल्प स्वानुभव के वल पर ही मैं ऐण्डर्सन की पार्टी की सुगति का अनुमान लगा सकना हूँ । प्रागैतिहासिक चित्रों का प्रेम कव किसे किस घाट ले जाय कहना कठिन है ।

ऐण्डर्सन और उनके सहयोगी उस चिरस्मरणीय मधुमय अनुभव के वाद भी हतोत्साह नही हुए और उन्होंने दस्तानों, मच्छरदानियों से युक्त समस्त आत्मरक्षा-सामग्री एकत्र करके पुन: अभियान की योजना वनायी । इस वार की पार्टी में स्वयं पर्सी व्रॉउन भी सम्मिलित थे । अनगढ, ऊवड़-खावड़ पत्थरों और वॉस के जंगलों को पार करते हुए सव के सव अन्तत: सिंघनपुर की चित्रित गुफाओं तक पहुँच ही गए ।

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु:खं न च सुखम्

चित्रित भित्तियों के ऊपर लगे मधुमक्खियों के छत्ते उन्हें इस वार विमुख नहीं कर सके । आक्रमण हुआ परंतु रक्षा-सामग्री ने उसे विफल वना दिया । इस मनोरंजक विवरण के वाद व्रॉउन महोदय ने अपने लेख में सिंघनपुर के शिला-चित्रों की स्थिति विषयवस्तु, शैली एवं शिल्प आदि का व्यवस्थित परिचय प्रस्तुत किया है । अपनी टिप्पणी के अंत में उन्होंने यह भी सूचना दी है कि डॉ० हैडेन (Dr. Hayden) के सुझाव पर शिलाश्रयों से कुछ पाषाण-खण्ड एकत्र कर लिये गये जिनके परीक्षण से उनकी प्राचीनता सिद्ध हुई ।[२]

ऐण्डर्सन ने अपने लेख को समाप्त करते हुए यह सूचित किया कि १९१४ में सिंघनपुर के चित्रों की उनके द्वारा की हुई प्रतिकृतियाँ प्रोफेसर सौल्लाज (Prof. Sollas) के पास भेजी गयी क्योंकि वे उस समय इस विषय के सवसे वड़े विशेषज्ञ माने जाते थे । उन्होंने ऐण्डर्सन की शोध की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसके समर्थन के लिए गुफाओं के आस-पास से संकलित पाषाणास्त्रों आदि के प्रमाण पर विशेष वल दिया । यह सत्य है कि ऐण्डर्सन को ऐसे प्रमाण कम ही मिल पाये थे ।

सिंघनपुर के चित्रों की ऐण्डर्सन द्वारा की गयी अभूतपूर्व शोध का परिचय १९१५ ई० में कॉगिन व्रॉउन (Cogin Brown) ने 'केटेलॉग ऑफ़ प्रिहिस्टॉरिक एण्टिक्विटीज इन दि

१. The story of the precipitous retreat from the caves down the steep hill side has been graphically told by several of those who took part in this illfated survey, but this may not be related here. It will however, suffice to say that the majority of the party never ceased running until they reached the railway station over two miles away where most of them, stung from head to foot, lay groaning, and in high fever on the platform until medical help arrived.' —Prehistoric India, P. Mitra, Appendix I, पृ० २४७

२. वही, पृ० २५५

इंडियन म्यूज़ियम्स' में तथा पंचानन मित्र ने अपनी प्रागैतिहासिक भारत-विपयक पुस्तकों में दिया है जिसका उल्लेख हो चुका है। ब्रॉउन की टिप्पणी के ठीक वाद की शोध-कथा मित्र महोदय की 'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया' में मिलती है जो सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुई।

ऐण्डर्सन के १९१८ ई० वाले पूर्वोक्त लेख के ज० वि० ओ० रि० सो० में प्रकाशित होने से विश्वव्यापी स्तर पर सिंघनपुर के पुरातन शिला-चित्रों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। परिणामतः भारतीय शोधकों में भी उत्साह उत्पन्न हुआ। पंचानन मित्र सर आशुतोप मुकर्जी का आदेश पाकर कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर शिक्षण-समिति (Post-Graduate Council of Teaching) की ओर से उस समय के पटना म्यूज़ियम के 'क्यूरेटर' श्री मनोरंजन घोप के साथ रायगढ़ गये। जाने से पूर्व वे ऐण्डर्सन महोदय से भेंट कर चुके थे और सिंघनपुर के चित्रों की खोज का एक प्रत्यक्षदर्शी के द्वारा विवरण सुनकर उन्हें स्वयं देखने की पर्याप्त प्रेरणा भी मिल चुकी थी। ऐण्डर्सन ने भारत के सभी संग्रहालयों के अध्यक्षों को चित्रों का निरीक्षण-परीक्षण करने का आमंत्रण दिया था। घोप कदाचित् उसी के कारण अधिक कृत-संकल्प हुए। पर्सी ब्रॉउन उन दिनों 'आर्ट-स्कूल' के प्रिंसिपल थे और साथ ही भारतीय संग्रहालयों के कला-विभाग के 'हेड' भी। उन्हें ऐण्डर्सन सिंघनपुर ले जाकर चित्र दिखा भी चुके थे तथा उसकी सूचना ज० ए० सो० में प्रकाशित भी हो चुकी थी। १९१५ ई० में "ल' एन्थ्रोपॉलोजी" (L' Anthropologie) में भी यह समाचार छपा कि गत ७ अप्रैल को सिंघनपुर के भित्ति-चित्रों के विपय में ए०सो० व० ने ब्रॉउन द्वारा प्रस्तुत विवरण को सुना। विवरण में कही गयी वातों का संक्षिप्त उल्लेख भी इस सूचना में दिया गया था जिनमें सहस्राब्दियों तक की प्राचीनता, स्पेन में स्थित कोगुल (Cogul) के चित्रों से उनकी तुलना तथा कुछ रेखा-चित्रों का इजिप्ट के मृत्पात्रों पर वने चिह्नों से सादृश्य आदि प्रमुख हैं।[१] उस समय पहली वार सवको यह अनुभव हुआ कि प्रागैतिहासिक शिला-चित्र भारतीय संस्कृति के एक सर्वथा अज्ञात और पुरातनतम रूप का उद्घाटन कर सकते हैं। एक पराधीन और हतदर्प देश के लिए यह अत्यन्त मूल्यवान् अनुभव था।

श्री मित्र ने अपनी पुस्तक में 'कंगारू-सीन' और आखेट-दृश्य के पासवाली नर्तक जैसी मुद्रा धारण किये मानवाकृति की ओर इंगित करके यह सिद्ध किया कि ऐसे कई महत्त्वपूर्ण चित्र ऐण्डर्सन की दृष्टि में आने से रह गये हैं।[२] एदकल, वेलारी आदि की पूर्व-निर्दिष्ट शोध की चर्चा करते हुए उन्होंने सिंहभूमि-क्षेत्र में 'घटसिला' (Ghatsila) के 'मानभंडार' नामक गाँव के समीप उपलब्ध अन्य खचित-चित्रों (rock-carvings) का विवरण भी दिया है।[3] उनमें लक्षित कतिपय

१. Prehistoric India, पृ० १४५

२. वही, पृ० १४६

३. वही, पृ० १४९

आकृतियों के साथ सिंघनपुर के तथाकथित 'कंगारू-सीन' को मिलाकर उन्होंने आस्ट्रेलिया से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों की दुरूह कल्पना कर डाली।[१] उन्हें यह भी लगा कि सिंघनपुर के चित्रों की रंगीन अनुकृतियाँ पूरी तरह करायी जानी चाहिए। ऐण्डर्सन के कार्य के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हुए उन्होंने रिवेट कार्नेक (Rivett Carnac) को विशेप रूप से धन्यवाद दिया जिनकी उदारता के कारण ऐण्डर्सन अपनी शोव-वृत्ति को सक्रिय रख सके। ऐण्डर्सन के लेखों के साथ प्रकाशित प्राय: सभी चित्रों के विपय में मित्र जी ने चर्चा की है तथा उनकी प्राचीनता के समर्थक एवं उनके समीपवर्ती क्षेत्र से ही प्राप्त होनेवाले पापाणास्त्रों की ओर दृष्टिपात किया है। उनकी दृष्टि से कॉकवर्न इन गुफा-चित्रों की प्राचीनता के विपय में सही दृष्टिकोण इसलिए नहीं अपना सके, क्योंकि उनकी धारणा थी कि भारतवर्प में चित्रकला का आरम्भ वहुत वाद में हुआ है। यहाँ तक पहुँचकर श्री मित्र ने योरोप में हुई प्रागैतिहासिक चित्रों की शोध की सापेक्षता में ऐण्डर्सन की खोज और भारत की स्थिति पर जो विचार व्यक्त किये हैं उन्हें मैं उनके ही शब्दों में उद्‌वृत कर देना उचित समझता हूँ :—

'It is not strange that it would be so as he was writing early in 1883 when Soutuola's discovery of Altamira cave-paintings only five years ago had probably not been heard of in India and the question of palaeolithic art had to wait another 20 years to be fully understood and its probability recognised in Europe.'[२]

इससे इसका स्पष्ट वोध होता है कि किस अनभ्यस्त वातावरण में ऐण्डर्सन ने अपनी खोज सम्पन्न की और अपनी वात को समझाने तथा भारत में पुरातन चित्रों के अस्तित्व को प्रमाणित करने में उन्हें कितनी तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा।

अध्याय के अन्त में मित्र महोदय ने प्रागैतिहासिक चित्रों के निर्माण-उद्देश्य की समस्या के प्रसंग में १९१६ ई० की "ल एन्थ्रोपॉलोजी" में ब्रूई द्वारा अपने समर्थन के साथ उद्‌धृत स्पेनी विद्वान् श्री वेन्नर्ट (Wennert) के उस 'ब्रोश्योर' की भी चर्चा की है जिसमें पापाणकालीन मानव के मनोभावों एवं विश्वासों से उसकी कला का सम्वन्ध विवेचित किया गया है। प्रतीकों के स्वरूप के विपय में कैपिटन (Capitan) और दुर्खीन (Durkheinn) नामक उस समय के प्रसिद्ध विशेपज्ञों

---

१. वही, पृ० १५०

२. वही, पृ० १५३

(इसके ऐसा होने में कोई आश्चर्य की वात नहीं क्योंकि वह १८८३ ई० की उस प्रारंभिक अवस्था में लिख रहे थे जब सौतुओला द्वारा आल्तामीरा के चित्रों की खोज को केवल पाँच वर्ष ही हुए थे और सम्भवत: तव तक उनकी ख्याति भी भारतवर्ष में नहीं पहुँच पायी थी। योरोप में ऐसे चित्रों की संभावना स्वीकार करने और पापाणकालीन कला के प्रश्न के पूरी तरह समझे जाने में अभी वीस वर्ष की प्रतीक्षा और शेप थी।)

के मत उद्धृत करके प्रागैतिहासिक कला के विवेचन को समाप्त किया गया है।

पंचानन मित्र के उक्त ग्रंथ के प्रकाशन से लगभग दो वर्ष पूर्व ही १९२१ ई० में होशंगाबाद के डिप्टीकमिश्नर की प्रेरणा पाकर, पुरातत्त्व विभाग के केन्द्रीय-वृत्त के तत्कालीन सुपरिंटेंडेंट पंडित हीरानन्द शास्त्री ने श्री मनोरंजन घोष से, आदमगढ़ क्वैरी के पासवाले चित्रमय अद्‌भुत शिलाश्रयों के परीक्षण का निवेदन किया। घोष जी ने १९२२ ई० में वहाँ की यात्रा भी की और इस प्रकार होशंगाबाद के शिला-चित्र पहली बार ज्ञात और परीक्षित हुए तथा एक नये क्षेत्र का उद्‌घाटन हुआ।

लगभग एक दशक के अन्तर से सन् १९३१ ई० में श्री अमरनाथ दत्त का विशेष कार्य सामने आया। इस विशेष अध्ययन का पूरा नाम है—"ए फ्यू प्रिहिस्टॉरिक रेलिक्स ऐण्ड दि रॉक पेन्टिंग्स ऑफ़ सिंघनपुर, रायगढ़ स्टेट, सी० पी० (इंडिया)।" लेखक ने नाम को इतनी पूर्णता देनी चाही है कि किसी को कोई भ्रम न रह जाय। भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों के विषय में यह पहली पुस्तक है जो प्रकाशित हुई अँगरेजी में। यह कृति बहुत श्रम, मनोयोग और अध्यवसाय के साथ रची गयी है, परन्तु लेखक ने अतिशय उत्साह और आवेग के वशीभूत होकर तथ्यों के आकलन में ऐसे ऊहापोह किये हैं कि तटस्थ और विचारवान व्यक्ति को उनमें निहित अतिशयता और असंगति स्पष्ट दिखायी देने लगती है। उसका ध्यान शिला-चित्रों और उनके तथ्यगत विवेचन से हटकर लेखक की कल्पना-शक्ति और आग्रह की ओर चला जाता है। चित्रों का परिचय देने में वैदिक और पौराणिक सामग्री का मुक्त भाव से उपयोग किया गया है जिससे प्रागैतिहासिक चित्रों की समस्या सुलझने के स्थान पर उलझ अधिक गयी है। अध्ययन कम नहीं किया गया है परंतु उसकी दिशा सही नहीं रह सकी। यह सब होते हुए भी इस बात का श्रेय लेखक को देना ही होगा कि उसने अपने एकाकी प्रयत्न से एक विशेष स्थान के शिला-चित्रों पर ग्रंथ रूप में सर्वप्रथम विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया। लेखकीय वक्तव्य के अनुसार श्री अमरनाथ दत्त पहले-पहल १९१७ ई० में सिंघनपुर के शिला-चित्र देखने गये। इसके बाद उन्होंने अनेक बार वहाँ जाकर चित्रों का अध्ययन और अनुशीलन किया और इस कार्य में उन्हें रायगढ़ स्टेट के रायसाहब उमराव सिंह तथा 'एडमिनिस्ट्रेटर' और 'चीफ इंजीनियर' बाबू सिद्धेश्वर घोष से विशेष सहायता मिली। मध्यप्रान्त से प्रकाशित 'हितवाद' नामक अँगरेज़ी पत्रिका में दत्तजी ने १९२७ में इन्हीं चित्रों के विषय में एक लेख-माला प्रस्तुत की। तत्पश्चात् १९३१ में उसी सामग्री को व्यवस्थित रूप देकर यह ग्रंथ प्रकाशित किया। प्रारंभिक पृष्ठों में गुफाओं की स्थिति, महत्त्व आदि का परिचय और अंत में विस्तृत परिशिष्ट देते हुए इसके अंतर्गत उन्होंने १२ फलकों में सिंघनपुर के अनेक चित्रों की छायानुकृतियाँ तुलनात्मक सामग्री के साथ प्रस्तुत की हैं और उन पर मुक्त मन से टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। ग्रन्थ-प्रकाशन के अनन्तर दत्त महोदय को रायगढ़ स्टेट में स्थित एक अन्य शिलाश्रय देखने का अवसर मिला

जिसमें उन्हें सिंघनपुर जैसे ही अनेक चित्र उपलब्ध हुए। उन्हें इस शिलाश्रय के अनेक चित्र अधिक स्पष्ट ही नहीं अधिक सजीव भी लगे। उस ऊँचाई पर जिस तक मचान और सीढ़ियों आदि के सहारे भी पहुँचना कठिन था, कुछ प्रतीक-चिह्न भी अंकित थे।[१] जो विवरण उन्होंने दिया है उससे लगता है कि यह 'कवरा पहाड़' नामक शिलाश्रय ही रहा होगा क्योंकि सारे लक्षण इसी पर घटित होते हैं। यह रायगढ़-क्षेत्र में ही स्थित है तथा इसमें चित्रांकन भी पर्याप्त ऊँचाई पर हुआ है। इस प्रकार मेरे विचार से कवरा पहाड़ के चित्रों की प्रथम शोध का श्रेय अमरनाथ दत्त को ही मिलना चाहिए। यह दूसरी बात है कि उन्होंने उनके विषय में कुछ और लिखा नहीं।

रायगढ़ और मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के इतने शिला-चित्रों की खोज हो जाने के बाद यह नितान्त स्वाभाविक था कि किसी विशेषज्ञ द्वारा उन पर सम्मिलित रीति से शोध-कार्य सम्पन्न हो। १९३२ ई० में रायसाहब मनोरंजन घोष के लिखे हुए 'मोनोग्राफ़' के रूप में यह संभावना चरितार्थ हुई। श्री घोष उस समय पटना म्यूज़ियम के 'क्यूरेटर' थे। उनका यह सचित्र अध्ययन 'मेम्वायर्स ऑफ़ ऑर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया' के अन्तर्गत (नं० २४) प्रकाशित हुआ। लेखक ने इसको 'रॉक पेन्टिंग्स ऐण्ड देअर ऐन्टिक्विटीज़ ऑफ़ प्रिहिस्टॉरिक ऐण्ड लेटर टाइम्स' संज्ञा प्रदान की। इस 'मोनोग्राफ़' के साथ प्रकाशित नौ सहायक ग्रंथों की सूची देखने पर ज्ञात होता है कि इनमें अमरनाथ दत्त के पूर्वोक्त ग्रंथ 'प्रि० रे० रॉ० सि०' का नाम नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वे दोनों व्यक्ति अन्त तक एक दूसरे के प्रयत्न से अनभिज्ञ रहकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करते रहे। 'मोनोग्राफ़' में प्रस्तुत सिंघनपुर के चित्र-परिचय से भी यही प्रमाणित होता है। सिंघनपुर के विषय में रायगढ़ स्टेट की 'दरबार फाइल' में एक टाइप की हुई रिपोर्ट घोष जी ने मोनोग्राफ़ से पूर्व ही प्रस्तुत की थी। घोष के कार्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने संयत, संतुलित और तथ्यपरक ढंग से पहली बार रायगढ़ से लेकर होशंगाबाद तक के विस्तृत क्षेत्र की प्रचुर सामग्री व्यवस्थित रूप में एक साथ प्रस्तुत की। होशंगाबाद, लिखनिया-कोहबर, महड़रिया तथा विजयगढ़ के शिला-चित्र उनके मोनोग्राफ़ से पूर्व कहीं प्रकाशित हुए हों, ऐसा

---

१. 'Very recently, after this book was printed, I had the opportunity of visiting another rock-shelter in Raigarh State (C. P.), where I found other paintings of the Singhanpur type. Several of which are even clearer and more lively. Moreover, there at a height, which is difficult of access even by scaffolding, I discovered the signs......'

—PHR & RPS, पृ० २

(इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद अभी हाल ही में मुझे रायगढ़ स्टेट (सी०पी०) में एक शिलाश्रय देखने का सुयोग प्राप्त हो सका है जहाँ मैंने सिंघनपुर शैली के अन्य चित्र उपलब्ध किये। इनमें से अनेक अधिक स्पष्ट और अधिक जीवन्त हैं। इतना ही नहीं वहाँ ऐसी ऊँचाई पर जिस तक मचान या सीढ़ी के सहारे भी न पहुँचा जा सके मैंने प्रतीक-चिह्नों का अन्वेपण किया।)

ज्ञात नही होता। १९२५ ई० में प्रकाशित डी० एब्रयू (D. Abrew) द्वारा लिखित 'बुलेटिन ऑफ़ नागपुर म्यूजियम' में भी होशंगाबाद के कुछ चित्रों का विवरण मिलता है परन्तु उनकी प्रथम व्यवस्थित शोध एवं उसके प्रकाशन का गौरव घोष महोदय को ही प्राप्त है। मिर्जापुर के क्षेत्र को कार्लाइल और कॉकबर्न ने केवल छूकर छोड़ दिया था परन्तु घोष ने उसके एक विशेष अंश को अन्वेषण की दृष्टि से प्रमथित करके लिखनिया-कोहबर जैसे अप्रसिद्ध चित्रागार खोज निकाले और उनके बहुत से चित्रों को अनुकृत कराया। घोष की पार्टी ने अपना कार्य छातु ग्राम के समीपवाली लिखनिया से आरम्भ किया किन्तु यह लिखनिया उस लिखनिया से सर्वथा भिन्न है जिसकी गुफा का एक चित्र कॉकबर्न ने अपने 'कैमूर की पहाड़ियों के गुफा-चित्र' विषयक लेख के साथ प्रकाशित किया था। मोनोग्राफ के अन्तर्गत उस लिखनिया के किसी भी चित्र का उल्लेख नही है और न बुढार, कंडाकोट, सोरहोघाट, लोहरी और रौप आदि गुफाओं की चित्र-राशि का ही समावेश हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि रावर्ट्सगंज के आस-पास का सारा अंश उनसे अछूता छूट गया है जबकि इसकी ओर घोष के पूर्ववर्ती शोधक थोड़ा-बहुल संकेत कर ही चुके थे और वह सर्वथा अज्ञात नही था। घोष और उनके सहयोगियों ने अहरौरा और सुकुरुत के समीपवर्ती भूभाग विशेषत: भल्डरिया और गरई नदी की घाटियों तथा विजयगढ़ तक ही अपना कार्य क्यों सीमित रक्खा और वे रावर्ट्सगंज की ओर जाकर भी लिखनिया २ की खोज किये बिना ही विजयगढ़ दुर्ग की दिशा में क्यों बढ़ गये, यह प्रश्न मेरे मन में ही नहीं, इस क्षेत्र के प्रत्येक शोधक के मन मे उठना स्वाभाविक है। समयाभाव इसका सीधा-सरल उत्तर हो सकता है पर मुझे उससे संतोष नही होता। मुझे लगता है कि इसका कोई और कारण होना चाहिए, क्योंकि उनके जैसे तत्पर एवं कृत-संकल्प अन्वेषक के लिए यह असाधारण बात है कि वह कॉकबर्न द्वारा उल्लिखित लिखनिया की ओर मुड़े ही नही। केवल अनुमान के स्तर पर मैं एक कारण की कल्पना करने का मोह संवरण नही कर पा रहा हूँ और वह है दोनों लिखनियाओं का नाम-साम्य। लिखनिया नाम से यह भ्रम हो जाना असंभव नही है कि जिसका स्वल्प निर्देश कॉकबर्न ने किया, हो न हो वह यही छातु ग्राम के पासवाली लिखनिया है, भले ही खोजने से वह चित्र वहाँ न मिल सका हो जो कॉकबर्न ने अनुकृत किया था। यद्यपि ऐसे भ्रम की बात इतने विद्वान् शोध-कर्ता के लिए सोचने में संकोच होता है तथापि समयाभाव जैसे बाहरी कारणों की अपेक्षा मैं इस भीतरी कारण को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक संगत मानता हूँ। यों यह बात सत्य है कि घोष अपने पूर्ववर्ती अन्वेषकों द्वारा निर्दिष्ट सभी स्थानों तक नहीं गये। उदाहरणार्थ सिल्वेरॉड के खोजे हुए बांदा के शिला-चित्रों तक भी उनकी पहुँच नही हुई और वे भी उनके अध्ययन का अंग नही बने।

श्री घोष जो नही कर सके उससे कही अधिक उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है वह जो वे कर गये। २८ फलकों मे सिंघनपुर, मिर्जापुर और होशंगाबाद के बहुसंख्यक चित्र उन्होने छाया-

चित्रों और अनुकृतियों के माध्यम से प्रस्तुत किये । अनुकृतियों के विषय में अपनी कार्यविधि का विवरण सिंघनपुर के प्रसंग में उन्होंने स्वयं ही दे दिया है । जहाँ चित्र ऊँचाई पर होते थे वहाँ मचान और सीढ़ियों के सहारे उन्हें निकट से देखकर अनुकृतियाँ बनवायी गयीं, यों ही दूर से देखकर उनका रूप निश्चित नहीं कर लिया गया । पहले झीने कागज़ पर आकृतियाँ 'ट्रेस' कर ली जाती थीं तब ड्राइंग कागज़ पर उन्हें उतारकर रंगों से मूल चित्रों के अनुरूप पूरित किया जाता था । अनुकर्ताओं के कार्य की देख-रेख ध्यानपूर्वक की जाती थी । मोनोग्राफ़ की सम्पूर्ण विषय-वस्तु पाँच अध्यायों में विभक्त है । पहले में क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति का परिचय, दूसरे में इन्हीं क्षेत्रों से प्राप्त पाषाण-युग तथा लौह-युग की सामग्री की चर्चा, तीसरे में सिंघनपुर, चौथे में मिर्ज़ापुर और पाँचवें अध्याय में होशंगाबाद के शिला-चित्रों का विवरण पुरातात्त्विक विवेचन की गरिमा के साथ विधिवत् प्रस्तुत किया गया है ।

पँचमढ़ी-क्षेत्र के चित्रों को अनुकृत करके प्रकाश में लाने तथा उनका विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करने का एकांत श्रेय डी० एच० गॉर्डन को है किन्तु विद्वत्-वर्ग को उन शिला-चित्रों की प्रथम सूचना उनके पूर्ववर्ती डॉ० जी० आर० हन्टर (Dr. G. R. Hunter) द्वारा प्राप्त हुई । डॉ० हन्टर ने १९३२ में 'कांग्रेस ऑफ़ दि प्रि ऐण्ड प्रोटो हिस्टॉरिक साइन्सेज़' के समक्ष भाषण देते हुए पहली बार विशाल चित्र-राशि की स्थिति का परिचय दिया । इसके अनन्तर उन्होंने ही 'नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल' में पँचमढ़ी-क्षेत्र में स्वयं कराये हुए उत्खनन का विवरण देते हुए डोरोथी डीप और मान्टेरोज़ा आदि गुफाओं के चित्रों की लिखित चर्चा भी की । यहीं से उनके महत्त्वपूर्ण अनुशीलन का आरंभ हुआ । गॉर्डन को उनका परिचय कदाचित् १९३५ ई० में प्राप्त हुआ । तभी से उन्होंने महादेव पर्वत-मालाओं के चित्रों के विषय में विदेशी पत्रों में लिखना शुरू कर दिया । 'इंडियन केव पेंटिंग' नाम से उनकी खोज की पहली विज्ञप्ति सात फलकों पर मुद्रित १४ छाया-चित्रों तथा रेखा-चित्रों के साथ १९३५ के 'आइपेक' (IPEC, Leipzig 1935) में प्रकाशित हुई । इसमें लेखक ने स्वज्ञात भारतीय शिला-चित्रों के सांस्कृतिक पक्ष को विशेषतः प्रस्तुत किया । सितम्बर, १९३५ के ही 'इलस्ट्रेटेड वीकली लंदन न्यूज़' के अंक में गॉर्डन महोदय का एक अन्य लेख छपा । इन लेखों की सूचना लेखक की ही परवर्ती कृतियों से प्राप्त होती है । 'इंडियन आर्ट्स ऐण्ड लेटर्स' की दसवीं वॉल्यूम में, जो १९३६ ई० में मुद्रित हुई, गॉर्डन का पूर्व-निर्दिष्ट सुप्रसिद्ध लेख प्रकाशित हुआ और उसका शीर्षक था 'दि रॉक पेंटिंग्स ऑफ़ महादेव हिल्स' । इस लेख के साथ २० फलकों पर छपे ५१ रेखा-चित्र भी प्रकाश में आये और भारतीय विद्वानों एवं कला-मर्मज्ञों के सामने पहली बार पँचमढ़ी के शिला-चित्रों का स्वरूप उनकी विविध विशेषताओं के साथ प्रत्यक्ष हुआ ।

पँचमढ़ी अँगरेज़ों के समय से ही भारतीय फौज का एक सुप्रसिद्ध आवास-गृह रही है । गॉर्डन वहाँ लेफ्टिनेंट कर्नल के रूप में बहुत काल तक रहे । पुरातत्त्व की ओर उनकी सहज

प्रवृत्ति महादेव पर्वत-मालाओं की चित्र-राशि उपलब्ध करके पूरी तरह सक्रिय हो उठी और उन्होंने अपने व्यस्त फौजी-जीवन के बीच अवकाश निकालकर ५० छाया-चित्र और ३०० रेखा-चित्र, कुछ स्वयं और कुछ अपनी पत्नी एम० ई० गॉर्डन तथा अन्य सहयोगियों की सहायता से प्राप्त किये। इन सहयोगियों में डॉ० हन्टर तथा होशंगावाद के वन-विभागाध्यक्ष श्री जार्ज विशेप उल्लेखनीय हैं। यह चित्र अधिकतर मान्टेरोज़ा, डोरोथी डीप, जम्वूद्वीप और माड़ादेव नामक दुर्गम शिलाश्रयों एवं गुफाओं से लिये गये हैं। इन तक पहुँचना और चित्रों को सजगता के साथ अनुकृत करना कितना दुस्साध्य कार्य है, यह वहाँ जाने पर ही प्रतीत होता है। गॉर्डन ने इसे यथाशक्ति सम्पन्न करके इस दिशा में अभूतपूर्व कार्य किया जिसके लिए प्रत्येक परवर्ती शोधक उनका ऋणी रहेगा। यह दूसरी वात है कि शिला-चित्रों की मूल संख्या की तुलना में उनकी अनुकृतियाँ भी स्वल्प ही हैं। यही नहीं, इमलीखोह आदि अनेक गुफाएँ ऐसी भी हैं जो उनकी एकाकी दृष्टि में आने से रह गयीं। सन् '३६ वाले लेख में उन्होंने जम्वूद्वीप, मान्टेरोज़ा, डोरोथी डीप और माड़ादेव के ही चित्रों से परिचय व्यक्त किया है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय तक वनियावेरी भी उनकी दृष्टि में नहीं आयी थी। वाद में इसके छाया-चित्र भी उन्होंने लिये जो एक अन्य लेख के साथ प्रकाशित हुए।

पँचमढ़ी-क्षेत्र के चित्रों के विषय में इस लेख में जो धारणाएँ गॉर्डन ने वना लीं प्रायः वही उनकी १९५८ ई० में प्रकाशित 'प्रिहिस्टॉरिक वैकग्राउण्ड ऑफ़ इण्डियन कल्चर' में भी व्यक्त हुई हैं। यही नहीं सिंघनपुर, कवरा पहाड़ और आदमगढ़ आदि के चित्रों का महत्त्व अंकित करने में भी उन्होंने पँचमढ़ी की चित्र-राशि को ही आधार के रूप में ग्रहण किया है। फिर, चूँकि पँचमढ़ी के चित्र उनके अनुसार ऐतिहासिक युग की दसवीं सदी ई० तक चले आते हैं, अतः शेष स्थानों के चित्र भी उनसे हज़ार दो हज़ार वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं हो सकते ऐसा पूर्वाग्रहयुक्त मत उन्होंने वना लिया। मैन (Man) आदि पत्रों में उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसका दृष्टिकोण प्रायः यही रहा। 'साइंस ऐण्ड कल्चर' की वॉल्यूम ५ के अन्तर्गत भी उनके जितने लेख प्रकाशित हुए वे सव महादेव पर्वत-मालाओं के चित्रों की ही आधार-भूमि पर लिखे गये हैं तथा उसी पूर्वाग्रह को व्यक्त करते हैं। किन्तु उन लेखों में पर्याप्त मौलिक सामग्री भी समाविष्ट है अतः उनका कुछ समीक्षात्मक परिचय देना यहाँ आवश्यक है। उनके शीर्षक तथा प्रकाशन अंक-वर्ष इस प्रकार हैं:—

१. दि डेट ऑफ़ सिंघनपुर रॉक पेंटिंग्स — अंक ३, १९३९ ई०

२. दि रॉक पेंटिंग्स ऑफ़ कवरा पहाड़ — अंक ५, १९३९ ई०

३. आर्टिस्टिक सीक्वेंस ऑफ़ दि रॉक पेंटिंग्स ऑफ़ महादेव हिल्स (पूर्वांश) — अंक ६, १९३९ ई०

४. आर्टिस्टिक सीक्वेंस ऑफ़ दि रॉक पेंटिंग्स ऑफ़ महादेव हिल्स (उत्तरांश) — अंक ७, १९४० ई०
५. दि वारफेयर इन इण्डियन केव-आर्ट — अंक १०, १९४० ई०
६. एनिमल्स ऐण्ड डेमन्स इन इण्डियन केव-आर्ट — अंक ११, १९४० ई०

यह सभी लेख 'रिप्रोडक्शंस फ्रॉम गॉर्डन' नाम से १९५० ई० में अलग से भी प्रकाशित हुए।

सिंघनपुर-विषयक पहले लेख में गॉर्डन ने रायगढ़ दरबार को घोष द्वारा दी गयी 'टाइप्ड रिपोर्ट' का उल्लेख करते हुए लिखा है कि चित्रों के रंग बहुवर्णी (पॉलीक्रोम) हैं। यह बात उसी में लिखी मिलती है, 'मेम्वायर' (घोष के मोनोग्राफ़) में नहीं। घोष की तर्क-प्रणाली को सही मानते हुए भी कई स्थलों पर गॉर्डन ने उनके मत की टीका-टिप्पणी की है। अमरनाथ दत्त की कल्पनाप्रवण धारणाओं (quaint fancies) के प्रति तो गॉर्डन ने अनेक बार अनेक प्रकार से व्यंग्य किये हैं। मुझे लगता है कि दत्त महोदय की अतिपूर्ण धारणाओं ने विदेशवासी गॉर्डन के सहज पूर्वाग्रहयुक्त मत को और भी सान पर रख दिया जिसका परिणाम आज यह है कि भारतीय पुरातत्त्वज्ञ भी यहाँ के शिला-चित्रों की महत्ता के विषय में शंकालु हो गये हैं और अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन दिखायी देते हैं। जहाँ तक चित्रों की अनुकृतियों का प्रश्न है, गॉर्डन अपने पूर्ववर्ती सभी शोधकों की तुलना में अधिक सजग और संयमित रहे। उन्होंने अपने संदर्भित लेख में ही पर्सी ब्रॉउन और अमरनाथ दत्त दोनों पर इसी बात को लेकर कटाक्ष किया है कि इन लोगों ने बिना ध्यानपूर्वक मूल चित्रों को देखे कल्पनाशील होकर उनकी अनुकृतियाँ कीं और उनमें मनमाने रूपों की छायाएँ देखते हुए अद्‌भुत व्याख्याएँ कर डालीं।[१] घोष द्वारा मोनोग्राफ़ में प्रकाशित अनुकृतियाँ भी दोषपूर्ण हैं, क्योंकि उनमें चित्रों का ही नहीं, आधारभूत शिलाओं का रूप भी कहीं-कहीं पृष्ठभूमि में समाविष्ट कर लिया गया है जिसे कहीं-कहीं मूल-चित्र से अलग करके देखना कठिन हो जाता है। गॉर्डन की यह आलोचना सर्वथा सही है क्योंकि घोष द्वारा प्रस्तुत कोहबर के एक पशु-चित्र को देखकर जो धारणा मेरे मन में बनी वह मूल को देखने पर पूरी तरह भ्रांत सिद्ध हुई। कारण यही था कि उस अनुकृति में शिलाओं की तहें भी

१. Mr. Datta has been misled by the inaccurate copying of Mr. Percy Brown, who, for example, by omitting some lines and altering others turns a small figure of a horse into a seated jackal, and this is compared by Mr. Datta with Anubis.
—सा० का०, पृ० १४२

(श्री दत्त पर्सी ब्रॉउन की सदोष अनुकृतियों से बहक गये। 'पर्सी ब्रॉउन' ने उदाहरणार्थ कुछ रेखाओं को छोड़कर तथा कुछ आकारों को मोड़कर घोड़े की एक छोटी आकृति को बैठे हुए शृगाल के रूप में परिणत कर दिया और इस शृगाल की तुलना दत्त महोदय ने 'एन्यूबिस' से कर डाली है।)

पट्टियों या जल-धाराओं की तरह पशुओं की आकृति के साथ मिलाकर अनुकृत कर ली गयी थीं। वाकणकर की अनुकृतियों में भी ऐसा मिलता है।

गॉर्डन ने अपने विवेचन-क्रम में तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए कबरा पहाड़, महादेव पहाड़ियों और सिंघनपुर के शिलाश्रयों पर अंकित आयताकार मानवाकृतियों में इतना प्रखर सादृश्य लक्षित किया कि वे उन्हें समसामयिक लगने लगे।[1] यदि गॉर्डन का कला के क्षेत्र में भी उतना ही प्रवेश होता जितना कि पुरातत्त्व के क्षेत्र में था तो वे संभवतः शैली-साम्य को समय-साम्य के साथ इतने आग्रहपूर्ण ढंग से संग्रथित न कर देते। जहाँ एक ओर यह सत्य है कि युग-विशेष का प्रतिनिधित्व बहुधा एक ऐसी शैली के द्वारा होता है जो अन्य समसामयिक शैलियों पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है वहाँ दूसरी ओर इसके भी अनेकशः उदाहरण दिये जा सकते हैं कि कभी-कभी एक ही युग में अनेक शैलियों का प्रभुत्व रहा करता है तथा कुछ शैलियाँ प्रत्यावर्तित होती हुई पुनः-पुनः अपनायी जाती हैं अथवा उनका प्रयोग अनेक युगों तक, न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ चलता रहता है। निष्कर्षों के लिए तो नहीं किन्तु इस बात के लिए गॉर्डन की सराहना अवश्य की जा सकती है कि उन्होंने शिला-चित्रों पर विचार करते हुए शैली-पक्ष की ओर भी यथेष्ट सजगता व्यक्त की।

योरोप जाने पर एक बार गॉर्डन ने भारतीय शिला-चित्रों की समस्या को इस विषय के प्रख्यात विशेषज्ञ एम० सी० बर्किट के आगे भी प्रस्तुत किया था जिसका विवरण उनके इसी लेख में मिलता है। बर्किट ने पँचमढ़ी की उन चित्र-श्रेणियों या शृंखलाओं, जिनमें गॉर्डन ने पँचमढ़ी के चित्रों को विभाजित किया है, के सम्पूर्ण विकास की अवधि को श्रेणी-विभाजनकर्ता द्वारा अनुमानित १५०० वर्षों के स्थान पर १००० वर्षों में ही संभाव्य माना। इससे काल-निर्णय के विषय में गॉर्डन का पूर्वाग्रह विश्वास की कोटि में परिणत हो गया। कदाचित् इसी लिए अपने लेख में उन्होंने अनेक स्थलों पर भारतीय शिला-चित्रों की योरोपीय पूर्व पाषाण-युगीन चित्रों से तुलना न करने की नेक सलाह दी है। परन्तु खेद है कि ऐसी सदाशयपूर्ण सलाह तक की अवज्ञा करने से लोग नहीं चूकते। 'अवज्ञापरमोधर्मः' के रूप में अपने एक मित्र का सूत्र स्मरण करके मैं भी अवज्ञाकारियों की सूची में नाम लिखा बैठा हूँ। गॉर्डन ने इस बात के लिए पर्सी ब्राउन की बड़ी भर्त्सना की है कि उन्होंने क्यों भारतीय शिला-चित्रों की तुलना कोगुल (स्पेन) के चित्रों से की। उनके मत को गॉर्डन ने नितान्त अविश्वसनीय घोषित किया है।[2]

---

१. The resemblance between the square figures of Singhanpur and Kabra Pahar in Raigarh and those found in the Mahadeo Hills is so striking that they must be contemporary.

—वही, पृ० १४५

२. सा० का०, पृ० १४७

इस लेख के अन्त में चार महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गये हैं :—

१. सिंघनपुर के चित्र ज्ञात सामग्री के आधार पर लगभग ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० के माने जा सकते हैं।
२. समीपवर्ती क्षेत्र से प्राप्त लघु पाषाणास्त्रों (माइक्रोलिथ्स) का संबंध चित्रों से मानना उचित है परन्तु अनिवार्य नहीं।
३. महादेव पर्वत-मालाओं के चित्रों तथा उन्हीं के समसामयिक अन्य चित्रों की तुलना योरोपीय गुफा-चित्रों से करना अनुचित तथा अविवेकपूर्ण है।
४. मैंमथ, ग्लिप्टोडन आदि की अमरनाथ दत्त द्वारा की हुई कल्पनाएँ निराधार और भ्रामक हैं। उनका यथार्थ से कोई संबंध नहीं है।

इनमें से सभी निष्कर्ष विश्वसनीय चाहे न भी हों पर विचारणीय अवश्य हैं।

कबरा पहाड़-विषयक दूसरे लेख में गॉर्डन ने रायगढ़-क्षेत्र के, खैरपुर नवागढ़ आदि कुछ अन्य शिलाश्रयों की स्थिति का उल्लेख करते हुए उनमें कबरा पहाड़ को विशेष महत्त्वपूर्ण बताया है और उसके चित्रों का पहली बार कुछ व्यवस्थित रीति से परिचय दिया है। वे अमरनाथ दत्त की धारणाओं से इतने अधिक क्षुब्ध थे कि उनकी सिंघनपुर-विषयक कृति की भूमिका में कबरा पहाड़ के अनाम निर्देश को पहचान तक नहीं सके। उसकी प्रथम खोज का श्रेय वे उन्हें देते, इसका इसी लिए प्रश्न ही नहीं उठता है। इस लेख में तामिया, आद्मगढ़, पँचमढ़ी और सिंघनपुर के शिला-चित्रों की तुलना एवं सापेक्षता में कबरा पहाड़ के चित्रों का परिचय दिया गया है तथा दृष्टिकोण भी प्रायः वही रहा है जो पूर्वोल्लिखित लेख में है।

कबरा पहाड़ में कुछ विचित्र प्रकार के चिह्न आलिखित मिलते हैं जिनके विषय में रायगढ़ के दीवान ने, अमरनाथ दत्त की साक्षी देते हुए, गॉर्डन को यह बताया कि वे 'इण्डस स्क्रिप्ट' से सम्बद्ध हैं। लेखक ने इस प्रसंग का विवरण देते हुए सिंधु घाटी की लिपि के तत्कालीन विशेषज्ञ डॉ० जी० आर० हण्टर के मत की चर्चा की है जो उक्त शिला-चिह्नों और 'इण्डस स्क्रिप्ट' में कहीं कोई दूर का संबंध भी नहीं मानते। चिह्नों के अतिरिक्त गॉर्डन ने कबरा पहाड़ में उपलब्ध क्षेपांकन (Stencil) विधि के चित्रों की ओर भी रुचि के साथ दृष्टिपात किया है। स्थानीय लोगों का यह विश्वास कि शिलाश्रय के तल को खोदने से खजाना निकलेगा, गॉर्डन को विशेष रोचक लगा क्योंकि उन्हें धन के स्थान पर कुछ लघु पाषाणास्त्र ही मिल पाये सो भी ऐसे जिन्हें प्रथम शती ई० से पूर्व का स्वीकार करना उनके लिए संभव नहीं हो सका।

तीसरे और चौथे लेख का आधार १९३६ वाला लेख ही है। इसमें लेखक ने महादेव पर्वत-मालाओं के शिला-चित्रों का वर्ण-विधान, शैली-शिल्प, प्रक्षेपण आदि के विचार से एक बार जो श्रेणी-विभाजन प्रस्तुत किया था उसी का कुछ विस्तार के साथ पुनर्लेखन मिलता है। कुछ नये चित्रों की रेखानुकृतियाँ भी उदाहरण के रूप में समाविष्ट कर ली गयी हैं। श्रेणियाँ (Series) मुख्य रूप से पाँच ही मानी गयी हैं तथा वर्गीकरण भी प्रायः पूर्ववत् ही है।

पाँचवें लेख में युद्ध-दृश्यों तथा छठे में पशुओं एवं अतिमानवीय देवताओं के अंकन पर विचार किया गया है। यह विषय भी, ३६ वाले लेख में अंशतः आ गये थे और बाद में इन्हें कुछ सामग्री और जुटाकर स्वतंत्र लेख के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र की प्रभूत चित्र-राशि के प्रति गॉर्डन ने न्याय नहीं किया है। अपने सारे विवेचन में जिस गौण रूप से उन्होंने कुछ स्थलों पर इस क्षेत्र के चित्रों के विषय में संदर्भ दिया या चर्चा की है उससे लगता है कि वे प्रत्यक्षदर्शी होकर वैसा नहीं कर रहे हैं। संभव है कि उन्होंने इस क्षेत्र में पदार्पण ही न किया हो और यदि कभी किया भी हो तो भी यह सर्वथा निश्चित है कि जिस मनोयोग एवं शोध-वृत्ति का परिचय उन्होंने पँचमढ़ी-क्षेत्र के मंथन में दिया उसकी छाया भी मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के विषय में लक्षित नहीं होती। प्रि० वै० इं० क० नामक सबसे बाद में प्रकाशित ग्रंथ में भी ऐसी ही स्थिति दिखायी देती है। लिखनिया-कंडाकोट, लिखनिया-कोहबर, रौंप, भल्डरिया और विजयगढ़ आदि के सब शिला-चित्र उन्होंने स्वयं देखे होते तो वे उन्हें इतनी सरलता से पँचमढ़ी की चित्र-श्रेणियों के समकक्ष रखने का अविवेकपूर्ण कार्य न करते और न अन्य उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण किन्तु अननुकृत चित्रों के विषय में मौन रह जाते।[1]

गॉर्डन ने अपना कार्य शिला-चित्रों तक ही सीमित नहीं रक्खा वरन् उत्कीर्ण-चित्रों (Engravings) के विषय में भी दो शोध-निबन्ध प्रकाशित किये। 'दि रॉक एनग्रेविंग्स ऑफ़ कुपगल्लु हिल्स, बेलारी' नामक एक लेख 'मैन' (Man) के अंक २०४ में छपा और दूसरा लेख सन् १९४१ में ज० रा० ए० सो० बं० की सातवीं संख्या में 'दि रॉक एनग्रेविंग्स ऑफ़ मिडिल इण्डस' शीर्षक से मुद्रित हुआ। इनमें प्रस्तुत सामग्री को इस ग्रंथ के परिशिष्ट भाग में समाविष्ट कर लिया गया है। प्रि० वै० इं० क० के छठे अध्याय में गॉर्डन ने शिला-चित्रों तथा उत्कीर्ण चित्रों दोनों पर क्रमशः विचार किया है और अपने से पूर्व प्रकाशित प्रायः सभी सामग्री का उपयोग करने की चेष्टा की है। उनके अतिरिक्त अन्य किसी पुरातत्त्ववेत्ता ने इनके महत्त्व एवं मौलिक आकलन के साथ भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों की समस्या को अब तक सामने नहीं रक्खा। यदि किसी ने कुछ प्रयत्न किया भी है तो उनका कार्य उसकी प्रेरणा या आधार-भूमि बना है। खेद है कि कुछ ही वर्ष पूर्व उनका देहावसान हो गया अन्यथा ऐसे तत्पर शोधक से इस दिशा में किसी स्वतंत्र ग्रंथ की आशा भी की जा सकती थी। अब यह कार्य मेरे जैसे पुरातत्त्व से अनभिज्ञ एवं अनधिकारी व्यक्ति को करना पड़ रहा है। निश्चय ही गॉर्डन जैसे पूर्वकृती शोधक मेरे प्रेरक एवं पथ-प्रदर्शक रहे हैं और यदि उनके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त न करूँ तो अकृतज्ञता होगी। अगर उनसे मेरा कोई मतभेद है, और मैं कहूँगा कि अवश्य है, तो इसका श्रेय भी मैं बहुत कुछ उन्हीं को दूँगा क्योंकि उन्होंने ही उसके लिए सम्यक् आधार प्रदान किया है।

---
१. प्रि० वै० इं० क०, पृ० १०५-१०६

प्रि० वैं० इं० क० के प्रकाशन अर्थात् १९५८ ई० से पूर्व और भी बहुत-सी शोध इस दिशा में हुई है जो उल्लेखनीय है। 'प्रिहिस्टॉरिक साउथ इंडिया' नामक कृति में वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार ने पाषाणयुगीन कला पर विचार करते हुए शिला-चित्रों की चर्चा की है जिसमें वर्गीकरण, कलागत मूल्यांकन, वर्ण-विधान के स्वरूप और विदेशी चित्रों से तुलना का अत्यंत सामान्य एवं संक्षिप्त प्रयास किया गया है। आशा यह की जा सकती थी कि लेखक दक्षिण भारत में शिला-चित्रों की स्थिति एवं शोध की सूचना देगा परंतु उसने ऐसा कुछ भी नही किया है। संभवतः उस समय तक हैदराबाद-क्षेत्र के शिला-चित्र प्रकाश में नहीं आये थे। इन चित्रों का प्रथम परिचय पहले एफ० आर० अल्चिन (F. R. Allchin) के 'डेवलपमेंट ऑफ़ अर्ली कल्चर्स इन दि रायचूर डिस्ट्रिक्ट' और फिर गॉर्डन के साथ संयुक्त रूप से लिखे गये उस लेख से मिलता है जो १९५५ ई० में 'मैन' के अंक ११४ में 'रॉक पेंटिंग्स ऐण्ड एनग्रेविंग्स इन रायचूर, हैदराबाद' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। अभी कुछ वर्ष पूर्व अल्चिन दम्पति प्रयाग पधारे थे और उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग में अपनी खोज का सचित्र विवरण एक व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया। जो चित्र उन्होंने रंगीन स्लाइडों के माध्यम से प्रदर्शित किये उनमें कई पशु-आकृतियाँ विशेष आकर्षक थीं। ऋष्यमूक पर्वत की किसी शिला पर अंकित एक दीर्घ-शिश्न पशु-चित्र मुझे छाया-रूप में भी अत्यंत शक्तिशाली प्रतीत हुआ। अल्चिन महोदय से मैंने उसके विषय में कुछ और जानकारी प्राप्त करनी चाही तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक सूचित किया कि इन नयी खोजों के विषय में उनकी पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है उनकी वह कृति अभी प्रकाश में नहीं आ सकी है।

ए० एच० ब्रॉड्रिक की 'प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग' जिसका उल्लेख इस शोध-कथा के प्रारंभ में ही किया जा चुका है, १९५८ में प्रकाशित हुई। इसमें सम्मिलित तीन चित्र यह हैं—सिंघनपुर का आखेट-दृश्य, होशंगाबाद का महिष और मिर्ज़ापुर का घायल सुअर। इन तीन चित्रों के समावेश ने पहली बार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला को अन्य देशों के कला-वैभव के समक्ष प्रतिष्ठा प्रदान की। ब्रॉड्रिक ने स्वयं भारतीय चित्रों के विषय में कोई शोध-कार्य नहीं किया। चित्रों का चयन उन्होंने मनोरंजन घोष के ग्रंथ 'रॉक पेंटिंग्स ऑफ़ प्रिहिस्टॉरिक ऐण्ड लेटर टाइम्स' से किया है। यह नाम उनके 'मोनोग्राफ़' के शीर्षक का ही संक्षिप्त रूप है। आभार डॉ० एन० पी० चक्रवर्ती, ओ० बी० ई० तथा पटना-स्थित आ० सर्वे ऑफ़ इंडिया के सुपरिंटेंडेंट के प्रति व्यक्त किया गया है। भूमिका-भाग में जहाँ अफ्रीका और योरोप के बाहर के शिला-चित्रमय क्षेत्रों की चर्चा की गयी है वहाँ भारत के उक्त तीनों क्षेत्रों का नामोल्लेख हुआ है। पँचमढ़ी की चित्र-राशि यद्यपि गॉर्डन द्वारा इस समय तक ज्ञापित की जा चुकी थी तथापि ब्रॉड्रिक उससे परिचित दिखायी नहीं देते अन्यथा इस क्षेत्र का भी कोई न

कोई चित्र उनके द्वारा अवश्य ही समाविष्ट कर लिया जाता। भारतीय चित्रों की विशेपता वताते हुए लेखक ने सिंघनपुर के पशु-चित्रों की समता आस्ट्रेलिया के शिलाश्रयों पर अंकित चित्रों से की है। पार्श्व दृष्टि से अंकित करने की शैली तथा पशु एवं मानव दोनों के योजनावद्ध अंकन को उसने स्पेन के मिश्र प्रस्तरयुग और नवीन प्रस्तरयुग के चित्रों का स्मरण दिलानेवाला कहा है।[1] होशंगावाद के कुछ पशुओं के आगे 'घास की पत्तियों' (Blades of grass) अथवा 'जल-स्रोतों' (Springs) का अंकन प्राय: वैसा ही है जैसा लास्को में मिलता है। एक चित्र में कंगारू के रूप की कल्पना की गयी है जो निराधार है। लेखक द्वारा व्यक्त इन धारणाओं से ज्ञात होता है कि वह भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने की ओर विशेप उन्मुख है, उनके स्वतंत्र अनुशीलन की ओर कम।

स्टुआर्ट पिगॉट की 'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया' नामक प्रसिद्ध कृति का प्रथम संस्करण १९५० ई० में मुद्रित हुआ जिसमें प्रागैतिहासिक चित्रों के प्रसंग को वहुत संक्षिप्त और चलताऊ ढंग से छूकर छोड़ दिया गया है। मध्यभारत तथा सिंघनपुर के शिलाश्रयों पर अंकित चित्रों की पूर्व-पापाणकाल तक की प्राचीनता के विरुद्ध गॉर्डन के ई० पू० ५०० तक की प्राचीनतावाले मत को पिगॉट ने विना किसी आपत्ति के तदवत् स्वीकार करते लिख दिया है कि भारत में पूर्व-पापाणकाल की ऐसी सामग्री का प्रमाण पाना अभी शेप है जिसकी तुलना योरोप या उसके निकटवर्ती क्षेत्र से उपलव्ध सामग्री से की जा सके।[2] स्वसम्पादित 'दि डॉन ऑफ़ सिविलाइ-ज़ेशन' नामक नवप्रकाशित विशाल एवं महत्त्वपूर्ण कृति में तो पिगॉट ने सिंधुघाटी-सभ्यता से ही भारतीय संस्कृति के इतिहास का समारंभ कराया है।

लायोंहार्ट आडम ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव आर्ट' में 'प्रिहिस्टॉरिक आर्ट इन इंडिया' शीर्पक से भारत की प्रागैतिहासिक कला का परिचय देते हुए न केवल भारतीय शिला-चित्रों का महत्त्व व्यक्त किया है वरन् संतुलित और विवेकपूर्ण रीति से गॉर्डन के मत का खण्डन करते हुए उनकी पर्याप्त प्राचीनता का समर्थन भी किया है। आडम की यह पुस्तक सर्वप्रथम १९४० ई० में प्रकाशित हुई किन्तु उसके संशोधित और परिवर्धित संस्करण क्रमश: १९४९ और १९५४ में छपे। '५४ वाले संस्करण में लेखक ने पिगॉट की उपर्युक्त पुस्तक से भी सहायता ली है तथा भारतवर्प की प्रागैतिहासिक चित्रकला के प्रसंग में गॉर्डन के मत तथा उसके परिपोपक पिगॉट की धारणा दोनों का संदर्भ दिया है। उसने उसके काल-निर्णय की समस्या को ऐसी समस्या वताया है जिसका समाधान होना अभी शेप है। साथ ही मतभेद की सीमाओं और उनके वीच के कालगत व्यवधान पर आश्चर्य प्रकट किया है। आडम ने इस वात की संभावना स्पष्ट-

१. प्रि० पे०, पृ० ३५-३६
२. प्रिहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० ३५, द्वितीय संस्करण

तथा स्वीकार की है कि कुछ भारतीय शिला-चित्र सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की ताम्रप्रस्तरयुगीन संस्कृति से पूर्व की अवस्था से संबद्ध हो सकते हैं।[१] इस अभिमत की विशेष चर्चा काल-निर्णय के प्रसंग में यथास्थान की जायगी।

पूर्वोक्त 'प्रिमिटिव आर्ट' के दोनों परिवर्धित संस्करणों के बीच की अवधि अर्थात् १९५२ ई० में प्रख्यात चित्रकार असितकुमार हालदार द्वारा लिखित भारतीय चित्रकला का एक परम्परा-पोषक इतिहास-ग्रंथ अँगरेज़ी में 'अवर हेरिटेज इन आर्ट' नाम से प्रकाशित हुआ। पर्सी ब्रॉउन और राय कृष्णदास के अनन्तर भारतीय चित्रकला के इतिहास में प्रागैतिहासिक चित्रों की महत्ता स्वीकार करते हुए उन चित्रों से उसका आरंभ करनेवाले व्यक्तियों में हालदार का नाम अग्रगण्य कहा जायेगा यद्यपि उनका मूल चित्रों से कोई प्रत्यक्ष परिचय लक्षित नहीं होता। सिंघनपुर और मिर्ज़ापुर के चित्रों की चर्चा तो ब्रॉउन की कृति 'इंडियन पेंटिंग' में की ही जा चुकी थी। राय कृष्णदास ने इनमें से किसी क्षेत्र का नामोल्लेख किये बिना ही अत्यन्त संक्षेप में प्रागैतिहासिक चित्रों एवं उनकी एक-दो प्रवृत्तियों का निर्देशमात्र अपनी 'भारत की चित्रकला' नामक पुस्तक के आरंभ में कर दिया है। इन पूर्ववर्ती कृतियों से प्रेरणा ग्रहण करके तथा इस विषय की थोड़ी अन्य प्रकाशित सामग्री का आधार लेकर हालदार ने पाँच क्षेत्रों के शिला-चित्रों का, कलाकार-सुलभ कल्पना का उपयोग करते हुए विवरण देने की चेष्टा की है।[२] पहले क्षेत्र के लिए उन्होंने 'रायगढ़ इन सिंघनपुर स्टेट' शब्दों का प्रयोग किया है जो वस्तुस्थिति से ठीक उल्टा अर्थ देता है। सिंघनपुर स्टेट नहीं है, स्टेट है रायगढ़ जिसमें वह स्थित है। इसके चित्रों का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि कुछ चित्र तो रंगों से अंकित हैं पर कुछ गुफा-भित्तियों में उत्कीर्ण हैं।[३] ऐण्डर्सन से लेकर गॉर्डन तक जितने प्रत्यक्षदर्शी शोधकों ने सिंघनपुर के शिला-चित्रों का विवरण प्रस्तुत किया है उनमें से किसी ने कहीं एक बार भी इसका उल्लेख नहीं किया कि वहाँ अंकित चित्रों के साथ भित्तियों पर उत्कीर्ण चित्र भी मिलते हैं। गॉर्डन ने तो उत्कीर्ण चित्रों पर विशेष रूप से पृथक् विचार किया है। ऐसी दशा में इस विवरण को कलाकार हालदार की कल्पना ही कहना पड़ेगा। चित्रों के विवरण भी विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। त्रिशूल जैसा चिह्न अपने आदिम रूप में सिंघनपुर में अवश्य अंकित है पर उसके चारों ओर दो बालकों के साथ हाथ फैलाकर एक वयस्क मनुष्य के नृत्य की धारणा उनकी अपनी है।[४]

---

१. प्रिमिटिव आर्ट, पृ० ११६-११७, तृतीय संस्करण
२. Our Heritage in Art, पृ० १२
३. 'Some pictures are painted while some others are chiselled out of the walls of caves' —वही, पृ० १३
४. In yet another one, an aged person (obviously larger in size) is dancing with arms stretched out with two young boys round a 'Trishula'. —वही, पृ० १४

दूसरा क्षेत्र होशंगाबाद का है जिसके चित्रों में केवल शिलाश्रय नं० १० के अश्वारोही सैनिकों के परवर्ती चित्र की ही विशेष चर्चा की गयी है जबकि उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध 'जिराफ़-ग्रुप' आदि की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया गया है। चित्रों पर चित्रों के आक्षिप्त होने का भी संकेत नहीं मिलता है। पशु-पक्षियों में शक्तिशाली वन्य महिषों का उल्लेख न करके केवल एक बारहसिंगे के चित्र का स्मरण किया गया है जो नितान्त गौण रहा है।

तीसरे क्षेत्र की चर्चा लेखक ने पाँचवें क्षेत्र के साथ मिलाकर की है।

चौथा क्षेत्र चक्रधरपुर की नदी-घाटियों का लिया गया है जो परम्परागत रूप से ज्ञात सामग्री से भिन्न कुछ नयी सामग्री की सूचना देता है। यह सूचना पंचानन मित्र की पूर्वनिर्दिष्ट पुस्तक प्रि०इं० से प्राप्त की गयी है यद्यपि इसका कोई संदर्भ लेखक ने नहीं दिया है। बिहार में सिंघभूमि जिले में स्थित इस चक्रधरपुर नामक मुख्य नगर के समीप प्रवाहित संजोई नदी की घाटी में ऐसे प्रागैतिहासिक अवशेष उपलब्ध हैं जिन्हें इतिहासकारों ने लगभग तीस हज़ार वर्ष पुराना समझा है।[१] कुछ रेखांकन सुवर्ण-रेखा नदी की घाटी में भी मिले हैं जो इसी ज़िले के घटसिला नामक स्थान से कुछ ही मील पर है। मानभण्डार नामवाले एक गाँव के समीप स्थित शिला पर एक महाकाय मानवाकृति उत्कीर्ण है। वहाँ कुछ चित्रों के भी अवशेष चिह्न मिलते हैं। एक चित्र में बिखरी ईंटों के बीच तीन व्यक्ति सीधे लेटे हैं और उन पर एक धनुष रखा हुआ है। पास ही तीन अन्य व्यक्ति हाथ फैलाये विजय की मुद्रा में खड़े हैं। लेखक के अनुसार नृतत्त्वशास्त्री उन्हें 'प्रोटोआस्ट्रियन.स्टॉक' से सम्बद्ध मानते हैं।

पाँचवें क्षेत्र के अन्तर्गत विजयगढ़ का पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है जबकि उसे मिर्ज़ापुर से संबद्ध तीसरे क्षेत्र में ही समाविष्ट किया जाना चाहिए था। विवरण प्रस्तुत करते समय लेखक को विवश होकर ऐसा ही करना पड़ा है परन्तु वर्गीकरण में उसने अकारण दोनों को अलग कर दिया है। मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में केवल लिखनिया-कोहबर और भल्डरिया का नाम ही प्रारंभ में दिया गया है किन्तु विवरण में महड़रिया का भी समावेश है जिसके चित्रों को लेखक ने उत्कीर्ण या विचित्र (either chiselled or painted) कहा है जो उसके अनिश्चित एवं संदिग्ध ज्ञान का द्योतक है।[२] हालदार ने किसी प्रागैतिहासिक चित्र की रेखानुकृति या छायानुकृति अपने विवरण के साथ प्रस्तुत नहीं की और न लिखनिया-कोहबर आदि के प्रसिद्ध चित्रों का शाब्दिक परिचय ही दिया है। दूसरी लिखनिया तथा उसके समीप की अन्य गुफाएँ जिनकी शोध बहुत पहले सम्पन्न हो चुकी थी वे भी अनुल्लिखित हैं। सार रूप में भारतीय प्रागैतिहासिक

१. On the bed of the Sanjoi river at Chakradharpur, the capital town of Singhbhoom district in Bihar, many such prehistoric records are to be found. Historians think that they are approximately thirty thousand years old.

२. वही. पृ० १६

चित्रकला का उनके द्वारा प्रस्तुत विवरण अपर्याप्त, असंतुलित और कहीं-कहीं भ्रामक तथा संदिग्ध प्रतीत होता है। लेखक ने भारतीय शिला-चित्रों के परिचय-संदर्भ में ही आल्तामीरा के शिला-चित्रों की खोज का उल्लेख करते हुए विदेशी प्रागैतिहासिक चित्रों के महत्त्व, स्वरूप एवं प्रकृति का भी संक्षिप्त परिचय दिया है तथा आदिम कला की मूल प्रवृत्तियों पर भी दृष्टिपात किया है। यह अंश अधिक उपादेय है।

प्रागैतिहासिक चित्रों से सम्बन्धित कुछ नवीन शोध-सूचनाएँ भारतीय पुरातत्त्व विभाग के मुख-पत्र 'इंडियन ऑर्कियालॉजी' १९५६-५७ तथा बाद के अनेक अंकों में लगातार प्रकाशित हुई हैं जिनसे इस बात का आभास मिलता है कि गुफा-चित्रों की ओर भी शोधकों की प्रवृत्ति कुछ-कुछ जागरित एवं सक्रिय हुई है। इस दिशा के नवीन शोधकों में श्री वी० एस० वाकणकर का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। उन्होंने मध्यप्रदेश में भोपाल, ग्वालियर, मंदसोर आदि के निकटवर्ती अनेक नवीन शिलाश्रयों की खोज की है तथा स्वयं ही उन पर अंकित महत्त्वपूर्ण चित्रों की बहुसंख्यक प्रतिकृतियाँ भी की हैं। कुछ समय पूर्व वे योरोपीय तथा भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा से स्पेन और फ्रांस आदि देशों की यात्रा कर आये हैं। १९५६-५७ ई० के पूर्वोक्त अंक में एक संक्षिप्त सचित्र टिप्पणी 'रॉक शेल्टर्स इन मध्यप्रदेश' शीर्षक से प्रकाशित हुई।[१] इसमें उनके द्वारा खोजे गये भोपाल के सीमावर्ती बैरागढ़ के अनेक चित्रित शिलाश्रयों का उल्लेख है। उन्हें इस क्षेत्र से विविध प्रकार के अनेक पाषाणास्त्र भी उपलब्ध हुए। ग्वालियर से चालीस मील दक्षिण की ओर शिवपुरी ज़िले के चोरपुरा नामक स्थल पर भी दस से अधिक चित्रमय शिलाश्रय उन्होंने देखे। इनमें चित्रों के अतिरिक्त गेरुए रंग में अंकित प्रथम, द्वितीय तथा चौदहवीं शती के अभिलेख भी मिले। ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए प्राचीन अक्षर 'दवूकेन कारितम्' के रूप में पढ़ लिये गये। ग्वालियर की सीमा पर ही एक शिलाश्रय और दृष्टिगत हुआ तथा कटनी के निकट दो मील पश्चिम की ओर एक स्थान पर सफेद रंग में अंकित कुछ शिला-चित्र लक्षित किये गये। संलग्न रेखा-चित्र में ग्वालियर, कटनी और भोपाल तीनों से एक-एक अनुकृति प्रस्तुत की गयी है जिसमें कुछ अक्षर भी समाविष्ट कर लिये गये हैं।[२]

इसी अंक में प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष श्री गोवर्धनराय शर्मा द्वारा की गयी रौंप, लिखनिया, कंडाकोट तथा बसौली की शोध-यात्रा का सचित्र विवरण भी प्रकाशित है। सत्तर वर्ष से भी अधिक समय पूर्व कॉकबर्न ने सन् १८८० में इस प्रदेश की यात्रा करके कैमूर की पहाड़ियों के चित्रों से संबन्धित जो लेख प्रकाशित किया

---

१. इं० आ०, पृ० ७९

२. वही, पृ० ८०

था उसी को ध्यान में रखते हुए शर्माजी ने इस क्षेत्र का निरीक्षण किया तथा नवीन चित्रित शिलाश्रयों के अतिरिक्त पुरातन अस्थियाँ और लघु पाषाणास्त्र भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध किये। वसौली के समीप जिस स्थान पर उन्होंने काँटेदार पशु 'साही' के शिकार का दृश्य देखा उसे 'ढोकवा महारानी' कहते हैं। यह नाम टिप्पणी में नहीं दिया है और न उसी गुफातुल्य अधमुँदे शिलाश्रय में अंकित 'प्रेत-भय' आदि के विचित्र दृश्य का ही कोई उल्लेख हुआ है। वसौली और कंडाकोट के बीच 'धोवहा' (Dhobaha) नामक स्थान की चर्चा अवश्य है जहाँ से कुछ पापाणास्त्र उन्हें और मिले। कंडाकोट के उत्तरी भाग से भी ऐसी ही उपलब्धियाँ हुईं। एक शिलाश्रय पर उनको दो विभिन्न स्तरों पर अंकित बहुत से चित्र दिखायी दिये जिनमें चार व्यक्तियों का एक समूह-नृत्य, तीन सशस्त्र व्यक्तियों द्वारा एक हाथी का आखेट, हिरन के शिकार का एक दृश्य तथा बिखरे केशोंवाले एक व्यक्ति का नर्तन इत्यादि विशेप उल्लेखनीय लगे। समूह-नृत्य में दो व्यक्ति मुखाच्छादन या छद्ममुख (Mask) धारण किये हुए चित्रित हैं। एक अन्य शिलाश्रय पर पर्याप्त परवर्ती काल के युद्ध-दृश्य अंकित मिले हैं। जिस प्रकार विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे लगता है, कि यह कंडाकोट से सोरहोघाट को जानेवाले मार्ग में स्थित शिलाश्रयों पर अंकित चित्रों का है क्योंकि वहाँ समूह-नृत्य, हाथी, हिरन तथा बिखरे बालोंवाली अनेक मानवाकृतियाँ चित्रित मिलती हैं परन्तु नृत्य, आखेट और युद्ध के रूप में उनका जैसा परिचय दिया गया है उससे यह भी संभव लगता है कि शायद यह किन्हीं अन्य शिलाश्रयों का विवरण हो। राजपुर और कंडाकोट के समीपवाली लिखनिया के अनेक चित्रित शिलाश्रयों तथा उनसे प्राप्त पापाणकालीन छोटे-बड़े अस्त्रों का साक्ष्य भी टिप्पणी के अंत में प्रस्तुत किया गया है। इस लिखनिया से भिन्न अहरौरा और छातु ग्राम के समीपवाली लिखनिया की यात्रा के 'इं० आ०' में पूर्व प्रकाशित विवरण की स्मृति दिलाकर दोनों का कुछ भेद बताते हुए इसके शिला-चित्रों के विपय में जो अत्यन्त स्वल्प सूचना देते हुए दो-तीन पंक्तियों में ही विवरण की जो समाप्ति कर दी गयी है इससे शंका होती है कि इसके प्रमुखतम शिलाश्रय के अद्वितीय चित्र-वैभव का यथार्थ अनुभव शोधक को हुआ भी या नहीं। प्रारंभिक पशु-चित्रण की स्वाभाविकता और शक्तिमंयता का निर्देश करते हुए केवल इतनी ही बात कही गयी है कि विचित्र पशुओं में गैंडे का भी समावेश है जबकि इस लिखनिया के मुख्य शिलाश्रय में उसका चित्रण हुआ ही नहीं है। संभव है शोधक ने किसी अन्य समीपवर्ती शिला-श्रय में उसे देखा हो। वास्तव में दूसरी लिखनिया का यह चलताऊ विवरण मुझे सर्वथा अपर्याप्त और निराशाजनक लगता है।[१]

विवरण के साथ लिखनिया का कोई छाया-चित्र भी प्रकाशित नहीं किया गया है। प्लेट

---

१. इं० आ०, १९५६-५७, पृ० १४-१५

७ पर जो दो छाया-चित्र मुद्रित हैं उनमें से 'ए' वाला उल्टा छपा है। यह दोनों ही रौंप के हैं परंतु जिन शिलाश्रयों पर यह अंकित हैं उनकी सही स्थिति के विषय में कोई भी सूचना नहीं दी गयी है। जो चित्र उल्टा छप गया है उसका मूल मैंने पंचमुखी महादेव के पीछेवाले एक शिलाश्रय में अंकित देखा है। इंडियन आँकियालॉजी के १९५७-५८ ई० के अंक में मध्यप्रदेश में होनेवाले अन्वेषण और उत्खनन के विवरण-खण्ड के अन्तर्गत 'एक्सप्लोरेशन इन डिस्ट्रिक्ट मंदसोर' शीर्षक से एक विचित्र सूचना प्रकाशित हुई जिससे एक ओर हर्ष और दूसरी ओर विषाद दोनों का अनुभव होता है। हर्ष इस दृष्टि से कि उसके द्वारा चित्रित शिलाश्रयों के एक सर्वथा नये क्षेत्र का उद्घाटन होता है और विषाद इसलिए कि उसी में यह भी बताया गया है कि चम्बल बाँध के कारण भविष्य में सैकड़ों वर्गमील के विस्तार में स्थित बहुसंख्यक शिलाश्रय अपने समस्त चित्रांकन सहित जलमग्न हो जायेंगे।[1] सूचना का हिन्दी रूप यों है—

चम्बल नदी के उस बाँध के पूरे हो जाने पर जिसका निर्माण हो रहा है, २६६ वर्गमील का एक क्षेत्र जलमग्न हो जायगा। इस बात का विश्वस्त निश्चय करने के लिए कि इससे कोई पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तु नष्ट न हो जाय, डॉ० एम० जी० दीक्षित ने मध्यप्रदेश सरकार की ओर से उस क्षेत्र का सर्वेक्षण किया और निम्नलिखित शोध की·········

तीन महत्त्वपूर्ण स्थल जहाँ शिलाश्रय थे सर्वेक्षित किये गये। शिलाश्रयों का सबसे बड़ा समूह, जिसमें तीस शिलाश्रय आते हैं, मोड़ी ग्राम के आसपास हैं, जो रामपुरा-भानपुरा रोड पर हैं। इन शिलाश्रयों की भीतरी दीवारें और छतें चित्रों से अलंकृत थीं···।

जहाँ तक मैं समझता हूँ किसी देश के पुरातत्त्व विभाग का कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व यही होता है कि वह ऐसी समस्त पुरातन सामग्री की सुरक्षा करे जिससे देश के इतिहास और सांस्कृतिक वैभव का परिचय मिलता हो तथा उसके पुनर्गठन में जिसकी अनिवार्यता असंदिग्ध हो। पुरातत्त्व विभाग का यह कार्य कदापि नहीं होता कि वह ऐसी वस्तुओं को जलमग्न करने की योजना में सहायता करे जिनका पुनरुद्धार संभव नहीं है। शिला-चित्र ऐसी ही वस्तु हैं। अनिश्चित काल तक शिलाश्रयों में जल भरे रहने के बाद भी उन पर अंकित चित्र नष्ट नहीं होंगे यह सोचना अयथार्थ होगा। समस्त चित्रों की रंगीन प्रतिकृतियाँ बनाना या सफल छायानुकृतियाँ

---

१. On the completion of a dam on the Chambal, now under construction, an area measuring 266 square miles will be submerged under the water. To ensure that no valuable archaeological relics are lost on this account, Dr. M. G. Dikshit, on behalf of the Govt. of Madhya Pradesh, undertook a survey of area (fig. 13) and discovered the following...
Three important localities containing rock shelters were surveyed. The largest group, consisting of thirty shelters lay in and around village Mori on the Rampura- Bhanpura road. The ceilings and walls of the shelters were decorated with paintings.

—Indian Archaeology (1957-59)–A Review, पृ० २६-२८

प्राप्त करना ही महा कठिन और अति व्ययसाध्य कार्य है फिर चित्रित शिलाओं को उखाड़कर संग्रहालयों में स्थापित कर देने की तो कल्पना भी यहाँ नहीं की जा सकती। यदि कोई वैज्ञानिक साधन-सम्पन्न पश्चिमी देश होता तो इस प्रकार के उपायों की बात भी कदाचित् सोची जा सकती परन्तु इस देश में अभी वैसी स्थिति नही है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० बी० बी० लाल ने अभी इजिप्ट से लौटकर अपने एक भाषण में प्रयाग में बताया कि वहाँ बाँध बनने के पूर्व एक पुरातन चित्रयुक्त भवन को कैसे जल-तल से रक्षित करने के लिए २०० फीट ऊपर उठा देने की योजना कार्यान्वित की जा रही है, जो सहसा अकल्पनीय लगती है। यहाँ तो अधिक से अधिक यही संभव है कि ऐसी दशा में पुरातत्त्व विभाग दृढ़ स्वर में यह स्पष्ट रीति से घोषित कर दे कि चित्रमय शिलाश्रयों के कारण अमुक क्षेत्र की रक्षा नितान्त आवश्यक है अतः बाँध किसी अन्य स्थान पर बनाया जाय। यदि शिला-चित्रों को वह स्वयं महत्त्व देता हो तो तर्कपूर्ण ढंग से अपने ऐसे निश्चय को मनवा लेना उसके लिए असंभव नहीं लगता। प्रश्न केवल महत्त्व देने का है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि वह विभाग जो कतिपय गुफाओं और शिलाश्रयों में राजाज्ञा से यह विज्ञप्ति लगवाता हो कि चित्रों को क्षति पहुँचानेवाले व्यक्ति को अर्थदण्ड ही नहीं कारावास तक दिया जा सकता है, वही स्वयं उनके जलमग्न करने की योजना में सहायक हो। पुरातन शिला-चित्र भी राष्ट्रीय संपत्ति ही है। ऐसी दशा में एक राष्ट्रीय संपत्ति को नष्ट करके अन्य राष्ट्रीय संपत्ति के विकास की कल्पना करना मेरी दृष्टि में बौद्धिक पराजय का ही नहीं सांस्कृतिक रिक्तता और सामर्थ्यहीनता का भी उद्घोष करता है। उक्त सूचना भारत के केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग के मुखपत्र में प्रकाशित हुई और आज तक किसी ने कोई आपत्ति नहीं की; यह इस बात का प्रमाण है कि प्रागैतिहासिक चित्रों के विषय में हमारा यह विभाग कितना जागरुक रहा है। और कुछ नहीं तो जो शिला-चित्र विनष्ट होते जा रहे हैं उनके संबंध की यथेष्ट सामग्री ही प्रस्तुत की जा सकती थी परन्तु सूचना सूचना होकर रह गयी, वह भी नहीं किया जा सका। इस समय प्रत्यक्षदर्शी श्री वाकणकर के अनुसार बहुत से शिलाश्रय पूर्णतया जलमग्न हो चुके हैं और बहुतों में केवल भीतरी छत में बने हुए चित्र ही आकंठ जल में अत्यन्त कठिनाई के साथ भीतर पैठकर देखे जा सकते हैं। सीलन के कारण यह चित्र भी फीके पड़ गये हैं और कुछ काल में निश्चित रूप से सर्वथा विलुप्त हो जायेंगे। इसका सारा पुण्य भारतीय पुरातत्त्व विभाग को प्राप्त होगा।

चम्बल घाटी में स्थित मोड़ी के इन चित्रों के विषय में सर्वेक्षक ने स्वयं बड़ी सरलता से यह धारणा बना ली कि वे गॉर्डन द्वारा निर्धारित तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणियों से संबद्ध हैं। अपनी धारणा को उपलब्ध सामग्री के सप्रमाण समर्थन द्वारा विधिवत् पुष्ट करने की अपेक्षा उसने नहीं समझी। कृषि-जीवनवाले चित्र परवर्ती हो सकते हैं परंतु सभी नर्तित मानवाकृतियाँ और पशु-चित्र वैसे ही परवर्ती हैं यह निश्चयपूर्वक कहना सरल नहीं है। मोड़ी के अतिरिक्त अन्य दो

स्थलों, 'छिब्रड़ा नाला' तथा 'सीताखर्डी' में भी चित्रित शिलाश्रय मिलते हैं। यह दोनों हिंगलाज-गढ़ नामक किले के आस-पास हैं जो भानपुरा से अधिक दूर नहीं हैं। यहाँ चित्र हलके और गहरे गेरुए रंग में अंकित हैं और शैली-भेद के आधार पर विविध काल-खण्डों में रखे जा सकते हैं। सीताखर्डी समूह के चित्रों में ज्यामितिक आकल्पन तथा प्रतीकात्मक अंकन की प्रधानता है जबकि छिबड़ा नाला में एक दूसरे पर आक्षिप्त चित्रण के अनेक स्तर मिलते हैं। जिसमें हिरन, हिरनी, साँभर, वन्य महिप, चीतल, वानर तथा छिपकलियों आदि के चित्र अंकित हैं। कहीं-कहीं बैलगाड़ियाँ, वृक्ष, मयूर और आखेट-दृश्य भी चित्रित मिलते हैं। उनमें आखेटक फरसे, तीर-कमान और वल्लम लिये हुए दिखाये गये हैं। एक वन्य महिप का चित्र तो साढ़े चार फिट लम्बा है। केवल उसका मुख आपूरित है किन्तु शेप भाग मोटी रेखाओं में ही बनाया गया है। छिबड़ा-नाला समूह के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चित्रों में इसका स्थान है। शिलाश्रयों में से अनेक प्रकार के लघु-पापाणास्त्रों की उपलब्धि भी हुई है।

इंडियन ऑर्कियालॉजी के १९५९-६० ई० के अंक में 'रॉक शेल्टर्स इन डिस्ट्रिक्ट सिहोर' शीर्षक से प्रकाशित एक अन्य टिप्पणी में श्री वी० एस० वाकणकर द्वारा खोजे गये उन सात सचित्र शिलाश्रयों का विवरण है जिनकी भीतरी छत पर शंख-लिपि में बड़े-बड़े अभिलेख अंकित हैं।

शहद कराड़ के समीप उन्हें रोचक चित्रों से युक्त कुछ और शिलाश्रय मिले जिनमें से एक में सफेद रंग से पूर्वांकित वृप-चित्र पर धनुर्धरों का चित्रण पर्याप्त कुशलतापूर्वक किया गया दिखायी देता है। भोपाल से बीस मील दक्षिण की ओर स्थित भिन्यपुरा के पास उन्हें लग-भग पचास शिलाश्रयों का एक विशाल समूह दृष्टिगत हुआ। इसे समीपवर्ती क्षेत्र के निवासी 'भीम-बेटका' कहते हैं। यहाँ गेरुए, लाल, सफेद तथा मिश्रित बहुवर्णी चित्रों के अतिरिक्त पँचमढ़ी जैसे लाल बाह्यरेखाओं से युक्त श्वेत आपूरणवाले चित्र भी मिलते हैं। बहुवर्णी चित्र परवर्ती तथा हलके लाल सर्वप्राचीन लगते हैं। शंख-लिपि के अतिरिक्त इन शिला-श्रयों में गुप्त-लिपि के अभिलेख भी प्राप्त होते हैं। एक शिला में गहरायी से खोदकर उभारे गये सपाट भाग के ऊपर प्रारंभिक काल के ब्राह्मी अक्षरों में, जो ई० पू० दूसरी शताब्दी के आस-पास के होंगे, लिखा हुआ मिला—'सिहकस लेण' अर्थात् सिहक की गुफा। दाहिनी ओर सफेद रंग में ऐसा ही अभिलेख पुनः लिखित मिलता है। एक शिलाश्रय में शृंगयुक्त शिरोभूपा वाली एक समाकार मानवाकृति अंकित है जिसका मुख सजगता से बनाया गया है परन्तु पैरों का अंकन भद्दा है। अन्य शिलाश्रय में सफेद, लाल, पीले और हरे रंगवाले फूल-पत्तियों के बहुवर्णी चित्र स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं।

इसी अंक में सागर ज़िले के अन्तर्गत उपलब्ध होनेवाले कुछ शिलाश्रयों की खोज का

विवरण मुद्रित हुआ है।[१] इसके अनुसार श्री वेदानन्द नामक एक सज्जन को आकस्मिक रूप से आवचन्द के निकटवर्ती शिलाश्रयों का परिचय मिला जिसकी सूचना पाकर सागरविश्व-विद्यालय के पुरातत्त्व विभाग की ओर से इस क्षेत्र का व्यापक रीति से सर्वेक्षण किया गया। और लगभग एक दर्जन चित्रित शिलाश्रयों की खोज और हुई। उनमें गेरुए, हल्के पीले और सफेद रंगों के बहुसंख्यक चित्र अंकित मिले। आखेट, अश्वारोहण, युद्ध, नृत्य-संगीत तथा पारिवारिक जीवन तक इन चित्रों की विषय-व्याप्ति मिलती है। जिन पशुओं का अंकन हुआ है उनमें श्वान, महिष, वृष, गज, व्याघ्र, अश्व और अजा मुख्य हैं। मयूर भी यत्र-तत्र चित्रित हुआ है। कुछ स्थलों पर चित्राक्षेपण स्पष्ट लक्षित होता है। आलिखित चित्रों के अतिरिक्त कतिपय उत्कीर्ण-चित्र भी मिले हैं।

अगले वर्ष इं० आ० के अंक में होशंगाबाद-क्षेत्र में होनेवाली आदमगढ़ के चित्रांकित प्रसिद्ध शिलाश्रयों के तल-संचय की खुदाई का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित हुआ।[२] यह उत्खनन-कार्य डॉ० आर० वी० जोशी तथा श्री एम० आर० खरे के निरीक्षण में पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के केन्द्रीय वृत्त एवं प्रागैतिहासिक शाखा के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुआ। विवरण में खुदाई से उपलब्ध पाषाणकालीन विशाल और लघु अस्त्रों तथा मिट्टी के तीन स्तरों की सूचना-भर दी गयी है। उन्हें सम्बद्ध शिलाश्रयों पर अंकित चित्रों के अनेक स्तरों से सम्बद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। आशा है आगे पुरातत्व विभाग की ओर से पूरी स्थिति पर विचार करते हुए विस्तृत विवरण प्रकाशित किया जायेगा।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित सूचनाओं के अतिरिक्त प्रायः उसी अवधि में कुछ अन्य शोध-सामग्री स्वतंत्र लेखों के रूप में यत्र-तत्र प्रकाशित होती रही। 'आजकल' के जून १९५८ के अंक में 'भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला : एक परिचय' शीर्षक से प्रस्तुत लेखक का एक परिचयात्मक लेख छपा जिसमें मिर्जापुर-क्षेत्र में स्थित 'विढम' नामक सुप्रसिद्ध स्थान पर प्राप्त शिलांकित चित्रों की सूचना सचित्र विवरण के साथ प्रथम बार समाविष्ट हुई। प्रागैतिहासिक चित्रों की ओर मेरी प्रवृत्ति इन्हीं चित्रों की आकस्मिक उपलब्धि के बाद १९५४ ई० से हुई और तब से निरंतर नयी-नयी उपलब्धियों के द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, इतनी कि आज इस ग्रंथ के लिखने की नौबत आ गयी है। मेरे कुछ मित्रों ने, जो अब बहुत दूर हो गये हैं, मुझे अधिकारी समझकर यह बताया कि विढम में एक जगह शिला-चित्र अंकित हैं। और अता-पता नहीं बतायेंगे, स्वयं खोज लो तो जानें। हुआ कुछ ऐसा कि झरने में स्नान करने के बाद सहसा शोध-वृत्ति जाग्रत हुई और साथियों को छोड़कर धार के उस पार जाकर शिला-

---

१. Rock-shelters in District Sagar, इं० आ० १९५९-६०, पृ० ७०

२. Excavation at Adamgarh, Distt. Hoshangabad, इं० आ० १९६०-६१, पृ० १३

शिला टटोलने लगा। एक जगह कुछ चित्रित-सा लगा। गीले हाथों से ज्यों ही उसे छूकर देखा वह कुछ और स्पष्ट हुआ और मैं उस आदिम आखेट-दृश्य को सम्मुख अंकित देखकर विस्मित और आनन्द-विह्वल हो उठा। अपनी प्रथम उपलब्धि पर अपने आपको मन ही मन सराहते हुए चारकोल पेंसिल से विस्तृत दृश्य के विविध अंगों की अनुकृतियाँ करता रहा जिनमें से चार उक्त लेख के साथ प्रकाशित हुई। विढम की इस मौलिक शोध के अतिरिक्त लेख की शेष सामग्री अन्य ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत की गयी तथा सिंघनपुर, होशंगाबाद और मिर्ज़ापुर के एक-एक चित्र की अनुकृति भी दे दी गयी। यही लेख 'भारतीय कला के पद-चिह्न' नामक मेरी कला-विषयक पुस्तक में प्रथम स्थान पर समाविष्ट होकर १९६० में कुछ अन्य चित्रों के साथ पुनः प्रकाशित हुआ।

१९५८ ई० में ही प्रकाशित 'सम्मेलन पत्रिका' के कला-अंक में श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का प्रागैतिहासिक कला पर एक लम्बा लेख छपा जिसमें कला की चर्चा ही प्रमुख है, चित्रों का तो उल्लेख मात्र है। इसी अंक के पृ० ४८७ पर 'भारत के कला-मण्डप' शीर्षक से कुछ सूचनाएँ दी गयी हैं जिनमें सहवइयापथरी आदि अनेक अपरिचित नाम प्रारम्भ में ही मिलते हैं।

सन् १९५९ में 'राष्ट्रभाषा रजत-जयंती अंक' के अन्तर्गत श्री परमानन्द आचार्य का 'ओड़िशा का पुरातत्त्व' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ जिससे उड़ीसा-क्षेत्र में भी गुफा-चित्रों की उपलब्धि की सूचना प्राप्त होती है। लेखक ने उन्हें मध्यप्रदेश के विविध स्थानों से प्राप्त चित्रों का समसामयिक बताया है परन्तु न तो उनकी विषय-वस्तु का ही कोई परिचय दिया है और न कोई अनुकृति ही प्रस्तुत की है। स्वयं उसने उन्हें ताम्र-युग में रक्खा है और उपलब्धि-स्थान को 'सुन्दरगढ़ इलाका' कहा है।[1]

उसी वर्ष 'धर्मयुग' के १४ जून के अंक में श्री वाकणकर का 'भारत की प्रागैतिहासिक चित्रकला' नामक लेख मुद्रित हुआ जिसमें उन्होंने इं० आ० में प्रकाशित अपनी पूर्वोल्लिखित शोध-सामग्री को समाविष्ट करते हुए पहली बार किंचित् व्यवस्थित और विस्तृत रूप में भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों के विषय में निजी धारणाएँ व्यक्त की हैं। किन्तु जहाँ विदेशी शिला-चित्रों से उनकी तुलना की है वहाँ एक विचित्र त्रुटि कर दी है जिससे लगता है कि विदेशी क्षेत्र का सम्यक् ज्ञान तो दूर रहा, देशी क्षेत्र का भी ठीक तरह परिचय उन्होंने प्राप्त नहीं किया। त्रुटि यह है कि 'मान्टेरोजा' को जो पँचमढ़ी-क्षेत्र में स्थित है, उसके नाम के विदेशीपन के कारण भ्रमवश योरोपीय स्थान मान लिया है तथा उसकी गणना लेखक ने फ्रांस और स्पेन की गुफाओं से कर डाली है। यथा—

---

१. ..."सुन्दरगढ़ इलाके के एक प्राकृतिक गह्वर से इस युग के लोगों के द्वारा निर्मित गेरूमाटी का चित्र भी आविष्कृत हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि सुन्दरगढ़ इलाके के चित्र मध्यप्रदेश के अन्तर्गत रायगढ़ के चित्र और विहार के अन्तर्गत चक्रधरपुर (सिंहभूमि जिला) के चित्र समसामयिक हैं।"

—पृ० ३७-३८

"योरोप-फ्रांस तथा स्पेन में इस प्रकार के विशाल गिरिगह्वरों में पाषाणयुगीन मानव के कला-भण्डार उपलब्ध हुए हैं। शास्त्रोक्त अनुसंधान एवं उत्खननों से वहाँ उनकी काल-मर्यादा निश्चित की जा चुकी है तथा वे चित्र ३० से १० हजार वर्ष प्राचीन माने गए हैं। हमारे इन प्राचीन चित्रों व यूरोप के चित्रों में विषय एवं शैली में कहीं-कहीं साम्यता भी दिखायी देती है। लुस्काक्स, मीनाटेडा, 'मांटेरोज़ा', कँवेलास आदि के चित्रों व शैलियों की तुलना हम भोपाल, मोठी, धरमपुरी, शहद कराड आदि के चित्रों से कर सकते हैं। यह साम्यता आदान-प्रदान परस्पर संबंध के कारण नहीं, अपितु परिस्थिति के परिणामस्वरूप है।[1]

इतना ही नहीं उसने तुलनात्मक स्थिति को स्पष्ट करने के निमित्त जो रेखा-चित्र लेख के साथ प्रस्तुत किये हैं उनमें भोपाल की एक मानवाकृति का 'मान्टेरोज़ा' की आयताकार मानवाकृति से देशी-विदेशी के भाव से सादृश्य प्रदर्शित किया है। जबकि दोनों ही आकृतियाँ देशी हैं। इस त्रुटि के अतिरिक्त और जो बातें लेख में मिलती हैं वे सही और उपादेय हैं। वर्ण-योजना, शैली, विषय-वस्तु और काल-निर्णय सभी की ओर लेखक ने दृष्टिपात किया है।

दक्षिण में वीला सरगम, कोडाईकनाल, नेलोर आदि में भी चित्र-भंडार देखने को मिले हैं, ऐसा श्री वाकणकर ने लेख के प्रारम्भ में सूचित किया है किन्तु लेख के भीतर उनका कोई परिचय नहीं दिया है। शोधकों की सूची में पुराने नामों के बाद कृष्णदेव, डॉ० सुब्बाराव तथा एम० जी० दीक्षित आदि पुरातत्त्वविदों के नाम अवश्य गिनाये गये हैं परन्तु दक्षिण के शिला-चित्रों की खोज किसने की और उसका विवरण कहाँ प्रकाशित हुआ, इसका निर्देश नहीं किया गया है।[2]

दक्षिणी भारत में शिला-चित्रों की स्थिति का उद्घाटन अभी नहीं के बराबर हुआ है। ऐसी दशा में यदि कोई वास्तविक प्रत्यक्षदर्शी उनकी ऐसी ही खोज करे जैसी उन्होंने भोपाल, ग्वालियर और चम्बलघाटी-क्षेत्र में की है तो निश्चय ही वह अभूतपूर्व कार्य होगा। स्वयं एक चित्रकार होने के नाते उनमें प्रागैतिहासिक चित्रों के प्रति आकर्षण और जिज्ञासा तो है ही साथ ही शोध की प्रवृत्ति तथा अनुकृति-निर्माण का अध्यवसाय भी यथेष्ट रूप से जाग्रत दिखायी देता है। इस नाते मैं उन्हें अपना समानधर्मा समझता हूँ। विदेश जाकर उन्होंने जो अनुभव और ज्ञान अर्जित किया है उसका अधिक से अधिक लाभ देशवासियों को मिले मेरी यही कामना है। प्राचीनता के विषय में गॉर्डन के मत से उन्होंने भी अपनी असहमति प्रकट की है तथा उसे 'पूर्वाग्रह दोषित' कहा है। उनकी यह धारणा यथार्थ है परन्तु यह कहना ठीक नहीं है

---

१. धर्मयुग, १४ जन १९५९, पृ० २६

२. "सर्वश्री गॉर्डन, कॉकबर्न, कार्लाइल, ब्रूस फूटे, पंचानन मित्र, कृष्णदेव, डॉ० सुब्बाराव, एम० जी० दीक्षित आदि पुरातत्त्वविदों ने ऐसे ही शिलाश्रयों का संशोधन दक्षिणप्रदेश, छोटा नागपुर, महाकौशल व उत्तरप्रदेश में किया है।"

कि वह 'होशंगाबाद के शिलाश्रयों पर आधारित है। गॉर्डन के मत का प्रमुख आधार पँचमढ़ी-क्षेत्र के शिला-चित्र ही हैं, शेष स्थानों के भारतीय शिला-चित्रों को उसमें उन्हीं के समानान्तर मान लिया गया है जो किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। मुझे लगता है कि अपना लेख लिखते समय श्री वाकणकर पँचमढ़ी की चित्रित गुफाओं को न तो स्वयं देख सके थे और न गॉर्डन की दृष्टि में उनकी महत्ता क्या रही इसी को आकलित कर सके थे। उनका मुख्य कार्य ग्वालियर, भोपाल तथा चम्बलघाटी-क्षेत्रों से विशेषतः सम्बद्ध रहा है। इधर उन्होंने पँच-मढ़ी, रायगढ़ तथा दक्षिण के क्षेत्रों का भी निरीक्षण किया है। मिर्ज़ापुर-क्षेत्र अब भी शेष है।

अपने योरोप-भ्रमण तथा फ्रांस-स्पेन आदि के शिला-चित्रों के प्रत्यक्ष अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने वहाँ के पत्रों में भारतीय शिला-चित्रों के विषय में अनेक सुविचारित और प्रमाण-पुष्ट लेख प्रकाशित किये जिनमें वर्गीकरण, काल-निर्धारण, स्थान-निर्देशन तथा अन्य विविध प्रकार की ज्ञातव्य सामग्री सचित्र प्रस्तुत की गयी है। फ्रेंच भाषा में उनका एक लेख (Peintures Rupestres Indiennes) म्यूज़िदलोम, पैरिस द्वारा १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें २८ फलक समाविष्ट हैं जिनमें हॉस्पिटल हिल, कनवॅला, शहद कराड़, भीम-बेटका, खरवई, मोड़ी, सुजान-पुरा, सीताखर्डी, धरमपुरी तथा रायचूर आदि परिचित-अपरिचित बहुत से स्थानों की प्रति-कृतियों के छाया-चित्र मुद्रित हैं। फ्रेंच में ही एक अन्य सचित्र लेख 'Antiquite Nationale' छपा है। इनसे पूर्व वाकणकर ने एक लेख (Painted rock shelters of India) अँगरेज़ी में लिखा जो रोम में आयोजित पुरातत्त्व सम्बन्धी 'इंटरनेशनल कांग्रेस' में पढ़ा गया तथा विदेश में ही १९६२ ई० में प्रकाशित भी हुआ। यद्यपि इसमें चित्रों की संख्या पहले लेख जितनी नहीं है तथापि विवेचन-सामग्री पर्याप्त मूल्यवान् और नवोपलब्धि-सूचक है। लेखक ने इन दोनों लेखों के प्रति-मुद्रण कृपापूर्वक मेरे पास भेज दिये जिससे उसके शोध-कार्य एवं निष्कर्षों से प्रामाणिक रूप से परिचित होने का अवसर मुझे मिल सका। इधर वाकणकर भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में शिलांकित तथा उत्कीर्ण दोनों प्रकार के चित्रों के विषय में विशेष अध्ययन प्रस्तुत करने में संलग्न हैं। भारतीय शिला-चित्रों के क्षेत्र में उन्होंने जो मौलिक शोध की है वह महत्त्वपूर्ण है। यह दूसरी बात है कि प्रस्तुतीकरण, मुख्यतः वर्गीकरण में अनेक प्रकार का व्यतिक्रम हो गया है तथा चित्रों का स्थान-निर्देश कहीं-कहीं भ्रामक हो गया है जिससे अध्ययन की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता बहुधा खंडित हो जाती है।
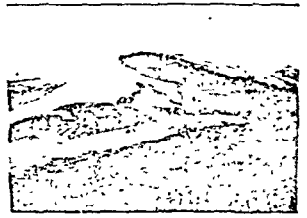
पिछले पृष्ठ का चित्र

होशंगाबाद-क्षेत्र : आदमगढ़,
शिलाश्रय नं० १० तथा ११
की सापेक्षिक स्थिति का दृश्य

'क्षेत्र-परिचय' से सम्बद्ध कुछ आवश्यक सूचनाएँ एवं संशोधन

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र

डॉ० राधाकान्त वर्मा ने अपने शोध-ग्रन्थ के नवें अध्याय में इस क्षेत्र के चित्र-स्थलों को जिन तीन (उप) क्षेत्रों में विभाजित किया है उनकी स्थिति इस प्रकार है।

I भँसौर-क्षेत्र—१. सहवइया (मोरहना पहाड़) २. बेदिया ३. लड़वेदिया ४. बागा ५. बघईखोर ६. मोरचहवा ७. खड़ीपथरी ८. मुन्नी बाबा ९. लिखनिया की पहाड़ी।

II राजपुर-क्षेत्र— १. पंचमुखी २. कंडाकोट ३. चनमनवा या चेमनवा ४. लिखनिया।

III अहरौरा-क्षेत्र— १. लिखनिया २. कोहबर ३. भल्डरिया ४. महड़रिया ५. विजयगढ़ ६. थरपथरा।

इस सूची में अनेक नाम नये हैं और इस बात को व्यक्त करते हैं कि मिर्ज़ापुर-क्षेत्र शिला-चित्रों की दृष्टि से कितना समृद्ध है। इसमें सम्मेलन पत्रिका (कला अंक,५८) में उल्लिखित पथरी वाले तीन नाम तो आ गये हैं पर 'लकहटपथरी' नहीं आया है। सीतापथरी नामक ऐसे ही एक अन्य स्थल की सूचना मुझे अपने विभाग के शोध-छात्र मूलशंकर शर्मा से मिली थी। चोपन से दक्षिण-पूर्व लगभग १५ मील दूर 'कोन' नामक स्थान भी चित्रों की दृष्टि से महत्त्व रखता है यह बात भी मुझे उन्हीं से ज्ञात हुई। प्रो० ए० के० नारायण ने, ७ अगस्त, ६२ के लीडर में छपे लेख के अनुसार सौदागवन एवं खुड़ैला के समीपवर्ती 'वड़ेला' नामक स्थान पर तथा जंगलमहल में, चुनार से लगभग ९ मील दक्षिण पूर्व स्थित, सोन-वरसा के पास शिला-चित्रों की खोज की है। 'भँसौर' के लिए मिर्ज़ापुर के हिन्दी मानचित्र में 'भँसोड़' लिखा मिला है जो उच्चारण-भेद का सूचक है।

भोपाल-क्षेत्र : रायसेन-क्षेत्र

वाकणकर के अनुसार साँची और उदयगिरि को भौगोलिक दृष्टि से भोपाल-क्षेत्र की अपेक्षा रायसेन-क्षेत्र में रखना अधिक उचित है। श्यामकुमार पाण्डे ने रायसेन-क्षेत्र में 'रामछज्जा' नाम से जिस स्थान का निर्देश किया है, वाकणकर द्वारा निर्दिष्ट 'रामझरोखा' कदाचित् उससे भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों नाम एक साथ इनमें से किसी ने प्रयुक्त नहीं किये हैं। बैरागढ़ वस्तुतः वही भूभाग है जिसमें मनवाभान की टेकरी स्थित है अतः उसका स्वतन्त्र उल्लेख अनावश्यक है।

सागर-क्षेत्र

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार सागर से १४ मील पूर्व, सागर-रहेली सड़क पर 'वरोंदा' नामक एक और स्थल ऐसा है जहाँ शिला-चित्र उपलब्ध हुए हैं।

चम्बलघाटी-क्षेत्र

इसमें 'रेवल्की' का सही रूप 'रेवाल्की'; छिवड़ानाला' का 'चीवरनाला ; 'कनारिया कुंड' का 'कतारिया कुंड'; 'झलवाड़ा' का 'झालावाड़'; 'गगरोल' का 'गगरोण' अथवा 'गागरोण' है। केदारेश्वर तथा हिंगलाजगढ़ यह दो स्थान शिला-चित्रों की दृष्टि से और उल्लेखनीय हैं। क्षेत्र-परिचय में इस क्षेत्र के आगे जहाँ कोष्ठकों में केवल 'म० प्र०'

ही मुद्रित है वहाँ उसके आगे 'मध्यप्रदेश तथा राजस्थान' होना चाहिए था क्योंकि उसकी सूची के अन्तिम चारों नाम राजस्थान-क्षेत्र के हैं। वस्तुतः राजस्थान-क्षेत्र को अब एक स्वतन्त्र क्षेत्र माना जाना चाहिए क्योंकि चम्बलघाटी के निकटवर्ती इन स्थानों के अतिरिक्त इधर भरतपुर में भी शिला-चित्रों की खोज हो चुकी है तथा अन्यत्र भी संभव है।

बाँदा-क्षेत्र

इसमें 'सरहत' का सही रूप 'सरहट' है ऐसी सूचना मानिकपुर-निवासी अपने छात्र नरेन्द्रदेव द्विवेदी से मिली है और यह भी ज्ञात हुआ है कि बाँदा-क्षेत्र में, शरभंग के आश्रम से ६ मील दूर स्थित 'धारकूँड़ी' तथा 'अभरखन' नामक स्थानों में भी शिला-चित्र मिलते हैं। यह दोनों स्थान मध्य-प्रदेश के सीमावर्ती भाग में हैं।

हैदराबाद-रायचूर-क्षेत्र

इस क्षेत्र में 'बादामी' और 'टेक्कलकोटा' को भी सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि इन स्थानों में भी शिला-चित्रों के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। हम्पी के समीप 'किष्किंधापुरी' भी ऐसा ही स्थल है। दक्षिण-क्षेत्र में समाविष्ट 'कुप्पगल्लु' को भी इसी क्षेत्र में रखना उचित है। उसीके पास एक नये उत्कीर्ण-चित्र-स्थल 'संगनकल्लु' का भी परिचय मिला है।

दक्षिण-क्षेत्र

'नेलोर' का सही रूप नेलूर' या 'नेल्लूर' ह और 'कोदईकानल' का 'कोडैक्कानल' 'बसवन गुडी' का 'बसवन्न गुडी' तथा 'वाइनाड' का 'वेन्याड'। इस क्षेत्र के कुछ स्थानों के विशेष विवरण के लिए 'परिशिष्ट' द्रष्टव्य है जो ग्रंथ के अंत में है। नेलोर और 'वीला सरगम' दोनों आन्ध्र-मद्रास सीमा के निकट हैं अतः इन्हें दोनों क्षेत्रों का सन्धि-विन्दु कहा जा सकता है।

उत्तर-पश्चिम-क्षेत्र

गॉर्डन ने इन तीन नामों के अतिरिक्त धरियाला से कुछ सौ गज की दूरी पर एक अनाम स्थान का उल्लेख किया है तथा अपने लेख के अंत में अपने पूर्ववर्ती लेफ्टीनेन्ट मैक्सवेल की शोध के आधार पर पाकिस्तान के मर्दान जिले के चर्गुल (Chargul) नामक स्थान का भी संदर्भ दिया है जो अनुपेक्षणीय है (द्र० परिशिष्ट)। वाकणकर के अनुसार गिलगिट के पश्चिम में स्थित 'काफिरिस्तान' में भी शिला-चित्रों की उपलब्धि हुई है। यह गिलगिट ही नहीं चितराल के भी पश्चिम में है और अफगानिस्तान में स्थित है।

महड़रिया, मिर्ज़ापुर—घोष के मोनोग्राफ में प्रकाशित चित्र की रेखानुकृति।

भारतवर्ष में प्रागैतिहासिक चित्रों की उपलब्धि के प्रमुख क्षेत्र

शिलाश्रय और गुफाएँ

जो सामग्री अपनी यात्राओं तथा अन्य विविध स्रोतों से अब तक मुझे ज्ञात हो सकी है उसके आधार पर शिला-चित्रों की उपलब्धि के प्रमुख क्षेत्रों तथा उनके अन्तर्गत आनेवाले स्थानों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की जा रही है। इसमें चित्रों (Paintings) के अतिरिक्त कर्पण-चित्रों (Bruisings) तथा उत्कीर्ण-चित्रों (Engravings) से सम्बद्ध स्थानों का भी समावेश कर लिया गया है क्योंकि अन्तत: उक्त सभी प्रकार के चित्र शिला-चित्रों की ही कोटि में माने जाते हैं। शिला-चित्रों के विषय का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथों में प्राय: चित्रों के साथ ही कर्पण-चित्रों तथा उत्कीर्ण-चित्रों को भी समाविष्ट कर लिया जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ का मुख्य भाग केवल चित्रों से सम्बन्ध रखता है पर अन्य प्रकार के चित्रों का भी संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट में दे दिया गया है और इसी कारण इस सूची को केवल चित्र-क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रक्खा गया है।

• मिर्ज़ापुर-क्षेत्र (उ० प्र०)

विढम	भल्डरिया	कंडाकोट
कोहबर	महड़रिया	सोरहोघाट
लिखनिया—१	दरीवाले बाबा का थान	विजयगढ़
लिखनिया—२	रौंप	घोड़मंगर
लोहरी	वसौली : ढोकवा महरानी	चुनार : पभोसा
खोड़हवा	भैंसोड़	मोरहना

• रायगढ़-क्षेत्र (म० प्र०)

सिंघनपुर	करमागढ़	खैरपुर
कवरा पहाड़ (गजमार)	नवागढ़	वोतालदा : खरसिया

• पँचमढ़ी-क्षेत्र (म० प्र०)

इमलीखोह	निम्बूभोज	बाज़ार-केव : लश्करिया खोह

माड़ादेव	वनियाबेरी	मान्टेरोज़ा
डोरोथी डीप	जम्बूद्वीप	छोटा महादेव
ताम्रिया	ईशानशृंग	वड़ा महादेव
वोरी	काजरी	वी-डैस-केव
सोनभद्र	झालई	वी-नाला
		मैंध्यू-पीप-केव

●होशंगाबाद-क्षेत्र (म० प्र०)

आदमगढ़	वुदनी	रहेली

●भोपाल-क्षेत्र (म० प्र०)

नयापुरा	गुफा मंदिर	वरखेड़ा
भीम-वेटका	मनवाँ भान की टेकरी	बैरागढ़
धरमपुरी	भदभदा	साँची
शहद कराड़	शिमला हिल	सेक्रेटेरियट
उत्तर तात्याटोपेनगर	हास्पिटल हिल	उदयगिरि
		भोजपुर

●रायसेन-क्षेत्र (म०प्र०)

रामछज्जा	खरवई	नरवर : पुतली कराड़

●रीवाँ-पन्ना-छतरपुर-क्षेत्र (म० प्र०)

करपटिया	नौगाँव	देवरा की गुफाएँ
		पन्ना

●बाँदा-क्षेत्र (उ० प्र०)

सरहत	अमवाँ	मर्कंडी
मलवा	उल्दन	मंझावन
कुरियाकुंड	वरगढ़	चित्रकूट

●कटनी-क्षेत्र (म० प्र०)

वजरंग मन्दिर

●सागर-क्षेत्र (म० प्र०)

नरयावली	सिद्ध वावा की गुफा	आवचन्द
हीरापुर	बुंदेला वावा की गुफा	गवेरी नाला

●नरसिंहपुर-क्षेत्र (म०प्र०)

विजौरी

●वस्तर-क्षेत्र (म० प्र०)

गुपनसर की गुफाएँ

•ग्वालियर-क्षेत्र (म० प्र०)

ग्वालियर शिवपुरी चोरपुरा
कंकालीमाता टिकला फतहपुर सीकरी (उ० प्र०) : समीपवर्ती पहाड़ियाँ

•चम्बलघाटी-क्षेत्र (म० प्र०)

मोड़ी छिवड़ा नाला भानपुरा
रेवल्की सीताखर्डी गांधी सागर बाँध
इन्द्रगढ़ कनारिया कुंड झलबाड़ा
कँवली कँवला कोटा
ताखाजी सुजानपुरा दर्रा
गगरोल

•विहार-क्षेत्र

शाहाबाद

•उड़ीसा-क्षेत्र (उत्कल)

सुन्दरगढ़

•उत्तर-पश्चिम-क्षेत्र (पाकिस्तान)

घड़ियाला गंडव मडारा

•हैदराबाद-रायचूर-क्षेत्र (द० भा०)

कोप्पल पिक्लीहल मस्की
विल्लारयण गुड्डा वेंकल-वन
ऋष्यमूक पर्वत (पंपा नदी का मूल)

•दक्षिण-क्षेत्र (द० भा०)

वीला सरगम कोडाईकनाल नेलोर
कुप्पगल्लु (वेलारी) वसवन गुडी (बँगलोर)
एदकल (वाईनाड) डाइ कर्मेल्ली (बँगलोर)

इस सूची में अधिकतर नाम ऐसे ही हैं जहाँ से प्रागैतिहासिक चित्रों की उपलब्धि के निश्चित प्रमाण मिल चुके हैं। 'सम्मेलन-पत्रिका' के कला-विशेषांक (सन् १९५८) में 'भारत के कला-मंडप' शीर्षक से जो सूचनाएँ दी गयी हैं उनमें मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के अन्तर्गत 'सहवइया-पथरी', 'मोरहनापथरी', 'वागापथरी' 'लकहटपथरी' नामक पहाड़ियों का उल्लेख मिलता है जिन पर लगभग सौ कला-मण्डप प्रागैतिहासिक काल के हैं। इस सूचना को संभाव्य मानकर भी मोरहना के अतिरिक्त शेष नामों को सूची में नहीं रक्खा गया है, क्योंकि उनके विषय का विवरण तथा चित्रों की आकृति-प्रकृति का कुछ भी परिचय अथवा मूल-संदर्भ प्राप्त नहीं हुआ।

लकहटपथरी तभवतः कनहर नदी के पार राबर्ट्सगंज से बीस-पच्चीस मील की दूरी पर स्थित है। पता चलाने पर मीतापथरी नाम भी सामने आया है। मोरहनापथरी वही मोरहना पहाड लगता है जिसके चित्रो पर 'मैन' १९५५, के वॉ० LV में अलिचन ने अपना 'मोरहना पहाड, ए रिडिस्कवरी' नामक लेख प्रकाशित किया था।

क्षेत्र-क्रम मे अन्तिम चार क्षेत्रों के अतिरिक्त शेप सभी की स्थिति प्रमुखतया भारतवर्ष के मध्यवर्ती भाग मे विध्याचल पर्वत-मालाओं तथा उनसे संलग्न सतपुड़ा और मेकल पर्वत की शृखलाओ तक सीमित है। प्रागैतिहासिक चित्रों की दृप्टि से यह भू-खंड सवसे अधिक सम्पन्न सिद्ध हुआ है। नदी-घाटियो में सोन, भल्डरिया, नर्मदा, चम्वल, वेतवा, केन, स्वर्णरेखा, संजोई, महानदी आदि की, गहन-गह्वरों और सघन वनों से युक्त, घाटियाँ भारत के इसी मध्य भाग में आती है। अज्ञातकाल से इस महापुरातन पर्वतीय प्रदेश में इन नदियों तथा इनकी सहायक धाराओं द्वारा तटो को काट-काटकर जो कटाने प्राकृतिक रूप में रच दी गयी है उनमे मानव-अस्तित्व का कितना समृद्ध एवं रहस्यपूर्ण इतिहास सन्निहित है इसकी खोज अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है। अभी तो विधिवत् किये गये सर्वेक्षण के आधार पर भारतवर्प के समस्त महत्त्वपूर्ण शिलाश्रयों एवं गुफाओ को पूरी तरह सूची-बद्ध भी नहीं किया जा सका है। ऐसी दशा मे उनसे कितना कुछ और उपलब्ध हो सकता है इसकी सम्यक् कल्पना करना कठिन है। वहुत-सी गुफाएँ ऐसे दुर्गम और निर्जन स्थानों मे है जहाँ कभी वन्य जीवों के कारण और कभी मार्ग के अज्ञात होने से, पहुँच पाना दुष्कर होता है। कभी-कभी सामान्य सूचनाओं के आधार पर नितान्त समीप पहुँच जाने पर भी केवल अनुभवी स्थानीय पथ-प्रदर्शक के अभाव में अभीप्ट गुफा या शिलाश्रय को खोज पाना असंभव हो जाता है। स्थानीय व्यक्ति भी वहुधा चित्रों की स्थिति और महत्त्व से अनभिज्ञ होते है। कुछ चित्रित शिलाश्रय इतनी ऊँचाई पर घने झाड़-झंखाड़ के वीच स्थित होते है कि दूर से उनमें चित्रों का आभास मिलने पर भी निकट जाकर उन्हें देखना संभव नही होता। जिन साधनों के द्वारा सफलता पायी जा सकती है उन्हें वहाँ तक ले जाना वहुत कठिन होता है। उसके लिए प्रभूत द्रव्य और साहसी कर्मठ व्यक्तियो की एक ऐसी 'टीम' या टोली का होना आवश्यक है जिसका मुख्य ध्येय ही अज्ञात शिला-चित्रों की शोध हो। वहुत से चित्र इतने अस्पप्ट और अँधेरे मे स्थित होते है कि उनके छाया-चित्र नही लिये जा सकते। केवल चित्रकारों द्वारा उनकी अनुकृतियाँ ही करायी जा सकती है। वह भी प्रकाश आदि के साधनों की यथोचित व्यवस्था के वाद जिसके लिए यथेप्ट समय और धन अपेक्षित है। मिर्जापुर, पॅचमढी और होशंगावाद आदि क्षेत्रों के दर्जनो शिलाश्रयों एवं गुफाओं को देखने और उनसे शतश: चित्रानुकृतियाँ करने के वाद मैने यह अनुभव किया है कि किसी एक व्यक्ति के द्वारा इस दिशा में निरन्तर और आजीवन कार्य किये जाने पर भी पूरी सामग्री का शतांश तक प्रस्तुत नही किया जा सकता। इसके लिए किसी ऐसे 'इन्स्टीटयूट' या प्रतिप्ठान की स्थापना

करनी होगी जो यूनेस्को और भारतीय पुरातत्त्व विभाग का पूरा सहयोग प्राप्त करके आधुनिकतम साधनों से अन्वेषण-कार्य करे। उसी के द्वारा अनगिनत शिलाश्रयों एवं गुफाओं की भौगोलिक स्थिति, मार्ग, महत्त्व आदि के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाएँ संगृहीत एवं वितरित की जा सकती हैं। शिला-चित्रों की अनुकृतियों तथा छाया-चित्रों के निर्माण का कार्य भी योजना-बद्ध रूप में ही संतोषजनक रीति से सम्पन्न किया जा सकता है। जब तक वैसा घटित नहीं होता तब तक जो सामग्री जिस रूप में उपलब्ध हो सकी है उसी से संतोष करना होगा। यह बात क्षेत्र-परिचय के प्रसंग में इसलिए विशेषतः सामने आयी कि चार-पाँच अपवादों को छोड़कर प्रायः समस्त क्षेत्र ऐसे हैं जिनके विषय में परिचय देने के लिए सूचनाएँ बहुत स्वल्प और अपर्याप्त हैं। जो कुछ प्राप्त भी हैं उनका उपयोग पूर्व अध्याय में शोध-कथा में यत्र-तत्र किया जा चुका है। सूची के जिन अन्तिम पाँच क्षेत्रों को छोड़कर भारत के मध्यवर्ती भाग की चर्चा ऊपर की गयी है वे हैं बिहार-उड़ीसा, उत्तर-पश्चिम, हैदराबाद-रायचूर तथा दक्षिण के क्षेत्र। इनके सम्बन्ध की सूचनाओं की स्थिति भी अन्य क्षेत्रों के समानान्तर ही है। शाहाबाद के कुछ शिला-चित्रों की अनुकृतियाँ राय आनन्दकृष्ण के द्वारा वाकणकर को प्राप्त हुई। उड़ीसा-क्षेत्र के शिला-चित्रों के विषय में कोई विशेष अध्ययन सामने नहीं आया है। उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में केवल कर्षण-चित्र मिलते हैं। उनके विषय में जो सामग्री गॉर्डन ने प्रकाशित की है उसका उपयोग यथास्थान कर लिया गया है। घड़ियाला, गंडव और मंडोरी के इन कर्षण-चित्रों को अपवाद समझकर छोड़ दिया जाय तो तराई सहित समस्त हिमाचल तथा उत्तर-भारत में गुजरात से लेकर आसाम तक का सारा मैदानी प्रदेश प्रागैतिहासिक चित्रों की दृष्टि से सर्वथा शून्य सिद्ध होता है। हिमालय की तुलना में विंध्य का गौरव पुरातन चित्रों तथा पाषाणास्त्रों आदि की उपलब्धि के कारण भारतवर्ष की प्रागैतिहासिक संस्कृति के अन्वेषण-अनुशीलन एवं इतिहास के पुनर्गठन की दृष्टि से विशिष्ट और अधिक महान् सिद्ध होता है। भले ही उसके शिखर उतने विशाल और हिममंडित न हों परन्तु उसके विशाल वन, कम गहन नहीं हैं और न उसकी नदी-घाटियाँ कम महिमा-मंडित। निनादित मेखला के रूप में प्रवाहित भारत भूमि के मध्यभाग की नदियाँ ही अपने तटस्थ वैभव के द्वारा इस देश में मानव उद्भव की रहस्यमयी गाथा का साक्ष्य प्रस्तुत कर सकती हैं, ऐसा मुझे लगता है।

दक्षिण भारत में हैदराबाद-रायचूर के समीपवर्ती भागों में जो शोध हुई है उसका विवरण अल्चिन के लेखों से मिलता है जिनका उल्लेख 'शोध-कथा' में कर दिया गया है। क्षेत्र-परिचय उन्होंने भी विशेष नहीं दिया है क्योंकि स्वभावतः उनकी दृष्टि उपलब्ध चित्रों तथा अन्य पुरातन सामग्री के अनुशीलन की ओर रही है। दक्षिण के उत्कीर्ण-चित्रों तथा उनसे सम्बद्ध क्षेत्र के विषय की सामग्री कर्षण-चित्रों के साथ परिशिष्ट में ही समाविष्ट कर ली गयी है। व्यक्तिगत रीति से मैं अभी तक दक्षिण के शिला-चित्रों तथा उनसे सम्बद्ध स्थलों को स्वयं देख

नहीं सका हूँ इसलिए उनके विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ लिखना सम्भव नहीं है।

मिर्जापुर, रायगढ़, पँचमढ़ी और होशंगाबाद इन चार क्षेत्रों का निरीक्षण मैंने स्वयं किया है। मध्यप्रदेश के पँचमढ़ी, होशंगाबाद के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में मैं केवल भोपाल-क्षेत्र के कुछ शिलाश्रय देख सका। शेष के विषय में जो सामग्री अपने शोधक मित्रों तथा स्फुट लेखों एवं टिप्पणियों से प्राप्त हुई है उसका उपयोग करते हुए उक्त चारों क्षेत्रों के परिचय के अनन्तर 'मध्यप्रदेश के अन्य क्षेत्र' शीर्षक में आवश्यक परिचय देने का यत्न किया जायेगा। मिर्जापुर तथा रायगढ़ के क्षेत्र-परिचय में भी मैंने पूर्ववर्ती शोधकों द्वारा प्रकाशित विवरणों का आवश्यकता-नुसार उपयोग किया है, साथ ही निजी अनुभवों का भी यथावसर समावेश कर लिया है।

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र

गुफा-चित्रों के प्रसंग में इस क्षेत्र का महत्त्व प्रथम वार कार्लाइल और कॉकवर्न द्वारा विज्ञापित हुआ। कैमूर की पहाड़ियाँ जिनमें भारतीय गुफा-चित्र पहले-पहल लक्षित किये गये इसी क्षेत्र में स्थित हैं। स्थानीय लोग प्रायः 'कैमूर' न कहकर 'कैमोर' कहते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है परन्तु इसका लोक-प्रचलन असंदिग्ध है। कॉकवर्न के अनुसार कैमूर की दोनों ओर फैली श्रेणियों तथा मध्यवर्ती पठार में जो वीस-तीस मील चौड़ा है, जहाँ कहीं भी उपयुक्त शिलाश्रय हैं उनमें चित्रांकन मिलता है। सोन नदी के तटवर्ती शिलाश्रय कटान के कारण भीतर तक काफी गहरे हैं अतएव अगणित शताब्दियाँ वीत जाने पर भी वर्षातप के प्रभाव से इनमें अंकित शिला-चित्र सुरक्षित वने रहे। कॉकवर्न के मन में ऐसा विवरण देते हुए मुख्य रूप से लिखनिया–२ की स्मृति प्रधान थी। लिखनिया की यह सँकरी, सुदीर्घ और अद्भुत भव्यता से युक्त गुफा सोन के सैकड़ों फीट ऊँचे कगार के विल्कुल ऊपरी भाग में अवस्थित है। यह स्थान राजपुर से लगभग ६ मील पर है। गुफा के ठीक ऊपर राजा का वैठका वना है जिसकी वेंचों पर वैठकर सोन के प्रवाह का मीलों तक विस्तृत प्रसार एक साथ परिलक्षित किया जा सकता है। यह कल्पना करके कि सहस्राब्दियों पूर्व सघन वनों के वीच जीवन-यापन करनेवाले मनुष्य ने किस प्रकार इसे अपना निवास-गृह वनाया होगा और इनको अधिकृत करने तथा रक्षित रखने में उसे कितना गहन संघर्ष करना पड़ा होगा, शरीर रोमांच से भर जाता है। कितने प्राणी रात्रि के अन्धकार में इसकी कोर से गिरकर सोन की तलहटी में विखरे विशाल प्रस्तर-खंडों में विलीन हो गये होंगे; फिर भी युगों तक इसमें मानव-निवास समाप्त नहीं हुआ। गुफा की भीतरी छत और भित्तियों पर अंकित विविध प्रकार के आखेट-दृश्यों, पशु-चित्रों तथा नर्तन-वादन आदि के आलेखनों से उन आदिम निवासियों की कला-प्रियता और सौन्दर्य-वोध का सजीव परिचय मिलता है। शिलाश्रयों में होशंगावाद का शिलाश्रय नं० १० जितनी भव्यता रखता है, गुफाओं में उतनी ही भव्यता लिखनिया की इस गुफा में अनुभव

होती है। मैंने अब तक जितने स्थान शिला-चित्रों के प्रसंग में देखे है उनमें इसने सबसे अधिक अविस्मरणीय प्रभाव मेरे मन पर डाला है। इस तक बसौली और राजपुर दोनों ओर से पहुँचा जा सकता है परन्तु राजपुरवाला मार्ग इतना प्रशस्त है कि उस पर कार या जीप भी चली जाती है। बसौली की ओर वाला मार्ग पदयात्री के ही बश का है। उसमें हिरनों और नील-गायो के झुड स्थान-स्थान पर मिलते जाते है। मैंने पहले उसी मार्ग से जाने का प्रयत्न किया परन्तु सध्या हो जाने से विवश होकर लौट आना पड़ा। दूसरे दिन राबर्ट्सगंज से राजपुर वाला मार्ग अपनाया। इस लिखनिया के बायीं ओर कंडाकोट और सोरहोघाट के शिलाश्रय हैं जिन तक बसौली होकर पहुँचना होता है। बसौली ग्राम 'रापटगंज' (राबर्ट्सगंज) से लगभग चार मील पर है ओर इसी के निकट 'ढोकवा महरानी' नाम से विख्यात शिलाएँ हैं जिनमें एक गुफानुमा सँकरे शिलाश्रय में 'साही के आखेट' तथा 'प्रेतभय' का चित्र मिलता है। मुझे अप्रत्याशित रूप से न केवल बसौली ग्राम-वासी पं० विश्वनाथ देव का आतिथ्य सुलभ हो गया वरन् वे स्वयं ढोकवा महरानी के शिलाश्रय तक मेरे मार्ग-दर्शक भी बने। 'उहै लौकतवा' सुनते-सुनते 'धपैयाभर' के नाम पर कोसों पैदल चलकर 'कंडाकोट' पहाड़ और उसके पासवाले 'पोखरा' तक पहुँचना हुआ। रामनवमी का दिन था। सारी रात ढोल-दमामा पीट-पीट कर उपासक देवी को पूजते रहे। उस एकान्त पर्वतीय वन-भूमि में चिरौंजी और पलाश के वृक्ष उस निनाद की साक्षी देते रहे। मेरी चेतना उस ध्वनि के पीछे गूँजती हुई सहस्रों वर्ष पूर्व की ऐसी ही ध्वनियों की अनुगूँज सुनती रही, तब की, जब 'राम' और 'देवी' की प्रचलित धारणा भी नहीं रही होगी। कुछ दिन पूर्व ही कंडाकोट के समीप गुफा-वासी एक परोपकारी साधु-बाबा के नश्वर शरीर से किसी सिंह ने अपनी क्षुधा शांत करके उन्हें कृतार्थ कर दिया था अत-एव बहुत यत्न करने पर भी मुझे कोई पथ-प्रदर्शक सुलभ नहीं हो रहा था। विश्वनाथजी अपनी ग्रामीण प्रभुता का सारा बल लगाकर थक गये थे। बड़े प्रयत्न के बाद एक कोल युवक यह कहते हुए तैयार हुआ कि 'हे! हम एक मुँहा, ऊ पँचमुँहा कैसे बनी?' पोखरा के पास थोड़ा विश्राम करके ज्योंही कुछ आगे बढ़े तो सिंह के पद-चिह्न देखकर उस कोल जाति के वीर को झुरझुरी आ गयी। मैं सोचता था कि उसमें बनवासियों जैसा साहस होगा पर वह नितान्त खेतिहर हो गया था। बहुत बल के साथ यह कहने पर कि दिन में वह 'पँचमुहाँ' नही मिलेगा जिसके कारण 'एकमुहाँ' डर रहा है मेरा पथ-प्रदर्शक आगे बढ़ने को तत्पर हुआ। सोरहोघाट के मार्ग में विशालकाय पत्थरों पर अनेक चित्र अंकित मिले। हाथ की छापें, मानवाकृतियाँ और पशु-चित्र विशेष आकर्षक लगे। इससे पूर्व मैंने केवल रौप के शिलाश्रय देखे थे अतः उनसे इनकी भिन्नता की ओर बराबर ध्यान जाता रहा। कॉकबर्न को गैडे का चित्र पहली बार रौप के ही एक शिलाश्रय में देखने को मिला था।

रौप राबर्ट्सगंज के दक्षिण-पूर्व में उससे केवल तीन मील की दूरी पर स्थित है। वहाँ

शिलाश्रय मैंने बिना किसी सहायक के स्वयं ही, इ० ऑ० १९५६-५७ में दिये विवरण के आधार पर खोज निकाले। विवरण यद्यपि पूरा नहीं था तथापि प्राचीनता के नाम पर पंचमुखी महादेव के भग्नावशेष का पता लगा और उसके ठीक पीछे जाने पर शिलाश्रयों की शृंखला मिल गयी।

छातु ग्राम के समीपवाली लिखनिया अर्थात् लिखनिया—१ को मैंने मिर्ज़ापुर की दूसरी शोध-यात्रा में देखा। यह स्थान राबर्ट्सगंज से अहरौरा जानेवाली मोटर-रोड पर गरई नदी के पुल के पास ही मिल जाता है। लिखनिया—२ की तरह लिखनिया—१ भी आज दुर्गम मार्ग पर न होकर सहज सुलभ है। छातु ग्राम गरई और भल्डरिया नदी के रमणीक संगम पर बसा हुआ है। २४ फीट चौड़े, ७२ फीट लम्बे और ११ फीट ऊँचे तथा १६ फीट आगे निकली हुई चट्टान से बने इस लिखनिया—१ का, हाथी के आखेट-दृश्य से युक्त विशाल शिलाश्रय गरई नदी की निर्झर बनाती हुई निर्मल धार को पार करने पर उतार के स्थान से सामने की ओर वाले तट के प्रायः मध्य भाग में अवस्थित है। इधर-उधर और भी अनेक शिलाओं पर चित्र अंकित मिलते हैं।

गरई नदी के प्रवाह की विपरीत दिशा में बाँयें किनारे पर धार के साथ-साथ लगभग डेढ़-दो फर्लांग ऊपर की ओर जाने पर कोहबर का शिलाश्रय है जिसकी ऊँचाई १८ फीट, लम्बाई ६४ फीट तथा गहराई ३१ फीट २ इंच है। छत में भीतर अंकित चित्रों को मनोरंजन घोष ने मचान के सहारे देख पाया। दीवारों पर भी अनेक चित्र हैं जिनमें प्रवेश द्वार के समीप ही पार्श्व भाग पर अंकित खाँडाधारी दो आदिम वीरों की सशक्त मुद्राएँ आज भी अविस्मरणीय हैं। इसी तरह गुफा-प्रवेश के ऊपरी भाग में आलिखित विचित्र पशु-आकृतियाँ भी भूलने की वस्तु नहीं हैं। इनकी प्रतिकृतियाँ मोनोग्राफ में मुद्रित हैं परन्तु उनसे इनकी वास्तविकता का स्वल्प बोध भी नहीं हो पाता।

घोष ने छातु के डाकबँगले को केन्द्र बनाकर उसी ओर से भल्डरिया नदी के उन शिलाश्रयों की खोज की जो कॉकबर्न द्वारा सन् १८८३ में देखे जा चुके थे। हम लोग अर्थात् मैं और मेरे प्रिय विद्यार्थी अशोक प्रधान जो अब पुरातत्त्व की दिशा में ही भारत और श्रीलंका के सांस्कृतिक सम्बन्धों पर कार्य कर रहे हैं, उस मार्ग को अपनाने के स्थान पर लिखनिया—१ से सुकुरुत लौट आये। यह गाँव राबर्ट्सगंज-अहरौरा रोड पर एक बड़ा विश्राम स्थल है जिसमें पुलिस थाना और बाजार आदि सब कुछ है। यहीं से महड़रिया के शिलाश्रय को मार्ग जाता है। पाँचवें मील के पत्थर से दाहिने मुड़ कर डोंगिया जलाशय तक पहुँचा जाता है फिर पाँच मील के लगभग गरई नदी के ऊपरी प्रवाह की ओर महड़रिया नामक स्थान है। शिलाश्रय उसी के समीप है। हम लोग सुकुरुत से महड़रिया की ओर न जाकर दरीवाले बाबा के स्थान की ओर चले क्योंकि इसका उल्लेख घोष के मोनोग्राफ में नहीं हुआ है। तेंदू की पत्तियाँ एकत्र करने-

वालो मे रास्ता पूछ कर अन्तत. कुछ मील चलने के बाद हम अभीष्ट स्थान तक आ ही गये और कटानो को ध्यान मे देख-देख कर हमने यह पाया कि भल्डरिया नदी के दोनो तटो पर स्थान-स्थान पर न केवल शिला-चित्र अंकित मिलते है वरन् छिटपुट अभिलेख भी प्राप्त होते है। घोष को भी भल्डरिया के निचले भाग मे स्थित शिलाश्रयो पर 'दस' 'शिमद' आदि शब्द नवी-दसवी शती की लिपि मे अंकित मिले। उनके अनुसार भल्डरिया के 'शिलाश्रय III' तक सीढियो के सहारे पहुँचना होता है। इसकी ऊँचाई ६½ फीट, लम्बाई ११० फीट तथा गहराई १८ फीट है। दीवार पर अनेकानेक चित्र अंकित मिलते है। नदी के दूसरे तट पर दो मील धार के साथ-साथ ऊपर की ओर आने पर शिलाश्रय II दिखायी देता है जिस पर कॉकबर्न का नाम खुदा हुआ है। इस शिलाश्रय की लम्बाई ५६ फीट, ऊँचाई ६½ फीट तथा गुफा की सामने की चोड़ाई २४ फीट है। इसमे भी भीतरी भित्ति पर अनेक चित्र अंकित मिलते है। पहाडी से उतर कर नदी के पाट से भल्डरिया के शिलाश्रय I तक पहुँचा जाता है। इसका आकार इस प्रकार है। ऊँचाई ६½ फीट, लम्बाई ४५ फीट और गहराई मध्य मे १८ फीट १० इंच। इसमे चित्रांकन दीवारो मे ही नही भीतरी छत मे भी मिलता है। इन शिलाश्रयो तक पहुँचने के लिए समय और साधन कुछ अधिक अपेक्षित है क्योकि भल्डरिया की कटाने गरई के तटो की तुलना मे अधिक विषम और दुर्गम है। उनका वातावरण एक विचित्र प्रकार की रहस्यमयता से युक्त लगता है जिसमे हर क्षण लगता है कि जैसे अब कोई नया सत्य उद्घाटित होने वाला है, अब कोई अज्ञात शिलाश्रय सामने आने को है।

राबर्ट्सगंज पुन लौटकर रोपवाले मार्ग से हम बस द्वारा चुर्क सीमेंट फैक्टरी तक पहुँचे फिर इक्का करके विजयगढ के समीपवर्ती मऊ ग्राम तक चले गये। रास्ते के अंत मे 'धँदरौल' बाँध पड़ा। विजयगढ दुर्ग के ऊपर मे देखने पर इस बाँध का जल एक महाजलाशय के समान दिखायी देता है। जिस धारा को रोककर यह बाँध बनाया गया है वह अपने तटो पर युगो से शिलाश्रयवाली अनेक कटाने बनाती रही है। इसके तट से हमे अनेक प्रकार के लघु-दीर्घ पाषाणास्त्र भी उपलब्ध हुए। घोष के बाद कॉकबर्न को विजयगढ के समीपवर्ती इसी भू-भाग के शिलाश्रयो मे गैंडे के अनेक चित्र दिखायी दिये। परन्तु घोडमगर नामक वह गुफा जिसमें अंकित गैंडे के आखेट-दृश्य को उन्होने अपने लेख के साथ प्रकाशित किया, विजयगढ के समीप नही है। वह दो नदियो के संगम पर आगे स्थित है और वहाँ 'मगर' बहुत होते है जिन्हे स्थानीय लोग 'मंगर' कहते है। घोडमगर या घोडमँगरी नाम कदाचित् इस मगर और चित्रांकित गैंडे के लिए प्रयुक्त 'घोड़े' के योग मे बना है। विजयगढ दुर्ग की प्राचीर के निचले भाग मे प्राय. सभी ओर दुर्गम शिलाश्रय स्थित है जिन तक बाँस के सघन वनो और छोटी मधुमक्खियो के छत्तो के कारण पहुँचना अत्यन्त कठिन है। विजयगढ का वर्तमान किला शेरशाह का बनवाया हुआ है परन्तु इससे पहले इसी मे निहित पुराना दुर्ग मूलत कोलो का था जो बाद मे बलन्द

और चंदेल राजाओं के हाथ में आ गया। इतने ऊँचे किले के भीतरी भाग में सात विशाल जलाशय हैं जो कृत्रिम न लगकर प्राकृतिक ही प्रतीत होते हैं। इन जलाशयों के कारण ही कदाचित् आदिमकाल में इतनी ऊँचाई पर स्थित गुफाओं में मानव-निवास संभव हो सका। घोष के मोनोग्राफ में दुर्ग के दक्षिणी भाग में प्राचीर के नीचे स्थित शिलाश्रयों के अभिलेखों और चित्रों की अनेक छायानुकृतियाँ प्रकाशित की गयी हैं। एक शिलाश्रय का आकार इस प्रकार है—ऊँचाई ८० फीट, लम्बाई १६० फीट तथा गहराई २७ फीट। चित्र इतनी ऊँचाई पर हैं कि मचान बनाकर ही उन तक पहुँचा जा सकता है। इस शिलाश्रय से २ फर्लांग दूर एक दूसरा शिलाश्रय है जो २८ फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इसकी अपनी ऊँचाई ८ फीट, लम्बाई ४० फीट और मध्य भाग की गहराई ३६ फीट है। इसकी भीतरी छत और दीवारों पर गेरुए रंग में लगभग चौंतीस अभिलेख अंकित हैं जो घोष के अनुसार ५वीं से ८वीं शती ई० के हैं। इनके जमाव (Deposit) से कुछ पाषाणास्त्र अवश्य मिले हैं पर मिट्टी कम होने से खुदाई की संभावना नहीं है।

मिर्जापुर-क्षेत्र के अन्तर्गत यही मुख्य स्थल हैं जहाँ पूर्ववर्ती अन्वेषकों को चित्रमय शिलाश्रयों और गुफाओं की उपलब्धि हुई। कॉकबर्न ने चुनार और पभोसा का नाम भी अपने लेख में गिनाया है परन्तु इनके विषय में नामोल्लेख से अधिक कोई सामग्री नहीं दी और न कदाचित् बाद के ही किसी शोधक ने कोई नया प्रकाश डाला। वास्तव में इसकी पूरी आवश्यकता है कि इन स्थानों में प्राप्त चित्रों की शोध की जाय। कॉकबर्न ने लोहरी गुफा के एक चित्र की अनुकृति अवश्य प्रकाशित की परन्तु गुफा की स्थिति के विषय में भी इससे अधिक कुछ भी विदित नहीं होता कि वह कैमूर-शृंखलाओं में ही कहीं स्थित है। अनुमानतः वह लिखनिया–२ के आसपास कहीं हो यही अधिक सम्भव लगता है। नवोपलब्ध खोड़हवा की गुफाएँ चोपन के पास सिंदुरिया ग्राम से डेढ़ मील पूर्व में हैं।

मिर्जापुर के दुद्धी क्षेत्र में नितान्त आदिम प्रायः नग्न अवस्था में रहनेवाली ऐसी आदिवासी जातियाँ हैं जो वन्य जीवन की प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रमाण सामने रखती हैं। कोरवा जाति बन्दरों को खाती है तथा अपनी चोटी इतनी लम्बी रखती है कि उसमें बाण छिपाये जा सकें। वृक्ष की डालों पर रहनेवाले लोग भी दुद्धी में मिलते हैं। चिरकभाल या नसकटवा, कोगी, कोरी आदि विचित्र प्रकार के पशु भी मिलते हैं, अब जिनसे नगरवासी अपरिचित हैं।

मिर्जापुर-क्षेत्र के सुप्रसिद्ध पिकनिक स्थल विंडम में भी प्रागैतिहासिक चित्रों से युक्त कोई शिलाश्रय है यह किसी भी पूर्ववर्ती अन्वेपक को ज्ञात नहीं था जबकि प्रस्तुत लेखक की इस दिशा में प्रवृत्ति का समारम्भ ही विंडम के शिला-चित्रों की शोध से होता है, जैसा शोध-कथा में निर्दिष्ट किया जा चुका है। यह स्थल भी एक जलधारा से बनते हुए सोपानवत् सुन्दर प्रपातों से युक्त है और उसी धारा के दूसरी ओर, मुख्य उतार के ठीक सामने की एक

कटान में शिला-चित्र अंकित है। मेरी निश्चित धारणा है कि यदि इस धारा की तटवर्ती कटानों का ध्यानपूर्वक परीक्षण किया जाय तो उनमें भी भल्डरिया की कटानों की तरह अनेक स्थलों पर चित्र अंकित मिलेंगे। जिस शिलाश्रय पर मुझे चित्रों की उपलब्धि हुई वह आकार में बहुत छोटा है। उसकी लम्बाई ८-१० फीट से किसी भी प्रकार अधिक नहीं होगी और ऊँचाई लगभग ८ फीट। चित्र भी काफी छोटे आकार के हैं। विशेष ध्यान के साथ न देखने पर सहसा दिखायी भी नहीं देंगे यद्यपि उनका अंकन गहरे कत्थई रंग में हुआ है। उनके इस प्रकार धुँधले हो जाने का कारण यह है कि यह शिलाश्रय गहराई में न होने के कारण वर्षातप के प्रभाव से सुरक्षित नहीं रहा। इतने खुलेपन के बाद भी चित्र इस अवस्था में हैं कि उन्हें गीला करके स्पष्टता से देखा जा सके। वर्षा आने पर वातावरण की नमी के कारण सभी शिला-चित्र स्वतः कुछ अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

राधाकान्त वर्मा ने मिर्जापुर की पाषण-युगीन संस्कृतियों पर प्रस्तुत अपने शोध-प्रबन्ध में शिला-चित्रों की स्थिति पर भी विचार किया है। पूर्वज्ञात राजपुर और अहरौरा क्षेत्रों के अतिरिक्त उन्होंने नवोपलब्ध भैंसौर-क्षेत्र का उन्हें क्रमशः चार छः और नौ वर्गों में विभाजित करके प्रथम बार व्यवस्थित एवं सचित्र परिचय दिया।

लिखनिया नाम से मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में दो स्थानों का होना इस बात का सूचक है कि यहाँ के निवासी बहुत पहले से ही आलिखित चित्रों की स्थिति से परिचित रहे हैं। उन चित्रों या आलेखनों के कारण ही सम्बन्धित स्थानों को 'लिखनिया' नाम प्रदान किया गया है। लोक-ग्राह्यता के लिए इससे अधिक उपयुक्त नाम शायद ही कोई दूसरा हो सके। चित्रों की स्मृति को सजीव रखने के उद्देश्य से लोक ने स्वयं इसे रच लिया है।

रायगढ़-क्षेत्र

ऐण्डर्सन, पर्सी ब्रॉउन, अमरनाथदत्त, मनोरंजन घोष और अन्ततः गॉर्डन द्वारा रायगढ़-क्षेत्र के सर्वप्रमुख और सुविख्यात शिला-चित्र-केन्द्र सिघनपुर का विवरण इतने विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है कि जिसने वहाँ के शिलाश्रयों एवं शिला-चित्रों को प्रत्यक्षतः नहीं देखा है वह भी उनकी स्थिति के विषय में थोड़ा-बहुत अनुमान लगा सकता है किन्तु वास्तविक स्वरूप का बोध स्वयं वहाँ जाने पर ही होता है। कबरा पहाड़ का अनाम उल्लेख अमरनाथदत्त की पुस्तक की भूमिका में है परन्तु नाम लेकर पूरा विवरण पहली बार गॉर्डन ने ही प्रस्तुत किया। रायगढ़-क्षेत्र में सिघनपुर के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान रखनेवाले इस कबरा पहाड़ से अन्य पूर्ववर्ती अन्वेपक अपरिचित थे। गॉर्डन ने इस क्षेत्र में इन दो के अतिरिक्त खैरपुर, करमागढ़ और नवागढ़ नामक तीन स्थल और ऐसे निर्दिष्ट किये हैं जिनमें शिला-चित्र अंकित हैं परन्तु उनके विषय में ऐसी कोई सूचना प्रदान नहीं की जिससे ज्ञात हो कि उनकी भौगोलिक स्थिति

क्या है और उनके चित्र किस प्रकार के है। गॉर्डन सम्भवतः उन तक पहुँच नहीं सके थे अन्यथा वे इस विषय में कदापि मौन नही रहते। मेरी पहली रायगढ़-यात्रा 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के अधिवेशन के सिलसिले में हुई जिसके कारण मुझे इतना अवकाश न मिल सका कि उनकी खोज-खबर ले सकूँ। दूसरी यात्रा ६-१० अप्रैल, १९६३ को मैंने केवल शिला-चित्रों को देखने के ही उद्देश्य से की जिसमें पूरी सफलता मिली। कई ऐसे चित्र भी लक्षित हुए जो गॉर्डन आदि ने निर्दिष्ट नही किये है। सिघनपुर चॅवरढल (Chawardhal) पर्वत-शृंखला के तल में बसा हुआ एक छोटा-सा गॉव है जो 'नहरपाली' नामक स्टेशन से लगभग तीन मील दूर है। भौगोलिक दृष्टि से यह अक्षांश २२° और देशांश ८३° १८′ २२″ पर स्थित है। शिलाश्रयों की स्थिति ऊँचे पर है। गाँव की उपेक्षा करती हुई उनकी विशाल ढलान तलहटी से ही दिखायी देने लगती है। स्टेशन से सड़क पश्चिम की ओर पटरी के किनारे-किनारे लगभग दो मील तक चली गयी है फिर उत्तर की ओर मुड़ते हुए एक ऐसी गली के रूप में समाप्त हो जाती है जो गाँव को दो भागों में विभाजित कर देती है। पहाड़ी की तलहटी के निकट पहुँचने पर कुछ ऊँचाई से उतरता हुआ एक जल-स्रोत मिलता है। जिस जगह से पहाड़ी का उठान आरम्भ होता है वहाँ अनेक अनगढ़ प्रस्तर-खण्ड मिलते हैं जिनके समीप शोधक को यत्र-तत्र पाषाणकालीन अस्त्र भी बिखरे दिख जाते हैं। चित्रित शिलाश्रय और गुफाएँ मैदान से लगभग ६०० फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इन तक पहुँचने के लिए भारी-भारी पत्थरों पर से होकर जाना पड़ता है। जब प्रमुख शिलाश्रय का ऊँचान १०० फीट के करीब रह जाता है तो मार्ग गुफा नं० २ की तरफ मुड़ जाता है। फिर कुछ ऊपर चढ़कर पूर्व की ओर मुड़ता है और प्रायः दो सौ गज़ की दूरी के बाद गुफा नं० १ आ जाती है। जहाँ से मार्ग पूर्व की ओर मुड़ा था वहीं से ५० फीट के लगभग ऊपर चढ़ने पर प्रधान शिलाश्रय ठीक सामने उभर आता है। वैसे पर्वत-शृंखला के एक उभरे हुए भाग पर अवस्थित होने के कारण यह स्टेशन से ही दिखायी देने लगता है।

उपर्युक्त दोनों गुफाएँ लगभग २० से ३० फीट तक गहरी हैं और उनकी चौड़ाई प्रवेश-स्थल पर १५ फीट के करीब ज्ञात होती है। बड़ी गुफा अर्थात् गुफा नं० १ के एक किनारे से ६ फीट ऊपर और द्वार से २० फीट भीतर लगभग ३ फीट व्यासवाला एक वृत्ताकार छिद्र है जिससे प्रवेश करके एक छोटी 'गैलरी' में पहुँचना होता है। गुफा-द्वार के पास एक और 'गैलरी' है जिस तक रेंग कर जाया जाता है। गुफा का अंतरंग भाग चित्र-हीन है यद्यपि बाहर से यही अनुमान होता है कि उसमें चित्र अवश्य होंगे। मनोरंजन घोष ने गैस के प्रकाश में इसका निरीक्षण भी किया पर कोई चित्र अंकित नहीं मिला। तल के एक स्थान पर उन्होंने कई फीट गहरी खुदाई भी करायी पर कोई वस्तु हस्तगत नहीं हुई। नीचे चट्टान आ जाने पर काम रोक दिया गया। गुफा नं० २ का भी इसी प्रकार निरीक्षण-परीक्षण किया गया पर वहाँ भी न कहीं चित्रांकन मिला न कोई अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तु।

सुविज्ञात चित्रों से युक्त प्रधान शिलाश्रय इन्हीं गुफाओं के समीप स्थित है। रचना-प्रकार की दृष्टि से यह शिलाश्रय त्रिभुजात्मक है। प्रवेश स्थल ३७ फीट, पश्चिमी या बायाँ पार्श्व ३५ फीट तथा पूर्वी या दायाँ पार्श्व ३४ फीट। प्रवेश-द्वार की सबसे अधिक ऊँचाई ६० फीट से भी अधिक है। सिंघनपुर के शिला-चित्रों की प्रथम शोध करनेवाले ऐण्डर्सन महोदय का विचार है कि किसी समय यहाँ दो गुफाएँ थीं जिनके सामने के अंगों की पारस्परिक दूरी २० फीट के भीतर ही रही होगी परन्तु जो अब टूट कर गिर गये हैं। वर्तमान स्थिति में यह स्थान गुफा की अपेक्षा शिलाश्रय ही अधिक प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि शिलाश्रय का ऊपरी भाग वर्तमान रूप की अपेक्षा पहले से कहीं अधिक निकला रहा होगा जो अब टूट कर गिर गया है। ऐण्डर्सन को इस शिलाश्रय के अगले भाग में बहुत निचाई पर एक चित्र देखकर यह लगा कि किसी समय वर्तमान तल से नीचे और कोई तल अवश्य रहा होगा जो कालक्रम में एकत्रित होनेवाले जमाव के कारण पट गया है। विधिवत् खुदाई कराने से संभव है इस पर कुछ प्रकाश पड़े। गॉर्डन ने घोष द्वारा उल्लिखित ऐण्ड्र्सन की गुफावाली उक्त धारणा को घोष की 'थ्योरी' कह कर उसे त्रुटिपूर्ण बताया है।

मुख्य शिलाश्रय के पूर्वी और पश्चिमी दोनों पार्श्वों पर चित्रांकन मिलता है। पश्चिम की ओर चित्र छोटे आकार के हैं जिनके विषय में गॉर्डन की धारणा है कि यही सबसे पहले बने हैं क्योंकि यह अनगढ़, असम्बद्ध और खंडित एवं अंशावशिष्ट भी हैं। पूर्व की ओर जो चित्र हैं वे बिल्कुल अन्तिम छोर पर अंकित हैं। और मचान के सहारे ही ठीक से देखे और अनुकृत किये जा सकते हैं। सारे के सारे चित्र लाल-गेरुए रँग में अंकित हैं। शिलाओं के अपने रंगों और कालगत क्षीणता के कारण उनके बहुवर्णी पॉलीक्रोम होने का भ्रम होता है। विशेषतः केन्द्रवाली चित्र-शृंखला के विषय में ऐसा भ्रम होता है। इसे गॉर्डन ने सबसे बाद में बना हुआ बताया है। समूह-चित्र उनके अनुसार दोनों के बीच के समय में रचे गये। यह कृत्रिम विभाजन मुझे संगत नहीं लगता है।

कबरा पहाड़ रायगढ़ नगर से लगभग १० मील पर भजरापाली ग्राम के निकट स्थित है। जिस पहाड़ी कगार में यह शिलाश्रय है वह रेलवे लाइन से समकोण पर है। शिलाश्रय एक बहुत ऊँची चितकबरी सफेद चट्टान के निचले भाग में है और पत्थरों के इसी कबरेपन के कारण इसे 'कबरा पहाड़' कहा जाता है। चट्टान के आगे की ओर झुकाव से बने इस शिलाश्रय के चित्र पर्याप्त सुरक्षित रहे हैं, क्योंकि उनकी रक्षा शिलाश्रय की बनावट के द्वारा स्वयं प्रकृति की ओर से होती रही है। सारे चित्र १० से २० फीट की ऊँचाई पर बने हैं और तल पर खड़े होकर उनको पूरी स्पष्टता से देखना सम्भव नहीं है। उनकी अनुकृतियाँ और छायाचित्र प्राप्त करना तो और भी कठिन है। भीतर की ओर के पत्थर इतने चिकने हैं कि उन पर पैर रखकर चित्रों तक पहुँचना बहुत दुष्कर है। यद्यपि गुहावासी चित्रकारों ने सम्भवतः उन्हीं के सहारे

ऊपर चढ़कर चित्रों का निर्माण किया होगा। सिघनपुर की तरह कबरा पहाड़ के सभी चित्र गेरुए-लाल वर्ण मे अंकित है। इस दृष्टि से रायगढ़-क्षेत्र मिर्जापुर-क्षेत्र के समानान्तर प्रतीत होता है, क्योकि वहाँ भी सारा चित्रण गेरुए-लाल रंग में ही मिलता है। कबरा पहाड़ की यह विशेपता अवश्य है कि इसमे क्षेपाकन (Stencil) पद्धति के चित्र भी मिलते है। जब इस क्षेत्र के पूर्वोक्त खैरपुर, करमागढ तथा नवागढ नामक शिलाश्रयों की वह सामग्री सामने आयेगी जिससे अभी तक किसी शोधक का प्रत्यक्ष परिचय नही हुआ है तो मैं आशा करता हूँ कि न केवल कुछ नयी समस्याएँ उत्पन्न होगी वरन् प्रागैतिहासिक चित्रों से सम्बन्धित अब तक की अनेक समस्याओ पर पर्याप्त प्रकाश भी पड़ेगा। सम्भव है कुछ और नये शिलाश्रय एवं गुफाएँ प्रकाश मे आये, क्योकि इस क्षेत्र का भी पूरा परीक्षण अभी नही हुआ है। इस आशावादिता का मुख्य कारण यह है कि प्राय: जहाँ भी गुफा-चित्रों की परम्परा मिलती है वहाँ वह केवल एक या दो स्थलों तक सीमित नही रह जाती। पुरातत्त्व प्रेमी श्री उदयशंकर शास्त्री से मुझे ज्ञात हुआ कि खरसिया स्टेशन से दो मील पश्चिम की ओर रायगढ़-क्षेत्र में सिघनपुर के पास ही बौतालदा नामक ४ फर्लांग के लगभग लम्बी सुरंगनुमा एक विशाल गुफा है जिसमें शूकर, हरिण आदि पशुओं के चित्र भी अंकित है। गुफा में जगह-जगह हवा और प्रकाश आने के लिए छेद है पर अँधेरा फिर भी रहता है। अत. सम्भव है और चित्र हो। मिर्जापुर, पँचमढ़ी आदि क्षेत्र इस तथ्य को अकाट्यरूप से प्रमाणित करते है कि यह परम्परा अनेक शिलाश्रयो और अनेक युगों तक परिव्याप्त रहती है। सिघनपुर के समीपवर्ती भू-भाग में प्रवाहित छोटी मॉद नदी के तटों का थोड़ा-बहुत पर्यवेक्षण व्यक्तिगत रूप से ऐण्डर्सन ने किया था परन्तु सिघनपुर के अतिरिक्त अन्यत्र कही उसे चित्रांकन उपलब्ध नहीं हुआ। सिघनपुर की उपलब्धि ही अपने आप में इतनी बड़ी बात थी कि इसके बाद ऐण्डर्सन को और खोज करने का अवकाश न रहा होगा। फिर यदि किसी एक शोधक को सफलता प्राप्त नही हुई तो भी उसके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि क्षेत्र-विशेप की सम्भावनाएँ ही समाप्त हो गयी है। रायगढ के आस-पास पठारनुमा छोटी-छोटी पहाड़ियाँ सघन वृक्षावलियाँ तथा पुरातन जलधाराएँ आगे चलकर सिघनपुर और कबरा पहाड़ की चित्रण-परम्परा की खोयी हुई कड़ि
सहायक होंगी।

पँचमढ़ी-क्षेत्र

शिला-चित्रों की दृष्टि से पँचमढी-क्षेत्र की महादेव पर्वत-मालाओं के महत्त्व-प्रकाशन एवं शोधपूर्ण परिचयात्मक विवरण-लेखन का प्रधान श्रेय एकमात्र डी० एच० गॉर्डन महोदय को है। 'शोध-कथा' में उनके इस अद्वितीय कार्य का यथेष्ट परिचय दिया जा चुका है। इस क्षेत्र के सर्वप्रथम शोधक डॉ० जी० आर० हन्टर तथा अपने अन्य सहयोगी होशंगाबाद के वनविभागा-

ध्यक्ष श्री जार्ज के ज्ञान से लाभ उठाकर गॉर्डन ने पॅचमढ़ी के पन्द्रह से अधिक शिलाश्रयों एवं गुफाओं की खोज-बीन की। फौजी निवास-केन्द्र होने के कारण मेजर-गॉर्डन को इस क्षेत्र की दुर्गम पहाड़ियों, नालों, उपत्यकाओं और गहन-वनों में भटकने का पूरा अवकाश प्राप्त हुआ। इतने अनुभव के होते हुए भी उन्होंने अपने लेखों में केवल चित्र-परिचय एवं उसके श्रेणी-विभाजन तथा वर्गीकरण की ही विशेष चर्चा की है; क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति तथा ज्ञात गुफाओं और शिलाश्रयों की आकृति-प्रकृति की बहुत स्वल्प सूचना दी है। पॅचमढ़ी के अधिकांश शिलाश्रय स्वयं देखने और इमलीखोह जैसे नवीन चित्रागार को उपलब्ध करने के पश्चात् अब मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मात्र गॉर्डन द्वारा दिये गये विवरण के सहारे उन सभी स्थलों तक कदापि नहीं पहुँचा जा सकता जिनके चित्रों को उन्होंने अपने लेखों में समाविष्ट किया है। किसी न किसी अनुभवी स्थानीय 'गाइड' को साथ लेना अनिवार्य है। यों यह आवश्यक नहीं है कि चित्रों के विषय में सही ज्ञान रखनेवाला पथ-प्रदर्शक सहज रीति से मिल ही जाय। मुझे 'महबूब खां' के रूप में ऐसा 'गाइड' मिल गया यह सौभाग्य की ही बात थी। परन्तु उन्हें भी अपना अभिप्राय समझाने और उनकी अर्ध-स्पष्ट सूचनाओं को अपने उद्देश्य के संदर्भ में स्पष्ट करके उनके सहारे गन्तव्य स्थानों तक पहुँच जाने में मेरे श्रम, धैर्य और साहस तीनों की पूर्ण परीक्षा हो गयी। यह और सुखद संयोग हुआ कि उन्हीं दिनों सागर विश्वविद्यालय के शोध-छात्र अपने कैमराधारी 'चाचा' यानी श्री सत्येन मुकर्जी सहित शिला-चित्रों की खोज में वहाँ पहुँच गये और एक-दो दिन स्वतन्त्र रूप में कार्य करने के बाद नितान्त नाटकीय एवं आकस्मिक ढंग से हम लोगों का साथ हो गया। मैंने उनके अति विनोदी और 'चिरकुमार' चाचा को अपना चाचा बना लिया और उन्होंने मुझे अपना बड़ा भाई मान लिया। इस आत्मीयता और उद्देश्यगत एकता की अद्‌भुत शक्ति पाकर हम लोग 'निम्बूभोज' की सपाट चढ़ाई और 'जम्बूद्वीप' की निचाट उतराई को अनायास पार करते हुए गॉर्डन द्वारा प्रस्तुत चित्रों का 'वेरीफिकेशन' और महत्त्वपूर्ण नयी उपलब्धियों का त्वरित रेखांकन करने में आशातीत रूप में कृतकार्य हुए। पँचमढ़ी-क्षेत्र से इतनी नवोपलब्धियाँ हो सकेंगी इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। पहुँचने के दूसरे दिन ही मुझे महबूब मियाँ की इनायत से शताधिक शिला-चित्रों से युक्त 'इमलीखोह' नामक एक ऐसा अज्ञात शिलाश्रय मिल गया जिसके किसी भी चित्र का गॉर्डन या किसी अन्य शोधक ने अब तक उल्लेख नहीं किया है। किसी स्थानीय 'गाइड-बुक' में भी इस गुफा की चर्चा नहीं मिली। 'पॅचमढ़ी-दर्शन' नामक पुस्तक में वहाँ के निवासी श्री दुर्गाप्रसाद जायसवाल ने निम्बूभोज से लेकर बोरी तक जो स्थान-सूची दी है उसमें भी इमली-खोह का नाम नहीं है।

सतपुड़ा की श्रेणियाँ अमरकंटक से असीरगढ़ तक पूर्व-पश्चिम में लगभग ६०० मील तक फैली हुई हैं और निमाड़ ज़िले की नर्मदा-घाटी में इनका अंत होता है। होशंगाबाद ज़िले

का आधे से अधिक भाग सतपुड़ा-श्रेणियों से विभूपित है और इसी भूभाग में महादेव पर्वत-मालाएँ स्थित है जिनमे पचमढ़ी वसी हुई है। उसके धूपगढ़ आदि विशाल एवं गर्वोन्नत शिखर महादेव पहाड़ियो के ही अङ्ग है। धूपगढ़ समुद्रतल से ४४५४ फीट ऊँचा है और हिमालय के अनन्तर आवू को छोड़ कर दक्षिण भारत तक के गिरि शिखरों में सर्वोच्च कहा जा सकता है। पँचमढ़ी पहुँचने के लिए कटनी-जवलपुर रेलवे लाइन पर इटारसी के समीप स्थित 'पिपरिया' स्टेशन से ३२ मील मोटर द्वारा जाना होता है। सारा रास्ता घुमावदार चढ़ाई का है। सीधे पिपरिया से पंचमढ़ी २१ मील ही है।

पँचमढ़ी के आस-पास अनेक गहरी दुर्गम खाइयाँ तथा भयावह खड्ड और नाले स्थित है जिनमें वहुसंख्यक गुफाएं और शिलाश्रय मिलते हैं। देनवा, तवा, सोनभद्र और जम्वूद्वीप आदि के लिए 'नाला' शब्द ही प्रयुक्त होता है परन्तु उनके विस्तार, गहन स्वरूप और घोपयुक्त प्रखर जल-प्रवाह को देखकर लगता है कि इस शब्द से उनको व्यक्त करना मानो उनका अपमान करना है। देनवा की गहराई और प्रखर प्रवाह पर्वतीय क्षेत्र की किसी भी महानदी से कम नही लगता। हिमालय-क्षेत्र की अलकनंदा, भागीरथी, पिंडारी आदि प्रसिद्ध नदी-घाटियाँ भी इतनी रहस्यमय और दुर्गम प्रतीत नहीं होतीं। यह सत्य है कि इन नालों की जल-धाराएँ ग्रीष्म काल में वहुत कुछ क्षीण और संयत हो जाती हैं परन्तु उनकी कटानों की गहराई और गुह्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। कहीं-कहीं उतार इतना तीखा होता है कि उस तक जाने की कल्पना ही रोमांचित कर देती है। वहुत से खड्ड ('डीप') ऐसे हैं कि उनमें झाँकना भी नवागन्तुक यात्रियों के लिए एक अनुभव की वस्तु वन जाता है।

इसका 'पँचमढ़ी' नाम लोक-प्रसिद्धि के अनुसार उन पाँच गुफाओं पर आधारित है जिन्हें पाण्डवों का वनवास-कालीन निवास-गृह कहा जाता है और जो सैनिक-केन्द्र से अधिक दूर नहीं हैं। इनकी रचना प्राकृतिक न होकर अजंता, एलोरा, वाघ और उदयगिरि-खण्डगिरि आदि की तरह 'राक-कट-केव' शैली में अर्थात् शिलाओं को काट कर की गयी है। 'उत्कीर्ण भगवतेन' के रूप में पढ़ा जानेवाला एक अभिलेख भी मुख्य गुफा के भीतर उत्कीर्ण है। इन गुफाओं की अलंकृत रचना-शैली और अभिलेख के अक्षरों की रूप-रेखा के आधार पर इन्हें ९ वीं १०वीं शती ई० का माना जाता है। इनमें कहीं कोई भित्ति-चित्र अंकित नहीं है। चित्रांकन चारों ओर फैले अरण्यों और नालों में स्थित अगणित शिलाश्रयों एवं गुफाओं में मिलता है। वहुधा एक पर एक अंकित चित्रों में चित्रण के अनेक स्तर मिलते हैं जिन्हें गॉर्डन ने शैली-भेद, वर्ण-भेद और वस्तु-भेद के आधार पर विभिन्न विकास-युगों से सम्वद्ध किया है तथा उनकी अनेक श्रेणियाँ भी निर्धारित की है। यह चित्रण-परम्परा प्रागैतिहासिक युग से ऐतिहासिक युग में संक्रमण कर जाती है। पंचमढ़ी के शिला-चित्रों में अन्य प्रकार के चित्रण के अतिरिक्त सशस्त्र-युद्ध-दृश्यों की वहुलता मिलती है जिनको लोक-वुद्धि महाभारत-कालीन मानती है

परन्तु आचार्य-वृद्धि उनकी रचना को राजपूतों से सम्बद्ध करते हुए ९वीं-१०वीं शती ई० तक खींच लाती है। लगभग सौ वर्ष पूर्व तक पँचमढ़ी में कोरकू और गोंड जाति का प्रधान आधिपत्य था। भरिया, भील, मवासी भी शक्तिशाली रहे हैं।

पँचमढ़ी में इन चित्रों को 'पुतरी' नाम से अभिहित किया जाता है और इनके मुख्य केन्द्रों को 'बड़ी पुतरीलेन' 'छोटी पुतरीलेन' कहा जाता है।

जिस प्रकार मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में 'लिखनिया' शब्द द्वारा लोक-मानस ने चित्रों की स्मृति को सुरक्षित रक्खा उसी प्रकार पँचमढ़ी-क्षेत्र में 'पुतरीलेन' शब्द के माध्यम से लोक-चेतना ने शिला-चित्रों के प्रति अपनी जागरूकता प्रदर्शित की है। 'पुतरी' शब्द के सहारे ही इस क्षेत्र के प्रसिद्ध शिलाश्रयों एवं गुफाओं तक सरलता से पहुँचा जा सकता है।

मैंने अपना कार्य 'बाज़ार केव' से आरम्भ किया, क्योंकि सबसे पहले 'महबूब मियाँ' ने इसी के एक पार्श्व भाग में अंकित 'बकरी' से अपनी पहचान प्रदर्शित की। यह गुफा वर्तमान बस-स्टॉप से थोड़ी ही दूर पर है। जटाशंकर के मार्ग पर नाला पार करते ही यह गुफा दिखायी देने लगती है। 'बकरी' का चित्र दूर से ही देखा जा सकता है। यह गुफा बहुत विशाल है और किसी समय इसमें सेना विश्राम करती होगी इसीलिए इसका एक नाम 'लश्करिया खोह' भी प्रचलित है। शिला-चित्र नाले के पासवाले दाहिने पार्श्व में दो-तीन स्थानों पर ही शेष रह गये हैं। वे प्रायः लाल बाह्य-रेखा से युक्त सफेद रंग में अंकित हैं। पशु-चित्रों के अतिरिक्त यहाँ 'सितार-वादक' और 'गर्दभ-मुख देवता' आदि के चित्र विशेष स्मरणीय हैं। इसी के आगे जटाशंकर के मार्ग में पहले ही मोड़ पर नाले के पार नींबुओं के पेड़ों का एक घना झुरमुट है जिसे यहाँ 'निम्बू खड्ड' या 'निम्बूभोज' कहा जाता है। इसी के ऊपर वृक्षों के सहारे सपाट चढ़ाई चढ़ कर उस प्रसिद्ध शिलाश्रय तक पहुँचना होता है जिस पर सफेद रंग में 'परिवार के बीच तन्तुवाद्य-वादन' का प्रसिद्ध चित्र अंकित है जिसे गॉर्डन ने अनेक जगह प्रकाशित किया है। इस चित्र के समीप ही शिविर-विश्राम का एक अन्य महत्त्वपूर्ण दृश्य अंकित है जिसे पता नहीं क्यों गॉर्डन ने उपेक्षित कर दिया। अश्वारोहियों, तथा वाद्यवादक योद्धाओं के और भी अनेक चित्र आस-पास आलिखित हैं जिनकी अनुकृतियाँ मैंने अपने इस अध्ययन में समाविष्ट करली हैं।

दूसरा दिन पूर्वोक्त 'इमलीखोह' की चित्रानुकृतियाँ करते बीता। यह खोह 'फेरी-पूल' या 'अप्सरा-विहार' के मुख्य मार्ग पर कुछ फर्लांग चलने के बाद दायीं ओर मुड़नेवाली पगडंडी के किनारे पड़ती है। कई जगह पगडंडी टेढ़े-मेढ़े अनगढ़ उतारों के कारण अपना अस्तित्व खो देती है कदाचित् इसीलिए इस तक किसी शोधक की पहुँच नहीं हो सकी। यह पगडंडी भी केवल यहाँ के आदिवासियों को ही सुपरिचित है। खोह के सामने पतली जलधारा है जिसके जल ने किसी समय न केवल यहाँ के आदिम चितेरों की प्यास बुझाई होगी वरन् उनके रंगों को तरल बनाने के लिए न जाने कितनी बार अपने अस्तित्व का अर्पण भी किया होगा। रूपा-

कार मे इमलीखोह शिलाश्रय अथवा गुफा न होकर खोह ही अधिक लगती है, क्योंकि अन्य शिलाश्रयो की तरह इसमे कोई छत्र जैसा वाहर निकला हुआ अग नही है। सामने की मुख्य शिला-भित्ति ही तिरछी होकर इतने ऊपर तक चली गयी है कि उसके चित्रित अंग को स्वत: आश्रय मिल गया है। इसमे गॉर्डन द्वारा विवेचित एवं निर्दिष्ट पँचमढ़ी की प्राय. सभी शैलियों के चित्र उपलब्ध होते है माथ ही काले रंग में अंकित एक स्वतन्त्र शैली के चित्र भी लाल-वाह्य-रेखा युक्त मफेद चित्रों के ऊपर अंकित मिलते है। यह काले चित्र खोह की दायी ओर नीचे के शिलाश पर ही आलिखित है। कई वार इन्हे देख कर ऐसा भ्रम भी होता है कि कहीं यह जमी हुई काई के ही रूप तो नही है जिनके चित्र होने की वात केवल दर्शक की कल्पना का चमत्कार हो। परन्तु अन्तत यह स्पष्ट हो जाता है कि यह चित्र ही है जो भिन्न वर्ण और अपरिचित शैली के कारण सरलता से पहचाने नही जाते है। मैंने इस खोह के चित्रों की अनुकृतियाँ वनाने का कार्य काले रग में अंकित एक महिष के आखेट-दृश्य से ही आरंभ किया। अन्य शैलियों मे और भी अनेक आखेट-दृश्य यहाँ अंकित है, जिनमें वैल के शिकार का दृश्य विशेप शक्तिशाली है। उसकी तुलना मिर्जापुर-क्षेत्र में घोड़मंगर गुफा के गैंडे वाले आखेट-दृश्य से की जा सकती है। और भी अनेक महत्त्वपूर्ण दृश्य इमलीखोह मे अंकित है। मै चुनकर जितने अनुकृत कर सका उतने प्रस्तुत अध्ययन मे समाविष्ट कर लिये गये है।

माड़ादेव जो वड़ी 'पुतरीलेन' के छोर पर घाटी के सम्पूर्ण-दृश्य के प्रति अनुशासन की मुद्रा धारण किये हुए स्थित है. का अवलोकन करने मुझे दो वार जाना पड़ा। प्रथम वार उसके चित्रों को स्वयं देखने के लिए तथा दूसरी वार नवपरिचित 'चाचा' और 'भाई' के शोधक-युग्म को दिखाने के उद्देश्य से। माड़ादेव से देनवा की घाटी, वेड़ापहाड़ का ढाल, नर्मदा का कछार और देलाखारी के मैदान का सारा विस्तार एक साथ परिलक्षित होता है। स्थिति और दृश्य-सौन्दर्य में इसकी समता लिखनिया-२ से की जा सकती है। यह गुफा स्वयं उतनी विशाल एवं भव्य तो नही है परन्तु इसका सँकरापन कुछ-कुछ वैसा ही है। आदमी इसके भीतर ठीक से वैठ भी नही सकता है। इसकी छत में अंकित 'शेर के आखेट' का प्रसिद्ध दृश्य लेटकर ही ध्यान से देखा जा सकता है, भले ही गुफा में पड़ी पीली मिट्टी पीठ में भर जाय। इस गुफा तक पहुँचने के लिए पँचमढ़ी-पिपरिया रोड पर लगभग डेढ़ मील दूर अम्वादेवी के मंदिर एवं नरसिंहगढ के वँगले के पास से मुड़कर वायी ओर जाना होता है जहाँ से एक रास्ता चित्रहीन किन्तु महाकाय गुहाजाल को जाता है तथा दूसरा 'वड़ी पुतरीलेन' को। इस रास्ते में दायी ओर पड़नेवाले अनेक शिलाश्रयो पर शृंखलावद्ध रूप में धनुर्धर एवं योद्धागण अकित मिलते है तथा कुछ अन्य प्रकार के चित्र भी है। माड़ादेव की गुफा इस माला के अन्त मे सुमेरु की तरह संयुक्त है। गॉर्डन द्वारा निर्दिष्ट मकर-ग्रस्त-मानववाला चित्र मुझे इसमे दिखायी नही दिया। ज्ञात हुआ है कि इसके अनेक चित्र-युक्त शिला-स्तर पुरातत्त्व-विभाग द्वारा निकलवा लिये गये है।

संभव है कि उन्हीं में से किसी पर यह चित्र अंकित हो।

'वनियावेरी' नामक लगभग ५० गज़ लम्वी गुफा इसी मार्ग पर वहुत पहले पड़नेवाले एक मोड़ से कुछ ही दूर पर स्थित है। पहली वार माड़ादेव जाते समय ठीक मार्ग-वोध न होने के कारण मैं इसे छोड़ गया। चाचा-पाण्डे युग्म ने इसे मुझसे पहले देख लिया था। फलतः इस तक मुझे पहुँचाने का श्रेय उनको है। पंचमढ़ी की अन्य प्रमुख गुफाओं की तरह यह भी भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से सुरक्षित है। सूचना-पट्ट इसके समीप लगा हुआ है। इसमें स्वस्तिक-पूजा के दो दृश्य अंकित हैं तथा क्रीड़ा-नर्तन आदि के भी अनेक आलेखन मिलते हैं। पशुओं की सुदीर्घ पंक्तियाँ प्रायः अलंकरण के रूप में चित्रित दिखायी देती हैं। सारा चित्रण भीतरी छत और भित्तियों पर तथा वाहरी दाहिने पार्श्व और मुख्य द्वार के ऊपरी भाग में हुआ है।

उसी रोड पर जिससे मुड़कर वनियावेरी की ओर जाना हुआ था, चुंगी के नाके से लगभग सवा मील दूरी पर दक्षिणी-पूर्वी भाग में कुछ शिला-चित्र और मिलते हैं। इस स्थान को 'ईशानशृंग' नाम दिया गया है।

मान्टेरोज़ा और डोरोथीडीप (अपर, लोअर दोनों) धूपगढ़ रोड पर रीछगढ़ के सामने जम्बूद्वीप नाले के इसी ओर वाले कगार पर स्थित हैं। मान्टेरोज़ा किसी एक शिलाश्रय का नाम नहीं है वरन् एक छोटे से पर्वत के कंठ में पड़ी हुई शिलाश्रयों की पूरी की पूरी माला इस नाम से विख्यात है। यह माला एक सिरे पर दोहरी भी हो गयी है। अर्थात् शिलाश्रयों की निचली पंक्ति के ऊपरी कगार पर चढ़ने के वाद वहाँ भी शिला-चित्र अंकित मिलते हैं। गॉर्डन ने केवल नीचेवाले शिलाश्रयों के चित्रों से अभिज्ञता प्रदर्शित की है। पारिवारिक जीवन की सूचना देनेवाले इस ऊपरी भाग के चित्रों का परिचय उन्हें नहीं था। उन्होंने गिल्गमेश जैसे चित्र की जो अनुकृति प्रकाशित की है उसका मूल हमें कई वार खोजने पर भी दृष्टिगत नहीं हुआ; यद्यपि मान्टेरोज़ा मैं दो वार गया और दोनों ही वार उसे देखने की पूरी चेष्टा की। इस खोज में पाण्डे और मुकर्जी चाचा का भी सहयोग रहा परन्तु किसी को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्त में इतना कहना ही अलम् है कि इस चित्र-कंठ पर्वत का ग्रीवाभंग वड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण करने योग्य है, मान्टेरोज़ा नाम होते हुए भी उसके चित्रों में कहीं कोई विदेशीपन नहीं झलकता। वाकणकर को नाम के कारण ही वैसा भ्रम हुआ।

जहाँ से मान्टेरोज़ा के लिए दाहिनी ओर मार्ग मुड़ा था वहीं से एक-दूसरा मार्ग कुछ दक्षिण-पूर्व की दिशा में होकर नीचे उतरते हुए 'डोरोथीडीप' नामक गुफा को जाता है, जिसे अव 'भ्रान्तनीर' कहा जाता है। इसमें गुफा-भित्तियों पर अंकित शिला-चित्र धीरे-धीरे सीलन के प्रभाव से नष्ट होते जा रहे हैं। वहुत से चित्र इस दशा को पहुंच गये हैं कि उनका सही रूप पहचान में नहीं आता है। प्रवेश-द्वार के समीप और उससे लगे भीतरी भाग के कुछ चित्र अवश्य स्पष्ट और आकर्षक हैं। इसके चित्र प्रायः सफेद रंग में अंकित हैं। कुछ में लाल वाह्य-रेखावाली

शैली का प्रयोग भी हुआ है। दिव्यरथवाही देवता एवं छद्म-मुखी मानवाकृतियाँ तथा धनुर्धर विशेष आकर्षक प्रतीत होते हैं। विषय और शैली की विविधता अनेक रूपों में मिलती है। इस 'अपर डोरोथीडीप' के अतिरिक्त 'लोअर डोरोथीडीप' नाम से और भी शिलाश्रय हैं। गॉर्डन में इनके कुछ चित्रों की अनुकृतियाँ प्रकाशित की हैं।

'डोरोथीडीप' जाने से पूर्व हम लोग पिकनिक बस से बड़े महादेव भी गये थे परन्तु बहुत खोजने पर भी वहाँ की किसी गुफा में चित्रांकन लक्षित नहीं हुआ। पीछे की ओर या सबसे ऊपरी भाग तक जाना नहीं हो सका। सम्भवतः गॉर्डन द्वारा निर्दिष्ट चित्र वहीं कहीं समीप में अंकित हों। आरपारदर्शी गुफावाले छोटे महादेव और उसके समीपवर्ती क्षेत्र को भी अगले दिन देखा; यह नगर से तीन मील दूर है। जम्बूद्वीप को इसी ओर होते हुए जाना पड़ता है। चना-गढ़ ग्राम के मार्ग में स्थित एक पुराने आम के वृक्ष, जिसे 'दरबारी आम' की उपाधि प्राप्त है, के पास से मुड़ते हुए नाले की गहराइयों और उनमें उगे झाड़-झंखाड़ों और दलदल को पार करके डेढ़ मील के चक्करदार मार्ग से मुख्य शिलाश्रय तक पहुँचना होता है। यहाँ भी अनेक शिलाश्रय हैं जिन्हें गॉर्डन ने संख्याबद्ध करने का यत्न किया है और उनकी संख्या सात बतायी है। मुख्य शिलाश्रय के बायें पार्श्व में बड़ी ऊँचाई तक चित्र अंकित हैं। लाल-सफेद संयुक्त रेखाओं में बने तथाकथित प्राचीनतम शैलीवाले चित्र विशेष रूप से द्रष्टव्य लगते हैं। सामने की खोह का ऊपरी भाग धुएँ के कारण काला पड़ गया है और पुराने चित्र बहुधा अस्पष्ट हो गये हैं; फिर भी ध्यानपूर्वक देखने पर बहुत-से चित्र दर्शनीय एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं। अनु-कृतियाँ करते-करते संध्या हो गयी और अँधेरे के कारण इसके समीपवर्ती अन्य शिलाश्रयों को देखने का अवसर नहीं मिल सका।

सूची में उल्लिखित पँचमढ़ी-क्षेत्र की अन्य चित्रमय गुफाओं में बी-डैम-केव, बी-नाला तथा मैथ्यू-पीप-केव किसी प्रसिद्ध स्थान पर न होकर मधुमक्खियों से भरे नालों तथा गहरी खाइयों के समीप हैं जैसा कि उनके नामों से ही स्पष्ट है। इनमें अंकित दो-एक चित्र गॉर्डन के 'साइन्स ऐण्ड कल्चर' में प्रकाशित शोध-कथा में निर्दिष्ट लेखों में समाविष्ट हैं। इसके अति-रिक्त इनकी सत्ता और महत्ता का और कोई प्रमाण नहीं मिलता।

सूची-बद्ध गुफाओं में कुछ पँचमढ़ी से बहुत दूर स्थित हैं जैसे तामिया २० मील, बोरी १८ मील, झालई ४० मील और सोनभद्र २५ मील दूर हैं। काजरी की ठीक दूरी ज्ञात नहीं है। इन तक पहुँचने के लिए पृथक्-पृथक् मार्गों और विविध प्रकार के साधनों का उपयोग करना पड़ता है तथा समय भी बहुत लगता है। बोरी को धूपगढ़ की ओर से रास्ता जाता है। तामिया और सोनभद्र छिंदवाड़ा रोड पर हैं। झालई भी उसी ओर कोयला-खदान के पास स्थित है। गॉर्डन ने आदमगढ़ को भी पँचमढ़ी-क्षेत्र के इन चित्र-केन्द्रों के साथ ही परि-

गणित कर लिया है।[१] परन्तु प्रस्तुत अध्ययन में उसे होशंगाबाद-क्षेत्र के नाम से एक स्वतन्त्र क्षेत्र के अन्तर्गत प्रमुखतम स्थान दिया गया है। पूर्वोक्त तामिया-बोरी आदि की अपेक्षा न केवल उसकी दूरी पँचमढ़ी से अधिकतम (४५ मील) है वरन् उसकी स्थिति एवं चित्र-परम्परा भी पँचमढ़ी के चित्रों से बहुत कुछ भिन्न एवं स्वतन्त्र प्रतीत होती है। पँचमढ़ी-क्षेत्र शिला-चित्रों की उपलब्धि की दृष्टि से इतना विशाल है कि जब तक कोई आदमी वहाँ महीनों रहकर योजनाबद्ध रूप में कार्य न करे तब तक सभी चित्र-केन्द्रों को पूरी तरह देख पाना संभव नहीं है। मेजर होने के नाते गॉर्डन को पँचमढ़ी के सैनिक-केन्द्र में ड्यूटी पर बहुत काल तक रहना पड़ा। इस अवसर का उन्होंने अपने अन्वेषण-कार्य के लिए पूरा उपयोग किया परिणामतः वहाँ की सब से अधिक सामग्री प्रस्तुत करने का गौरवपूर्ण श्रेय आज भी उन्हें ही प्राप्त है।

होशंगाबाद-क्षेत्र

होशंगाबाद पँचमढ़ी से लगभग ४५ मील दूर नर्मदा के रमणीक तट पर स्थित है। इस नगर से ढाई-तीन मील पर इटारसी को जानेवाली मोटर रोड के किनारे ही, एक छोटी-सी पहाड़ी है जिसे आदमगढ़ कहा जाता है। इस स्थान तक रेल की पटरियाँ बिछी हैं क्योंकि यहाँ पी० डब्ल्यू० डी० की एक सुप्रसिद्ध 'क्वेरी' है जहाँ बहुत से मजदूर पत्थर तोड़ते रहते हैं। मैं पँचमढ़ी से चलकर पांडे-मुकर्जी शोधक-युग्म का स्नेह-सद्भावमय आतिथ्य ग्रहण करता हुआ उन्हीं के साथ इस क्वेरी तक गया। इसके ऊपरी भाग में स्थित आदमगढ़ के एक दर्जन से अधिक शृंखलाबद्ध विशाल शिलाश्रयों का निभृत सौन्दर्य वर्णनातीत है। उसका सही बोध उसे ही प्राप्त हो सकता है जिसने उन शिलाश्रयों को प्रत्यक्ष देखा है। छाया-चित्रों के आधार पर सौन्दर्य की उस भव्यता का बहुत कम अनुमान हो पाता है।

घोष के शब्दों में कहा जाय तो कहना होगा कि इस पहाड़ी की अनेक शिलाओं पर 'पेन्टिंग्स ऑफ प्रिमिटिव कैरेक्टर' अर्थात् आदिम प्रकृति के चित्र अंकित हैं और मुख्य चित्र शिखर के अधबीच में स्थित शिलाश्रय में नं० १० में हैं। इस शिलाश्रय का निर्माण अन्य शिलाश्रयों की तरह ही प्राकृतिक ढंग से हुआ है, परन्तु इसमें एक विशेषता यह है कि इसके छत्र के नीचे एक विशाल प्रस्तर-खण्ड अवस्थित है जिसके विषय में अनेक प्रकार के ऊहापोह किये गये हैं। घोष की धारणा है कि उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है क्योंकि वह मूल शिला का खंडित अंग भी हो सकता है और छत्र से टूट कर गिरा हुआ अंश भी। उन्होंने अपने मोनोग्राफ में इसका छाया-चित्र तो दिया ही है साथ ही मूल आकृति को स्पष्ट करनेवाला एक खाका भी दे दिया है। इसकी लम्बाई ३९ फीट और ऊँचाई २२ फीट है।

---

१. द्रष्टव्य—'इंडियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स' के दसवें अंक (१९३६) में प्रकाशित महादेव पर्वतमालाओं के चित्रों से सम्बद्ध लेख के साथ अंत में संलग्न टिप्पणी (नोट)।

इस शिलाश्रय में चित्रांकन उत्तरपूर्व की ओर अभिमुख उस-सम भाग पर हुआ है जो छत्र के द्वारा सुरक्षित एवं आच्छादित है। घोष ने इस पर अंकित चित्रों में हलके पीले रंगवाले विशालकाय हाथी के चित्र को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है परन्तु वास्तव में उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण चित्र है उस महामहिष का जो दोहरी रेखाओं में शिलाश्रय के ऊपरी भाग के पूरे विस्तार में अंकित है। इस विशालतर महिष-चित्र का आकार १० फीट लम्बा और ६ फीट चौड़ा है। लगता है कि घोष ने जिस समय आदमगढ़ का निरीक्षण किया उस समय तक किसी कारण यह चित्र इतना अस्पष्ट था कि उनकी दृष्टि इसके ऊपर पड़ी ही नहीं। इसकी खोज का श्रेय मैं अपने सह-यात्री 'पांडे-मुकर्जी' को दूँगा, क्योंकि उन्होंने पँचमढ़ी में ही इसके अस्तित्व की सूचना मुझे दी थी और साथ ही इसकी शक्तिमत्ता और महत्ता का गुणानुवाद भी किया था। उनके साथ वाकणकर ने भी इसे देखा और अनुकृत किया है। प्रत्यक्षत: देखने पर मैंने पाया कि उनका कथन यथार्थ है और आदमगढ़ के इस प्रमुखतम शिलाश्रय पर महिष-चित्र की *स्थिति अन्य सभी पशु-चित्रों की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली, आश्चर्यजनक और अद्वितीय है*। इसे मैं अब तक अज्ञात रहने के कारण रहस्यमय भी कह सकता हूँ परन्तु उसका श्रेय दिया जाता है उस बहुचर्चित संदिग्ध 'ज़िराफ-ग्रुप' को जो पीले हाथी के शिरोभाग पर अंकित है। इस शिलाश्रय पर विभिन्न कालों एवं शैलियों में किये गये चित्रण के पाँच-छ: स्तर एक साथ लक्षित होते हैं। यदि आगे किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से कतिपय चित्रण-स्तर और उद्घाटित हो जायँ तो आश्चर्य की बात न होगी। हाथी के नीचे और पैरों के पास विभिन्न शैलियों में अनेक अस्त्रधारी अश्वारोही चित्रित हैं। कुछ चित्रों को मूल रूप में देखने पर उनकी रेखाएं क्षेपांकन (स्टैन्सिल) की तरह एकओर संतुलित और दूसरी ओर छितरायी हुई अनगढ़ लगती हैं। हाथी की सूंड़ के सामने एक छोटे महिष का चित्र है जिसकी टाँगें काफी पतली और लम्बी बनायी गयी हैं। यह महिष-चित्र स्वतन्त्र रूप से अनेक स्थानों पर प्रकाशित हो चुका है। नीचे की ओर दाहिने किनारे पर चार धनुर्धरों का एक समूहांकन अद्भुत गतिमयता के साथ आलिखित हुआ है। इस शिलाश्रय पर और भी अनेक प्रकार के चित्र हैं, उनमें से सबका विवरण यहाँ प्रस्तुत करना न शक्य ही है और न आवश्यक ही।

आदमगढ़ के अन्य समवर्ती शिलाश्रयों में अनेक अश्वारोहियों, वन्यजीवों वन्यजीवन को व्यक्त करनेवाली स्थितियों के चित्रमिलते हैं जिनकी प्राचीनता असंदिग्ध है। एक शिलाश्रय पर मयूर का विशाल चित्र प्राय: दो सीधी रेखाओं द्वारा अंकित है। एक अन्य शिलाश्रय पर आदिम वनदेवी का-सा अलंकृत आकार बना है। इसकी ओर किसी की दृष्टि गयी हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। मुझे यह चित्र बहुत आकर्षक और रहस्यमय प्रतीत हुआ और मैंने इसे अनुकृत कर लिया।

भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की ओर से होशंगाबाद-क्षेत्र के इन शिलाश्रयों के नीचे की

भूमि पर हुए तलवर्ती जमाव का विधिवत् उत्खनन किया गया है जिसके कारण छोटी-छोटी खाइयाँ जैसी खुदी मिलती हैं। इनमे प्राप्त सामग्री के अध्ययन से इस भूभाग में प्राचीन और नवीन दोनों प्रस्तर युगों से सम्बद्ध मानव-निवास के अनेक स्तर प्रकाश में आने की संभावना है। इस कार्य के अनन्तर यदि किसी मनीषी पुरातत्त्वज्ञ द्वारा चित्रण और निवास के अनेक स्तरों की पारस्परिक संगति प्रमाणित की जा सकी, घोष ने अपने समय में जिसकी कोई संभावना नही मानी किन्तु जिसका होना मेरी दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक है, तो निश्चय ही इस अद्भुत क्षेत्र के अनेक सजीव पक्ष उद्घाटित हो सकेंगे।

शिलाश्रयों और सड़क के बीच की भूमि पर असंख्य लघु पाषाणास्त्र बिखरे मिलते हैं जिनमें कहीं-कहीं दीर्घ पाषाणास्त्र भी मिल जाते हैं। इनसे यह निर्भ्रान्त रूप में प्रमाणित होता है, कि आदमगढ़ में किसी समय इस 'इंडस्ट्री' की एक बहुत बड़ी 'फैक्टरी' रही होगी।

मध्य प्रदेश के अन्य क्षेत्र

भारतवर्ष के मध्यवर्ती भाग में चित्रोपलब्धि के जो क्षेत्र सूची-बद्ध किये गये हैं उनमें भोपाल, रायसेन, पन्ना-छतरपुर, कटनी, सागर, नरसिंहपुर, ग्वालियर तथा चम्बलघाटी के विषय की शोध का प्रमुख श्रेय वेदानन्द, वाकणकर, सत्येन मुकर्जी तथा श्यामकुमार पांडे जैसे स्वच्छन्द शोधकों को है। इनमें से प्रायः सभी क्षेत्र निकट अतीत के कुछ वर्षों में प्रकाश में आये हैं। 'शोध-कथा' के अन्तर्गत उनकी खोज का थोड़ा-बहुत निर्देश कर दिया गया है।

भोपाल-क्षेत्र

सूची-बद्ध उपलब्ध शिलाश्रयों की स्थिति और संख्या की दृष्टि से भोपाल-क्षेत्र संभवतः इन सभी क्षेत्रों में सबसे अधिक विस्तृत और समृद्ध है। उसके बाद चम्बलघाटी और सागर के क्षेत्रों का स्थान आता है परन्तु यह क्रम त्वरा से होनेवाली शोध के आधार पर सहज ही बदल सकता है इसमें संदेह नहीं।

मैं व्यक्तिगत रूप में गुफा मन्दिर, मनवाँ भान की टेकरी तथा बेतवा के उद्गम-स्थान भदभदा के निकटवर्ती एक गुफानुमा शिलाश्रय को ही देख पाया। गुफा मन्दिर भोपाल नगर में ही मुख्यमन्त्री के बँगले के ठीक पीछे की ओर है और इसमें पहुँचना अत्यन्त सुगम है। मुख्य शिलाश्रय की लम्बाई १०० फीट से भी अधिक होगी तथा चौड़ाई १० फीट के लगभग। इसमें अधिकांश चित्र छत में ही बने हैं जो संभवतः ६ या ७ फीट से ऊँची नहीं है। (द्रष्टव्य छायाचित्र नं० १५) शिलाश्रय के भीतर से सामने का पूरा दृश्य-विस्तार रमणीक दिखायी देता है। मुख्य गुफा में एक नव स्थापित मन्दिर है जिस में साधु रहते हैं तथा दर्शनार्थी आया करते हैं। चूने से पुती हुई प्रस्तर भित्तियों को ध्यान से देखने पर मुझे लगा कि उस केन्द्रवर्ती गुफा में भी चित्रांकन रहा होगा। बायें हाथ के शिलाश्रयों में भी कुछ ऐसे ही चिह्न यह प्रमाणित करते हैं कि उनमें किसी समय पर्याप्त चित्रण रहा होगा। सभी चित्र गेरुए रंग के हलके गहरे प्रकारों में

अंकित हैं। वड़े पुष्पालंकरण आखेट-दृश्य आदि गहरे रंग में अंकित चित्रों की अपेक्षा कम प्राचीन लगते है। शिलाश्रयों की यह छोटी पंक्ति पृथ्वीतल से इतनी ऊँचाई पर है कि सीढ़ियों से चढ़-कर जाना होता है। मनवाँ भान की टेकरी गुफा मन्दिर की ही दिशा में मील दो मील आगे वढ़कर अपेक्षाकृत अधिक ऊँची पहाड़ी पर है तथा वहाँ से नीचे का जलमय दृश्य भी अधिक भव्य दिखायी देता है। ऊपर तक चढ़ जाने पर एक ओर कई गुफानुमा वड़े-वड़े शिलागार हैं जिनको प्रवेश की ओर से घेरघार कर भवन का रूप दे दिया गया है किन्तु भीतर पहुँचने पर उनका वास्तविक विशाल और निभृत रूप प्रकट होता है तथा भित्तियों पर चित्रांकन के अस्पष्ट चिह्न मिलते हैं। ऊपर एक मन्दिर भी वना दिया गया है। इनके पीछे की ओर झाड़ियों के समीप कई खुले शिलाश्रयों की एक पंक्ति है जिसमें जगह-जगह गेरुए रंग से कुछ गोलाकृतियाँ वनी हैं जो पत्रावली जैसी होकर भी विचित्र अक्षरों का आभास उत्पन्न करती हैं यद्यपि विशेप प्राचीन नहीं लगतीं।

वेतवा का उद्‌गम-स्थान भोपाल के निकटवर्ती स्थानों में विशेप रमणीक है, किन्तु उसका नाम 'भदभदा' उस रमणीकता पर व्यंग्य करता हुआ प्रतीत होता है। जिस गहरे शिलाश्रय के वहाँ होने का पूर्वोल्लेख किया गया है वह 'नर्सरी' के ठीक ऊपर है। मुझे स्वयं आश्चर्य है कि मैंने उसे संध्या समय में भी किसी पथ-प्रदर्शक की सहायता के विना ही खोज लिया। वास्तव में जव मैं प्राय: निराश हो चुका था कि अव इस अँधेरे में आज किसी गुफा या शिलाश्रय को खोजना संभव नही है तभी थोड़ी ऊँचाई पर और चढ़ने पर ऐसा लगा कि यहाँ शिलाश्रय होना संभव है। टार्च की रोशनी से उसकी गहराई में प्रवेश करके खोजवीन शुरु की तो छत में कुछ मानवाकृतियाँ अंकित दिखायी दीं जिन्हें प्रसन्नतापूर्वक ज्यों-त्यों अनुकृत किया। अँधेरा काफी वढ़ गया था अत: अधिक देर तक रुकना उचित न था। मेरे साथ मेरे एक गुजराती मित्र श्री धगट भी थे जो उन दिनों म० प्र० राज्य के 'ट्राइवल वेलफ़ेयर' विभाग से सम्वद्ध थे। नीचे उतरने पर एक स्थानीय व्यक्ति से ज्ञात हुआ कि सामने वेतवा पार कुछ ऐसी गुफाएँ हैं जिनमें कुछ 'मूरतें' वनी हैं परन्तु वहाँ इतनी 'महूकें' हैं कि जाना दुष्कर होगा। सूचना मैंने स्मृति में अंकित करली परन्तु मधुमक्खियों के छत्तों से सुरक्षित 'मूरतें' देखने का अवसर न मिल सका। सामने की ओर केवल एक आशामय दृष्टि-निक्षेप करके ही हमने संतोप कर लिया।

भोपाल में ईटों के भट्ठे के आगे तालाव की ओर दाहिने हाथ जाने पर कुछ शिलाश्रय और मिलते हैं जिनमें से एक शिलाश्रय के समीप इमली का पेड़ है। इसके शोधक पाण्डे-मुकर्जी युग्म ने इसे पँचमढ़ी में मेरे द्वारा आविष्कृत 'इमलीखोह' के अनुरूप 'इमलीखोह' ही नाम दिया है जो वहाँ लोक-प्रसिद्ध नहीं है। दोनों शोधकों सहित इस शिलाश्रय का रूप छाया-चित्र नं० १६ में देखा जा सकता है। भोपाल-क्षेत्र में ही सिहोर जिले के अन्तर्गत शहदकराड़ के निकट कुछ-कुछ श्वेत चित्रमय शिलाश्रय हैं जिनका विवरण सर्वप्रथम वाकणकर ने प्रकाशित किया।

भोपाल से वीस मील दक्षिण की ओर भिन्यापुरा के पास लगभग पचास शिलाश्रय और हैं जिनका प्रथम परिचय भी उन्होंने ही दिया है। लोक में जिसके लिए 'भीम वेटका' नाम प्रचलित है। 'सिहकस लेण' भी इसी में है। यहाँ के शिलाश्रयों की स्थिति और स्वरूप प्रभावशाली और विशाल है। उनमें अनेक प्रकार का आलेखन एवं लेखन मिलता है। नयापुरा के समीप वाकणकर को सात शिलाश्रय लगभग इसी प्रकार के प्राप्त हुए।

धरमपुरी, वरखेड़ा, वैरागढ़ और साँची भोपाल-क्षेत्र में ही स्थित हैं परन्तु इनकी दूरी इतनी है कि इन तक स्वतन्त्र रीति से ही पहुँचा जा सकता है, प्रत्येक को अलग-अलग लक्ष्य मानकर। साँची मैं गया अवश्य पर केवल स्तूप ही देख सका। शिलाश्रयों की स्थिति अज्ञात थी अतः उन तक पहुँचना संभव न हुआ। भोपाल-क्षेत्र नर्मदा के प्रवाह से वनी कटानों एवं वेतवा के तटवर्ती ऊँचे-नीचे पथरीले प्रदेश में प्राकृतिक रीति से वनी गुफाओं और शिलाश्रयों की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। संभावना यही है कि भविष्य में और अधिक चित्रमय स्थल प्रकाश में आयेंगे।

रायसेन-क्षेत्र

श्यामकुमार पाण्डे ने अपनी शोध के अन्तर्गत भोपाल-क्षेत्र के अतिरिक्त रायसेन ज़िले के भू-भाग को भी सम्मिलित कर लिया है, क्योंकि उन्हें वहाँ अनेक शिलाश्रय उपलब्ध हुए हैं। सागर-भोपाल रोड पर भोपाल से २८ मील आने पर रामछज्जा नामक स्थान पड़ता है जहाँ अन्य शिला-चित्रों के साथ गैंडे का आखेट-दृश्य भी अंकित है। इसी प्रकार रायसेन-भोपाल रोड पर रायसेन से सातवें मील पर खरवई नामक ग्राम है जिसके समीप अनेक चित्रमय शिलाश्रय उपलब्ध होते हैं। एक शिलाश्रय की स्थिति छाया-चित्र नं० १७ में देखी जा सकती है। इसमें अधिकांश चित्र छत में बने हैं जिन्हें सुगमतापूर्वक देखा एवं स्पर्श किया जा सकता है। चित्रों की दृष्टि से पूर्वोक्त रामछज्जा और खरवई के अतिरिक्त पुतलीकराड़ नाम से प्रसिद्ध नरवर ग्राम का समीपवर्ती भू-भाग विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इसमें लगभग सौ सचित्र शिलाश्रयों की स्थिति श्री पाण्डे द्वारा पहली बार निर्दिष्ट एवं ज्ञापित की गयी है। नरवर ग्राम ज़िला रायसेन में ही सागर-भोपाल रोड पर, सागर से लगभग ८० मील दूर है। यहाँ सफेद, गहरे लाल, पीले, गेरुए तथा काले रंगों में अनेक चित्र अंकित और आक्षिप्त मिलते हैं। शिलाश्रयों की यह शृंखला प्राकृतिक सौन्दर्य और चित्र-समृद्धि दोनों दृष्टियों से अपनी निजी विशेषता रखती है।

सागर-क्षेत्र

इस क्षेत्र में सवसे पहले आवचन्द की खोज हुई। यह सागर-जवलपुर रोड पर सागर से २२ मील दूर और सागर-कटनी लाइन पर लिधौरा स्टेशन से ४ मील दूर है। यहाँ आखेट-दृश्यों के अतिरिक्त वृक्ष-पूजा, स्वस्तिक-पूजा, नृत्य-वाद्य तथा गृह-जीवन के भी अनेक दृश्य अंकित मिलते हैं। सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व-विभाग द्वारा सन् १९५९-६० में जो

पहला सर्वेक्षण हुआ उसमें आबचन्द के समीप लगभग १२ चित्रांकित शिलाश्रयों की उपलब्धि हुई जिसका उल्लेख 'शोध-कथा' में किया जा चुका है। आबचन्द की तरह ही सागर के एक अन्य समीपवर्ती स्थान नरयावली, जो सागर-बीना लाइन पर १३ मील दूर है, में शताधिक चित्र शिलांकित मिलते हैं। पाण्डे ने 'मध्यप्रदेश संदेश' के जून १९६२ के अंक में नरयावली की स्थिति एवं चित्र-समृद्धि का विवरण प्रकाशित किया है। नरयावली के अश्वारोही तथा अन्य पशु एवं मानवाकृतियाँ एक विशिष्ट चित्रण-शैली का बोध कराती हैं जिससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में चित्रण की स्वतन्त्र परम्परा रही है। शिलाश्रयों के आस-पास के भू-भाग की प्रकृति प्रायः वैसी ही है जैसी आबचन्द के समीपवर्ती क्षेत्र की।

सिद्ध बाबा की गुफा नरयावली के ही समीप है और बुंदेलाबाबा की गुफा भी बहुत दूर नहीं है। गधेरी नाला एक प्राकृतिक जल-प्रवाह है जिसके किनारे की कटानों में अनेक चित्रमय शिलाश्रय हैं। हीरापुर भी सागर-क्षेत्र में ही स्थित है। इनकी सूचना भी मुझे श्यामकुमार पाण्डे द्वारा ही प्राप्त हुई है। सागर-क्षेत्र के अन्तर्गत अभी और ऐसे शिलाश्रय उपलब्ध होने की पूरी संभावना है जिनमें शिला-चित्रों का अंकन हो।

रीवाँ-पन्ना-छतरपुर-क्षेत्र

कौशलकिशोर जड़िया ने सर्वप्रथम 'मध्यप्रदेश संदेश' के सितम्बर १९६२ के अंक में पन्ना के समीपवर्ती क्षेत्र में सचित्र गुफाओं और शिलाश्रयों की उपलब्धि का विवरण प्रकाशित किया है। 'लिंक' के ३ फरवरी १९६३ के अंक में बिशन कपूर द्वारा इस प्रथम शोधक का नाम के० पी० जंडिया (K. P. Jandia) दिया गया है। रीवां-पन्ना के ज़िलों तक फैली हुई विंध्य-पर्वत श्रेणियों में स्वाभाविक रूप से विनिर्मित गुफाओं एवं शिलाश्रयों में, विशेषतः जो जलाशयों या जलधाराओं के समीप हैं, अनेक प्रकार का चित्रांकन मिलता है जिसमें आखेट-दृश्यों के अतिरिक्त अनेक सामान्य-असामान्य पशुओं का समावेश है। गैंडों के तो अनेक चित्र मिलते ही हैं साथ ही 'लिंक' वाले विवरण में जिराफ़ के चित्रण की बात भी लिखी है जो संदेहास्पद ही हो सकती है। एस० आर० राव, जो राजकीय पुरातत्त्व-विभाग के उत्तर भारतीय सर्वेक्षण-वृत्त के अधिकारी हैं, ने भी इस क्षेत्र के कतिपय शिलाश्रयों का निरीक्षण किया है। अश्वारोहण, नृत्य-वाद्य आदि विषय भी चित्रित मिलते है। सिल्वेरार्ड के बाँदा-क्षेत्र विषयक लेख में जिन स्थानों का उल्लेख है उनमें मात्र 'करपटिया' ही एक ऐसा है जो पन्ना-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है तथा मानिकपुर रेलवे स्टेशन से १२ मील दक्षिण-पूर्व पड़ता है। यह चँवरी वन-विभाग के डाक-बँगले से डेढ़ मील दक्षिण की ओर है। यहाँ अनेक शिला-चित्र हैं। प्रथम शोधक के कथनानुसार इस क्षेत्र में लगभग ४० शिलाश्रय हैं जिनमें एक गुफाकार है जिसकी गहराई ३०० फीट से कम नहीं है। पाण्डे ने पन्ना-छतरपुर-क्षेत्र में नौगाँव के समीप देवरा की गुफाओं में चित्रांकन लक्षित किया है। संभव है यह गुफाएँ पूर्वोक्त शिलाश्रयों की शृंखला में ही आती हों। मुझे

अपने मित्र श्री विद्यानिवास मिश्र द्वारा रीवाँ के पर्वतीय क्षेत्र में भी कतिपय सचित्र गुफाओं की स्थिति की सूचना मिली है जिन्हें उन्होंने उस समय स्वयं देखा या जाना था जब वे रीवाँ राज्य के सूचना-विभाग से सम्बद्ध थे। इस क्षेत्र में अभी विधिवत् सचित्र शिलाश्रयों की खोज होना आवश्यक है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि यहाँ के शिला-चित्रों द्वारा प्रागैतिहासिक काल के अज्ञात जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़े और पशु-चित्रों से सम्बद्ध कुछ समस्याओं का समाधान भी हो सके, पर यह क्षेत्र भी कम दुर्गम नहीं है।

कटनी-क्षेत्र और नरसिंहपुर-क्षेत्र

इन क्षेत्रों में प्राप्त शिला-चित्रों के विषय का ज्ञान अभी सूचना के स्तर तक ही सीमित है। कोई विस्तृत विवरण प्रकाशित रूप में मेरे देखने में नहीं आया और न मैं स्वयं सम्बद्ध शिलाश्रयों को देख सका। जबलपुर ज़िले में स्थित कटनी के पश्चिमी भाग में नगर से २ मील दूर एक शिलाश्रय है जिसमें सफ़ेद रंग से चित्र अंकित मिलते हैं। यह सूचना १९५६-५७ की इं० आ० में वाकणकर ने मध्यप्रदेश के शिलाश्रयों की खोज के प्रति संक्षिप्त विवरण में दी है। पाण्डे द्वारा मौखिक रीति से उस स्थान का नाम बजरंग मंदिर ज्ञात हुआ। नरसिंहपुर-क्षेत्र के 'बिजौरी' नामक स्थान पर सचित्र शिलाश्रय होने की सूचना मुझे पाण्डे द्वारा ही प्राप्त हुई है। मध्यप्रदेश के पूर्वोक्त विशाल क्षेत्रों के समकक्ष इन्हें क्षेत्र कहना भी वस्तुतः उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इनमें एक ही एक स्थल से शिला-चित्रों की उपलब्धि हुई है और शिलाश्रयों की संख्या भी अभी स्वल्प ही है। फिर भी अन्य क्षेत्रों से पृथक् स्थिति निर्दिष्ट करने के भाव से इन्हें स्वतन्त्र क्षेत्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सम्भव है भावी शोध मेरे इस कार्य के औचित्य को नये शिला-चित्रों की खोज द्वारा सिद्ध कर दे।

ग्वालियर-क्षेत्र और चम्बलघाटी-क्षेत्र

इन दोनों क्षेत्रों में शिला-चित्रों की खोज का एकमात्र श्रेय वी० एस० वाकणकर को है। उन्होंने अपनी सहज शोध-वृत्ति से प्रेरित होकर ग्वालियर और चम्बलघाटी के भूभागों में स्थित बहुसंख्यक शिलाश्रय खोज निकाले तथा उनके विषय में सचित्र विवरण भी प्रकाशित किये।

ग्वालियर से ४० मील दक्षिण की ओर शिवपुरी ज़िले में चोरपुरा नामक स्थान के समीप १० से अधिक ऐसे शिलाश्रय लक्षित हुए हैं जिनमें आलेखन और लेखन दोनों ही उपलब्ध होते हैं। शोध-कथा में इसका निर्देश किया जा चुका है। 'दवूकेन कारितम्' जो ब्राह्मी अक्षरों में अंकित मिलता है, इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि इस क्षेत्र में गुफा-चित्रों की परम्परा लेखन-युग तक चलती रही। चित्रकार का नाम अंकित मिलना और भी असाधारण है। ग्वालियर की नगर-परिधि के निकट की पहाड़ी में ही एक चित्रमय शिलाश्रय वाकणकर ने देखा जिससे सिद्ध होता है कि चित्रण का क्षेत्र मीलों तक व्याप्त था। निश्चय ही ऐसे क्षेत्र में

और अधिक शिलाश्रय मिलने की सम्भावना है। ग्वालियर से ४१ मील पर टिकला है जो कंकाली देवी के पर्वतस्थ मंदिर के समीप एक ग्राम है। मंदिर स्वयं शिलाश्रय पर वनाया गया है। यहाँ द्वितीय शती ई० पू० के अभिलेख भी मिलते हैं। जिला मन्दसोर में चम्बल नदी की घाटी में रामपुरा-भानपुरा रोड पर स्थित मोड़ी नामक ग्राम के चारों ओर लगभग ३० शिलाश्रयों का विशालतम समूह है जिसमें विविध प्रकार के चित्र अंकित मिलते हैं। इस समूह के अतिरिक्त छिवड़ा नाला तथा सीताखर्ड़ी नामक दो शिलाश्रय समूह और हैं। इनकी स्थिति भानपुरा के समीपवर्ती हिंगलाजगढ़ के आसपास है। चित्रांकन अधिकतर गँहरे लाल या गेरुए रंग में मिलता है। सीताखर्ड़ी में प्राप्त आकल्पन और प्रतीक-चित्रण विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। छिवड़ा नाला मे आलेखन के अनेक स्तर आक्षिप्त मिलते हैं जिनमें विविध प्रकार के पशु-पक्षियों तथा अन्य जीवों की आकृतियाँ अंकित है। आखेट-दृश्य, युद्ध-दृश्य तथा अन्य अनेक सजीव आकृतियों का चित्रण भित्तियों और छतों में सर्वत्र मिलता है। चम्बलघाटी का क्षेत्र दुर्गम, झाड़ियाँ गहन और भूमि काफी ऊँची-नीची सतहों, गुहा-गह्वरों से भरी मिलती है। इस क्षेत्र के शिलाश्रय और गुफ़ाएँ गुह्यता और विशालता दोनों ही दृष्टियों से विशिष्ट एवं अप्रतिम कही जा सकती हैं।

उत्तरप्रदेश के शिलाश्रय

बाँदा-क्षेत्र

बाँदा-क्षेत्र प्रान्त-विभाजन की दृष्टि से यद्यपि उत्तरप्रदेश में आता है परन्तु विंध्य के विस्तार का अंग होने के कारण उसकी भौगोलिक समरूपता मध्यप्रदेश से ही अधिक दिखायी देती है। इस क्षेत्र में शिला-चित्रों की सर्वप्रथम खोज सिल्वेराड ने की जिसका महत्त्व शोध-कथा में निर्दिष्ट किया जा चुका है। उन्होने चित्रमय शिलाश्रयों के निकटवर्ती सात स्थानों का विवरण दिया है। पन्ना-क्षेत्र में आनेवाली करपटिया को छोड़कर शेष ६ स्थानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. **सरहत**—यह इलाहाबाद-जबलपुर रेलवे लाइन पर स्थित मानिकपुर स्टेशन से उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग डेढ़ मील दूरी पर है और यहाँ एक पहाड़ी टीले के ऊपरी भाग में शिला-चित्र अंकित मिलते है। अश्वारोहियों के समूहांकन के अतिरिक्त समीप ही कुछ अधिक असुरक्षित स्थान पर एक हाथी का चित्र है तथा साँभर का आखेट करता हुआ एक धनुर्धर शिकारी भी चित्रित है। इसके दक्षिण-पूर्व की ओर कुछ ही दूर पर एक और अस्पष्ट चित्र-समूह है जिसमें एक अश्वारोही तथा कुछ अन्य आकृतियाँ आलिखित हैं।

२. **मलवा**—गढ़रामपुर ग्राम से ३-४ मील दक्षिण-पूर्व बदौसा रेलवे स्टेशन से लगभग १६ मील

पर तथा पाथरकछार स्टेट की पुरानी सीमा के समीप मलवा स्थित है। यहाँ की अरी बिल्कुल खड़ी नहीं है और चित्र शीर्ष भाग के ठीक नीचे हैं। इनमें मानवाकृतियों के साथ पशु-अंकन भी मिलते हैं पर उनके समूह-सम्बन्ध का सन्दर्भ स्पष्ट नहीं होता। कुछ चित्र कृपि-सभ्यता की विकसित अवस्था के द्योतक हैं।

३. **कुरियाकुंड**—यह स्थान कठौता ममनियाँ मौज़े में बस्ती से ३ मील दक्षिण-पूर्व तथा मानिकपुर रेलवे स्टेशन से १२ मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। घाटी की दूसरी कटान के सबसे ऊपरी भाग में जो अरी है उसी पर चित्र अंकित हैं। इसका विस्तार रानीपुर-कल्याणगढ़ की ओर तक जाता है। चित्र में साँभर का पीछा करते हुए अनेक अश्वारोही प्रदर्शित हैं।

४. **अमवाँ**—यह गाँव पन्ना-क्षेत्र में पड़ता है परन्तु चित्रांकन इसके तीन मील उत्तर की ओर है। यह स्थल कल्याणपुर से लगभग ४ मील और मानिकपुर रेलवे स्टेशन से करीब ११ मील दक्षिण की ओर है।

५. **उल्दन**—मौज़ा उल्दन में रानीपुर-कल्याणगढ़ से कोई २ मील दक्षिण-पश्चिम तथा मानिकपुर रेलवे स्टेशन से ८ या ९ मील दक्षिण-पूर्व बारासिंहा घाटी के समीप की अरी पर अनेक चित्र अंकित मिलते हैं।

६. **बरगढ़**—बरगढ़ रेलवे स्टेशन से ८ या १० मील की दूरी पर दक्षिण की ओर वाली पहाड़ी पर कुछ और चित्र अंकित मिलते हैं।

अन्तिम तीन स्थान सिल्वेराड ने स्वयं नहीं देखे थे किन्तु उनका विवरण ऐसा दिया गया है कि उन्हें कोई शोधक चाहे तो देख सकता है। उनकी शोध के परिणामस्वरूप प्रकाश में आये उक्त स्थानों के अतिरिक्त बाद में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा इस क्षेत्र में कार्य नहीं हुआ। चित्रकूट की हनुमानधारा के समीपवर्ती शिलाश्रयों में चित्र हैं कॉकबर्न के लेख से ऐसी सूचना पाकर मैं वहाँ गया परन्तु पर्याप्त श्रम करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। वहाँ से लघु पाषाणास्त्र विपुल संख्या में प्राप्त होते हैं अतः संभावना यही है कि चित्र भी कहीं-न-कहीं लक्षित हों। सिल्वेराड से पूर्व कॉकबर्न ने अवश्य दो और स्थान बाँदा ज़िले में ऐसे देखे थे जहाँ चित्रांकन मिलता था, उनके नाम हैं मर्कंडी और मँझावन। इन स्थानों तक बड़ी कठिन खोज के बाद उनका पहुँचना हो सका। एक चित्र-समूह जो उन्हें विशेष आकर्षक लगा था यह अलभ्य स्थान में १०० फीट ऊँची कटान पर था जिसका निचला भाग टूटकर गिर गया था। दूसरा चित्र-समूह भी कठिनाई से ही देखा जा सका। कॉकबर्न ने इलाहाबाद ज़िले के खैरागढ़ परगने के दक्षिणी भाग में भी एक चित्रमय गुफा के अस्तित्व की सूचना दी है परन्तु उसके विषय में भी परवर्ती शोधकों द्वारा कोई नया प्रकाश नहीं डाला जा सका। उत्तरप्रदेश में फतहपुर सीकरी के समीप की पहाड़ियों में गुफा-चित्रों की प्राप्ति अभी सूचना तक ही सीमित है।

भारत का मानचित्र
शिला-चित्रों से सम्बद्ध क्षेत्रों का प्रदर्शन
पैमाना
100 50 0 100 200 300 400
अफगानिस्तान
काफिरिस्तान
उत्तर पश्चिम-क्षेत्र
पश्चिमी पाकिस्तान
सिंध नदी
अंश-विस्तार
मिर्ज़ापुर-क्षेत्र
मिर्ज़ापुर
नेपाल
भूटान
पूर्वी पाकिस्तान
बर्मा
भरतपुर
फतेहपुर सीकरी
राजस्थान-क्षेत्र
ग्वालियर-क्षेत्र
शिवपुरी
मंदसोर
बिहार-क्षेत्र
सागर-क्षेत्र
रायसेन-क्षेत्र
होशंगाबाद-क्षेत्र
नरसिंहपुर-क्षेत्र
आदमगढ़
पंचमढ़ी क्षेत्र
सिंघनपुर
चक्रधरपुर
रायगढ़-क्षेत्र
कबरापहाड़
नर्मदा नदी
सतपुड़ा पर्वत श्रेणियाँ
ताप्ती नदी
बस्तर-क्षेत्र
सुन्दरगढ़
उड़ीसा-क्षेत्र
पिक्लीहल
मस्की
हैदराबाद
पंपा
टेक्कलकोटा
बेलारी
दक्षिण-क्षेत्र
रायसेन-क्षेत्र
खरवई
भोपाल-क्षेत्र
शहदकराड़
बरखेड़ा
भीमबेटका
होशंगाबाद-क्षेत्र
रेहली
बुदनी
नर्मदा
आदमगढ़
अंश-विस्तार
रायसेन, भोपाल,
होशंगाबाद-क्षेत्र
कोटा
भैंसोरगढ़
गाँधी-सागर-बाँध
दर्रा
तारयजी
गुजानपुरा
रेवाल्की
सीतावाड़ी
गगरोण
कँवरा
इन्द्रगढ़
मोड़ी
भानपुरा
झालावाड़
चीबरनाला
अंश-विस्तार : चम्बलघाटी-क्षेत्र

भारतीय शिला-चित्रों की शोध में संलग्न वि० श्री० वाकणकर,
नवज्ञात हाथी टोल नामक शिलाश्रय के समीप

पुरातात्विक दृष्टि से मिर्जापुर-क्षेत्र के शिला-चित्रों का अध्ययन प्रस्तुत
करने वाले शोधक डॉ० राधाकान्त वर्मा, भैंसोर शिलाश्रय के समीप

छायाचित्र—५. मिर्जापुर-क्षेत्र में स्थित विजयगढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग
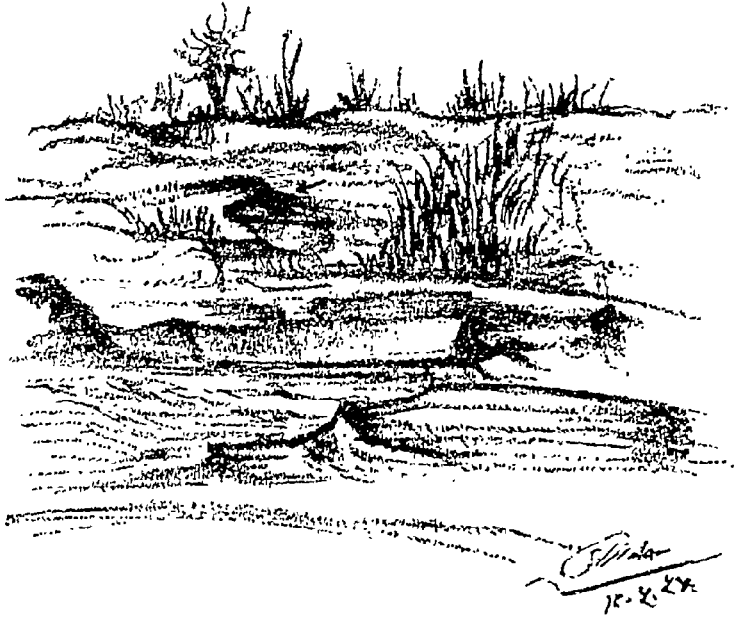
छायाचित्र—६. मिर्जापुर-क्षेत्र : विदम, शिला-चित्रों वाले भाग का दृश्य

छायाचित्र—७.

इसकी सूचना त

छायाचित्र—८. होशंगाबाद (आदमगढ़) का सुविख्यात शिलाश्रय नं० १०। प्रस्तुत चित्र से उसकी भव्य आकृति एवं उच्च स्थिति का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

छायाचित्र—९. होशंगाबाद के शिलाश्रय नं० १० की ऊँचाई का द्योतक दृश्य जिसमें आदमगढ़ क्वेरी तक का विस्तार समाविष्ट है।

छायाचित्र—१०. होशंगाबाद के सर्वप्रसिद्ध शिलाश्रय नं० १० पर अंकित अनेक चित्रण-स्तर जिनमें विविध प्रकार के पशु, योद्धा तथा अश्वारोही अंकित हैं। केन्द्र में अंकित विशालकाय हाथी के शिरोभाग के समीप 'जिराफ-ग्रुप' विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
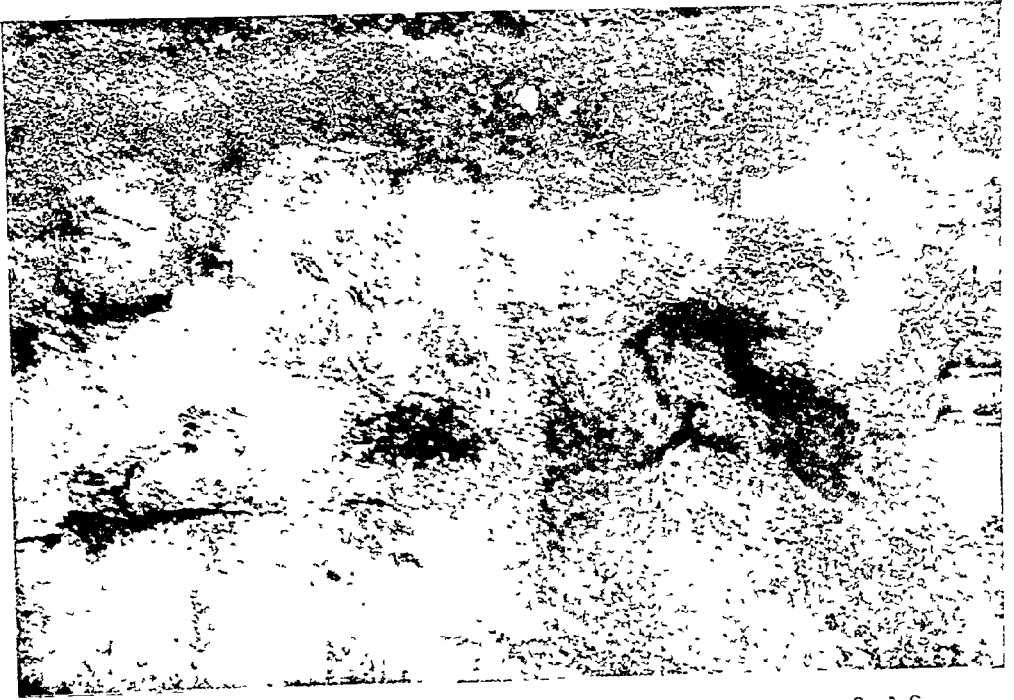
छायाचित्र—११. पचमढ़ी-क्षेत्र की 'डोरोथी डीप' नामक प्रसिद्ध गुफा का चित्रमय भीतरी भाग, जिसमें चित्रण के अनेक स्पष्ट स्तर मिलते हैं। इस चित्र में धनुर्धरों की एक पंक्ति स्पष्ट दिखाई देती है।
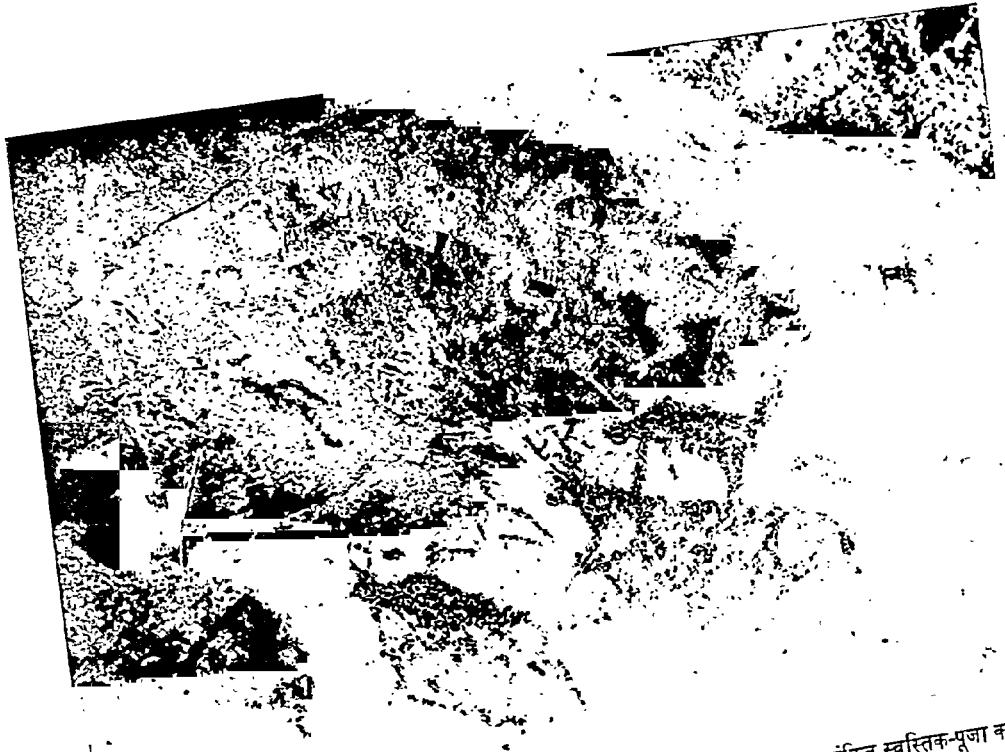
छायाचित्र—१२. पंचमढ़ी-क्षेत्र की 'वनियावेरी' नामक गुफा में गो-पंक्ति के ऊपर अंकित स्वस्तिक-पूजा का महत्त्वपूर्ण दृश्य। इसमें छत्र चढ़ाने के भाव से विनम्र मानवाकृतियों का शैलीबद्ध समूहांकन विशेषतः देखने योग्य है।

छायाचित्र—१३. पचमढ़ी वनियावेरी, स्वस्तिक-पूजा वाले दृश्य के नीचे अंकित गोपंक्ति में एक सगर्भा गाय का चित्र।

छायाचित्र—१४. पंचमढ़ी : वनियावेरी, गो-पंक्ति के नीचे अंकित सुदीर्घ ल घुपशु-पंक्ति।
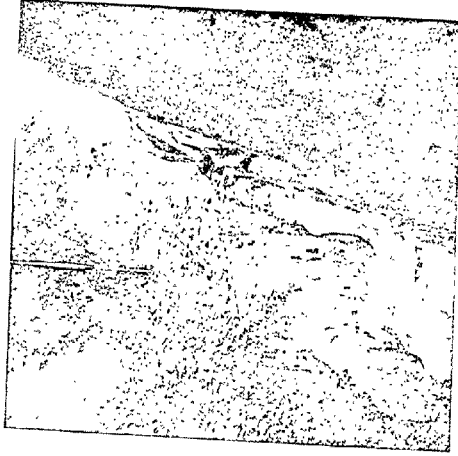
छायाचित्र—१५. भोपाल : गुफा-मंदिर जिसकी लगभग १००X१० फीट आकार की विशालकाय छत में अनेक पुरातन चित्र अंकित हैं। श्यामकुमार पाण्डे एक चित्र की अनुकृति करते हुए प्रदर्शित हैं।

छायाचित्र—१६. गोपाल-क्षेत्र मे ईंटों के भट्टे और तालाब की ओर का एक चित्रागार जिसके नीचे छायाकार सत्येन मुकर्जी (चाचा) तथा शोधक श्यामकुमार पाण्डे खड़े हैं।

छायाचित्र—१७. रायसेन-क्षेत्र (म० प्र०) में खरबई ग्राम के निकट का एक चित्रमय विशाल शिलाश्रय।

चित्र - खंड - १

पिछले पृष्ठ का चित्र

कॉकवर्न द्वारा सन् १८९९ के लेख के साथ प्रकाशित एक रेखानुकृति। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य आखेट-दृश्य, फलक I का चित्र-परिचय।

आखेट-दृश्य

मानव-विकास की जिस आदिम सांस्कृतिक अवस्था से कला का उद्भव सम्बद्ध माना जाता है वह अवस्था आखेट की ही है। जिस सापेक्ष बौद्धिक श्रेष्ठता ने उसे पाषाणास्त्रों के निर्माण-कौशल द्वारा पशुओं पर आधिपत्य प्रदान किया उसी की अभिव्यक्ति रचनात्मक अनुभूति के क्षेत्र में चित्रकला के रूप में हुई।[1] आखेटक ही आदिम चित्रकार था तथा आखेट-पशु एवं आखेट-दृश्य ही उसकी कला के सर्वप्रमुख विषय थे; यह तथ्य अफ्रीका, योरोप तथा आस्ट्रेलिया आदि विश्व के विभिन्न भू-भागों में उपलब्ध प्रागैतिहासिक चित्रों की शोध के आधार पर सामान्यतया स्वीकार किया जा चुका है। अमरनाथ दत्त ने सिंघनपुर के आखेट-दृश्य पर टिप्पणी करते हुए भारतीय संदर्भ में इसी तथ्य का स्मरण करके लिखा—

'Hunting scenes form the subject of the earliest painting or sculpture by prehistoric men, so far known c. f. the Magdalenian paintings of Europe, the Transvaal Petroglyphs etc.'[2]

भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों में प्राप्त बहुसंख्यक आखेट-दृश्य इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि यहाँ भी नितान्त आदिम युग में आखेट-अवस्था से ही चित्रण का आरम्भ हुआ और यहाँ के चित्रकारों की पुरातनतम पीढ़ी आखेटकों की ही थी। ऐण्डर्सन ने प्रकारान्तर से बहुत पहले इसकी ओर अपने लेख में निर्देश किया है।[3]

अनेक योरोपीय विद्वानों द्वारा वहाँ के उपलब्ध आखेट-दृश्यों के आधार पर उनके

---

१. The 'modern' men of the Western European Late Old Stone Age, the men who made and used stone instruments of the general Aurignation 'type' were the first artists. —प्रिहिस्टॉरिक पेन्टिंग, पृष्ठ ४

२. A Few Pre-Historic Relics and The Rock Paintings of Singanpur. —पृष्ठ १०

३. In any case the early painter, as in the present instance was always muchmore at home in the rendering of animals of the chase than of the human form.
—The Rock-Paintings of Singanpur —J BORS, वॉल्यूम IV, पृष्ठ ३०२

तत्कालीन महत्त्व की यातुमूलक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है जिसका अभिप्राय यह है कि पशुओं पर प्रभुत्व एवं आखेट में यातुक (magical) सफलता प्राप्त करने के आदिम विश्वास से ही ऐसे चित्रों का निर्माण उस काल में किया जाता रहा होगा। उदाहरणार्थ···

'This art was executed by artists with first hand experience of chase and its apparent aim was to engender confidence in the hunter and win magical control over intended victims.'[1]

इस प्रकार की व्याख्या को निश्चित रूप से प्रमाणित कर देनेवाला कोई आखेट-दृश्य अभी तक भारतीय गुफाओं या शिलाश्रयों से प्राप्त नहीं हुआ है। भोपाल के एक आखेट-दृश्य में मुखाच्छादन (mask) पहने हुए आखेटकों के चित्रण से (द्रष्टव्य फलक V चित्र सं० १) ऐसा अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि आखेटक इस प्रकार का विश्वास रखने-वाले 'यातुधान' ही रहे होंगे क्योंकि उसके प्रयोग की भी यातुमूलक व्याख्या की गयी है।[2] मुखाच्छादनों का प्रयोग नृत्य आदि के दृश्यों में भी मिलता है अतः निश्चय के साथ कुछ कह पाना कठिन ही है।

भारतीय आखेट-दृश्यों में कृषि-पूर्व जीवन का ही प्रमुख रूप से चित्रण हुआ है। इस युग के मानव की दो मुख्य चिंताएँ थीं। एक हिंस्र पशुओं से आत्मरक्षा की तथा दूसरी जीवन-यापन के लिए खाद्य-सामग्री की निरन्तर उपलब्धि की। आखेट से इन दोनों का समाधान हो जाता था अतः इस काल के मानव-जीवन के मुख्य संघर्ष की अभिव्यक्ति जब चित्रकला में हुई तो यह स्वाभाविक ही था कि आखेट-दृश्यों का विशेषतः आलेखन हो। संघर्षजन्य होने के कारण उनमें कलात्मक शक्ति भी प्रायः अप्रतिम रूप से मिलती है। प्राथमिक मानव-प्राणी की प्रकृति आखेटक की थी और वह ऐसे पशुओं का आखेट अधिक करता था जो उसकी उदर-पूर्ति कर सकें, यह निष्कर्ष योरोप के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अनेक निश्चयात्मक प्रमाणों के आधार पर निकाला है।[3]

भारतीय कला में आद्यैतिहासिक और ऐतिहासिक (Protohistorical and

---

१. THE DAWN OF CIVILIZATION, में 'The Hunters and gatherers of Stone Age' नामक जी० क्लार्क (G. CLARK) द्वारा लिखित लेख, —पृष्ठ ३६

२. *No doubt masks were used in hunting and it may be that their success caused them to be endowed with magic-potency.* —वही

३. *This early human type, who has been given the name of Pithecan-thropus, was a hunter who could find many animals for food.*

—वही, पृष्ठ २१

Historical) दोनों कालों में आखेट के अनेक दृश्यों का चित्रण मिलता है। उदाहरणार्थ सिन्धुघाटी सभ्यता की एक अभिमुद्रा (seal) पर 'महिष के ऊपर भाले का प्रहार करती हुई एक मानवाकृति' अंकित है, तथा भरहुत के एक शिलापट्ट पर शूकर-आखेट का एक दृश्य अंकित है। इन्हें प्रागैतिहासिक आखेट-दृश्यों की परम्परा में भले ही मान लिया जाय परन्तु वातावरण, कल्पना-विधान तथा रचना-शैली में एक ऐसा मूलभूत अन्तर मिलता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।
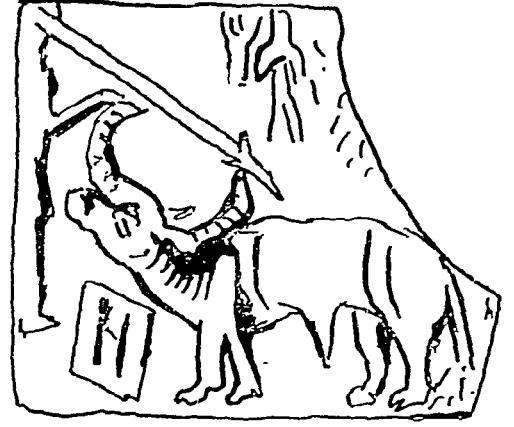
भारतवर्ष में जिन-जिन क्षेत्रों से शिला-चित्र उपलब्ध हुए हैं, उन सब में आखेट-दृश्यों का प्रायः स्वतन्त्र रीति से अंकन मिलता है।

इस खण्ड में जितने आखेट-दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे सम्बद्ध बीस स्थानों के नाम क्षेत्र-क्रम से निम्नलिखित हैं—

- **मिर्ज़ापुर-क्षेत्र**
  - १. भल्डरिया
  - २. घोड़मंगर
  - ३. लिखनिया—१
  - ४. लिखनिया—२
  - ५. सोराहोघाट
  - ६. लोहरी
  - ७. विढम
  - ८. रौंप
  - ९. विजयगढ़
- **रायगढ़-क्षेत्र**
  - १०. सिंघनपुर
  - ११. कवरा पहाड़
- **होशंगाबाद-क्षेत्र**
  - १२. आदमगढ़
- **चम्बलघाटी-क्षेत्र**
  - १३. छिबड़ानाला
- **भोपाल-क्षेत्र**
  - १४. गुफा-मन्दिर
  - १५. धरमपुरी
  - १६. अन्य
- **पंचमढ़ी-क्षेत्र**
  - १७. जम्बूद्वीप
  - १८. माड़ादेव
  - १९. इमली खोह
  - २०. मान्टेरोज़ा

इन दृश्यों में जिन पशुओं का आखेट प्रदर्शित है उनके नाम इस प्रकार हैं--गैंडा, हाथी, सुअर, महिष, वैल, चीता, व्याघ्र, घोड़ा, हिरन, साँभर, वारहसिंगा, साही आदि। इसके अतिरिक्त पक्षियों में मोर और एक अज्ञातनाम वगुले जैसे वड़े पक्षी का चित्रण भी मिलता है। उक्त समस्त पशुओं एवं पक्षियों का आलेखन उनकी स्वाभाविक मुद्राओं एवं प्रत्यक्षीकृत आवयविक विशेषताओं के साथ हुआ है तथा सभी निरपवाद रूप में पार्श्व-दृष्टि (Side view) से या 'एकचश्मी' रूप में चित्रित किये गये हैं। सशक्त वाह्य रेखा से ही उनके स्वरूप का वोध होता है क्यों भीतरी अंश को या तो पूरक शैली से पूरी तरह भर दिया गया है या उसमें भारी रेखाओं से ज्यामितिक आपूरण कर दिया गया है। रेखा-शैली में वने चित्रों का आपूरण अधिक ज्यामितिक और अलंकरण की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है। आखेटक और आखेट, कुछ अपवादों को छोड़कर, दोनों प्रायः एक ही शैली में चित्रित किये गये हैं। कला की दृष्टि से यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे चित्रकार के मन में निहित रूप के आकल्पन की एक निश्चित धारणा व्यक्त होती है। रूपाकारों का संयोजन सामान्यतया व्यवस्थायुक्त और कलात्मक है। कहीं-कहीं उसमें विशेष रचना-शक्ति एवं कल्पना-वैचित्र्य का दर्शन होता है जो प्रातिभ प्रतीत होता है। चम्वल-घाटी में स्थित कनत्रला नामक स्थान पर एक छः पैर वाले अति दीर्घ काल्पनिक जैसे पशु के आखेट का दृश्य अंकित है, जिसकी अनुकृति वाकणकर ने अपने फ्रेंच पत्रक में प्रकाशित की है।

आखेटक कभी निरस्त्र, कभी विना फल वाले और कभी काँटेदार फल (harpoon spear-heads) वाले भाले लिए दिखायी देते हैं। भाले के साथ ढाल का प्रयोग भी मिलता है। धनुष-वाण द्वारा आखेट करने का भी कई दृश्यों में अंकन है। आखेटकों का चित्रण प्रायः गतिमय एवं स्वाभाविक मुद्राओं के साथ हुआ है। उसमें कहीं-कहीं उनकी भावाभिव्यक्ति भी सफलता के साथ हो गयी है। एक दृश्य में आखेटक का ही चित्रण है, आखेट की स्थिति उसी से व्यंजित है। कुछ दृश्यों में जाल का प्रयोग तथा कुछ में अन्य प्रकार का वौद्धिक कौशल भी प्रदर्शित है।
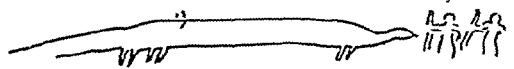
आखेट-दृश्य : चित्र-परिचय

आ० दृ०, फलक I

मिर्जापुर-क्षेत्र में गरई और भल्डरिया नदी के संगम पर स्थित छातु ग्राम के डाक-बँगले से भल्डरिया नदी की ओर तीन मील दूरी पर उस पार वाले एक शिलाश्रय, जिसे मनोरंजन घोप ने शिलाश्रय II की संज्ञा दी है, का यह दूसरा चित्र है। प्रस्तुत छायाचित्र उन्हीं के द्वारा करायी हुई प्रतिकृति पर आधारित है और उनके 'मोनोग्राफ' में इसका प्रयोग भी हुआ है। इस आखेट-दृश्य पर कॉकबर्न के हस्ताक्षर अंकित हैं और इसकी पहली खोज उन्हीं के द्वारा हुई। इस ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही इसे प्रस्तुत आखेट-दृश्यों में सबसे पहले स्थान दिया गया है अन्यथा पुरातनता की दृष्टि से यह सिंघनपुर वाले, 'फलक II' के रूप में अगले पृष्ठ पर मुद्रित, दृश्य के बाद आता है क्योंकि इसमें फलयुक्त भाले के अतिरिक्त बाण का भी प्रयोग मिलता है जो सम्भवत: परवर्ती काल का द्योतक है। कॉकबर्न ने इसकी छोटी-सी रेखानुकृति मात्र प्रकाशित की जिसे इस 'खण्ड' के आरम्भिक पृष्ठ पर समाविष्ट कर लिया गया है। उन्होंने इसका परिचय इस रूप में दिया है--

'बारहसिंगों (GONR STAG) पर भाले का प्रहार करता हुआ आदमी। पशु के गले में एक तीर अटका हुआ है। मूल-चित्र में शिकार का पीछा करते हुए कुत्ते भी चित्रित हैं। भाले का अग्रभाग ताँबे या लोहे में से किसी भी धातु का हो सकता है। इस जाति के बारहसिंगे अब चित्रित स्थल के आसपास नहीं पाये जाते। वे २०० मील दूर दक्षिणी भाग में अल्पसंख्या में मिलते हैं।

आ० दृ०, फलक II

रायगढ़ क्षेत्र में स्थित सिंघनपुर के शिलाश्रय पर आलिखित प्रस्तर-युगीन सुविख्यात आखेट-दृश्य जिसे ऐलन हॉटन ब्रॉड्रिक की 'प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग' नामक पुस्तक में समाविष्ट तीन भारतीय शिलाचित्रों में प्रथम स्थान दिया गया है तथा जिसको मनोरंजन घोप के 'मोनोग्राफ' में भी पर्याप्त महत्त्व के साथ प्रस्तुत किया गया है। इससे भी पूर्व लिखित

अमरनाथ दत्त की 'फ्यू प्रिहिस्टॉरिक रेलिक्स ऐण्ड रॉक पेन्टिंग्स ऑफ सिंघनपुर' नामक पुस्तक में प्लेट नं० VII के प्रथम चित्र के रूप में इसका प्रकाशन हुआ है। इसकी सर्वप्रथम खोज १९१० ई० में सी० डवल्यू० ऐण्डर्सन ने की तथा अपने लेख के साथ इस चित्र की अनेक मानवाकृतियों का प्रकाशन भी किया।

एक विशालकाय महिष के आखेट का यह समूहांकन भारतीय शिलाश्रयों पर अंकित अनेक आखेट-दृश्यों में प्राचीनता और कलात्मक विन्यास दोनों दृष्टियों से कदाचित् सर्वाधिक महत्त्व रखता है। इसमें आखेटक केवल भालों का प्रयोग करते हुए चित्रित हैं जो धनुर्ज्ञान से पूर्व की नितान्त आदिम अवस्था का द्योतक है। उनकी गतिमय मुद्राएँ अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। महिष अवश्य विजड़ित-सा चित्रित है किन्तु उसके पिछले पैरों के पास कुछ भिन्न शैली में अंकित एक अन्य लघु आखेट-दृश्य का पशु वन्य शूकर पर्याप्त सजीव मुद्रा में चित्रित है। उसके सामने की स्वल्प मानवाकृति भी वैसी ही सजीव है। चित्र के निचले और दाईं ओर मध्य भाग में अंकित अन्य आखेटक, मूल आखेट-दृश्य के संपुंजन से, कुछ बाहर दिखायी देते हैं। नीचे वाली आखेटक-पंक्ति में सभी सशस्त्र हैं। प्रस्तुत छायाचित्र घोष द्वारा करायी गयी प्रतिकृति पर आधारित है।

आ० दृ०, फलक III

चित्र सं०—१.

बायीं ओर फलक II पर मुद्रित सिंघनपुर के प्रमुखतम आखेट-दृश्य का एक विभिन्न अनुकृति पर आधारित अंश-विस्तार (detail) जिसमें दृश्य का मुख्य भाग प्रदर्शित है। इसमें विशालकाय महिष तथा उसके समीप चित्रित वन्य शूकर दोनों के आखेट का स्वरूप पूरी स्पष्टता से लक्षित होता है; विशेषतः मानवाकृतियों की मुद्राएँ। अन्य बातें फलक II के परिचय में निर्दिष्ट की जा चुकी हैं।

यह चित्र ऐण्डर्सन द्वारा की हुई उस अनुकृति पर आधारित है जिसका प्रकाशन JBORS, Vol. IV. में सर्वप्रथम १९१८ ई० में हुआ था।

चित्र सं०—२.

फलक II के पूर्वोक्त आखेट-दृश्य का ही एक अन्य अंश-विस्तार जिसमें मूल चित्र के निचले भाग में चित्रित सशस्त्र एवं गतिशील मानवाकृतियाँ विशेष रूप से प्रदर्शित हैं। इनकी गति मुख्य दृश्य में चित्रित आखेटकों की विपरीत दिशा में है जिससे यह अंश उससे सीधे सम्बद्ध नहीं लगता। आकृतियों की पंक्तिवद्ध गति में एक लयात्मकता भी प्रतीत होती है। यह भी ऐण्डर्सन की अनुकृति पर आधारित है।

आ० दृ०, फलक IV

चित्र सं०—१.

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में विजयगढ़ दुर्ग के समीप स्थित घोड़मंगर (Ghormangur or horse cave) में गेरुए रंग से पूरक शैली में अंकित गैंडे के शिकार का एक महत्त्वपूर्ण दृश्य। कॉकबर्न ने मूलचित्र की रेखानुकृति को ('JASB, Vol. lii, part II, No. 1—1883') में अपने भारतीय गैंडे (Rhinoceros Indicus) से सम्बद्ध लेख के साथ प्रथम बार प्रकाशित कराया। प्रस्तुत चित्र उसी पर आधारित है। कॉकबर्न को गैंडे के आखेट-दृश्यों एवं चित्रों से युक्त अन्य अनेक गुफाएँ रौंप से लेकर विजयगढ़ तक के विस्तार में देखने को मिलीं। विजयगढ़ की 'हरनी-हरना' नामक गुफा में प्राय: इसी प्रकार छ: आदमी काँटेदार भालों (harpoon spears) से गैंडे का आखेट करते हुए चित्रित हैं। गैंडे के चित्रित रूप को देखकर पहले कॉकबर्न को भ्रम हुआ कि चित्रकार ने गलती से सुअर का दाँत ऊपर की ओर बना दिया है परन्तु सुअर के अनेक सही चित्र देखने पर उन्हें अपने भ्रम का बोध हुआ। चित्र में अंकित भालों के विशिष्ट रूप ने ही कॉकबर्न को सबसे अधिक आकर्षित किया और बहुत खोजबीन के बाद उन्होंने यह निश्चित धारणा बनायी कि यह भाले धातु-विनिर्मित न होकर लकड़ी और पत्थर के योग से बने प्रस्तर-युगीन भाले हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में प्रस्तर-युग की अन्तिम अवधि १०वीं शती ई० तक मानी। जहाँ तक प्रस्तुत चित्र के रचना-काल का प्रश्न है, कॉकबर्न ने बाबर की एक जीवनी (Erskine's Baber) के प्रमाण से प्रेरित होकर इसे ३०० वर्ष से भी कम पुराना माना है जो अब नितान्त हास्यास्पद प्रतीत होता है। यह चित्र आखेटकों की वेशभूषा तथा आयुधों के स्वरूप के आधार पर सहज ही नवीन प्रस्तर-युग (Neolithic Age) से सम्बद्ध किया जा सकता है जिसका अर्थ होगा कि यह कई सहस्राब्दियों पूर्व की रचना है। कॉकबर्न ने दायीं ओर से दूसरे स्थान पर आने वाले आखेटक को निर्वसन माना है जैसा कि चित्र से लगता है। चित्र में गैंडे का रूप-विन्यास एवं आपूरण-शैली, आखेटकों की आघात-मुद्राएँ तथा सींग के प्रहार से ऊपर उछले निरस्त्र आदमी की स्थिति विशेष ध्यान आकृष्ट करती हैं। प्रकाशित आखेट-दृश्यों में यह चित्र अद्वितीय है।

चित्र सं०—२

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में स्थित कंडाकोट पहाड़ के समीप की लिखनियां नामक गुफा में दायीं ओर भीतरी भाग में गहरे गेरुए रंग से अंकित साँभर के आखेट का दृश्य। इसकी सर्व-प्रथम खोज का श्रेय भी कॉकबर्न को है। उन्होंने सन् १८९९ के JRAS में इसे रेखानुकृत करके

पहली बार प्रकाशित कराया। चित्र का परिचय देते हुए उन्होंने इसके काँटेदार भाले की चित्रण-शैली की आस्ट्रेलिया के आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त शैली से तुलना की। शिकारी के सामने उन्होंने पत्तियों की आज जैसी प्रयोग में आने वाली टट्टी के खड़े होने की सम्भावना प्रकट की है जिसका कोई आभास न तो मुझे उनके द्वारा अनुकृत चित्र में और न मूल गुफा-चित्र में ही मिला। उनकी अनुकृति से प्रस्तुत अनुकृति में प्रदर्शित आखेटक की आकृति में थोड़ा अन्तर दिखाई देता है (द्र० इसी खण्ड का आरंभिक पृष्ठ)। प्रस्तुत फलक के चित्र सं० १ के प्रसंग में निर्दिष्ट लेख में भी पृ० ६२ पर उन्होंने इस चित्र का स्मरण भाले की आकृति के प्रसंग में किया है। इसमें भाले के मुख्य फल के इधर-उधर नौ-नौ काँटे चित्रित हैं जिसके कारण आयुध का रूप विशिष्ट और अति प्राचीन प्रतीत होता है। भाला धातु-विनिर्मित न होकर लकड़ी और पत्थर का बना लगता है। इसी आधार पर प्रस्तुत चित्र नवीन प्रस्तर-युग से सम्बद्ध माना जा सकता है। चित्र में आखेटक साँभर के मर्मस्थल पर सामने से आघात करता हुआ अंकित है किन्तु चित्रण में गति एवं शक्ति का आभास नहीं होता है।

आ० दृ०, फलक V

चित्र सं०—१ तथा २

भोपाल-क्षेत्र के गुफा-मन्दिर में गहरे कत्थई रंग में चित्रित दो प्रस्तरयुगीन आखेट दृश्य। प्रस्तुत चित्र सागर विश्वविद्यालय के श्यामकुमार पाँडे द्वारा की गयी अनुकृतियों पर आधारित हैं। लेखक ने गुफा-मन्दिर में स्वयं जाकर इन चित्रों को देखना चाहा परन्तु वर्षाधिक्य के कारण वे उसके देखने में नहीं आये। इन चित्रों में आखेटक जिस प्रकार के सादे भालों का प्रयोग कर रहे हैं वैसे सिंघनपुर के प्रमुख आखेट-दृश्य में भी चित्रित हैं। ऊपर का चित्र रेखाओं में विनिर्मित है किन्तु नीचे वाले चित्र में रेखाओं के साथ आपूरण का भी प्रयोग हुआ है। पशु रेखाओं में बने हैं, मानवाकृतियाँ पूरक शैली में। ऊपर के चित्र में ज्यामितिकता अधिक है। आखेटकों में प्रत्येक की भंगिमा एवं रूप-विन्यास भिन्न है। शिरोभूषाएँ विचित्र हैं। दाहिनी ओर से दूसरे आखेटक के सिर पर दो सींग जैसी रेखाएँ बनी हैं जिससे अनुमान होता है कि सम्भवतः कुछ आखेटक मुखाच्छादन भी धारण किये हैं और इसी कारण शिरोभूषाएँ कदाचित् इतनी भिन्न बनायी गयी हैं। पशुओं में एक भाला भागते हुए जंगली सुअर की पीठ पर और गिरते हुए हिरन के शीश पर चित्रित है। अंकन सरल होते हुए भी प्रभावशाली एवं सजीव लगता है। नीचे के चित्र में पशुओं को अधिक रेखालंकरण के साथ चित्रित किया गया है। दोनों चित्र यहाँ पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं।

आ० दृ०, फलक VI

चित्र सं०--१ तथा २

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ के समीप सोन नदी के कगार पर स्थित लिखनिया की विशाल किन्तु गहरी सँकरी गुफा में गहरे कत्थई रंग से सर्वथा भिन्न शैलियों में अंकित बारहसिंगे के आखेट के दो दृश्य। पहला प्रवेश-स्थल के ठीक सामने और दूसरा स्वाभाविक रूप से बनी गुफा की भीतरी दीवार के मध्यवर्ती भाग में अंकित है।

चित्र सं० १. प्राचीनतर और अंशतः अस्पष्ट है। उसमें मानवाकृति विशेष कलात्मक अतिरंजना से युक्त लयात्मक शैली-बद्ध रूप में चित्रित है। पशु की भंगिमा स्वाभाविक है, आघात के कारण अगले पैर झुके हुए हैं किन्तु उसका आवयविक संगठन उतना शैलीबद्ध नहीं है जितना आखेटक का जिसके एक हाथ में सुदीर्घ दण्डाकार भाला है जो पशु-शरीर के ऊपर दूसरी ओर तक अंकित है। उसके दूसरे हाथ में भी कुछ लगता है जिसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है। आखेटक की ऐसी सशक्त आकृति अन्य किसी शिला-चित्र में अब तक देखने में नहीं आयी है। लयात्मक विन्यास के साथ शक्तिमत्ता का योग इसे कला की दृष्टि से असाधारण बना देता है।

चित्र सं० २ में भी कुछ असाधारणता है जो उसके ज्यामितिक रूप-विधान के कारण आयी है। पशुओं में ज्यामितिक आपूरण अनेक स्थानों पर मिलता है परन्तु मानवाकृति का भी तदनुरूप विन्यास शैलीगत परिपक्वता का द्योतक है। दोनों चित्र मूल से अनुकृत हैं तथा प्रथम बार प्रकाशित हो रहे हैं।

आ० दृ०, फलक VII

चित्र सं०--१

पँचमढ़ी क्षेत्र के जम्बूद्वीप नाले में स्थित प्रमुख शिलाश्रय के ठीक मध्य में सामने के धुएँ से काले पड़े भाग में हलके मटमैले सफ़ेद रंग में अंकित काँटेदार जीव 'साही'(porcupine) और उसका सामना करता हुआ एक निरस्त्र आदमी। इस चित्र का उल्लेख गॉर्डन के द्वारा नहीं हुआ है और मूल से अनुकृत होकर यह यहाँ पहली बार प्रकाशित हो रहा है। इसी के निचले भाग में कुछ पक्षियों और योद्धाओं का चटक सफेद रंग में आलेखन मिलता है जो सम्भवतः परवर्ती हैं यह भी सम्भव है प्रस्तुत चित्र भी किसी समय वैसे ही चटक रंग में अंकित रहा हो और बाद में धुएँ के कारण मटमैला हो गया हो। इस चित्र में साही की काँटेदार देह का चित्रण अपनी लयात्मक संगति के कारण विशेष आकर्षक हो गया है। काँटों के नुकीलेपन के स्थान पर उनकी अनेकता को विन्यस्त किया गया है। शरीर के

भीतरी भाग का आपूरण भी बाहरी भाग से पूरी शैलीगत संगति रखता है। मानवाकृति अवश्य भिन्न शैली की लगती है।

चित्र सं०—२

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में रावर्ट्सगंज से तीन-चार मील पर स्थित बसौली ग्राम से कुछ ही दूर पर 'ढोकवा महरानी' नाम से विख्यात स्थान के एक शिलाश्रय की छत में अंकित साही के आखेट का रोचक दृश्य, मूल आकार (९"×५")। इं० आॅ० १९५६–५७ में प्रकाशित 'रौंप' के विवरण में बसौली के निकटवर्ती इस शिलाश्रय का उल्लेख हुआ है तथा इस आखेट-दृश्य का निर्देश भी है। इस क्षेत्र से उत्तर प्रस्तर-युग के अस्त्र एवं अस्थि-अवशेष प्राप्त हुए हैं जिससे प्रस्तुत चित्र की प्राचीनता की सम्भावना बढ़ जाती है। चित्र में प्रदर्शित साही उतनी आकर्षक नहीं है जितनी ऊपर वाले चित्र में, परन्तु आखेटकों की मुद्राएँ, त्वरा, आघात-कौशल आदि विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। यह चित्र भी मूल से अनुकृत होकर प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

आ० दृ०, फलक VIII

चित्र सं०—१

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ के समीप स्थित लिखनिया की गुफा में छत के बीच मध्यवर्ती भाग में गेरुए रंग में अंकित महिष-आखेट का एक परवर्ती दृश्य, जिसमें आखेटक ढाल और भाला लेकर एक महिष का सामना कर रहा है। भाले में न तो काँटे प्रदर्शित हैं और न किसी प्रकार का फल ही लक्षित होता है। उसका रूप एक डंडे जैसा है। महिष के भी कान प्रदर्शित नहीं किये गये हैं। आखेटक और आखेट दोनों की आकृतियाँ प्रायः गति रहित और सामान्य कोटि की हैं। चित्र पूरक शैली में विनिर्मित है और इस मुद्रित रूप की अपेक्षा पूरी तरह भरा हुआ है। मूल से अनुकृत होकर प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी-क्षेत्र के नवोपलब्ध इमलीखोह शिलाश्रय के मध्यवर्ती निचले भाग में काले रंग से अंकित महिष आखेट का एक अन्य दृश्य जिसके आलेखन में अधिक शक्ति और गति लक्षित होती है। इस शिलाश्रय पर काले रंग के और भी अनेक मानव एवं पशु चित्रित हैं जो प्रायः अस्पष्ट हो गये हैं। प्रस्तुत चित्र के विषय में भी कुछ समय तक यह लगता रहा कि जैसे यह जमी हुई काई मात्र है जो चित्रवत् प्रतिभासित हो रही है। इसके नीचे के स्तर में लाल और सफेद रंग के कई चित्र भी झलकते दिखायी दे रहे थे। परन्तु काले रंग में अंकित

अन्य आकृतियों को देखकर अन्ततः यही लगा कि यह दृश्य कोई न होकर वास्तव में चित्र ही है। महिष की पीठ पर लगता है जैसे कोई बैठा हुआ हो और उसका ऊपरी भाग मिट गया हो परन्तु यह वस्तु-बोध भ्रामक भी हो सकता है। महिष के सामने वाले आखेटक का रूप प्रायः स्पष्ट है। उसके दाहिने हाथ में कोई आयुध है। यह चित्र भी मूल से अनुकृत होकर प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

आ० दृ० फलक IX

चित्र सं०--१

भोपाल-क्षेत्र में धरमपुरी के शिलाश्रय से श्री वाकणकर द्वारा अनुकृत एवं १४ जून, १९५९ के 'धर्मयुग' में प्रकाशित आखेट-दृश्य की बाह्य रेखानुकृति। इस दृश्य के केन्द्र में एक महिष और उसपर आक्रमण करते हुए तीन आदिम योद्धा चित्रित हैं। बायें किनारे पर दूसरा महिष बना हुआ है जिसके नीचे अंकित अनेक मानवाकृतियों में सबसे पहली आकृति एक धनुर्धर की है। इस महिष के पीछे एक व्यक्ति हाथ में उल्टा बाण पकड़े हुए आगे झुक रहा है। इस व्यक्ति की मुद्रा और सामने धनुर्धर की उपस्थिति से ऐसा लगता है जैसे उसी के छोड़े हुए बाण को इसने हाथ से पकड़ लिया हो। केन्द्र वाले महिष पर ऊपर की ओर से आघात करने वाला आदमी प्रस्तर-युगीन काँटेदार भाला (Harpoon Spear) चला रहा है, शेष दो व्यक्तियों के पास सादे ढंग के भाले हैं। तीनों आक्रमणकर्ताओं की मुद्राएँ सजीव एवं गतिमय हैं। बड़े महिष के पीछे की ओर एक, और नीचे अनेक पशु चित्रित हैं। नीचे वाले पशुओं के शरीर का आपूरण ज्यामितिक रेखाओं द्वारा अलंकृत शैली में हुआ है। दाहिनी ओर भागते हुए निचले पशु के मुँह के पास एक धारीदार लम्बी पट्टी जैसी बनी है जिसका अभिप्राय अस्पष्ट है। महिष वाला मुख्य दृश्य गेरुए लाल रंग से, पूरक शैली में, अंकित है। उसके बाहर चित्रित आकृतियाँ अपेक्षाकृत कुछ बाद की रचना प्रतीत होती हैं। इन्हें अनुकृतिकार ने दृश्य में अन्यत्र से जोड़ दिया है। जैसा इसके फ्रेंच पत्रक में प्रकाशित फि० १४ से प्रकट है।

चित्र सं०--२, ३

चम्बल-घाटी-क्षेत्र में छिबड़ानाला के एक शिलाश्रय पर अंकित एक आखेट-दृश्य जिसमें अनेक परशुधारी योद्धा बैल को वशीभूत करते हुए चित्रित हैं। दोनों चित्रों के आखेटकों की शिरोभूषा एवं मुद्राएँ तथा पशु के शरीर का अलंकृत आपूरण विशेष द्रष्टव्य है। जो आदमी बैल के सींग को फँसाकर उसे खींच रहा है वह अन्य योद्धाओं से बड़ा बनाया गया है। यह बैल के आकार की समानुपातिक संगति की प्रेरणा से भी हो सकता है और उस व्यक्ति को

विशेष महत्ता देने की सहज भावना से भी। चित्र सं० २ में नीचे के दो परशुधारी भिन्न शैली में चित्रित हैं, शेष सारी आकृतियाँ पूरक शैली में बनी हैं। ये दोनों अनुकृतियाँ इं० ऑ० १९५७—५८, के पृ० २८ पर प्रकाशित फि० १५—३, ५ से समाकार प्रतिकृत की गयी हैं। दिसम्बर, १९६१ के 'कल्चरल फोरम' में भी इनका प्रकाशन हो चुका है।

आ० दृ० फलक X

पँचमढ़ी-क्षेत्र की नवोपलब्ध 'इमलीखोह' के शताधिक चित्रों के बीच सफेदी लिए हुए हलके जामुनी रंग में अंकित वैल के आखेट का एक महत्त्वपूर्ण दृश्य, जिसमें पाँच धनुर्धर मिलकर एक वैल को वाण-विद्ध कर रहे हैं। सभी आखेटकों की मुद्राएँ सजीव एवं आकृतियाँ गति-युक्त हैं। उनकी वाण छोड़ने की भंगिमाएँ स्वाभाविक हैं। केवल एक धनुर्धर वैल की पीठ में वाण अड़ाकर छोड़ रहा है जो किंचित् विचित्र प्रतीत होता है। एक अन्य धनुर्धर को वैल ने सींगों के प्रहार से ऊपर उछाल दिया है और उसका धनुष-वाण हाथ से छूट गया है। इसकी स्थिति कुछ वैसी ही है जैसी फलक IV, चित्र सं० १ में गैंडे के सींग से उछले हुए आखेटक की। वह सर्वथा उलटा चित्रित है जवकि यह सीधा ही अंकित किया गया है। कटिवस्त्रधारी अन्य आखेटकों की तरह, उछले हुए और सबसे नीचे वाले आखेटक के शरीर पर कटिवस्त्र-संकेत चित्रित नहीं है। चार तीर वैल के शरीर में छिदे हुए हैं, दो पीछे, एक पीठ में और एक नीचे गर्दन में; केवल उनके पुंखित पिछले भाग वाहर निकले हुए हैं। वैल क्रुद्ध और आघात की मुद्रा में है। इसकी व्यंजना उसकी झुकी हुई गर्दन और उठी हुई पूँछ के आलेखन से विशेष रूप से हो जाती है। पैरों के चित्रण में खुरों और खुरियों का स्पष्ट निरूपण किया गया है जो चित्रकार की विकसित रूप-दृष्टि का परिचायक है। वैल का शारीरिक अंकन पार्श्व-दृष्टि से करते हुए भी उसके दोनों सींग और दोनों कान स्पष्ट प्रदर्शित किये गये हैं, जो सम्मुख-दृष्टि के मिश्रण का परिणाम लगता है। ऐसा दृष्टि-मिश्रण आदिम रूप-चित्रण में प्रायः उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण दृश्य का सम्पुंजन व्यवस्थित और कलात्मक प्रतीत होता है। वैल का आखेट सम्भवतः उस प्रस्तरयुगीन आदिम अवस्था का द्योतक है जव गो-पालन के साथ-साथ वैल का कृषिकार्य में उपयोग आरम्भ नहीं हुआ था। इस आधार पर यह चित्र पर्याप्त प्राचीन कहा जा सकता है। चित्र का निर्माण पूरक शैली में हुआ है। उसकी यह वाह्य रेखानुकृति मूल पर आधारित है और इसका प्रकाशन पहली वार हो रहा है

आ० दृ०, फलक XI

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र में गुफा-जाल के समीप 'पुतरीलेन' के अन्त में स्थित माड़ादेव नामक गुफा की छत में सफेद रंग से पूरक शैली में अंकित एक विशालकाय चीते के आखेट का दृश्य। चीते के समक्ष दो दण्डधारी पुरुष निर्भीक मुद्रा में खड़े हुए हैं। एक पुरुष के साथ एक बालक भी है जिसकी मुद्रा आश्चर्य की है। बालक के ऊपर बनी हुई आकृति का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

दृश्य से लगता है कि चीता आकस्मिक रीति से सामने आ खड़ा हुआ है। चीते के पैरों का आलेखन कुछ असंतुलित होते हुए भी उसकी मुद्रा पर्याप्त सजीव है। चित्रकार ने उसके सभी अंगों को चित्रित किया है। मूल चित्र में उसके महीन-महीन दाँत भी बनाये गये हैं जो गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित इस चित्र में लक्षित नहीं होते हैं। मूल चित्र का आकार बड़ा नहीं है परन्तु महत्त्व की दृष्टि से निस्संदेह भारतीय गुफा-चित्रों में इसका विशिष्ट स्थान है। गॉर्डन ने स्वनिर्धारित शृंखला-क्रम में इसे उत्तर द्वितीय शृंखला (Late II Series) से सम्बद्ध किया है।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी-क्षेत्र के प्रसिद्ध शिलाश्रय माण्टेरोज़ा पर अंकित एक रोचक आखेट-दृश्य जिसमें शेर के सहसा सामने आ जाने से भयाक्रान्त आखेटकों को भागते हुए दिखाया गया है। इसमें आखेटकों की मनस्थिति ऊपर वाले चित्र से सर्वथा विपरीत दिखायी देती है। एक-दो भयातुर पशु भी इस दृश्य में चित्रित हैं। सिंह के समीप वाली आकृति बकरी जैसे छोटे पशु की लगती है जिसे सम्भव है आखेटकों ने आखेट का उपकरण बनाया हो। आकृति के अधिक स्पष्ट न होने के कारण यह अनुमान मात्र ही कहा जा सकता है। प्रस्तुत चित्र यहाँ मूल से अनुकृत होकर प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—३

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के लोहरी नामक स्थान पर अंकित एक शिला-चित्र, जिसमें एक साहसी आदमी हाथ में जलती हुई मशाल लिए हुए बाघ का सामना कर रहा है। आखेटक के हाथ की वस्तु की मशाल के रूप में व्याख्या करने का श्रेय विसेंट स्मिथ को है तथा चित्र की अनुकृति का श्रेय कॉकबर्न को, जिन्होंने १८९९ के JRAS में इसे कैमूर की पहाड़ियों के दो अन्य चित्रों के साथ प्रथम बार प्रकाशित कराया। प्रस्तुत चित्र उसी अनुकृति की प्रतिकृति है। गुफा चित्रों में आकृतियाँ प्रायः पृथक्-पृथक् ही चित्रित मिलती हैं परन्तु इसमें आखेटक और आखेट दोनों का आलेखन एक-दूसरे से मिला-जुला किया गया है, यह इस चित्र की अतिरिक्त विशेषता है। आकृतियों का रेखागत स्पष्टीकरण लगता है अनुकृतिकार के द्वारा

किया गया है। वाह्य रेखानुकृति में यह करना कदाचित् आवश्यक लगा हो।

चित्र सं०—४

रायगढ़-क्षेत्र में स्थित कवरा पहाड़ के विशाल शिलाश्रय पर गेरुए रंग में अंकित एक अन्य रोचक दृश्य जिसमें चीते के सहसा सामने आ जाने से भयभीत आखेटक का आलेखन किंचित् व्यंग्यात्मक ढंग से हुआ है। यह व्यंग्यात्मकता चीते के आलेखन में और भी स्पष्ट है। चीता अपनी पूँछ ऊपर उठाये हुए है और आदमी अपने दोनों हाथ। चीते की आंख, गर्दन की पतली रेखा से जुड़ा सिर और उसके ऊपर नीचे चित्रित दोनों कान इस व्यंग्यात्मकता के द्योतक है। प्रस्तुत चित्र गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित है।

आ० दृ० फलक XII

मिर्ज़ापुर क्षेत्र में छातु ग्राम के समीप स्थित 'लिखनिया' के सुप्रसिद्ध शिलाश्रय पर लाल गेरुए रंग में अंकित जंगली हाथी के आखेट का यह दृश्य मूल से अनुकृत है। यह अनुकृति पहली बार प्रकाशित हो रही है यद्यपि इसके कई छायाचित्र तथा अनुकृतियाँ अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हैं। पूरे दृश्य-विस्तार के लिए लिखनिया का छायाचित्र (नं० ३) द्रष्टव्य है। उस छायाचित्र से इस विशाल आखेट-दृश्य का प्रायः सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस चित्र से आदिम सभ्यता का पर्याप्त विकसित रूप सामने आता है अतएव इसका रचनाकाल प्रस्तरयुग के बहुत बाद का प्रतीत होता है।

आ० दृ० फलक XIII

चित्र सं०—१

मिर्ज़ापुर क्षेत्र में छातु ग्राम और लिखनिया के निकटवर्ती कोहबर नामक स्थान की किनारे की गुफा में गेरुए रंग से अंकित आखेट का एक दृश्य जिसमें एक धनुर्धर तीन भागते हुए पशुओं का पीछा कर रहा है। चित्रकार ने उसके हाथ की रेखा को वाण की रेखा के साथ मिलाकर चित्रित किया है। पिछला पशु ठीक उसके पैरों के नीचे चित्रित है जिससे आरोहण का आभास होता है परन्तु धनुर्धर और इस पशु के आकार में पर्याप्त आनुपातिक असाम्य होने के कारण यह आभास वास्तविकता का निर्देशक न होकर आभास मात्र ही लगता है। उसके आगे वाले, अपेक्षाकृत बड़े आकार के पशु की अगली टाँगें झुकी हुई हैं, यद्यपि शरीर तदनुरूप झुका हुआ चित्रित नहीं है। अगले और पिछले पशु के साम्य से लगता है कि मध्यवर्ती पशु की झुकी हुई मुद्रा का चित्रण रचनाकार को कदाचित् पहले अभीष्ट नहीं रहा परन्तु रचनाक्रम में बाद में उसने वैसा भाव आने पर पैरों को पीछे की ओर मोड़कर बढ़ा दिया है। यों आदिम चित्रों में अनुपात की कल्पना रूपाश्रित कम और भावाश्रित

अधिक रहती है अतएव प्रस्तुत व्याख्या पर बहुत दूर तक आग्रह नहीं किया जा सकता। यह अनुकृति मूल पर आधारित है और प्रथम बार प्रकाशित हो रही है।

चित्र सं०--२

होशंगाबाद क्षेत्र में स्थित आदमगढ़ के शिलाश्रय XI पर गेरुए लाल रंग से अंकित घोड़े के आखेट का दृश्य जिसमें एक धनुर्धर बाण छोड़कर घोड़े को घायल कर रहा है। बाण घोड़े के पिछले पैर में लगा है। आखेट और आखेटक दोनों के पद-विन्यास से गति का आभास होता है परन्तु घोड़े के अगले पैरों की स्थिति अस्वाभाविक लगती है। उसके पेट पर धारियाँ चित्रित हैं जो कलात्मक आपूरण मात्र हैं, कुछ बाण धनुर्धर की ओर सामने से आते हुए चित्रित हैं जिससे अनुमान होता है कि घोड़े के लिए कदाचित् युद्ध भी हो रहा है। प्रस्तुत चित्र मूल से अनुकृत एवं प्रथम बार प्रकाशित है।

आ० दृ० फलक XIV

चित्र सं०--१ तथा २

मिर्ज़ापुर क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ के समीप वाली लिखनिया की गुफा में गेरुए लाल रंग से अंकित हिरन के आखेट के दो दृश्य। छत में अंकित प्रथम दृश्य (चित्र सं० १) में दो आखेटक फंदों के सहारे हिरन को फाँसने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक के हाथ में केवल फंदा है जबकि दूसरा फंदे को लाठी में लगाकर दोनों हाथों से लाठी उठाये हुए है। उसके कंधों के पास से कमर तक खिची रेखाएँ भी दो लटकते हुए हाथों का बोध कराती हैं, अतः संभव है लाठी उठाने वाली कल्पना चित्र बनाते-बनाते बाद में उपजी हो अथवा यह फंदे के लटकते हुए छोर भी हो सकते हैं. पर यह दूरारूढ़ कल्पना लगती है। दोनों आखेटक सजग मुद्रा में खड़े हैं और उनके सामने हिरन भी शंकित मुद्रा में कान उठाये खड़ा है। वस्तु की दृष्टि से तो यह चित्र महत्त्वपूर्ण है ही, रचना-विधान की दृष्टि से भी इसकी महत्ता कम नहीं है। आखेटकों के स्वरूप का चित्रण अधिकतर भरी-पूरी खड़ी रेखाओं में किया गया है। जालों और सिरों के आकार में समानता हिरन के लिए भ्रमवश समीप आ जाने का आधार प्रस्तुत करती है। आगे फलक XIV का दूसरा चित्र इस प्रकार के सचेतन भ्रम-विन्यास का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करता है। शैली की दृष्टि से पशु और आखेटकों के आलेखन में समानता मिलती है जिसका दूसरे दृश्य (चित्र सं० २) में अभाव है। उसमें हिरन पूरक शैली में आलिखित है किन्तु आखेटक रेखा-शैली में बना है। यह भी असंभव नहीं है कि दोनों आकृतियाँ अलग-अलग समय में रची गयी हों और स्थानगत सामीप्य के कारण उनमें आखेट-आखेटक सम्बन्ध प्रतिभासित हो रहा हो। हिरन का पिछला झुका हुआ पैर उसके

खड़े होने की मुद्रा की स्वाभाविकता व्यक्त करता है। आखेटक की दोनों आँखें असमान हैं। यों आँख, नाक का अंकन आदिम चित्रों में बहुत कम मिलता है, इस दृष्टि से इसकी महत्ता स्पष्ट है। एक हाथ अंशतः अस्पष्ट है। आखेटक हल जैसा कोई अस्त्र थामे हुए है। दोनों ही चित्र मूल से अनुकृत होकर प्रथम बार प्रकाशित हो रहे हैं।

आ० दृ०, फलक XV

चित्र सं०—१

होशंगाबाद क्षेत्र में स्थित आदमगढ़ के शिलाश्रय नं० X पर उसके निचले भाग में गेरुए रंग से अंकित आखेट का एक विचित्र दृश्य जिसमें वृक्ष पर आखेटक भाला लिये हुए पत्तियों के बीच छिपने की मुद्रा में चित्रित है। आखेट का आलेखन स्वतन्त्र रीति से नहीं किया गया है परन्तु उसके अस्तित्व का अनुमान आखेटक की मुद्रा से किया जा सकता है। उसके हाथ में जो भाला है उसकी आकृति कौशल पूर्वक ठीक पत्तियों जैसी बनायी गयी है जिससे छिपने का भाव व्यंजित होता है। भाले का फल नीचे की ओर है और वह उसे साधे हुए ऐसे डाल पर खड़ा है जैसे प्रहार के लिए तत्पर हो। इन्हीं सब कारणों से उसे पेड़ पर चढ़ा हुआ लकड़हारा नहीं कहा जा सकता, उसका शिकारी का रूप ही अधिक संगत और सार्थक लगता है। मूल से अनुकृत होकर यह चित्र यहाँ पहली बार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—२

भोपाल-क्षेत्र के धरमपुरी नामक स्थान में शिलाश्रय नं० X पर गेरुए रंग से अंकित हिरन के आखेट का एक अत्यन्त रहस्यमय दृश्य जिसका संदर्भ फलक XIII, चित्र सं० १ के परिचय में दिया जा चुका है। इस दृश्य में हरी पत्तियों के भ्रमवश शिकारी के निकट आ जाने का चित्रण है। आदिम चित्रकार ने मानवाकृति को पत्तियों के सदृश बनाकर अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है। केवल पैरों से ही शिकारी के अस्तित्व का बोध होता है। ऊपरी भाग उस डाल की पत्तियों जैसा है जो वह हिरन को भ्रमित करने के निमित्त सिर में लगाये हुए है। 'टट्टी की ओट से शिकार' करने की यह नितांत प्रारंभिक अवस्था प्रतीत होती है। प्रस्तुत चित्र सागर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पाँडे द्वारा की गयी एक अप्रकाशित अनुकृति पर आधारित है। अतः चित्र के मूल रूप से इसमें कुछ भिन्नता हो सकती है।

आ० दृ०, फलक XVI

चित्र सं०—१ तथा २

पंचमढ़ी-क्षेत्र में स्थित माड़ादेव नामक गुफा के भीतर छत में मटमैले सफेद रंग से

अंकित एक बड़े दृश्य के दो अंश जिनमें पशु-समूह के साथ विभिन्न कालों में विनिर्मित अनेक मानवाकृतियाँ चित्रित मिलती हैं। उनकी मुद्रा हाँके की स्थिति का बोध कराती है। इन चित्रों को सीधी तरह से आखेट-दृश्य नहीं कहा जा सकता। चित्र सं० १ में परवर्ती काल का एक योद्धा ढाल-तलवार लिए आक्रमण करने के लिए सवेग तत्पर है। उसके पीछे एक शिकारी कुत्ता किंचित् गतिशीलता के साथ अंकित है। नीचे एक हाथ उठाये हुए पूर्ववर्ती काल के जटिल शीश वाले व्यक्ति का केवल ऊपरी भाग प्रदर्शित है। मूल चित्र में उसका पूरा अंकन मिलता है।

चित्र सं० २ में एक वैसा ही जटाधारी व्यक्ति, जैसा ऊपर वाले चित्र सं० १ में अंकित है, अपने दोनों हाथ उठाये पशु-समूह के बीच इतनी निर्भयता के साथ खड़ा हुआ है जैसे वह पशुपति हो। परन्तु वास्तव में यह दृश्यांश भी आखेट से सम्बद्ध हाँके की स्थिति का ही परिचय देता है क्योंकि पशु प्रायः भागने की मुद्रा में चित्रित हैं। दाहिनी ओर एक पशु के पिछले पैर बने हैं और बायीं ओर एक गो-जाति के पशु का अगला भाग। ऊपर एक बन्दर और कुत्ते का अधोभाग चित्रित है। बीच में खड़े हुए जटिल शीश व्यक्ति की स्थिति से एक विशेष प्रकार के आदिम वातावरण में संघर्ष करते हुए मानव की शक्ति एवं साहस का आभास मिलता है। उसके हाथों में कोई अस्त्र नहीं है, पर उसकी विशेष मुद्रा से लगता है कि वह निरीह अथवा अशक्त नहीं है।

आ० दृ०, फलक XVII

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र में स्थित माड़ादेव नामक गुफा के ठीक सामने वाले भाग में मटमैले सफेद रंग से चित्रित पशुओं और मानवों की आकृतियाँ, जिनसे आखेट अथवा हाँके का आभास मिलता है। दोनों प्रमुख मानवाकृतियाँ गतिशील तथा आवेगयुक्त मुद्रा में हैं। उनके बाल बिखरे हुए हैं और ऊपर उठे हुए हाथों में सम्भवतः आघात करने के लिए आयुध भी हैं, जिनका पूरा स्वरूप स्पष्ट नहीं है। पहली आकृति पुरुष की, और दूसरी स्त्री की प्रतीत होती है जो कटिवस्त्र भी पहने हुए है। पीछे कुछ अर्धस्पष्ट एवं अपूर्ण अन्य मानवाकृतियाँ भी प्रतिभासित हो रही हैं। बायीं ओर ऊपर एक गाय और नीचे विचित्र-सी पशु-आकृति चित्रित है। यह दूसरी आकृति मूल चित्र में सम्भवतः कुछ बड़ी और लम्बी है। थोड़ा-सा अंतर ऊपर वाली गाय के अनुपात में भी हो सकता है, परन्तु दृश्य का सम्पूर्ण संयोजन लगभग ऐसा ही है। गुफा के अनगढ़ सँकरेपन के कारण अनुकृति करने में सुगमता नहीं रही, इसी से यह अन्तर आ गया है। प्रस्तुत बाह्य रेखानुकृति मूल पर ही आधारित है और प्रथम बार प्रकाशित हो रही है।

चित्र सं०—२

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में विढम नामक प्रसिद्ध स्थान के नवोपलब्ध शिलाश्रय पर एक विस्तृत आखेट-दृश्य का वह अंश, जिसमें दो पशुओं के बीच एक सुगठित शरीर वाला आखेटक दोनों हाथ उठाये हुए खड़ा है। दूसरे पशु की स्थिति का बोध केवल उसकी झबरी पूँछ से ही होता है। हाँके की यह मुद्रा ऊपर वाले चित्र सं० १ से मिलती-जुलती है। अन्तर मुख्यतः यह है कि एक तो इस आखेटक का शरीर निर्वस्त्र है, दूसरे इसके दोनों पैर भीतर की ओर मुड़े चित्रित किये गये हैं, जो आलेखन की दृष्टि से विशेष वैचित्र्यपूर्ण हैं। चित्र मूल से अनुकृत है और एक बार जून '५८ के 'आजकल' में छप चुका है।

आ० दृ०, फलक XVIII

चित्र सं०—१

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ से सोरहोघाट जाने वाले मार्ग पर स्थित एक विशाल शिलाश्रय की छत में गेरुए रंग से अंकित बारहसिंगे के आखेट का एक अत्यन्त आदिम दृश्य, जिसमें एक निरस्त्र आखेटक पशु का पीछा कर रहा है। मूल चित्र इससे भी अधिक सशक्त रेखाओं में विनिर्मित है। दोनों आकृतियों का चित्रण न्यूनतम रेखाओं द्वारा किया गया है। आखेटक के दोनों हाथों और एक पैर में एक-एक अतिरिक्त रेखा जोड़कर उँगलियों का संकेत किया गया है। पैरों की रेखाओं को ऊपर-नीचे तक अलग-अलग ही रहने दिया गया है। बायीं ओर निचले कोने पर जो हाथ की छाप बनी है वह इसी शिलाश्रय पर अंकित है, परन्तु उसका इस चित्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी छापें कोहबर की गुफा में मिलती हैं और इस ओर के शिलाश्रयों पर भी वे अंकित हैं। प्रस्तुत चित्र मूल से अनुकृत होकर प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी क्षेत्र की नवोपलब्ध इमलीखोह में सफेद रंग से अंकित साँभर के आखेट का दृश्य जिसमें पशु धनुष-बाण लेकर पीछा करते हुए आखेटक की ओर, बालों वाली गर्दन मोड़कर, देख रहा है। उसकी यह ग्रीवा-भंग-मुद्रा स्वभाविक एवं आकर्षक है। प्रस्तुत चित्र में आखेटक का स्वरूप आंशिक रूप से ही आ सका है। यह बाह्यानुकृति मूल पर आधारित है और पहली बार यहाँ छप रही है।

आ० दृ०, फलक XIX

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में स्थित विजयगढ़ दुर्ग के निकटवर्ती एक शिलाश्रय पर अंकित दो बारहसिंगे जिनके शरीर की आपूरण-रेखाएँ विशेष ध्यान आकर्षित करती हैं। चित्र के बायें

किनारे पर दो आकृतियाँ चित्रित हैं जिनके विषय में मनोरंजन घोष का कहना है कि छोटी आकृति तो मनुष्य की है परन्तु बड़ी मानवाकृति न होकर बन्दर से सादृश्य रखती है। वास्तव में दूसरी आकृति भी पशु की खाल ओढ़े हुए मानव की प्रतीत होती है। घोष ने छोटी आकृति के हाथ की वस्तु को वृक्ष की डाल कहा है पर वह मुझे काँटेदार भाला 'हार्पून' लगती है। छोटी मानवाकृति के हाथ में वैसा ही काँटेदार भाला (Harpoon Spear) है जैसा कंडाकोट के पास वाली 'लिखनिया' की गुफा के उस चित्र में प्रदर्शित है जिसे कॉकवर्न ने सर्वप्रथम अनुकृत किया था। इस प्रकार के अस्त्र का चित्रण इसके प्रस्तरयुगीन होने का निर्देश करता है। प्रस्तुत छायाचित्र मनोरंजन घोष द्वारा करायी गयी अनुकृति पर आधारित एवं उनके 'मोनोग्राफ' में प्रकाशित है।

आ० दृ०, फलक XX

लिखनिया के हाथी वाले दृश्य (PH–II) के ऊपरी भाग में चित्रित शिकार के अन्य दृश्य। बीच के दृश्य में मयूर से भी बड़े आकार वाले पक्षियों के शिकार का आलेखन है। दाहिने किनारे पर महीन रेखाओं से चौकसी पूरी गयी है जिसका चित्रण प्रतीकात्मक प्रतीत होता है। मनोरंजन घोष ने इसके किसी जटिल प्रकार के जाल होने की सम्भावना व्यक्त की है। यह छायाचित्र उन्हीं के द्वारा बनवायी गयी प्रतिकृति पर आधारित है और इसका प्रयोग उन्होंने अपने 'मोनोग्राफ' में किया है। इस चित्र का परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है—

यह दृश्य बड़ी चिड़ियों के पकड़ने का है। बायीं ओर आदमियों का समूह है जिनमें कुछ पैदल और कुछ घोड़े पर सवार हैं। केन्द्र में अनेक पक्षी हैं तथा दायीं ओर कुछ पक्षी जाल में फँसे दिखायी देते हैं। एकदम दायें किनारे पर रेखाओं में एक ऐसा ढाँचा खड़ा किया गया है जो सम्भव है जटिल ढंग का कोई जाल हो।

उनके 'मोनोग्राफ' में जहाँ यह चित्र छपा है वहाँ त्रुटि से स्थान-निर्देश में सिंघनपुर का नाम छप गया है।

आ० दृ०, फलक XXI

चित्र सं०—१

सिंघनपुर के शिलाचित्रों में से श्री अमरनाथ दत्त द्वारा छायानुकृत एक रोचक दृश्य जिसमें एक व्यक्ति विचित्र प्रकार के पक्षी जैसे एक द्विपद जीव को हाथ से पकड़े हुए लिए जा रहा है और उसके पीछे एक अन्य सर्पाकार लम्बी आकृति खड़ी है। दत्त महोदय ने पहली

आकृति को नग्न स्त्री, दूसरी को ग्लिप्टोडन (Glyptodon) नामक एक अप्राप्य प्रागैतिहासिक पशु और तीसरी को पूँछ के सहारे खड़ा हुआ साँप बताया है। उनकी व्याख्या संतोष देने के स्थान पर कुतूहल उत्पन्न करके चित्र को रहस्यमय और रोचक बना देती है। पहली आकृति पुरुष की भी हो सकती है। इमलीखोह (पँचमढ़ी-क्षेत्र) में इसी प्रकार की शिरोभूषा से युक्त एक धनुर्धर का चित्र मिला है। द्विपद पशु, पक्षी के मुखाच्छादन से युक्त मानव हो ऐसा सोचना भी असंगत कल्पना नहीं है। सृजनशील मस्तिष्क के लिए सर्पाकार आकृति भी किसी मानवाकृति का अवशिष्टांश हो सकती है, जिसमें एक हाथ और एक पैर मात्र धड़ से जुड़ा हुआ बच रहा हो। मूलचित्र के सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण से भी किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सका। प्रस्तुत चित्र श्री दत्त की पुस्तक प्रि० रे० रॉ० सिं० में प्रकाशित छायानुकृति पर आधारित है।

चित्र सं०—२

मिर्जापुर-क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ के समीप वाली लिखनिया की गुफा में दाहिने किनारे पर गेरुए रंग से अंकित एक बड़े पक्षी के आखेट का दृश्य, जिसमें दो आखेटक पक्षी की ओर आते हुए चित्रित हैं। पहले आखेटक के दोनों हाथ सम्भवतः पक्षी को देखकर प्रसन्नता की भावना से फैले हुए हैं, उनमें कोई अस्त्र नहीं है जब कि दूसरा आखेटक एक हाथ, ध्यान से देखने की मुद्रा में, सिर पर रक्खे है तथा दूसरे में कोई दंडाकार अस्त्र लिये है। दोनों आखेटक वस्त्रधारी हैं और उनके कटि-बन्धन गति के कारण इधर-उधर उठे हुए चित्रित हैं। चित्रकार ने उँगलियों या पंजों के प्रदर्शन की कोई चेष्टा किसी भी आकृति में नहीं की है तथा दृश्य की तीनों आकृतियों का चित्रण एक विशिष्ट पूरक शैली में हुआ है। मूल से अनुकृत होकर यह चित्र प्रथम बार छप रहा है।

चित्र सं०—३

मिर्जापुर-क्षेत्र में राबर्टस गंज के समीप रौंप नामक स्थान पर टीले के पीछे वाले एक मुख्य शिलाश्रय में अंकित पक्षी के आखेट का एक अन्य दृश्य जो चित्र सं० १ के दृश्य से आलेखन-शैली में सर्वथा भिन्न है। सभी प्रमुख आकृतियों में जे प्रदर्शित हैं और सबका रूप ज्यामितिक रेखाओं एवं आकारों से बनाया गया है। यह चित्रण-शैली पर्याप्त परवर्ती प्रतीत होती है। पक्षी मोर लगता है। पक्षी के सामने वाली आघात करती हुई मानवाकृति अपूर्ण है। अन्य मानवाकृतियाँ अनुपात में मूल से कुछ छोटी बनी हैं। यह चित्र भी मूल से अनुकृत और यहाँ पहली बार प्रकाशित हो रहा है।

2.

० द० फलक–III

1.

आ० दृ० फलक–IV

1.

2.

1.

2.

आ० दृ० फलक—VI

2.

आ० दृं० फलक–VII

1.
2.

1.

2.

3.

आ० दृ० फलक–IX

आ० इ० फलक–X

1.

2.

3.

4.

आ० दृ० फलक–XI

आ० दू० फलक–XII

1.

2.

1.

2.

1.

2.

आ० दृ० फलक–XV

1.

2.

1.

2.

प्रा० दृ० फलक–XVII

1.

2.

आ० इ० फलक–XVIII

आ० द्र० फलक–XIX

1.

2.

3.
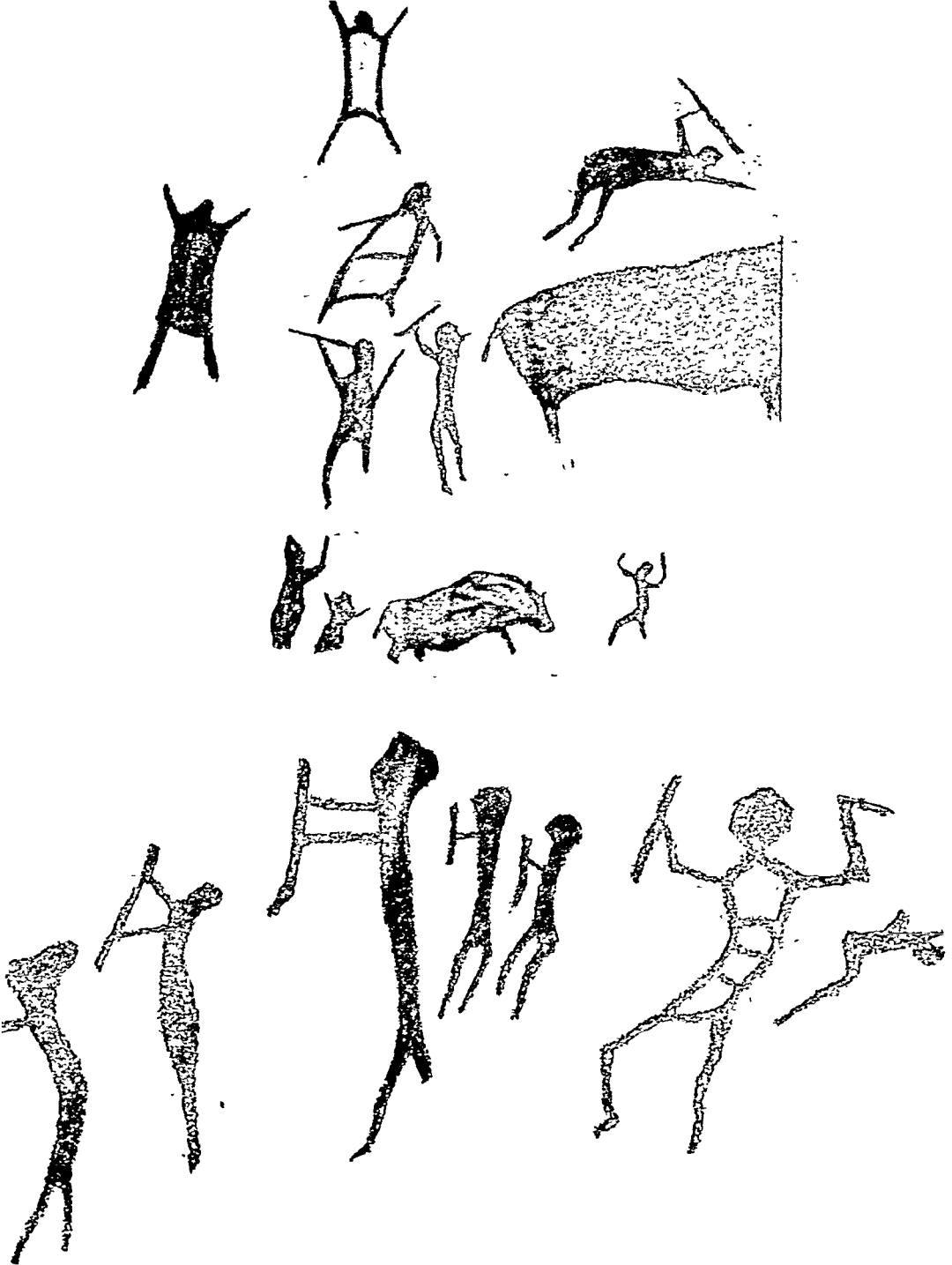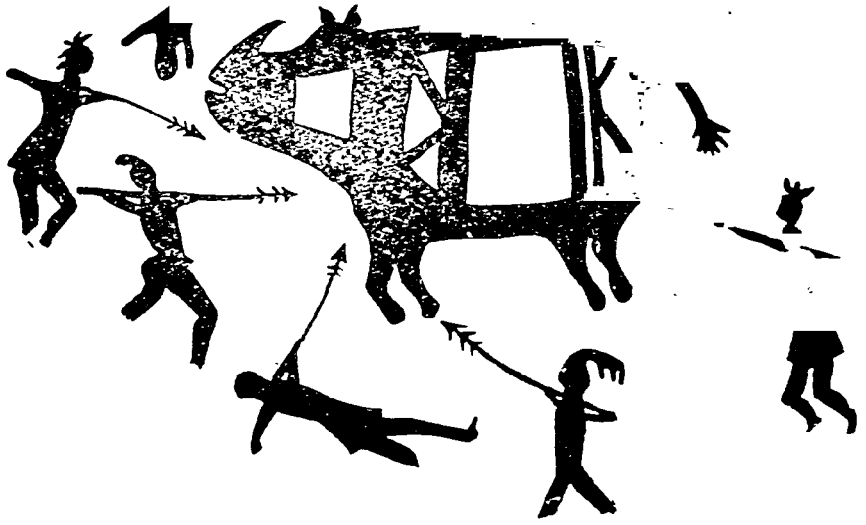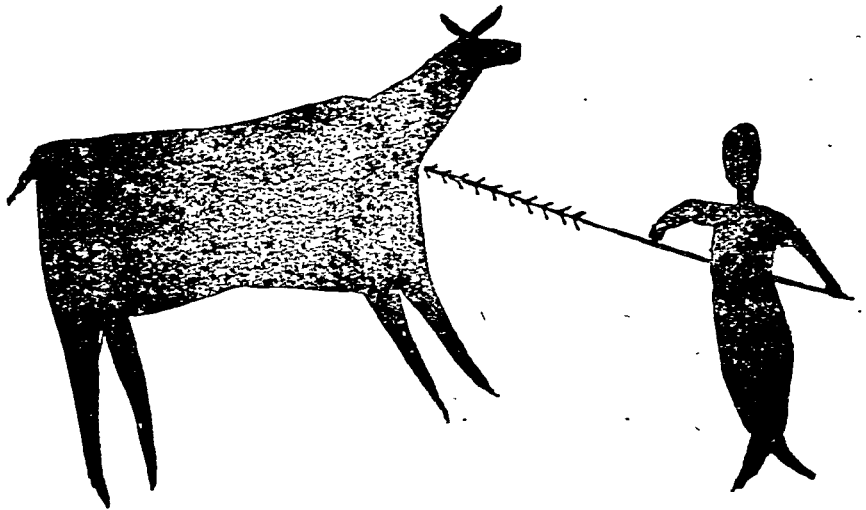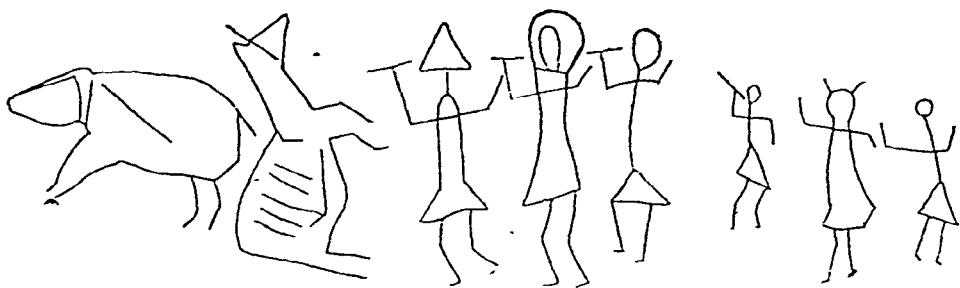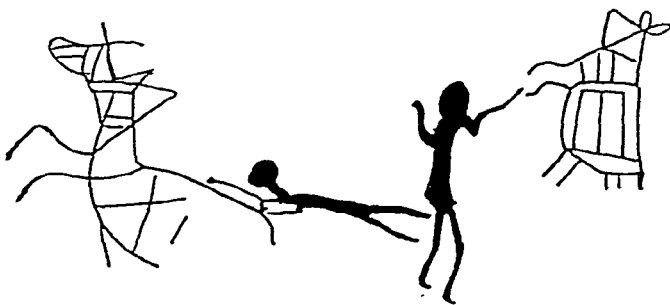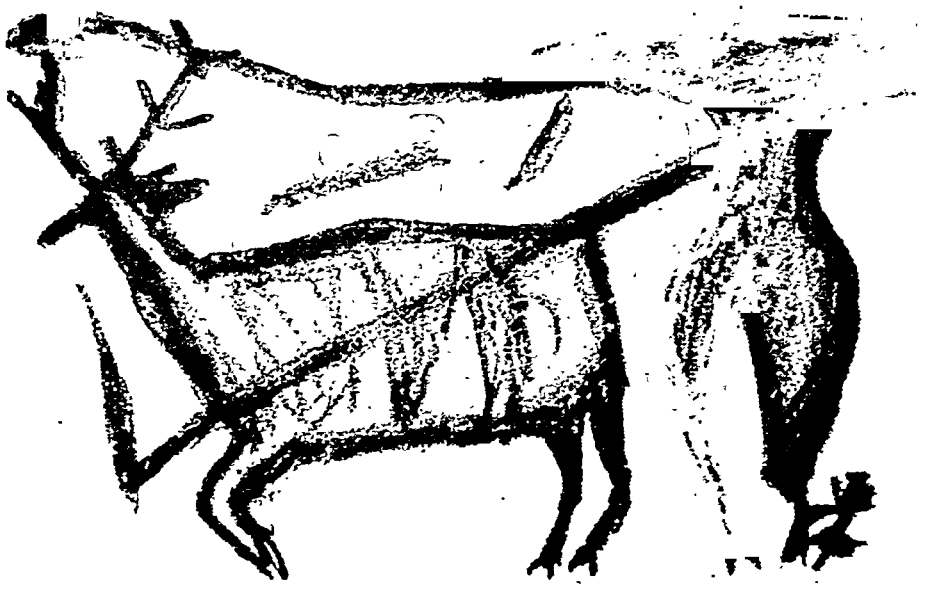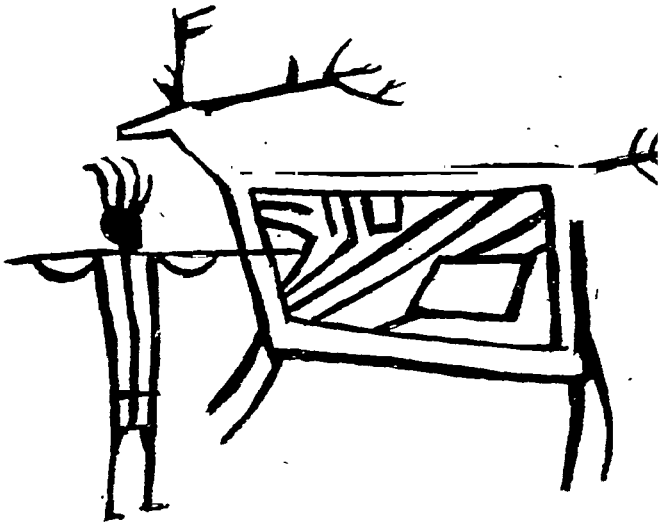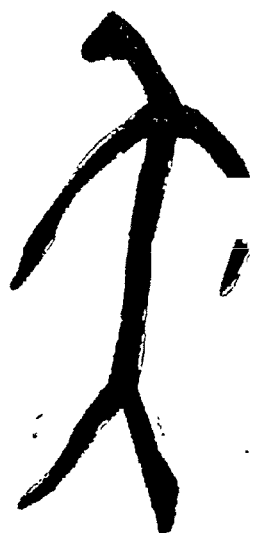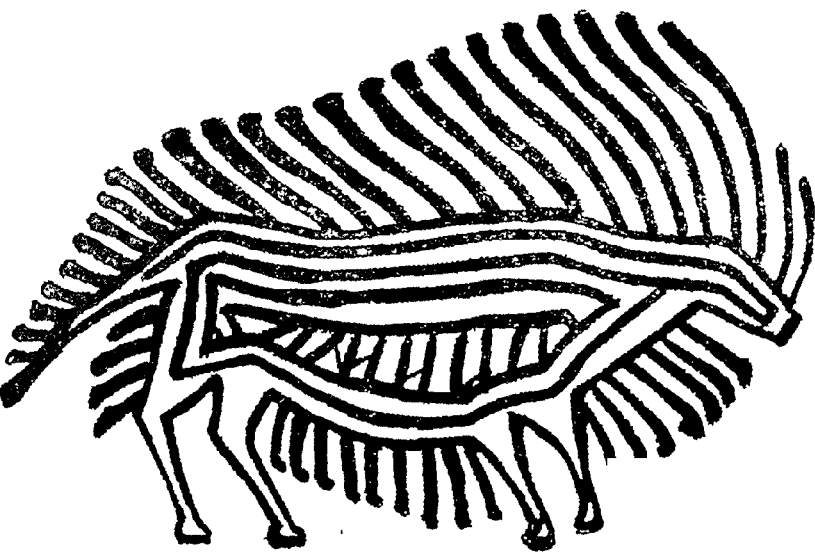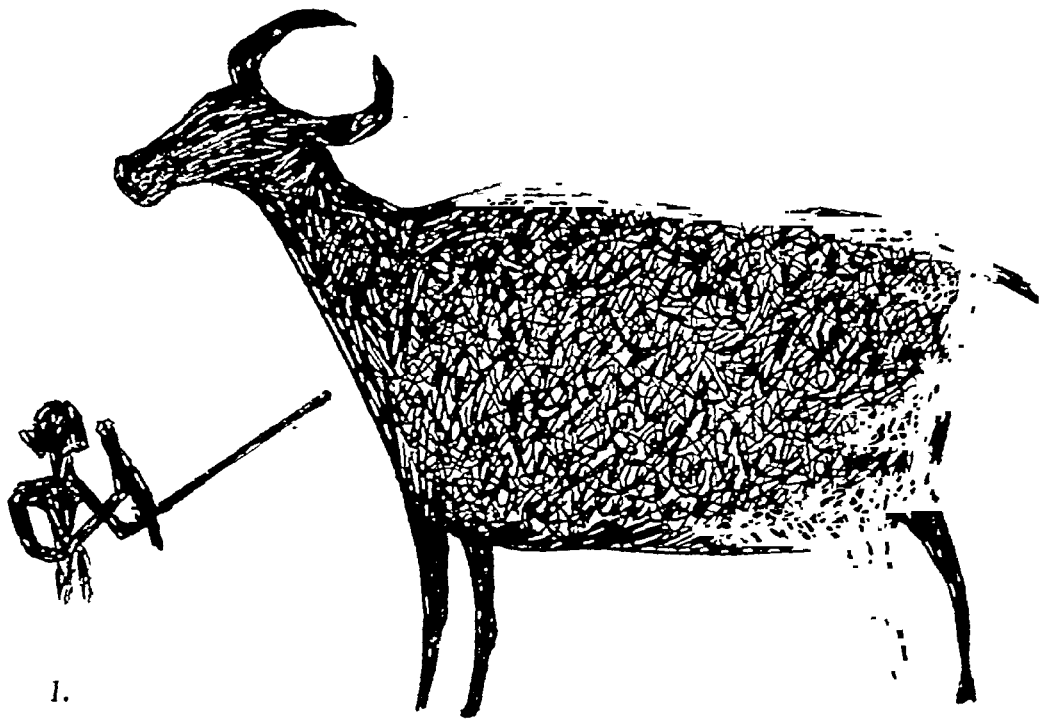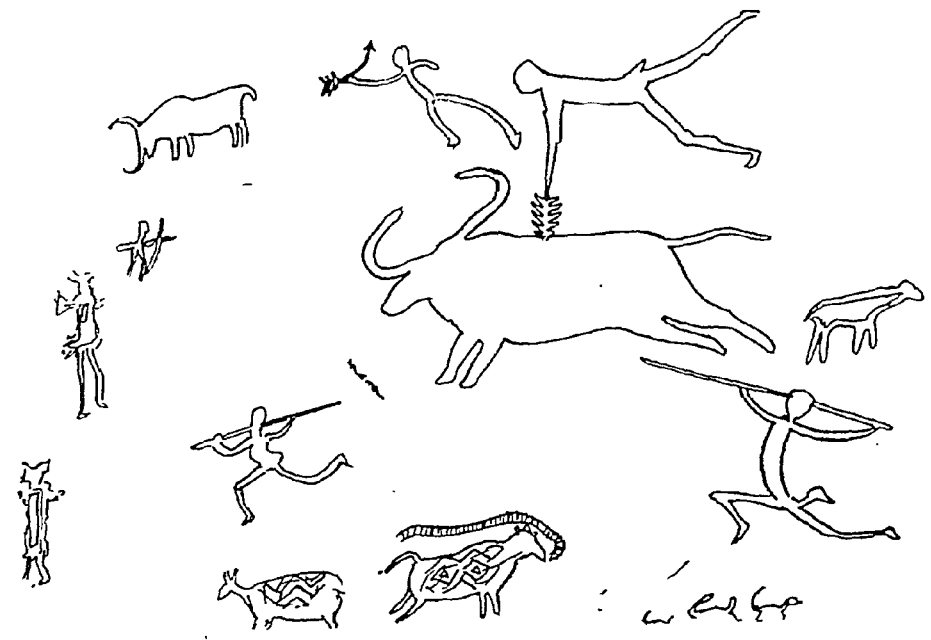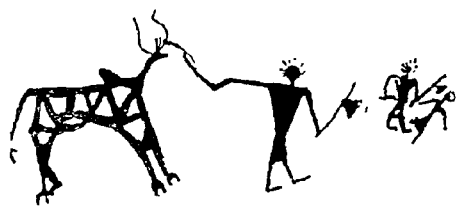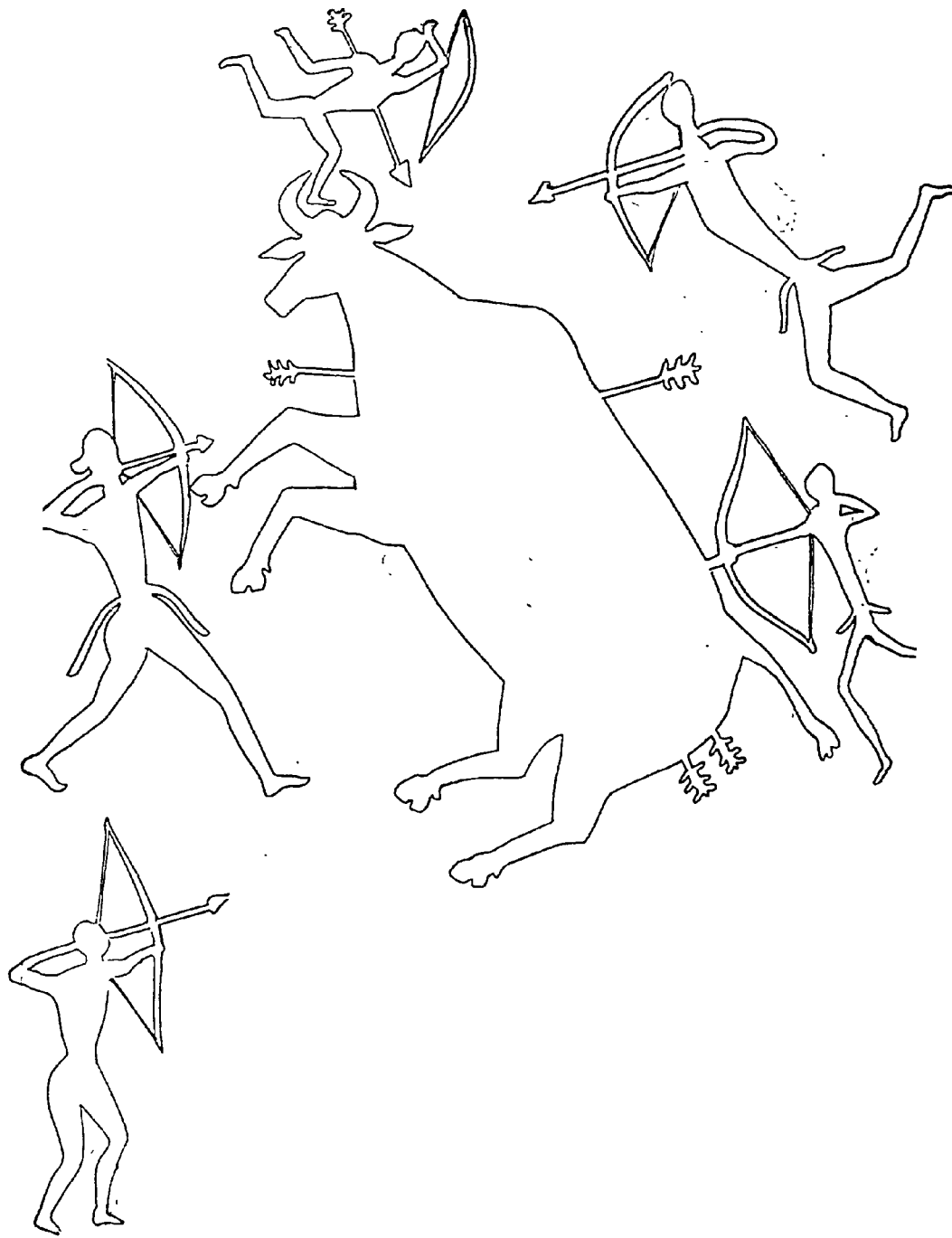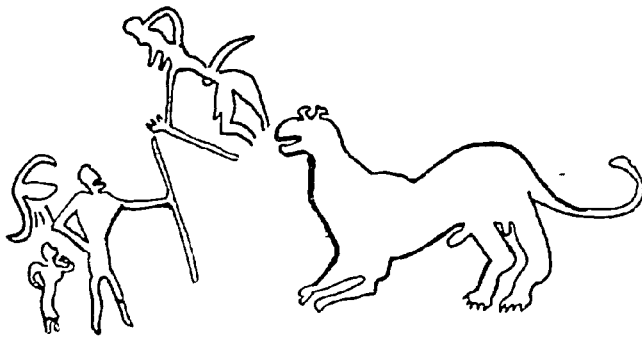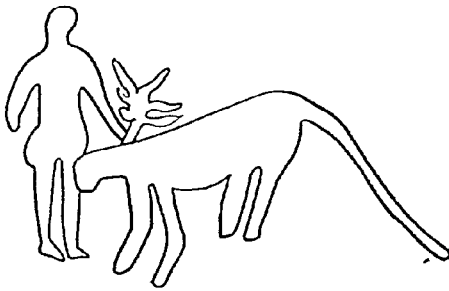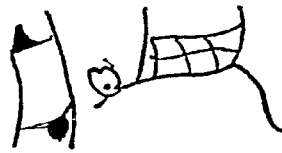
आ० दृ० फलक–XXI
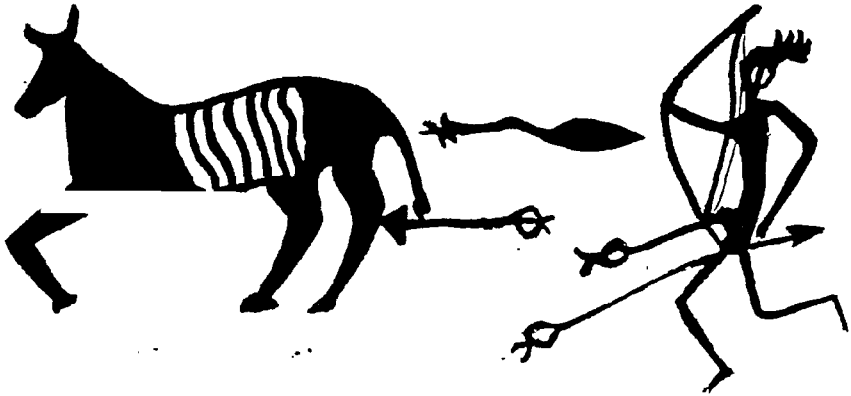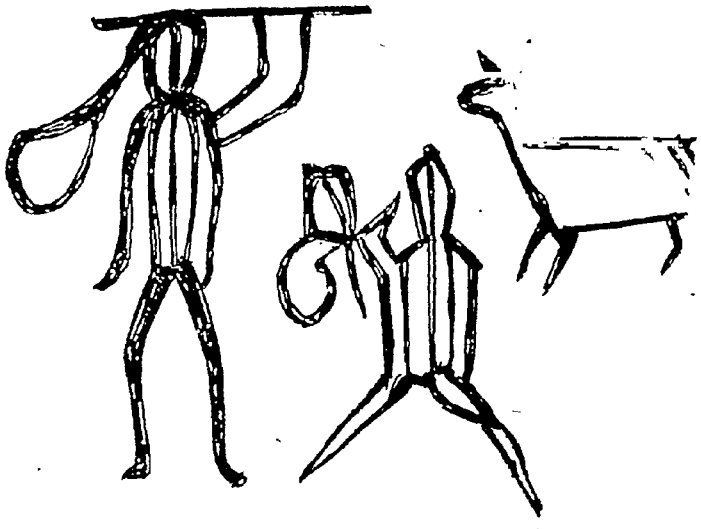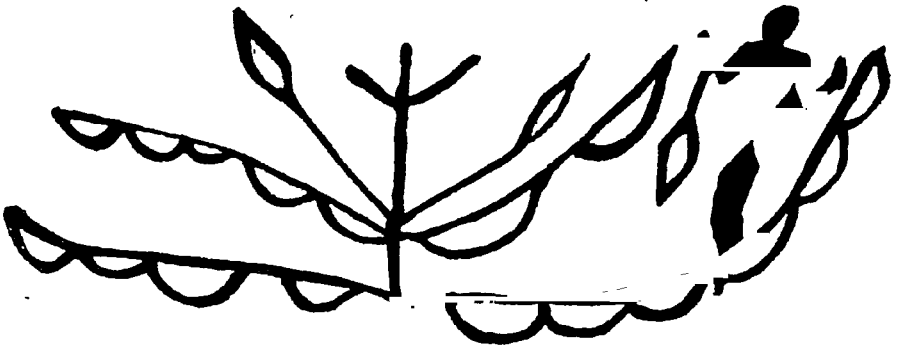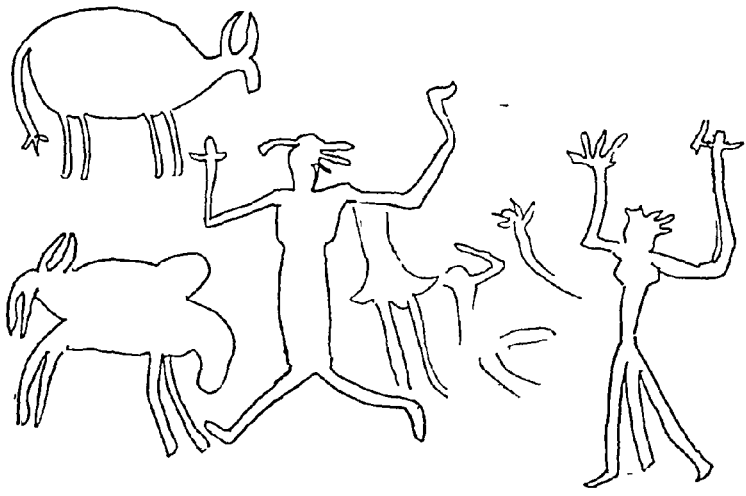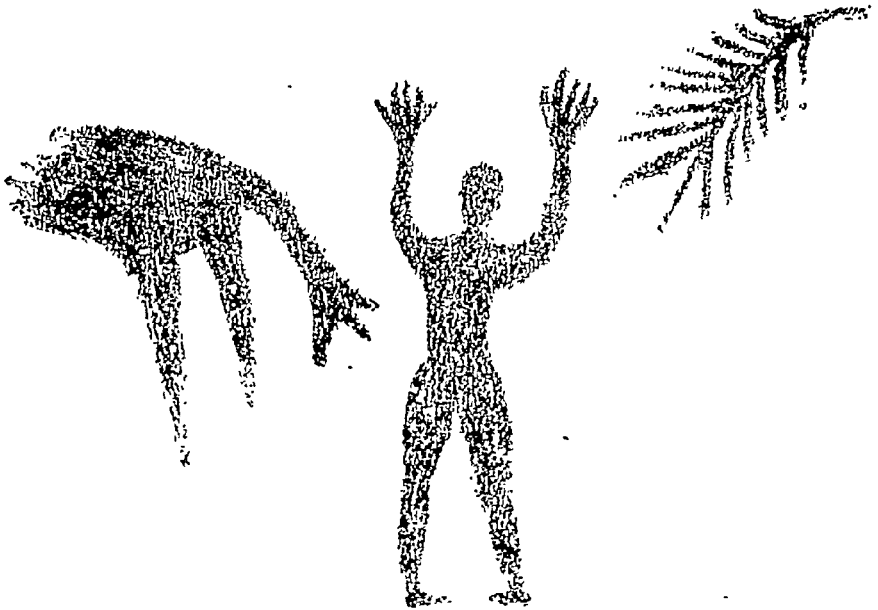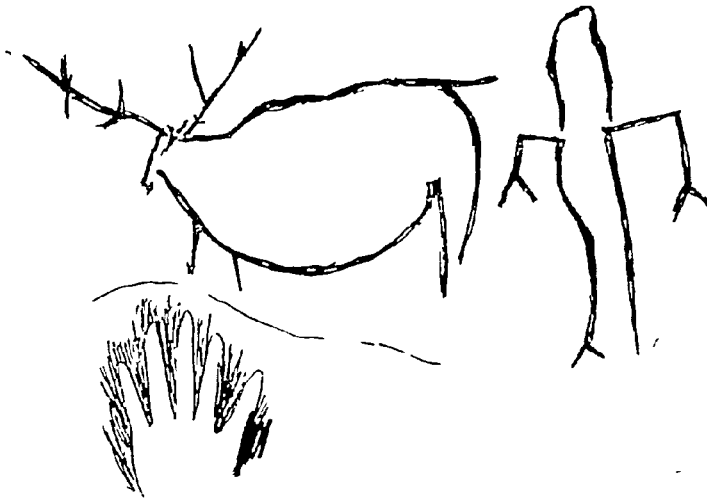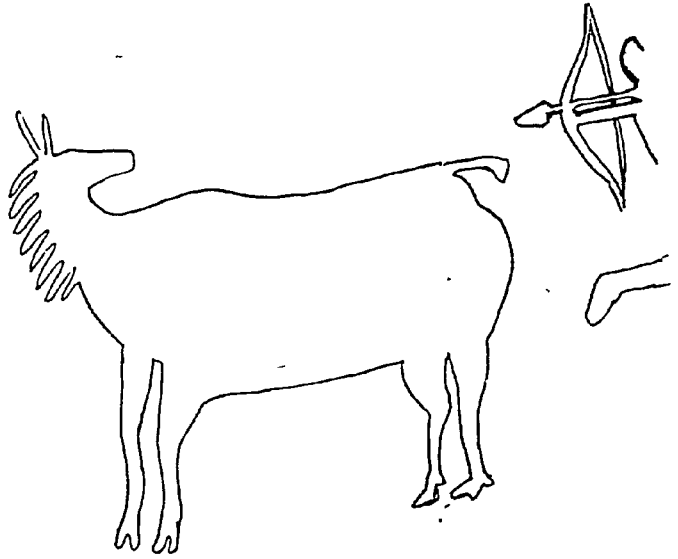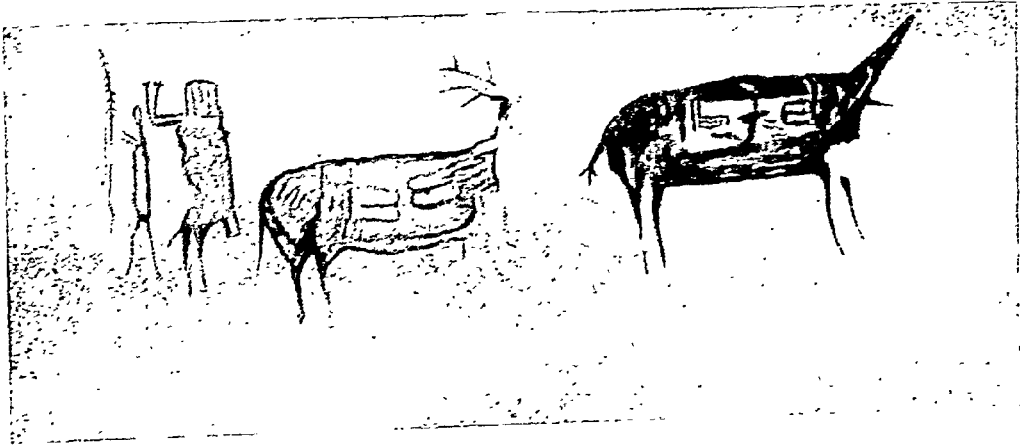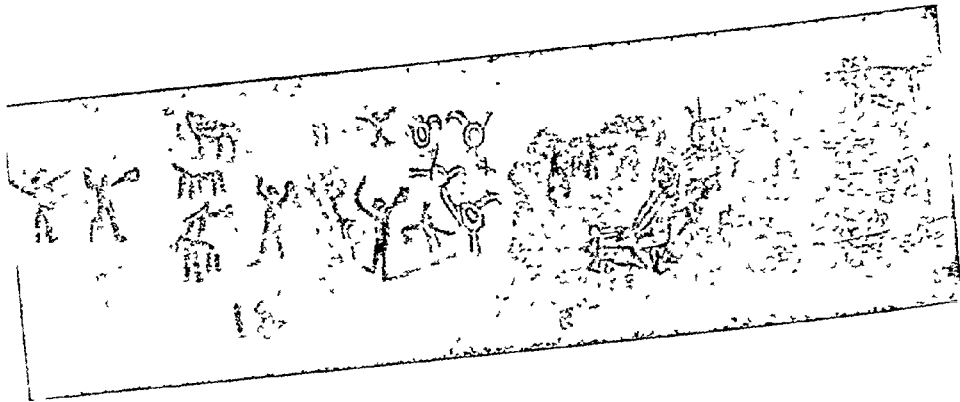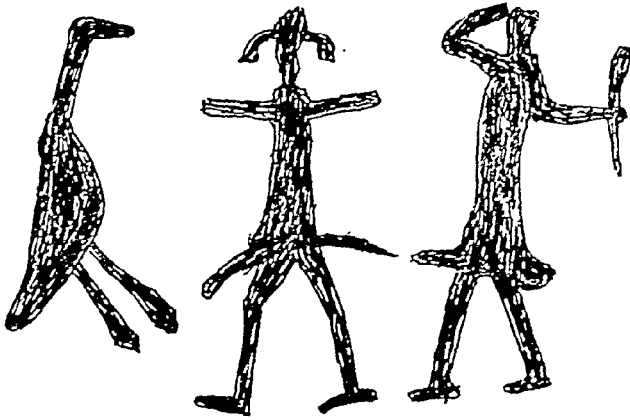
पशु-पक्षी तथा अन्य जीवाकृतियाँ

चित्र-खंड-२

चम्बलघाटी-क्षेत्र में स्थित छिबड़ानाला के एक शिलाश्रय पर अंकित पशु-समूह जिसके बीच एक छिपकली जैसी आकृति भी बनी है। ऊपर एक दण्डधारी पुरुष सजग मुद्रा में चित्रित है। प्रथम बार इ० आॅ० (१९५७-५८) में कुछ अन्य चित्रों के साथ प्रकाशित।

पशु-पक्षी तथा अन्य जीव

प्रागैतिहासिक मानव के संघर्षपूर्ण जीवन में वन्य जीवों, विशेषतः पशुवर्ग का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इसका किंचित् निर्देश आखेट-दृश्यों के पूर्व-परिचय में किया जा चुका है। आखेट-दृश्यों से पृथक् स्वतन्त्र रीति से पशु-चित्रण की विश्वव्यापी परम्परा और भी अधिक प्राचीन सिद्ध हुई है। चित्रण की उस अवस्था में भी आखेट का भाव क्रियाशील रहा होगा, अनेक कारणों से ऐसा अनुमान किया गया है; परन्तु सम्पूर्ण पशु-चित्रण मात्र आखेट के ही उद्देश्य से किया जाता था, ऐसा निश्चित एवं आत्यन्तिक निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत नहीं होता।

लगभग तीस सहस्राव्दियों पूर्व के योरोपीय गुफा-चित्रों में पशु-अंकन की ही प्रमुखता है। प्रायः सर्वत्र वही पशु, वाइसन, अश्व, वृषभ, आइवेक्स, बारहसिंगे, हिरन, शूकर आदि चित्रित मिलते हैं। कहीं-कहीं गैंडे, सिंह तथा महाकाय हाथी 'मैमथ' का अंकन किया गया है। गुफा-गुफा के बीच इस बात में अन्तर मिलता है कि कौन-सा पशु कितनी अधिक मात्रा में चित्रण का विषय बना है। ला पासीगा में बारहसिंगे और हिरनों की प्रधानता है, फाँ-द-गोम में वाइसनों की। फ्रांस की कुछ गुफाओं में अश्व की प्रमुखता मिलती है। जाति-विशेष के पशुओं की अपेक्षा अन्य पशु गौण रूप में आलिखित मिलते हैं। कुछ जातियों के पशु मैत्री-भाव से और कुछ विरोधी भाव के साथ अंकित किये गये हैं। कुछ पशु प्रायः निश्चित भाव-मुद्रा के साथ चित्रित किये जाते थे जैसे वाइसन संघर्ष की नाटकीयता के साथ, अश्व क्रीड़ामय चपलता के साथ तथा मैमथ या महाकाय हाथी गंभीरता और गौरव के साथ रूपायित किये गये हैं।[१] मैमथ का चित्रण तो उसके अस्तित्व की समाप्ति के बहुत बाद तक किया जाता रहा, ऐसा ब्रूई महोदय का मत है। उन्होंने गुफाओं से उपलब्ध अस्थिपंजर आदि के आधार पर यह भी प्रमाणित किया है कि जिन पशुओं के कलेवर मिले हैं, चित्रण उनसे भिन्न पशुओं का हुआ है।[२] कुछ गुफाएँ तो ऐसी दुर्गम हैं कि वहाँ किसीके निवास की

---

१. प्रिहिस्टॉरिक केव पेन्टिंग्स, मैक्स राफायल, पृष्ठ ४-५

२. वहीं, पृष्ठ ५

कल्पना ही नही की जा सकती पर वहाँ भी पशुओं का व्यापक चित्रण मिलता है।

इन सारी बातों पर विचार करके योरोपीय विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पशु-चित्रण के इस असाधारण एवं कष्टसाध्य आग्रह के पीछे कुछ रहस्यमयता अवश्य रही होगी, केवल दृश्य वस्तु के यथार्थ अंकन की भावना से चित्रण के उद्देश्य को व्याख्यायित नही किया जा सकता।[१] सम्भवत: कुछ यातुमूलक विचार अथवा आदिम प्रकृति के विचित्र विश्वास इसके मूल में रहे होंगे।

चित्रित वस्तु अन्ततः गृहीत वस्तु हो जाती है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, वस्तु को चित्रित करके उसपर आघात करने का अर्थ है सजीव वस्तु का संहार आदि; ऐसी धारणाएँ आदिम यातुमूलक विश्वासों से निष्पन्न होती हैं। आखेट-युग में इनका प्रचलन रहा, इसकी कुछ चर्चा आखेट-दृश्यों के प्रसंग में की जा चुकी है। वास्तव में इस दिशा में विश्वास के अनेक रूप और अनेक स्तर हो सकते हैं, जैसा कि कतिपय वर्तमान आदिम जातियों की विचार-प्रणाली को जानकर कहा जा सकता है किन्तु प्रागैतिहासिक काल में उनकी यथार्थ स्थिति क्या रही, इसका अनुमान तो पुरातन शिला-चित्रों के ही विशेष एवं सूक्ष्म अध्ययन से सम्भव है।

आदिम लोगों में पशुओं के प्रति विविध प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं जिनके आधार पर प्रागैतिहासिक मानव के मनोविज्ञान तक पहुँचने की चेष्टा बहुत से अध्येताओं ने की है और उसके द्वारा विनिर्मित चित्रों की तदनुरूप व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। कुछ आदिवासियों में पशु पूर्वजों की मृतात्माओं के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। यह विश्व-व्यापी भावना एच० जी० वेल्स की 'स्टोन एज स्टोरीज़' में व्यक्त हुई है। सिन्धुघाटी से प्राप्त पशुपति की योगमुद्रा वाली सील पर अंकित पशुओं की व्याख्या मृतात्माओं के रूप में की गयी है तथा शिव के 'भूतनाथ' नाम की उसके साथ संगति मानते हुए भारतवर्ष में भी इस विश्वास के प्रचलित होने की सम्भावना स्वीकार की गयी है।[२] ऐसी दशा में आखेट-युग में पशुओं के प्रति कुतूहल, रहस्य, आशंका, भय और आदर आदि की अत्यन्त मिश्रित एवं जटिल भावना परिकल्पित की जा सकती है। पशुओं के प्रति जो भयजन्य पूजाभाव परवर्ती युगों में विकसित हुआ, उसके मूल में सम्भव है इस प्रकार की कोई न कोई भावना निहित रही हो। हिंस्र-पशु मृत्यु के साक्षात् प्रतीक बनकर कभी प्रतिहिंसा, कभी भय और

१. Behind these drawings lies a deadly serious purpose. (इन चित्रों के पीछे एक नितान्त गम्भीर उद्देश्य निहित है।)

—मीटिंग प्रिहिस्टॉरिक मैन, पृष्ठ १८६

२. द्रष्टव्य, सा० क०, वॉ० ५, नं० ३, पृष्ठ ६१

कभी बलि मे परितोष की भावना उत्पन्न करते रहे होगे। क्षुधा-पूर्ति मे सहायक बनने वाले पशु मांगलिक और बलि के उपादान बनते गये। उनके प्रति प्रागैतिहासिक मानव का आकर्षण भी हिंस्र पशुओ की अपेक्षा भिन्न प्रकार का रहा होगा। अनेक पशु शक्ति, स्फूर्ति और गतिशीलता के कारण भी आकर्षण के केन्द्र बने होगे इसमें सन्देह नही, क्योकि उनके आलेखन मे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चित्रकारो ने रचना-क्रम में उस भाव की अवश्य ही अनुभूति की होगी। पशु-चित्रो की एक व्याख्या उन्हे 'टोटेम' के रूप मे जाति-प्रतीक मानकर भी की गयी है। कुछ पशुओ को जाति-पशु (Clan Animal) के अर्थ मे युक्त समझकर विविध पशु-चित्रो मे विभिन्न जातियो के अज्ञात सघर्षो, सन्धियो एव सहचरण की छाया देखी गयी है। मनुष्य ने पशुओ पर सगठित होकर ही विजय प्राप्त की होगी। इस सगठन का क्या स्वरूप रहा होगा, इसका परिचय उन कलाकृतियो मे ही पाया जा सकता है जो हमें अब तक उपलब्ध है। कहा जाता है कि मनुष्य ने अपने सामाजिक सगठन को समूहरूप मे विभिन्न पशुओ द्वारा ज्ञापित किया है।[१]

प्रागैतिहासिक काल में पशुओं के यथार्थ रूप-चित्रण में जितनी विविधता और जटिलता उपलब्ध होती है उसके अनुपात मे उन्हे जाति-प्रतीक मानकर तत्कालीन सामाजिक सगठन की जटिलता की कल्पना करना बहुत सगत प्रतीत नही होता क्योंकि इतने विकसित प्रतीकार्थ के सगठित निरूपण की सामर्थ्य सभ्यता के परवर्ती विकास-क्रम में ही सम्भव हो सकी। फिर सभी पशु प्रतीक-पशु माने भी नही जा सकते। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रत्येक प्रागैतिहासिक स्थिति आदिम नही कही जा सकती तो भी प्रतीकार्थमूलक उपर्युक्त व्याख्या कुछ अधिक सुसंस्कृत प्रतीत होती है जिसकी सगति चित्रो के वातावरण मे पूरी तरह नही बैठायी जा सकती। प्रतीकार्थ एक बन्धन को लेकर चलता है जबकि प्रागैतिहासिक पशु-चित्रण की सर्वप्रमुख विशेषता कल्पनागत उन्मुक्तता है क्योकि वही उनकी कलात्मक शक्ति एव रूपविन्यास का मूल आधार है। विशेषज्ञों ने ध्यानपूर्वक चित्रो का पर्यवेक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि गुफा-चित्रो में कोई भी दो आकृतियाँ एक जैसी चित्रित नही हुई है। मध्यकालीन चित्रो जैसा रूप-सादृश्य या परम्परा-पालन प्रागैतिहासिक चित्रो में दृष्टिगत नही होता और पशु-चित्र इसके अपवाद नही है। वे प्रागैतिहासिक मानव की उस अप्रतिहत शक्ति के द्योतक है जिसके द्वारा उसने काल-क्रम में पशुपतित्व प्राप्त किया—

---

१ We know nothing about this organization except what a correct understanding of the works of art that we still possess can reveal to us. And these tell us first of all that men represented his social unity as a group by animals.

—प्रिहिस्टॉरिक केव पेंटिंग्स, पृष्ठ ७

During the paleolithic age the animal was the measure of all things—but only through the intermediary of human hand. Animals had forced man to follow them through valleys and mountains in search of food, before man was able to pen and protect the animals and thus dominate and exploit them, without killing them. Between these two stages man had emerged from his zoological enslavement to animals and "laid his hand upon them" both magically and artistically. When the artistic imposition of the hand followed the magical one, a higher stage of human emancipation was achieved.[1]

योरोपीय गुफाओं में अंकित पशु-चित्रों जैसी शक्तिमय कलात्मकता एवं प्राचीनता अभी तक भारतीय प्रागैतिहासिक गुफा-चित्रों में लक्षित नहीं हुई है परन्तु जहाँ तक विविधता और रचनात्मक कौशल एवं अलंकरण का प्रश्न है, भारतीय पशु-चित्र अप्रतिम कहे जा सकते हैं। लास्को जैसी ऐसी कोई गुफा यहाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है जहाँ पशु-चित्रण नितान्त गुह्य रूप में किया गया हो और मानव-निवास की सम्भावना न मिलती हो तथा केवल कुछ दीक्षित लोग ही उसके रहस्य को जानते हों।[2] फिर भी यह सरलतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है कि पशु-चित्रण के सम्बन्ध में जो सामान्य सिद्धान्त एवं व्याख्याएँ योरोपीय विद्वानों ने प्रस्तुत की हैं वे भारतीय शिलांकित पशु-चित्रों पर भी एक सीमा तक लागू की जा सकती हैं क्योंकि ऐसी भी अनेक बातें मिलती हैं जो दोनों में समान रूप से लक्षित होती हैं। उदाहरण के लिए पशु-चित्रों के समीप हाथ की छापें मिर्ज़ापुर क्षेत्र की कोहबर गुफा और सोरहोघाट के मार्गस्थ शिलाखण्डों पर गेरुए रंग में क्षेपांकित मिलती हैं। इनकी तुलना स्पेन की कास्तीलो नामक गुफा में अंकित प्रायः उसी प्रकार की छापों से

---

१. वही, पृष्ठ ३२

(पाषाणकाल में पशु ही सारी वस्तुओं का मापदंड था—किन्तु केवल मनुष्य के हाथ के माध्यम द्वारा। इससे पूर्व कि वह उन्हें बिना मारे संरक्षित और चित्रित कर सके, पशुओं ने मनुष्य को इस बात के लिए विवश किया कि वह उनका पीछा करते हुए पर्वतों और घाटियों में भोजन की खोज में भटकता रहे। उनपर अपना प्रभुत्व-स्थापन तथा अपने हित के लिए उनका उपयोग मनुष्य को बाद में सुलभ हुआ। इन दो स्थितियों के बीच मनुष्य पशुओं के समक्ष अपनी प्राणिपरक पराधीनता से उबर आया और उसने उन्हें अपने हाथ में कर लिया; यातुमूलक और कलात्मक दोनों ही अर्थों में जब हाथ के कलात्मक प्रभुत्व ने यातुमूलक प्रभुत्व का अनुसरण किया, मानव-मुक्ति की एक उच्चतर अवस्था उपलब्ध हुई।)

२. 'The grotto of Lascaux......was never lived in......Man entered these grottos solely to draw and they were known only to a few initiatives.

—मीटिंग प्रिहिस्टॉरिक मैन, पृ० १८४

की जा सकती है। यह उतनी संख्या में भले ही वहाँ अंकित न हों परन्तु मनोवृत्ति समान ही प्रतीत होती है और पशुओं के संदर्भ में उनका अर्थ भी वैसा ही लगता है। घायल पशु-चित्र (फलक I) तथा सगर्भ पशु-अंकन (फलक XII) भी मनोवृत्तिगत समानता का द्योतन करते हैं क्योंकि भारतेतर देशों में भी ऐसे चित्रण मिलते हैं।[1]

वस्तुज्ञान में तुलना कुछ ही दूर तक सहायक हो सकती है अतएव आगे मैं उन भारतीय पशु-चित्रों के विषय में स्वतन्त्र रीति से विचार करूँगा जिनका समावेश प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है। इस विषय में अब तक केवल गॉर्डन ने ही सम्बद्ध रूप से कुछ विचार व्यक्त किये हैं जो उनके सा० क० (वा० V, नं० ११, पृष्ठ ६६२) में प्रकाशित एक पृथक् लेख में समाविष्ट मिलते हैं। इसमें लेखक ने चित्रित पशुओं के साथ देवताओं अथवा अतिमानवीय आकृतियों की समस्या पर भी विचार किया है। साररूप में उसने इस सही और व्यापक तथ्य को प्रतिपादित किया है कि भारतवर्ष के शिला-चित्रों में पशु और मानव का अंकन प्रायः समान परिमाण और समान शैली में हुआ है। लेख का आरम्भ ही इस निष्कर्ष से किया गया है। मिर्ज़ापुर और पँचमढ़ी के पशु-चित्रों के बीच गॉर्डन को केवल व्याघ्र-चित्रण में साम्य लक्षित हुआ। शेष पशु-चित्रों को 'Self-explanatery examples of the animal art of these caves' कहकर स्वतन्त्र एवं स्वतःसिद्ध मान लिया गया पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

चित्रित पशुओं के वर्ण-विधान, शैली एवं रूप-विन्यास की दृष्टि से ग्वालियर, भोपाल, मिर्ज़ापुर, पँचमढ़ी और कबरापहाड़ के बीच कई प्रकार का साम्य मिलता है जो इस खण्ड में फलक—II, VI, X, XI, XII तथा आखेट-दृश्यों के खंड में फलक—VII, XVII, तथा कुछ अन्य चित्रों में देखा जा सकता है। यह आवश्यक है कि यह साम्य क्षेत्र विशेष या गुफा विशेष के निजी चित्रण-विधान से संलग्न होकर समाविष्ट हुआ है अतः उसे लक्षित करने के लिए कलाकार अथवा कलामर्मज्ञ की दृष्टि अपेक्षित होती है।

गॉर्डन ने चित्रण की अधिकता के विचार से बारहसिंगों, साँभर एवं हिरनी-हिरनों को सर्वप्रमुख स्थान दिया है। वृषभ को द्वितीय स्थान पर रखा है। तीसरे स्थान का अधिकारी हाथी के अतिरिक्त चीते, व्याघ्र, चीतल, मर्कट, भालू, वन्य शूकर, मगर, साही, वृक,

---

१. If we look at animal pictures rather more closely, we discover surprising details. Pregnant animals appear again and again, others are shown pierced by spears or arrows. —वही। पृ० १८४
(यदि हम पशु-चित्रों का सूक्ष्म अवलोकन करें तो हमें विचित्र तथ्य निहित मिलते हैं। सगर्भ पशु बारम्बार चित्रित दिखाई देते हैं। अन्य पशु भालों या बाणों से विद्ध चित्रित किये गये हैं।)

शशक आदि को निर्धारित किया है।[1] गैंडे और अश्व का इस सूची में समावेश नहीं है। गैंडे के चित्रण की वास्तविकता के प्रति गॉर्डन प्रारम्भ से ही शंकालु रहे।[2] परन्तु अन्त में उन्हें उसकी प्रामाणिकता ही नहीं, प्राचीनता भी स्वीकार करनी पड़ी।[3] अश्व का उल्लेख यहाँ त्रुटि से ही छूट गया क्योंकि आगे जब गार्डन ने स्वयं इस प्रसंग पर पुनः लिखा तो उन्होंने अन्य पशुओं की अपेक्षा अश्व को कम चित्रित मानते हुए भी बैल के साथ उल्लिखित किया है।[4] उसका चित्रण पर्याप्त व्यापक रूप में मिलता है भले ही उसे भारतीय संदर्भ में हिरन, हाथी, वृषभ, शूकर आदि की तुलना में कम प्राचीन कहा जाय। सिंघनपुर के पशु-चित्रों में अमरनाथ दत्त द्वारा एक अश्व-चित्र समाविष्ट किया गया है जो नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। उन्होंने उसे प्रागैतिहासिक अश्व बताया है परन्तु सिंघनपुर की गुफा के किसी भी भाग में वह अंकित दिखायी नहीं दिया। उनकी कृति १९३१ में प्रकाशित हुई थी। ठीक इसी आकृति का एक अश्व-चित्र एम. सी. बर्किट द्वारा लिखित 'दि ओल्ड स्टोन एज' नाम पुस्तक (प्रथम सं० १९३३) के पृ० १९५ पर मुद्रित मिलता है किन्तु वह कृति, जैसा निर्दिष्ट
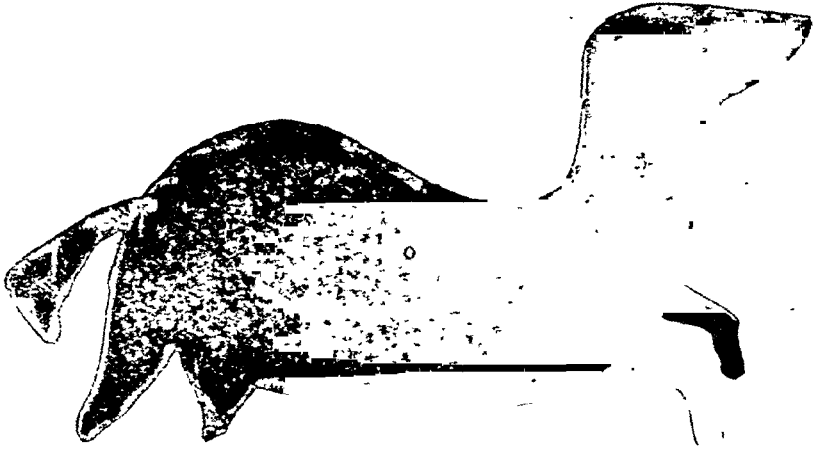
प्रकाशनकाल से स्पष्ट है, परवर्ती है। संभव है पंचानन मित्र की पुस्तक के द्वितीय संस्करण के कारण यह त्रुटि हुई हो।

---

१. सा० क०, वॉ० ५, नं० ११, पृ० ६६२

२. ज० ऑ० ले०, वॉ० १०, १९३६, एफ १६ के प्रसंग मे

३. प्रि० वै० इं० क०, पृ० १०९

४. वही, पृ० १०५

कुछ इसी तरह की रहस्यात्मकता बहुत समय तक आदमगढ़, शिलाश्रय नं० १० के तथाकथित 'जिराफ ग्रुप' (दृ० फलक XXV) को लेकर व्याप्त रही।[1] भारतवर्ष में अफ्रीकी पशु जिराफ का चित्रण प्रत्यक्षतः असम्भव लगता है अतः अनेक क्लिष्ट कल्पनाएं भी की गयीं। गॉर्डन महोदय ने अन्ततः यह निष्कर्ष निकालकर समाधान प्रस्तुत किया कि संभवतः चित्रकार ने असंयत होकर एक साँभर हिरनी को जिराफ की तरह दीर्घग्रीव बना दिया। उसका पीछा करने वाले घोड़े की गर्दन भी जिराफ जैसी लम्बी बनायी गयी है। मूल चित्र के विशाल आकार को देखकर मुझे यह सम्भावना भी संतोषप्रद प्रतीत नहीं होती है। प्रागैतिहासिक चित्रों के विषय में त्रुटिपूर्ण की धारणा प्रायः भ्रामक ही सिद्ध होती है, जैसा गैंडे के विषय में हुआ। पहली दृष्टि में उसे शूकर का चित्र मान लिया गया। सन् '४४ के हिन्दू यूनिवर्सिटी के जनरल की वॉ० ९ में प्रकाशित इसी चित्र से सम्बद्ध लेख में मनोहरलाल मिश्र ने घोड़े और ज़िराफ की आकृति की तुलना करके नौ विभेद सूचीबद्ध किये और निष्कर्ष रूप में सिद्ध किया कि यह लम्ब-ग्रीव पशु न तो अभिप्रेत घोड़ा हो सकता है और न साँभर हिरनी। सभी निर्दिष्ट लक्षण उसको स्पष्टतया ज़िराफ मानने के पक्ष में हैं।[2] सींगों के अभाव पर उनकी दृष्टि नहीं गयी। प्रस्तुत खंड के फलक VI पर चित्र नं० १ के रूप में एक ऐसा ही निश्चयात्मक एवं आकर्षक चित्र द्रष्टव्य है। मध्यप्रदेश के पन्ना-रीवाँ क्षेत्र में भी जिराफ के शिलाचित्र का अस्तित्व मिलता है; ऐसी सूचना अभी हाल में ही एक पत्र में प्रकाशित हुई है।[3] यह खोज किन्हीं के० पी० जंडिया नामक व्यक्ति की बताई गयी है जिसने ४० शिलाश्रयों को देखा है।

जिराफ-ग्रुप के ठीक ऊपर दोहरी बाह्य रेखाओं में अंकित महामहिप का अद्यापि अलक्षित चित्र (दृ० फलक V) भारतीय पशु-आलेखनों में अपना अद्वितीय स्थान रखता है। आदमगढ़ के शिलाश्रयों पर अंकित वनमहिषों के अन्य चित्र भी प्रख्यात एवं महत्त्वपूर्ण हैं। (दृ०फलक IV)। महाकाय पशुचित्रों में पंचमढ़ी क्षेत्र के हाथी (फलक III), चम्बल घाटी

---

१. वही, पृ० ११०

२. ...the figure being clearly that of a giraffe rather than that of a long necked animal 'intended to be a horse' or a Sambhar doe.

३. 'Curiously among the animals sketched is the giraffe, found only in Africa.

(यह विचित्र बात है कि आलिखित पशुओं में जिराफ भी है जो केवल अफ्रीका में ही पाया जाता है।)
—लिंक, फरवरी ३, १९६३, पृ० ३७

वृषभ (फलक VI एवं IX) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। जम्बूद्वीप में भी एक दीर्घकाय पशु-शीश अंकित है (फलक XI)। कवरापहाड़ का वाराह (फलक II) तथा अन्य ज्यामितिक रूप-विधान से युक्त पशु-चित्र भी अप्रतिम हैं। कोहवर के गुफा-द्वार के ऊपरी भाग में अंकित अज्ञात पशु (फलक XXII) सबसे पृथक् अस्तित्व रखते हैं। कुछ अन्य पशु भी ऐसे हैं जिनके रूप को सहसा किसी नाम से जोड़ा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ फलक XXIV, XXVI तथा XXVII के अन्तिम चित्र। वृषभों और हिरनों का चित्रण उपलब्ध चित्रों में सर्वाधिक मिलता है।

फलक XIV में शिकारी कुत्तों की गतिशीलतायुक्त मुद्रा तथा फलक XXVI के मध्यवर्ती चित्र में एक शिकारी कुत्ते की सुगठित काया में सजगता का अंकन विशेष ध्यान आकर्षित करता है। फलक XXVIII में वानर-क्रीड़ा का स्वाभाविक चित्रण है जो पँचमढ़ी क्षेत्र की अपनी विशेषता है। चित्रों के विषय में दी गई टिप्पणियों में उनकी विशेषता एवं महत्ता का निर्देश किया गया है। सम्मिलित पशु-चित्रों से पूरा परिचय पाने के लिए वह द्रष्टव्य है। उसमें शैलीगत विशेषताओं का उल्लेख कर दिया गया है।

पशुओं की तुलना में पक्षियों एवं सरीसृपों का चित्रण बहुत कम हुआ है। अधिकतर बड़े पक्षियों का चित्रण हुआ है चाहे वे जल-खग हों या अन्य प्रकार के पक्षी। मयूर के आलेखन में विविधता मिलती है और उसका स्थान सर्वोपरि है। आदमगढ़ में वह अत्यन्त विशाल आकार में चित्रित है जिससे उसके विशेष महत्त्व का प्रमाण मिलता है। फलक XXXIV पर समाविष्ट पशु-पक्षी चित्रों के साथ रेखा का योग मिलता है जिसका अभिप्राय वस्तु-चित्रण से भिन्न भी हो सकता है, पर सर्वत्र नहीं। पक्षियों का अंकन भी पशुओं की तरह सजीव एवं स्वाभाविक मुद्रा में हुआ है। सुजानपुरा में मयूरों या कलगीदार पक्षियों का रेखांकन विचित्र प्रकार से हुआ है। वाकणकर के फ्रेंच पत्रक में फि० २७ में, फि० २० पर भी बतख़ और सारस जैसे कुछ पक्षी अंकित हैं। एक पर संभवतः डंडे का प्रहार करती हुई मानवाकृति चित्रित है जिससे लगता है कि यह आखेट-पक्षी रहे होंगे।

सरीसृपों में सर्प के अभाव की ओर गॉर्डन का ध्यान भी गया था। नितान्त आदिम जातियों के कर्मकाण्ड में सर्प का जो स्थान था और उनमें तथा कुछ सभ्य जातियों में आज भी जो उसकी मान्यता है उसको देखते हुए यह विचित्र लगता है कि शिलाचित्रों के इतने जम्वाल में किसीको एक भी चित्र ऐसा न उपलब्ध हो जिसे असंदिग्ध रूप से सर्प का अंकन

कहा जा सके।[१] आखेट-दृश्यों में फलक XXI के प्रथम चित्र में जिस पिछली आकृति को अमरनाथ दत्त ने पूँछ पर खड़ा हुआ साँप बताया, उसकी अवास्तविकता एवं असंभाव्यता की ओर तत्सम्बन्धी टिप्पणी में निर्देश किया जा चुका है। गॉर्डन ने जिन दो चित्रों में सर्पांकन की संभावना मानी है, उनके प्रति स्वयं शंका व्यक्त कर दी है क्योंकि उन्हें भिन्न अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है।[२] छिपकलियों के जो चित्र कबरापहाड़ के शिलाश्रय पर अंकित हैं वे अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं [पर उन्हें आदियुगीन सरीसृपों के रूप में ग्रहण करना संगत नहीं लगता और न अमरनाथ दत्त की 'मत्स्यकन्या' में ही कोई सार दिखाई देता है (फलक XXXII, चित्र २) पर जम्बूद्वीप की विशालकाय पिपीलिका अवश्य रोचक और अर्थगर्भित प्रतीत होती है।

प्रस्तुत खंड में सौ से ऊपर चित्र समाविष्ट किये गये हैं।

---

1. A strange omission is the snake. Considering the past that snakes played and play in the ritual and belief of most primitive and many more sophisticated peoples, it seems incredible that in this welter of paintings one should not be able to point to a single example which depicts unequivocally a snake.
—सा० क०, वा० ५, नं० ११, पृ० ६६२

२. —वही

पशु-पक्षी तथा अन्य जीव : चित्र-परिचय

प० प०, फलक I

मिर्जापुर क्षेत्र में भल्डरिया नदी के तटवर्ती एक शिलाश्रय पर गेरुए रँग में अंकित घायल सुअर का प्रसिद्ध चित्र जिसे ऐलन हॉटन ब्राड्रिक की 'प्रिहिस्टॉरिक पेण्टिंग' नामक पुस्तक में प्रकाशित तीन भारतीय चित्रों में अन्तिम स्थान मिला है। उक्त पुस्तक के माध्यम से विश्वविख्यात होनेवाला मिर्जापुर क्षेत्र का यह प्रथम प्रागैतिहासिक चित्र है। इस छाया-चित्र की अनुकृतियाँ अन्यत्र कई स्थानों पर प्रकाशित हो चुकी हैं। यह मनोरंजन घोष द्वारा बनवायी गयी प्रतिकृति पर आधारित है और उनके 'मोनोग्राफ' में ही सर्व प्रथम छपा है। उन्होंने इसे अपने क्रम में भल्डरिया के शिलाश्रय II का तीसरा चित्र माना है किन्तु इसके परिचय में सही स्थान-निर्देश न करके सामान्य शब्द 'विन्ध्याचल' का प्रयोग किया है जो सर्वथा उपयुक्त नहीं लगता है। मुँह के खुले हुए रूप में चित्रित होने के कारण पीड़ा और क्रंदन का भाव व्यक्त होता है जिससे चित्र की मार्मिकता बढ़ गयी है। पैरों के आगे और पीछे जो आकृतियाँ बनी हैं उनका अभिप्राय पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता है। जिस अस्त्र से सुअर घायल हुआ है उसकी आकृति भी विचित्र प्रतीत होती है। संभव है यह कुछ अन्य अभिप्राय रखनेवाली कोई भिन्न ही वस्तु हो।

प० प०, फलक II

चित्र सं०—१

कंडाकोट के समीप वाली लिखनिया—२ की विशाल गुफा के मध्यवर्ती भाग में छत पर गहरे गेरुए रंग में अंकित वाराह का चित्र जिसमें अलंकरण-युक्त अर्ध-पूरक शैली में पशु का आलेखन किया गया है। पूँछ और पूरी पीठ के खड़े बालों को मोटी कठोर रेखाओं द्वारा शक्ति के साथ क्रमबद्ध रूप में चित्रित किया गया है। शरीर के मध्यवर्ती भाग में इधर-उधर पट्टी देकर आठ बिन्दुओं को यथाक्रम बीच में रखकर अलंकृति का काल्पनिक भाव व्यक्त किया गया है जिसका पशु के यथार्थ रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। मुँह में समीप आपूरण में रिक्त

अंश छोड़ दिये गये हैं जिनसे सारे अलंकरण-विधान को संगति मिलती है और यह भी ज्ञात होता है कि चित्रकार को अंश-पूरण या अर्ध-पूरण ही अभीष्ट था। मूल चित्र भी छोटा ही है अतः पूरण की कठिनाई के कारण अर्ध-पूरक शैली को स्वीकार नहीं किया गया है वरन् वह एक स्वतन्त्र रूप में सहज रीति से प्रयुक्त हुई है। पैरों में खुरों के विभाजन का संकेत भी किया गया है पर कानों को दिखाने का कोई प्रयत्न नहीं है। यह चित्र मूल से अनुकृत है एवं यहाँ प्रथम वार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी क्षेत्र की सुप्रसिद्ध 'महादेव गुफा' में अंकित एवं गॉर्डन द्वारा अनुकृत जंगली सुअर के चित्र पर आधारित वाह्य रेखानुकृति। इसमें वाल केवल पीठ के कुछ ही भाग में प्रदर्शित किये गये हैं पर कानों का स्पष्ट आलेखन है। थूथन के रूपांकन में स्वाभाविक सादृश्य मिलता है और खुरों के विभाजन भी प्रायः चित्र सं० १ की तरह ही प्रदर्शित हैं परन्तु पूरण सर्वथा अलंकरणहीन है। आगे के दोनों पैर मुड़े हैं जिससे गति का संकेत तो मिलता है पर स्वाभाविकता से रहित होकर।

चित्र सं०—३

कवरापहाड़ नामक रायगढ़ के प्रसिद्ध शिलाश्रय पर लाल गेरुए रंग में अंकित विशाल एवं पुष्ट वाराह का एक अत्यन्त सशक्त अंकन जिसमें सरलीकरण की विचित्र योजना की गई है। मुख समेत सारे शरीर को एक दीर्घवृत्त (ellipse) के रूप में परिकल्पित करके कानों, पैरों और पूँछ को सांकेतिक लघुता के साथ प्रदर्शित किया है जिससे वृत्त की परिधि का वोध विलुप्त न होकर अधिक मुखर एवं सजीव हो गया है। पूँछ का मोड़ संभव है मूल चित्र में कुछ कम हो। एक कान की दीर्घता और एक पैर के हलके मोड़ से गति का सूक्ष्म संकेत किया गया है। गॉर्डन की दृष्टि से यह चित्र छूट गया। यह अनुकृति श्यामकुमार पाण्डेय की प्रतिकृति पर आधारित है, जिसमें मूलचित्र देखने के वाद मुझे कुछ अंतर लगा।

प० प०, फलक III

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी क्षेत्र में माण्टेरोजा के समीपवर्ती एक विशाल शिलाश्रय पर अंकित महाकाय गजराज, जिसके आगे अन्य वड़े पशुचित्र वने हुए हैं तथा कुछ लघु मानवाकृतियाँ भी चित्रित हैं। यह अद्वितीय गज-चित्र मटमैले सफेद रंग की रेखाओं से वनाया गया है। दोहरी वाह्य रेखाएँ वस्तुतः मूल चित्र की रेखाओं की चौड़ाई को व्यक्त करती हैं। सारा शरीर खड़ी मोटी असमान रेखाओं से पूरित है। सहसा लगता है जैसे हाथी की देह पर वाल प्रद-

र्शित किये गये हों जैसे फ्रांस की दॉरदॉने आदि गुफाओं में अंकित 'मैमथ' हाथियों के चित्रण में दिखाई देते हैं, परन्तु विचार करने पर यही लगता है कि वस्तुतः ये रेखाएँ बालों की बोधक न होकर एक प्रकार के अलंकरण का ही रूप व्यक्त करती हैं। इस विचार का समर्थन पीठ के ऊपरी भाग पर बनी आड़ी-लम्बी रेखाओं से होता है क्योंकि वे बालों का बोध किसी भी प्रकार नहीं कराती हैं। कानों में भी अलंकरण का द्योतक रेखा-विधान मिलता है। पूंछ की आकृति पैरों की शैली में काफी चौड़ाई लिये बनायी गई है जो विचित्र लगती है। कानों को सिर के ऊपर और सूंड को दाँतों के बीच दिखाया गया है, फलतः एक दाँत सूंड के ऊपर कान के समीप चित्रित है। यह कल्पनात्मक परिप्रेक्ष्य या ऊर्ध्व दृष्टि से ही सम्भव है। ऐसे कान होशंगाबाद के शिलाश्रय नं० १० के हल्के पीले रंग में अंकित हाथी में भी बने हैं। यह शैलीबद्ध अंकन का प्रमाण है। कुल मिलाकर इस महाकाय पशु की मुख-मुद्रा कान और सूंड उठाये आदिम जंगली हाथी की-सी प्रतीत होती है। मूल चित्र बहुत बड़ा है और उसकी यह अनुकृति यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रही है। गॉर्डन द्वारा अनुकृत पशु-चित्रों में इसका समावेश नहीं है।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के एक मुख्य शिलाश्रय पर अर्धपूरक शैली में सफेद रंग से अंकित हाथी का चित्र, जिसमें कान बाह्य रेखा द्वारा चित्र सं० १ की तरह सिर के ऊपर चित्रित किये गये हैं। उन्हें चित्रकार ने मुख की तरह पूरित नहीं किया है। दाँत एक ही प्रदर्शित है जो सूंड के ऊपर निकला हुआ बना है। आँख का चित्रण रिक्त स्थान को छोड़कर चातुर्य के साथ किया गया है जो विशिष्ट कहा जा सकता है। शिलांकित पशु-चित्रों में आँख प्रायः बहुत कम चित्रित मिलती है। शरीर का अधिकांश भाग बालों जैसी रेखाओं से अलंकृत है। पूंछ पतली और केश-युक्त बनाई गयी है।

चित्र सं०—३

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ के समीप सोरहो घाट के रास्ते में एक शिलाश्रय पर पूरक शैली में गेरुए रंग से अंकित एक गज-चित्र जिसमें हाथी का शरीर सूंड, पूंछ और पैरों के अनुपात में बहुत पतला बना है। दाँत और कान प्रदर्शित ही नहीं किये गये हैं। सम्भव है यह किसी छोटी जाति का हाथी हो। चित्र में गति का पूरा समावेश है।

प० प०, फलक IV

चित्र सं०—१

होशंगाबाद के शिलाश्रय नं० X पर हाथी के ठीक सामने गहरे कत्थई रंग में अंकित

एक दीर्घ शृंग महिष का चित्र। होशंगाबाद का यही एक चित्र है जो ऐलन हॉटन ब्रोड्रिक की 'प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग' नामक पुस्तक में प्रकाशित तीन भारतीय चित्रों में स्थान पा सका है। शरीर के अनुपात में टाँगें अधिक पतली और लम्बी हैं परन्तु चित्रण-शैली की दृष्टि से पशु के सम्पूर्ण आकार के साथ असंगत नहीं लगतीं। उनका पतलापन सींगों की दीर्घता और नुकीलेपन से प्रायः संतुलित हो जाता है। आदिम पशु-चित्रण में जिस प्रकार की शक्तिमयता अथवा ज्यामितिकता अधिकतर मिलती है उसका इसमें सर्वथा अभाव दिखाई देता है। पूरी मुद्रा एक रुग्ण पशु की-सी दिखाई देती है। भल्डरिया (मिर्ज़ापुर) वाले घायल सुअर (छाया चित्र IX) की तरह इसका मुँह भी खुला हुआ चित्रित किया गया है। सम्भव है घायल अवस्था का द्योतन इसमें भी अभीष्ट रहा हो परन्तु अस्त्राघात का प्रदर्शन न होने से केवल रुग्णता की ही प्रतीति होती है। यह चित्र सम्भवतः नवीन प्रस्तरयुग का है। प्रस्तुत छाया-चित्र प्रतिकृति पर आधारित है।

चित्र सं०—२

होशंगाबाद के शिलाश्रय नं० X पर अंकित एक अन्य महिप-चित्र जो चित्रण-शैली में दीर्घ-शृंग महिष (छायाचित्र XIV) से कुछ-कुछ समानता रखता है। शरीर की आपूरण-रेखाओं में किंचित् ज्यामितिकता का समावेश मिलता है किन्तु सम्पूर्ण रूप-संयोजन शिथिल है अतः पूर्वोक्त चित्र की अपेक्षा यह चित्र कुछ परवर्ती काल की रचना हो ऐसा प्रतीत होता है। प्रस्तुत छायाचित्र अनुकृति पर आधारित है।

प० प०, फलक V

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के सर्वप्रमुख शिलाश्रय नं० १० के सबसे ऊपरी भाग में दोहरी रेखाओं में चित्रित महामहिष जो अभी तक अन्वेषकों की दृष्टि से ओझल रहा। इसकी प्रथम शोध का श्रेय श्री मुकर्जी एवं श्री पांडे को है। मैंने उन्हीं के साथ जाकर स्वयं इसे अनुकृत किया। महिष का पिछला और निचला भाग अब भी अस्पष्ट है। सश्रृङ्ग शीश और अगला पैर सर्वथा स्पष्ट दिखाई देता है। पूरे चित्र का आकार लगभग १० फुट लंबा और ६ फुट चौड़ा है। इतनी विशाल आकृति का एक गतिशील स्वाभाविक मुद्रा में दोहरी सधी रेखाओं में अंकन आदिम चितेरों के साहस और सामर्थ्य का परिचायक है। खुर और आँख पूरक शैली में बनाये गये हैं जो शैलीगत वैविध्य के होते हुए भी अपनी कलात्मक संगति रखते हैं। आँख का आकार ज्यामितिक है। उठा हुआ अस्पष्ट पैर प्रस्तुत चित्र में कल्पना द्वारा पूरा कर दिया गया है जो अनुमानतः प्रायः इसी रूप में रहा होगा। कुछ अंतर भी हो सकता है जो मूल आकृति के स्पष्ट होने पर ही ठीक से जाना जा सकता है। महामहिष

'जिराफ-ग्रुप' के ठीक ऊपर बना है जो स्वयं एक धुँधले महाकाय हाथी के ऊपर अंकित है। महिष का यह विशाल चित्र कई दृष्टियों से अद्वितीय है। शैली, आकार, मुद्रा सभी की दृष्टि से इसे विशेष और अप्रतिम कहा जा सकता है। इस शिलाश्रय पर अंकित अनेक चित्रों की तुलना में संभवतः यह अधिक प्राचीन भी सिद्ध हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। प्राचीनतम सम्भवतः इसे नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी शैली एक विशेष परिपक्वता की अवस्था तक पहुंची हुई लगती है। चित्र का अंकन कालिमा लिए हुए गहरे लाल रंग से किया गया है। वाकणकर ने अत्यन्त लघु रेखानुकृतियाँ देते हुए इसकी चर्चा अपने प्रकाशित पत्रकों में की है किन्तु उनकी अनुकृतियों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह चित्र दोहरी वाह्य रेखाओं में बना है और कितना विशाल है। प्रस्तुत चित्र इससे पूर्व कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है।

प० प०, फलक VI

चित्र सं०—१

रायसेन-क्षेत्र में रामछज्जा नामक स्थान के शिलाश्रय पर गहरे कत्थई रंग में अंकित गैंडों के तीन चित्रों में से एक, जिसका रचना-विधान अत्यन्त आकर्षक और विचित्र है। इस चित्र में वाह्य परिधि के अतिरिक्त शरीर का केवल निचला भाग ही पूरक शैली में बना है। ऊपरी भाग का प्रायः सम्पूर्ण अंश सधी हुई चौड़ी धारियों के क्रमवद्ध ज्यामितिक अलंकरण से युक्त है। ये पट्टियाँ त्रिकोणाकृतियों में समानान्तर और समान संख्या में संपुंजित हैं जिनके एक ओर कंठ के समीप आयत की स्थिति है। उसमें खड़ी धारियाँ वनी हैं। शरीर से कंठ और कंठ से मुँह की पृथकता को रचनाकार ने उन्हें परस्पर सम्वद्ध रखते हुए भी कुशलता से प्रदर्शित किया है। कंठ में पुनः उसी प्रकार की चौड़ी धारियाँ संजोई गई हैं। मुख की रचना अद्भुत रूप में की गई है क्यों कि उसमें नीचे-ऊपर दोनों ओर तीन-तीन दाँतों को आलिखित कर दिया गया है जवकि वह खुला भी नहीं है। वंद मुँह के भीतर इस प्रकार दाँतों का ऐसा प्रदर्शन अन्तर्दृष्टि और वस्तुवोध के एक विशिष्ट आयाम का द्योतक है। चित्रणकर्ता के मन में गैंडे के मुँह की कल्पना विना नुकीले दाँतों के निरर्थक और अयथार्थ लगी होगी या उनके विना वह कल्पना असम्भव होगी इसी लिए उसकी रचनात्मक प्रतिभा ने अर्धपूरक शैली में ही इस प्रकार का विचित्र विधान निकाल लिया। मुँह के ऊपर का शृंग, दोनों कान और उनपर तथा स्कंध पर उगे हुए वाल, पूंछ की केश-युक्त आकृति एवं नीचे के प्रजनन-अवयवों का विशिष्ट प्रदर्शन चित्रकार की निरीक्षणगत सूक्ष्मता और रचनात्मक क्षमता दोनों का प्रमाण है। खुरों का रूप अवश्य प्रदर्शित नहीं किया गया है किन्तु पैरों में

गतिशीलता का पूरा समावेश है। श्यामकुमार पांडे से प्राप्त इस अनुकृति के मूल का वहुरंगी छायाचित्र स्पैन (Span) के सितम्बर १९६५ के अंक में छपा है।

चित्र सं०—२

सा० क०, अंक ५, १९३९ में कवरा पहाड़ के चित्रों से सम्वद्ध गॉर्डन के लेख के साथ प्रकाशित चित्र पर आधारित, अनुकृति, जिसमें एक पशु की आकृति को एक विशेष प्रकार से आलिखित किया गया है। अगले पैरों को शरीर की परिधि के भीतर तक ले जाकर पीठ की रेखा से मिला दिया गया है जबकि पिछले पैरों का चित्रण इस प्रकार नही हुआ है। पीठ से नीचे की ओर आनेवाली तीन पतली रेखाएँ इसका संकेत अवश्य करती है कि रचना-प्रवाह उस ओर उन्मुख अवश्य हुआ था। मुख और पृष्ठभाग का चित्रण प्रायः एक ही प्रकार की अर्धपूरक शैली में किया गया है।

चित्र सं०—३

जिस स्थान से चित्र सं० २ लिया गया है, वही से इन दोनों पशुओं को भी अनुकृत किया गया है। ये ज्यामितिकता-युक्त एक-दूसरे को काटती हुई रेखाओं के जाल से पूण रूप-कल्पना के कारण समस्त प्राप्त पशु-चित्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखते है। इनमें यथार्थ पशु-रूप काल्पनिक ज्यामितिक अलंकरण में वहुत अंश तक तिरोहित हो गया है जिससे यह अप्रतिम हो गये है।

प० प०, फलक VII

चित्र सं०—१

चम्वलघाटी-क्षेत्र में स्थित छिव्वड़नाला के एक शिलाश्रय पर अंकित दीर्घकाय वृषभ का चित्र, जो पूर्णतया पूरकशैली में विनिर्मित है। ग्रीवा भाग का सर्वथा अभाव हे। मुख सीधे शरीर से संलग्न है। कभी-कभी पशुओं की मुड़ी हुई गर्दन के परिप्रेक्ष्य में ऐसा ग्रीवाभाव दृष्टिगत होता है। पुच्छ-विषाण की पतली नुकीली आकृति तथा अंग-विन्यास में समाविष्ट कोणमयता आकर्षण का मुख्य आधार है। उसमें एक शैलीगत वैशिष्ट्य है जिसमें ज्यामिति-कला का हल्का आभास है। दो पैर छोटे तथा दो वड़े वने है जिससे लगता है कि वड़े पैर इधर के हों और छोटे उधर के। यह चित्र प्रथम वार इ० ऑ० १९५७–५८, के पृ० २८ पर प्रकाशित हुए चित्र की अनुकृति है। इसका आकार कुछ उससे परिवर्धित है।

चित्र सं०—२

मध्यभारत के एक शिलाश्रय से श्री वाकणकर द्वारा की गई अनुकृति, जो १४ जून, १९५९ के धर्मयुग में प्रकाशित हो चुकी हे, के ऊपर आधारित प्रस्तुत चित्र एक विशाल-

श्रृङ्ग वृषभ का है जो रूप-रचना की दृष्टि से अद्वितीय कहा जा सकता है। सुगठित शरीर पर तीन खड़ी धारियाँ अलंकरण का भाव व्यक्त करती हैं। पृथक्-पृथक् न दिखाकर अगले और पिछले पैरों के सम्मिलित आकार को सांकेतिक रीति से व्यक्त किया गया है जिससे वस्तु के ऐसे स्वतन्त्र मूर्तन का बोध होता है जिसमें अमूर्तन की प्रवृत्ति सन्निविष्ट है। उत्थित पुच्छ और स्कंध का उभार लाक्षणिक रीति से वृषभ की स्वाभाविक शक्तिमत्ता को व्यक्त करते हैं। मूलचित्र गैरिक रेखाओं में बना है। दीर्घ श्रृङ्गों का अंकन सम्मुख-दृष्टि से किया गया है जैसा आदिम चित्रण में प्रायः उपलब्ध होता है।

चित्र सं०—३

हैदराबाद-क्षेत्र के एक शिलाश्रय से मूलतः श्री वाकणकर द्वारा अनुकृत उच्च-श्रृङ्ग वृषभ की पुनरानुकृति जिसका मुख्य आकर्षण पुच्छ-विषाण की पतली रेखाओं और पूरक शैली में रचे गये शारीरिक गठन के उभारों के वैषम्य (Contrast) द्वारा उत्पन्न संगति में है। सबसे अधिक विचित्रता कानों के विषम अंकन से उत्पन्न हो रही है। एक कान पूरक शैली में बना है जबकि दूसरा अर्धपूरक शैली में। समस्त पूरण-विधि में यह आंशिक अपूरण स्वच्छन्द वृत्ति का परिचायक है और पूरी आकृति में रत्न की तरह जटित प्रतीत होता है। पैरों का अंकन अन्य अवयवों की तुलना में असंतुलित और अनगढ़ है। यह चित्र भी कदाचित् गेरुए रंग में ही बना है।

प० प०, फलक VIII

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र की नव-ज्ञात इमलीखोह में सफेद रंग पर लाल रेखाओं द्वारा अंकित यह वृषभ-चित्र मूल से अनुकृत होकर यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। इसका स्थान न केवल इमलीखोह के चित्रों में विशिष्ट है वरन् पँचमढ़ी के अन्यान्य पशु-चित्रों में भी इसकी जैसी रचना-विधि से युक्त कोई अन्य चित्र मुझे अब तक देखने को नहीं मिला। लाल बाह्य रेखाओं से सफेद 'ज़मीन' पर अंकन करने की शैली पँचमढ़ी में व्यापक रूप से मिलती है परन्तु इसमें विशेषता रेखाओं द्वारा आकृति के स्वच्छन्द आपूरण की है जिसमें एक उन्मुक्त लयात्मकता के दर्शन होते हैं। मूल चित्र अनुकृति से अधिक बड़ा और अधिक संश्लिष्ट है। उसमें रेखाजाल की जैसी सघनता है वैसी सीमित समय में त्वरा के साथ की गई अनुकृति में लाना सम्भव नहीं था। सजग रूप-संगठन और गतिमयता भी इसमें लक्षित होती है।

चित्र सं०—२

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० २ पर अंकित एक उच्च-श्रृङ्ग वृषभ,

जिसके शरीर को खड़ी धारियों से आपूरित किया गया है। वे धारियाँ प्रायः वैसी ही हैं जैसी शृङ्ग-रेखाएँ। पैर भी उसी प्रकार की धारियों से बने हैं। चित्र का पिछला भाग और आगे के पैरो का ऊपरी अंश विलुप्त हो गया है। मुख भी सम्भवतः आधा ही शेष रह गया है। सींगों की ऊँचाई और आकृति सिंधुघाटी से प्राप्त सीलों पर अंकित पशुओं का स्मरण कराती है। यह चित्र अप्रतिम है और मूल से अनुकृत होकर यहाँ कदाचित् प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। सींगों की पीछे की रेखाएँ पूर्वालिखित चित्रों का अवशेप हैं।

प० प०, फलक IX

चित्र सं०—१

प्रस्तुत अनुकृति चम्बल घाटी-क्षेत्र में स्थित छिब्बड़नाला के शिलाश्रय-समूह में से एक शिलाश्रय पर अंकित, अंशतः पूरित 'वृषभ' या 'वन-महिष' के चित्र की प्रतिकृति पर आधारित है। यह प्रतिकृति श्री वाकणकर द्वारा की गयी थी और उन्हीं के द्वारा दिये गये विवरण के साथ इं० आँ० (१६५७–५८) के पृ० २८ पर प्रकाशित हुई है। विवरण में इसे जंगली भैंसे (Wild buffalo) का चित्र कहा गया है जबकि इसमें पूरित मुख के अतिरिक्त ऐसा कोई निश्चयात्मक तत्त्व नहीं है कि इसे वृषभ का चित्र न कहा जा सके। मूल चित्र की लम्बाई ४½ फुट है और रेखाएँ काफी चौड़ी हैं। किनारे निकला हुआ एक कान अवश्य अपवाद है क्योंकि न तो वह मुख की तरह पूरक शैली में विनिर्मित है और न शेष शरीर की वाह्याकृति का संकेत देनेवाली रेखाओं की तरह चौड़ी रेखा से बना है। उसकी स्थिति प्रायः वैसी ही विशिष्ट एवं आश्चर्यजनक है जैसी इसी वर्ग के फलक VII, चित्र सं० ३ में प्रदर्शित पशु के कान की है। इस चित्र में केवल मुख को पूरित करके शेष शरीर को रिक्त क्यों छोड़ दिया गया, इसका कोई सहज उत्तर दृष्टिगत नहीं होता। चित्र अपूर्ण है यह मानना बहुत संगत नहीं लगता। यही प्रतीत होता है कि चित्रकार ने या तो मुख पूरित करने के बाद स्वेच्छा से भिन्न शैली में शेष शरीर रचने का संकल्प वैचित्र्य की सृष्टि के लिए किया है। भोपाल के 'हास्पिटल हिल' नामक शिलाश्रय पर अंकित हिरनों का मुख भी इसी प्रकार आपूरित कर दिया गया है जबकि उनकी देह विचित्र रेखाजाल से युक्त बनाई गई है। प्रस्तुत चित्र में पैरों की अपेक्षा पूँछ काफी लम्बी चित्रित की गयी है। चित्र गहरे गेरुए रंग में विनिर्मित है।

चित्र सं०—२, ३, ४

ये तीनों चित्र पँचमढ़ी-क्षेत्र के हैं। चित्र सं० २ माण्टेरोज़ा में, सं० ३ बाज़ार केव या लश्करिया खोह में तथा सं० ४ निम्बू भोज में शिलांकित है। चित्रण-शैली भी इनकी

प्रायः समान ही है अर्थात् सफेद ज़मीन और उसपर पतली लाल वाह्य रेखाओं से इनका निर्माण हुआ है। आवयविक संगठन में उभार प्रमुख रहे हैं। चित्र सं० २ और ३ में गति का समावेश है। चित्र सं० ४ में युग्म-भाव की स्वाभाविकता पर वल दिया गया है, गति का विशेष संकेत नहीं है। मूल रूप में यह चित्र अधिक आकर्षक लगता है। अनुकृति में रेखाओं का सधापन और अवयवों का उभार पूरी तरह उसी रूप में नहीं आ सका है। युग्म में पिछले पशु के तीसरे पैर में विशेष असंगति दिखाई देती है। योरोप के अति प्राचीन गुफा-चित्रों में भी एक ऐसा ही पशु-युग्म मिलता है।

प० प०, फलक X

चित्र सं०—१

मध्यप्रदेश के शिलाश्रयों का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री वाकणकर ने ग्वालियर के एक शिलाश्रय पर अंकित चित्र की जो रेखानुकृति इं० आॅ० (१९५६–५७) पृ० ८० पर प्रकाशित की है, यह चित्र उसी पर आधारित है। इसमें वृषभ-समूह का एक विशेष शैली में रेखांकन किया गया है। स्कन्ध और पुच्छ-विषाण की स्वतन्त्र गोलाकृति तथा पेट की असम्वद्ध रेखा से ही भीतरी पैरों का प्रदर्शन इस शैली की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। चित्र में अधिकांश पशु-आकृतियाँ अपूर्ण हैं।

चित्र सं०—२

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कोहवर नामक गुफा में एक अन्य वृष-चित्र पर आक्षिप्त वृषभ-चित्र। पूंछ और सींगों को छोड़कर शेष रूप-रचना पूर्वोक्त चित्र नं० १ की शैली में ही हुई है। यह चित्र गेरुए रंग में अंकित है और यहाँ मूल से अनुकृत होकर प्रथम वार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—३

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में सम्भवतः सोरहोघाट के मार्ग में स्थित एक शिला पर गेरुए रंग में अंकित पशु-चित्र जो वृषभ या वन-महिष किसीका भी हो सकता है। केवल वाह्यरेखा के स्वल्प संगठन से पशु के रूप को निवद्ध किया गया है। पिछले पैर पूर्वोक्त शैली में ही बने हैं पर अगले पैरों की रचना रेखा से रेखा को काटते हुए की गयी है जिसमें गति का संकेत समाहित हो गया है।

प० प०, फलक XI

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र में जम्बूद्वीप नाले के प्रमुख शिलाश्रय-समूह में केन्द्रीय गुफाद्वार पर

मटमैले सफेद रंग में अंकित दीर्घकाय पशु का विशाल शीश जो अर्धपूरक शैली में विनिर्मित है। नासिका-रंध्र को पूरण के क्रम में बिंदुवत् रिक्त स्थान छोड़कर प्रदर्शित किया गया है, जो विशेषत: लक्षित करने योग्य है।

चित्र सं०—२

भोपाल-क्षेत्र के धरमपुरी नामक स्थान पर शिलांकित एक अलंकरणहीन अर्धपूरक शैली में विरचित वृषभ-चित्र। उदर-भाग के रिक्त-स्थान को दीर्घतायुक्त गोलाकार रूप देकर एक अन्त:संगति उत्पन्न की गई है जो पूरित अंश के अनुकूल प्रतीत होती है। पुच्छ का तरंगायित रूप भी संगत है परन्तु पैरों की आकृति तदनुरूप नहीं लगती। स्कन्ध का उभार विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। इसकी प्रथम अनुकृति का श्रेय श्री वाकणकर को है।

चित्र सं०—३

पँचमढ़ी-क्षेत्र की नवज्ञात इमलीखोह में अंकित एक पशु चित्र, जो मूल से अनुकृत होकर यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। शैली की दृष्टि से यह पूर्वोक्त चित्र सं० २ के समान है परन्तु इसमें उदर का अपूरित भाग गोलाकार न होकर प्राय: त्रिकोणाकृति है। सींगों का स्पष्ट चित्रण न होकर संकेत मात्र कर दिया गया है। आकृति से इसे महिषी का चित्र कहा जा सकता है यद्यपि मुख छोटा और बकरी जैसा लगता है। इसकी रचना सफेद रंग में हुई है।

प० प०, फलक XII

चित्रसं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र की बनियाबेरी नामक गुफा में अंकित इस चित्र का मूल रूप 'क्षेत्र-परिचय' के अंतर्गत समाविष्ट फलक IX छायाचित्र–१३ में देखा जा सकता है। मटमैले सफेद रंग में बने इस सगर्भा गाय के चित्र में गर्भस्थ वत्स का मुख पीछे की ओर चित्रित है। यह जन्म लेते समय की उसकी प्रकृत स्थिति का पूर्वाभास कराता है। पशु-जीवन के निकट सम्पर्क, व्यापक अनुभव एवं सूक्ष्म निरीक्षण के संस्कार से ही ऐसा चित्रण सम्भव हो सका है। चित्र पूरक शैली में विनिर्मित है। वत्स के चित्रण के लिए कौशलपूर्वक निकाला गया रिक्त स्थान ज्यामितिक संतुलन से युक्त है। विषय-वस्तु और आलेखन-शिल्प की दृष्टि से यह चित्र पशुवर्ग के चित्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

चित्र सं०—२

चम्बल घाटी में सीताखरड़ी शिलाश्रय-समूह में स्थित मोड़ी ग्राम के समीपवर्ती

शिलाश्रय पर गहरे कत्थई रंग से अंकित सगर्भा गाय का यह चित्र उपर्युक्त चित्र जैसा ही है। केवल अन्तर शैली और वत्स के रूप एवं स्थिति का है। अगले पैरों के रचना-भेद और आकार की लघुता के अतिरिक्त पेट के बच्चे का स्वरूप ठीक गाय जैसा ही चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि सींगों को द्योतन करनेवाली रेखाएँ भी बना दी गई हैं। बच्चे के प्रसंग में इन्हें कान का द्योतक कहा जा सकता है, पर सादृश्य से सींगवाली व्यंजना ही वास्तविक प्रतीत होती है। आदिम कल्पना की वास्तविकता का सौन्दर्य भी उसी में है। बच्चे के सींग नहीं होते, यह प्रकृत तथ्य है। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से इससे बड़ा सत्य यह है कि बच्चा बड़े पशु का छोटा रूप होता है। यहाँ दूसरे भावसत्य ने पहले ज्ञानात्मक या तथ्यपरक सत्य का अतिक्रमण किया है। प्रस्तुत चित्र मूल चित्र की वाकणकर द्वारा की गई उस अनुकृति पर आधारित है जो इं० आॅ० (१९५७–५८) के पृ० २७ पर मुद्रित हुई है।

चित्र सं०—३

मिर्जापुर-क्षेत्र में लिखनिया–७ की गुफा-छत के निचले भाग में गेरुए रंग से अंकित सवत्सा गाय का यह चित्र मूल से अनुकृत होकर यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। पूर्वोक्त दोनों चित्रों से भिन्न इसमें वत्स जन्म पाने के बाद की अवस्था में चित्रित है। गाय का शरीर-भाग रेखाओं से अलंकृत है जिनमें कुछ युक्त है और कुछ आबद्ध। पुच्छ की केश-मयता सशक्त शैलीबद्ध रूप में आलिखित है। सींगों को बाह्यरेखा में समाविष्ट करते हुए अंकित किया गया है।

तीनों चित्रों में यह बात विशेष रूप से लक्षित करने योग्य है कि किसी में गाय के थन नहीं बनाये गये हैं। सम्भवतः यह तथ्य पशुपालन की अवस्था के पूर्वयुग की मनःस्थिति का द्योतक है।

प० प०, फलक XIII

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में विढम नामक प्रसिद्ध स्थान के नवज्ञात शिलाश्रय पर अंकित एक पूरे आखेट-दृश्य में समाहित प्रधावित पशु-समूह के तीन पशु। इनमें से बीचवाला स्पष्टतः हिरन लगता है परन्तु शेष दोनों ऐसे केशयुक्त वन्य पशु हैं जिनकी आकृति किसी परिचित नाम से सम्बद्ध नहीं की जा सकती। इसी आखेट-दृश्य में एक रथवाही आखेटक चित्रित है जिसके रथ में ऐसे ही दो आदिम अज्ञात नाम पशु जुते हैं। इनका चित्रण गहरे कत्थई रंग से पूरक शैली में हुआ है। मूल चित्र खुला होने के कारण प्रायः धुँधला हो गया है। भिगोने पर जब वह कुछ स्पष्ट हुआ तभी यह अनुकृति की जा सकी है।

प० प०, फलक XIV

चित्र सं०—१, २

ये दोनों चित्र भी विढम के उपर्युक्त दृश्य के ही अंग हैं। इनमें शिकारी कुत्ते हिरनों का शिकार करते हुए चित्रित किये गये है। प्रत्येक हिरन के पीछे एक-एक कुत्ता लगा हुआ है जिसकी आक्रामक मुद्रा स्वतन्त्र और स्वाभाविक गति एवं त्वरा से युक्त है। चित्र सं० १ में कुत्ता हिरन के ऊपर से आक्रमण करता हुआ अंकित किया गया है जबकि चित्र सं० २ में एक कुत्ता सामने से और एक पीछे से आक्रमण कर रहा है। मुद्रांकन में यह अन्तर इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि चित्रण किसी रूढ़ि के आश्रित न होकर प्रत्यक्ष अनुभव से अनुप्राणित है। पूरक शैली में भी इसी लिए वह इतना शक्तिशाली एवं आकर्षक लगता है। पहले चित्र में हिरन आवयविक संगठन की दृष्टि से उत्कृष्ट रूप से चित्रित हुआ है। अगले पैरों का उभरा हुआ रूप पुष्टता की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। उसमें हिरन के मुख के समीप बनी हुई गोलाकृति का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। दोनों चित्र रूपविन्यासगत आनुपातिकता तथा संतुलित संपुजन के गुणों से पूरित हैं।

प० प०, फलक XV

(बायीं ओर ऊपर से नीचे)

इसमें पँचमढ़ी-क्षेत्र के विविध स्थानों से गॉर्डन द्वारा अनुकृत आठ चित्रों की पुनरनुकृति समाविष्ट है। बायीं ओर के पहले चित्र से लेकर दायीं ओर के आठवें चित्र तक का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। यह सभी चित्र सा० क० (१९४० ई०) वा० ५, नं० ११ में प्रकाशित हो चुके है।

चित्र सं०—१

डोरोथीडीप में मटमैले सफेद रंग, जिसे गॉर्डन ने 'क्रीम' रंग कहा है, के ऊपर लाल पतली रेखाओं से बनी साँभर की यह गतिशील आकृति अलंकरण की एक स्वतन्त्र पद्धति का प्रमाण है, जिसमें रेखाओं के साथ बिंदुओं का भी प्रयोग किया गया है। अपने श्रेणी-क्रम में गॉर्डन ने इसे प्रारम्भिक प्रथम श्रेणी का बताया है।

चित्र सं०—२

गहरे बैंगनी जैसे लाल रंग में अंकित सोनभद्र के शिलाश्रय की यह आकृति गॉर्डन द्वारा साँभर की ही बताई गई है और उत्तरकालीन प्रथम श्रेणी में रक्खी गई है। इसके अलंकरण की लहरीली रेखाएँ सर्वथा स्वच्छन्द प्रतीत होती हैं। पशु की आकृति कुछ-कुछ ज्यामितिक होते हुए भी अनगढ़ है। मुँह और पूँछ को रंग से पूरित करके शैली-भेद उत्पन्न

किया गया है। जिसके कारण वैचित्र्यमूलक आकर्षण उत्पन्न हो गया है। अलंकरण-रेखाओं के बीच द्वीपवत् रिक्तस्थान मूल चित्र में छूटे हुए रंग का द्योतक लगता है।

चित्र सं०—३

जम्बूद्वीप के शिलाश्रय नं० १ पर कुछ भूरापन लिये हुए पीले रंग (Greyish Yellow) में अंकित वृषभ, जिसे गॉर्डन ने प्रारम्भिक द्वितीय श्रेणी में माना है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है 'हार्पून' जैसी काँटेदार रेखाओं द्वारा शरीर-भाग का अलंकरण, जो अद्वितीय कहा जा सकता है। यह शुद्ध अलंकृति के भाव से निर्मित किया गया हो यह तो संभव है ही, किन्तु यह भी असंभव नहीं है कि इसके पीछे पशु-वध का कोई अतिविश्वास निहित रहा हो। इसमें प्रजनन-अवयव भी प्रदर्शित हैं। अगले पैरों में अलंकरण है किन्तु पिछले पैर सादे ही बने हैं। पैरों का नीचे की ओर कोणात्मक रूप में समापन हुआ है। कंठ और पैरों को शरीरभाग से पृथक् करती हुई रेखा रचना-विधान के रूपगत विभाजन-संयोजन की द्योतक है और संभवतः वर्ण-विन्यास की सीमा को व्यक्त करती है।

चित्र सं०—४

मैघ्यू पीप (Maghew Peep) नामक गुफा में गुलाबी (Pink) रंग में अंकित बारहसिंगा जिसकी रचना अलंकरणहीन अर्धपूरक शैली में हुई है। बीच का शरीर भाग रिक्त छोड़ दिया गया है जो ऊपर से आई रेखा से प्रायः दो भागों में बँट गया है। चित्र से पशु की पुष्ट शारीरिक गठन और भंगिमा प्रकट है।

प० प०, फलक XV

(दायीं ओर ऊपर से नीचे)

चित्र सं०—५

माण्टेरोजा के शिलाश्रय नं० ४ पर लाल रंग से अंशतः अलंकृत शैली में अंकित बारहसिंगा जिसे गॉर्डन ने उत्तरकालीन प्रथम श्रेणी में रखा है। सींगों की दीर्घता और संतुलित संगति तथा कंठ और अगले भाग का विचित्र अलंकरण विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। इसके कारण यह चित्र अप्रतिम हो गया है।

चित्र सं०—६

गहरे उन्नावी (लाल का ही एक रूप; Dark Maroon) रंग में अंकित साँभर का अंशतः अलंकृत शैली में विनिर्मित यह चित्र भी विशेष कहा जा सकता है। इसमें पूर्वोक्त चित्र सं० २ की तरह कंठ तक का भाग आपूरित कर दिया गया है। पूंछ अवश्य उस प्रकार की न होकर रेखा मात्र से बनाई गई है। पैर भी पतली रेखाओं से बने हैं। अगले पैर अधिक लम्बे और गतिशीलता के द्योतक हैं।

चित्र सं०—७

यह भूरे (Grey) रंग से अर्धपूरक शैली में झालई के शिलाश्रय पर अंकित साँभर का चित्र गॉर्डन द्वारा प्रारम्भिक द्वितीय श्रेणी में रखा गया है। मुखाकृति और यह भी असम्भव नहीं है कि यह आकृति साँभर की न होकर बकरी की हो। चित्र सर्वथा गतिहीन और नितान्त सरल है।

चित्र सं०—८

यह वृष-चित्र गहरे लाल रंग की रेखाओं से जम्बूद्वीप के शिलाश्रय न० ४ पर अंकित है और गॉर्डन ने इसे अपने श्रेणी-क्रम में प्रारम्भिक तृतीय श्रेणी में स्थान दिया है। इसकी रूप-कल्पना सरल किन्तु ज्यामितिक है। शरीर भाग को प्रदर्शित करनेवाली ऊपरी रेखा अगले और पिछले पैर की रेखाओं के साथ आयत जैसा बनाती है। बीच के दोनों पैरों और पेट को एक ही घुमावदार रेखा से संकेतित किया गया है। इस प्रकार का चित्रण-विधान कोहबर और ग्वालियर के पशु-चित्रों में भी मिलता है। द्रष्टव्य, प० प०, फलक X चित्र सं० १ और २।

प० प०, फलक XVI

चित्र सं०—१

पंचमगढ़ी-क्षेत्र में जम्बूद्वीप के एक मुख्य शिलाश्रय पर पतली सफेद और लाल रेखाओं से सघन अलंकृत शैली में अंकित अर्धस्पष्ट पशु-चित्र, जो मूल से अनुकृत होकर यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। पीठ के ऊपर अलंकरण की कुछ रेखाएँ और प्रदर्शित हैं जिनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। मूल में आपूरण रेखाओं का जो सौन्दर्य है उसका अंश मात्र ही प्रस्तुत अनुकृति से व्यक्त होता है। इस प्रकार की शैली वहाँ कदाचित् सबसे प्राचीन चित्रों में प्रयुक्त हुई है।

चित्र सं०—२

भोपाल के गुफा-मन्दिर में गहरे कत्थई रंग से विशिष्ट अर्धपूरक शैली में अंकित हिरन का एक आकर्षक चित्र, जिसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रिक्त स्थान छोड़कर ज्यामितिक लघु आकारों से ग्रीवा और शरीर के मुख्य भाग को अलंकृत किया गया है। पैरों का निचला भाग अस्पष्ट या मिटा हुआ है। सम्पूर्ण चित्र, को देखने से पशु की मुद्रा पर्याप्त सजीव प्रतीत होती है।

चित्र सं०—३

पंचमढ़ी-क्षेत्र की नवज्ञात इमलीखोह में अंकित एक हिरन का चित्र, जो सफेद रंग

से बनाया गया है। इसकी रचना पूरक शैली में हुई है। कानों का आकार नुकीला न होकर किनारे से सीधा है जो विचित्र लगता है। मुद्रा स्वाभाविक है। मूल से अनुकृत होकर यह चित्र यहाँ पहली बार प्रकाशित हो रहा है।

प० प०, फलक XVII

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र में जम्बूद्वीप के एक प्रमुख शिलाश्रय पर अंकित हरिण-पंक्ति में से अनुकृत हिरन का अंगत: अलंकृत एवं अर्धपूरक शैली में निर्मित चित्र, जो अंग-विन्यास की सतुलित संगति के कारण आकर्षक प्रतीत होता है। शृङ्ग-जाल और उत्थित पुच्छ की आकृतियों में संतुलन विशेष रूप से लक्षित होता है। खुरों के विभाजन, पैरों के मोड़ और प्रजनन-अवयवों के प्रदर्शन में स्वाभाविकता है। पेट की पूरण-रेखाएँ बीच में अस्पष्ट हो गयी हैं।

चित्र सं०—२

उसी क्षेत्र की इमलीखोह नामक नवोपलब्ध गुफा में काले रंग से हिरन की पूरक शैली में अंकित अर्धस्पष्ट बारहसिंगे का मूल से अनुकृत चित्र, जो यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल-चित्र इस अनुकृति से कई गुना बड़ा है। शृङ्ग-जाल बहुत छोटा किन्तु आकर्षण-युक्त है।

चित्र सं०—३

पँचमढ़ी की ही डोरोथीडीप नामक गुफा में मोटी सफेद रेखाओं से अलंकृत शैली में अंकित बारहसिंगा-हिरनी का मूल से अनुकृत चित्र, जो निर्माण-क्रम में फल-चित्र से अनुपात की दृष्टि से लम्बाई में कुछ छोटा हो गया है। अलंकरण आड़ी-तिरछी अनेक प्रकार की रेखाओं से किया गया है। आकार में ज्यामितिकता स्वत: स्पष्ट है। खुरों का निदर्शन नहीं किया गया है।

प० प०, फलक XVIII

चित्र सं०—१

मिर्जापुर क्षेत्र के 'कोहवर' नामक शिलाश्रय पर अंकित कुछ पशुओं तथा आदिम योद्धाओं के चित्र। तीनों पशुओं के मुख्य शरीर-भाग को रेखाओं से आपूरित किया गया है। किन्तु तीनों की आपूरण-शैली में भिन्नता दिखाई देती है। नीचे वाले हिरन के गले के पास जो अतिरिक्त रेखा-जाल बना हुआ है उसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। संभव

है वह किसी पूर्ववर्ती चित्र का अवशेष हो अथवा कोई प्रतीकात्मक चित्रण । दोनों योद्धाओं की मुद्राएँ कहीं अधिक सजीव, भावावेग के स्फुरण से युक्त एवं गतिशील हैं। ढाल और खाँडे को धारण करने की विधि तथा पैरों की गति से युद्ध-नृत्य का-सा आभास होता है। शिरोभूषा भी विशेष सज्जा से युक्त है। इन योद्धाओं की समाकार अनुकृतियाँ 'धनुर्धर तथा अन्य योद्धा' नामक चित्रखंड में द्रष्टव्य हैं। प्रस्तुत छायाचित्र मनोरंजन घोष द्वारा बनवायी हुई प्रतिकृति पर आधारित है और उनके 'मोनोग्राफ' में समाविष्ट है।

चित्र सं०—२.

रामगढ़ क्षेत्र में स्थित सिंघनपुर के शिलाश्रयों पर अंकित विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ, जिनमें से कुछ तो स्पष्टतः पशु-चित्र एवं मानवाकृतियाँ हैं किन्तु शेष अस्पष्ट एवं प्रतीकात्मक प्रतीत होती हैं। मनोरंजन घोष जिनके द्वारा करायी गयी अनुकृतियों पर प्रस्तुत छायाचित्र आधारित है, अपने 'मोनोग्राफ' में इसकी प्रथम आठ आकृतियों को अनिश्चित अभिप्राय (Uncertain Motif) बताते हैं तथा नवीं को 'एण्टीलोप' या बारहसिंगा और दसवीं को पुनः अनिश्चित महत्त्व का चिह्नांकन मानते हैं । उनकी धारणा प्रायः स्वीकार की जा सकती है परन्तु चौथी आकृति स्पष्टतः भागते हुए छोटे बारहसिंगे की लगती है। इसी तरह पहली भी मानवाकृतियों का आभास देती है । शेष के सम्बन्ध में अनिश्चित कहना अनुपयुक्त नहीं है।

प० प०, फलक XIX

इस फलक पर मुद्रित सभी चित्र कबरापहाड़ के हैं जो रायगढ़ क्षेत्र में स्थित है। इनकी प्रथम अनुकृति गॉर्डन ने की। बायीं ओर बीच वाला चारखानेदार बारहसिंगा तथा दायीं ओर सबसे नीचे आँखवाला छोटा पशु १९३९ ई० में अनुकृत हुआ, शेष की अनुकृति १९३५ ई० में सम्पन्न हुई। ये सभी चित्र सा० क० (१९३९ ई०) के वॉ० ५, नं० ५ में प्रकाशित उन्हीं अनुकृतियों पर आधारित हैं। रूप-विन्यास, स्वच्छन्द आलेखन तथा ज्यामितिक अलंकरण की दृष्टि से यह चित्र अद्वितीय प्रतीत होते हैं। मुख-भाग सभी में पूरक शैली में बनाया गया है। शेष शरीर-भाग अलंकृत करने की चेष्टा की गयी है। ऊपर के दोनों चित्रों में रेखाएँ बहुत अधिक स्वच्छन्द रूप से प्रयुक्त हुई हैं। पहले चित्रों में तो वे सर्वथा अनगढ़ लगती हैं। दूसरे में अवश्य लहरीलेपन के साथ उनमें एक क्रम भी लक्षित होता है। पहले चित्र का मुख सम्मुख दृष्टि से अंकित है जो अपवाद होने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। शेष सभी चित्रों में पार्श्व दृष्टि से ही आकृतियों को चित्रित किया गया है। दूसरे चित्र में आँख भी प्रदर्शित है। कानों के नुकीलेपन तथा मुँह और गले के आकार से

व्यंग्य-चित्र जैसी छवि उद्भासित होती है। अगले पैरों की अपेक्षा पिछले पैरों की रचना भिन्न और रोचक है। तीसरे चित्र में वर्गाकार अलंकरण तथा चौथे में समानान्तर तीन सशक्त रेखाओं का विधान रिक्त स्थान को भरने की विविध प्रक्रियाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। नीचे के मुड़ी हुई गर्दन वाले चित्र में भी वैसी ही किन्तु अशक्त समानान्तर रेखाओं का प्रयोग हुआ है। पेट में बनी हुई आकृति गर्भस्थ बच्चे की हो सकती है जैसा चित्रण फलक XII के गो-चित्रों में मिलता है। इस चित्र का पिछला निचला भाग और ऊपर के दूसरे चित्र का पृष्ठांग अपूर्ण रह गया है। चित्रकार ने ही संभवतः उसे वैसा छोड़ दिया है। सबसे नीचे और पीछेवाले पशु में आँख की गोलाकृति के साथ नीचे की रेखा द्वारा पलकों का विभाजन भी चित्रित किया गया प्रतीत होता है। उसका पूरा रूप प्रायः असंतुलित है। सींग और पैर बहुत पतली रेखाओं से बने हैं। पूरण तीन ओर ही है। पीछे की ओर उसका अभाव है। कबरापहाड़ के इन चित्रों में ज्यामितिकता की एक ऐसी विचित्रता मिलती है जो उनकी विशेषता कही जा सकती है।

प० प०, फलक XX

चित्र सं०—१

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में स्थित लिखनिया—२ की गुफा में बायीं ओर कत्थई रंग में अंकित पशु-समूह जिसे एक मानव-युग्म देख रहा है। इस समूह के सभी पशु पृथक्-पृथक् शैली में बने हैं परन्तु ज्यामितिकता प्रायः सबमें प्राप्त होती है। इनकी मुद्राएँ स्वाभाविक हैं तथा अलंकरण-वैविध्य रोचक है। समूह में हिरनों के साथ बकरियों का भी समावेश है। नीचे बीच वाली आकृति बालों से लदी हुई झबरी बकरी-सी लगती है। सबके मुँह एक ही दिशा में हैं जिससे सहचरण का बोध होता है। नीचे वाले पहले पशु के उदर भाग का अलंकरण सबसे अधिक आकर्षक है। बीच में आयत बनाकर उसे तीन ओर तीने-तीन रेखाओं से सम्बद्ध करने का मौलिक प्रयत्न किया गया है। यह चित्र मूल से अनुकृत होकर यहाँ प्रथम बार छप रहा है।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी-क्षेत्र की सबसे निकटवर्ती सहज सुलभ 'बाज़ार केव' नामक गुफा के पार्श्व पर सफ़ेद रंग से अंकित और दूर से ही लक्षित होने वाली वह बकरी जिससे महबूब मियाँ भी परिचित थे। पँचमढ़ी के शिलाचित्रों की मेरी खोज सबसे पहले इसी की उपलब्धि से आरम्भ हुई। बकरी के पीछे जो आकृतियाँ बनी हैं, मूल चित्र में वे स्पष्ट नहीं होती हैं। इस अनुकृति में जो आकार उन्हें मिला है उससे वे दो बड़े पक्षियों और एक मानव की प्रतीत

होती है। पर अधिक संभावना यही है कि वे मूलत: किसी अन्य वस्तुओं की द्योतक रही होंगी जो अब अस्पष्ट होकर इस प्रकार प्रतिभासित होता है। बहुत चेष्टा करने पर भी उन आकृतियों की रूपगत संदिग्धता पर विजय नहीं मिल सकी। अंत में मुझे जैसा वाह्यत: प्रतीत हुआ, अनुकृत कर लिया।

प० प०, फलक XXI

चित्र सं०—१

मिर्जापुर-क्षेत्र में लिखनिया–१ के समीपस्थ कोहवर नामक गुफा में गेरुए रंग से अंकित पशु पर पीछे से आक्रमण करता हुआ तेंदुआ, जिसकी रूप-रचना प्राय: उसी शैली में हुई है जिसमें इसी खंड के फलक X के चित्र नं० १ और २ बने हैं। इसमें भी पेट और भीतरी पैरों को एक ही रेखा द्वारा सामर्थ्य के साथ प्रदर्शित किया गया है। मुँह और कानों को पूरित करके शेष शरीर को बड़े-बड़े बिन्दुओं से भर कर अलंकरण और वस्तुसत्य दोनों का निर्वाह किया गया है। तेंदुए की पीठ पर ऐसे चिह्न होते ही है। पूँछ को अन्तिम अंश पर लहरीला बनाकर आक्रमण के आवेग की व्यंजना की गई है। यह अवश्य है कि उसे जिस पशु पर आक्रमण करता हुआ प्रदर्शित किया गया है, वह अर्धस्पष्ट और सर्वथा पूरक शैली में भिन्न प्रकार से विनिर्मित है। ऐसी दशा में यदि उसे चित्र का ही अंग माना जाय, जैसा कि लगता है, तो कहना होगा कि इसमें दो भिन्न शैलियों का प्रयोग हुआ है।

चित्र सं०—२

पंचमढ़ी-क्षेत्र में 'बीनाला' के शिलाश्रय नं० ७ पर अंकित एक विचित्र दृश्य, जिसमें एक व्याघ्र ने अपने अगले पैरों से एक आदमी को पकड़ रखा है। व्याघ्र की आकृति असाधारण है। उसकी पूँछ नहीं बनाई गई है। शरीर, अगले पैर, गर्दन और मुँह सभी आनुपातिक दृष्टि से अधिक लम्बे बने हैं और एक खिचाव का बोध कराते हैं। आदमी का जो पैर उसकी पकड़ में है वह भी दूसरे पैर से अधिक लम्बा बना है। इसमें भी भावात्मक अनुपात की स्थिति दिखायी देती है। मूल चित्र भूरे (ग्रे) रँग में बना है और पहली बार गॉर्डन द्वारा अनुकृत हुआ है। उन्होंने इसे प्रारम्भिक द्वितीय श्रेणी में माना है। प्रस्तुत अनुकृति उसके सा० क० (१९४० ई०) वा० ५, नं० ११ के पृ० ६६४ पर प्रकाशित रूप पर आधारित है।

चित्र सं०—३

मिर्जापुर-क्षेत्र में स्थित लिखनिया–१ में गेरुए रंग से अंकित व्याघ्र-युग्म। इस प्रकार के उन्नत-पुच्छ व्याघ्र वहाँ अनेक स्थानों पर चित्रित मिलते हैं। यह अनुकृति सा० क०

(१९४०) वा० ५, नं० ११ के पृ० ६६५ पर छपे चित्र पर आधारित है।

चित्र सं०—४

पँचमढ़ी क्षेत्र के दूरवर्ती बोरी नामक स्थान पर शिलांकित चीता जिसकी मुद्रा पर्याप्त स्वाभाविक है। मुँह और पीठ के बालों का क्रमबद्ध चित्रण व्यवस्थित और कलात्मक है। घूमी हुई पूँछ के सिर पर केश-गुच्छ का आभास दिया गया है। नाखून प्रदर्शित नहीं हैं पर पंजों की आकृति का बोध कराया गया है। उठे हुए संतुलित कान सजीवतासूचक हैं। इसकी अनुकृति का श्रेय गॉर्डन को है।

प० प०, फलक XXII

चित्र सं०—१

मिर्जापुर क्षेत्र में छातु ग्राम वाली लिखनिया से कुछ ऊपर की ओर गरई नदी के ही तट पर स्थित 'कोहवर' के शिलाश्रय के शिरोभाग में अंकित विचित्र जीवाकृतियाँ। सामान्य दृष्टि से, प्रस्तुत छायाचित्र से यह जल में तैरते हुए मेंढकों जैसी प्रतीत होती हैं परन्तु शिलाश्रय को प्रत्यक्षत: देखने पर उक्त प्रतीति विभ्रम मात्र सिद्ध होती है क्योंकि जल का आभास देने वाली आड़ी धारियाँ पत्थरों पर पड़ी हुई दरारें मात्र हैं। यह छायाचित्र मनोरंजन घोष द्वारा करायी गयी जिस प्रतिकृति पर आधारित है वही सदोष है। उन्होंने अपने मोनोग्राफ में इस चित्र का परिचय देते हुए लिखा है कि ये आकृतियाँ सम्भवत: सामने वाले हिरन पर आक्रमण करते हुए रीछ जैसे किसी पशु की हैं। वास्तव में इनका स्वरूप सर्वथा स्फुट नहीं होता है अत: निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। मूल आकृतियाँ आकार में काफी बड़ी हैं।

चित्र सं०—२

रायगढ़ क्षेत्र में स्थित सिंघनपुर के एक शिलाश्रय पर अंकित पशु-युद्ध का दृश्य, जिसके बायें किनारे पर बनी हुई पूरक शैली की सबसे भिन्न आकृति को अमरनाथ दत्त ने अपनी पुस्तक में मत्स्यकन्या (Mermaid) बताते हुए बड़ा ऊहापोह किया है परन्तु यह धारणा कल्पनाश्रित प्रतीत होती है क्योंकि लटकते हुए दोहरे रेखाजाल, जो इस दृश्य में कई जगह अंकित हैं, मत्स्यकन्या के तथाकथित पंखों से रूप-साम्य रखते हैं, केवल रचना-शैली का अन्तर लगता है। इसके जालवाही मानवाकृति होने की संभावना ही अधिक है। चित्र के केन्द्र में एक पशु दूसरे पर आक्रमण करता हुआ चित्रित है। चारों ओर छाया हुआ आतंक चार-पाँच मानवाकृतियों की मुद्राओं से सर्वथा स्पष्ट है। उनका चित्रण सामान्यतया ज्यामितिक होते हुए भी विभिन्न रूप में हुआ है। शरीर की आपूरण-रेखाओं में यह भिन्नता

सहज ही लक्षित की जा सकती है। पशुओं का चित्रण शक्ति-रहित एवं साधारण कोटि का है। यह छायाचित्र भी अनुकृति पर आधारित है।

प० प०, फलक XXIII

चित्र सं०—१, २, ३

पहले दो चित्र गहरे कत्थई रंग में बने हैं और आदमगढ़ होशंगाबाद के विभिन्न शिलाश्रयों से अनुकृत हैं। अन्तिम तीसरा चित्र पँचमढ़ी-क्षेत्र के माण्टेरोज़ा का है और सफेद रंग में अंकित है। आदमगढ़ के दोनों चित्रों में अश्वों के ग्रीवा-केश एक ही प्रकार प्रदर्शित हैं पर पहले में एक ओर बने हैं जबकि दूसरे में दोनों ओर। पहले में मुख के पास से बाण की तरह निकली झुकी आकृति विचित्र है। अन्य दोहरी रेखाएँ बंधन का आभास देती हैं। चित्र गतिशील है और पूरक शैली में बना है। दूसरे चित्र में अर्धपूरक शैली का प्रयोग हुआ है और चित्र अपूर्ण लगता है। अगले दोनों पैरों का रचना-विधान परस्पर भिन्न है। एक रेखालंकृत है, दूसरा पूरित। माण्टेरोज़ा वाले चित्र में सवत्सा घोड़ी का अंकन है। घोड़ी अर्धपूरक शैली में और बच्चा पूरक शैली में बना है। बच्चे की आकृति अधिक स्वाभाविक है।

प० प०, फलक XXIV

चित्र सं०—१

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के प्रमुख शिलाश्रय पर अंकित एक पशु-चित्र जिसे जंगली सुअर के रूप में पहचाना गया है। किन्तु पतली गर्दन और छोटे मुंह के कारण उसका रूप सर्वथा स्पष्ट नहीं है। यह वन-महिष भी हो सकता है। प्रस्तुत अनुकृति 'मोनोग्राफ' में प्रकाशित प्रतिकृति पर आधारित है।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी क्षेत्र में जम्बूद्वीप के शिलाश्रय नं० ३ पर गहरे लाल रंग में अंकित संभवतः वन-महिष (Bison) की बाह्यरेखानुकृति जो सा० क० (१९४०) वा० ५, नं० ११ के पृ० ६६४ पर प्रकाशित अनुकृति पर आधारित है। इस चित्र का उन्नत ग्रीवा-भाग तथा पूरक शैली में भी आलिखित शिश्न पशु की शक्तिमत्ता का विशेष परिचायक है।

चित्र सं०—३

जम्बूद्वीप के ही शिलाश्रय नं० ४ पर अंकित अज्ञात नाम पशु जिसे गॉर्डन ने लकड़-बग्घा (Hyena) अनुमानित किया है किन्तु सर्वथा निश्चय न कर पाने के कारण प्रश्न-

चिह्न लगा दिया है। गॉर्डन द्वारा की गयी इसकी अनुकृति सा० क० के उपर्युक्त पृष्ठ पर ही प्रकाशित है परन्तु यह चित्र मूल से सीधे अनुरेखित किया गया है और गॉर्डन की उक्त अनुकृति पर आधारित नही है। वह अनुकृति मूल की तुलना में सदोप प्रतीत होती है। यह चित्र भी गहरे लाल रँग में अंकित है और गॉर्डन ने इसे भी प्रारम्भिक तृतीय श्रेणी से सम्बद्ध माना है। इसमें अलंकरण की कोई चेष्टा न होते हुए भी केशों, नखों और दाँतों के क्रमबद्ध बारीक अंकन के कारण अलंकृति का आभास होता है।

प० प०, फलक XXV

चित्र सं०--१

आदमगढ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नम्बर १० पर गहरी कत्थई रेखाओं से पर्याप्त बड़े आकार में चित्रित बहुचर्चित एवं सुप्रसिद्ध 'जिराफ-ग्रुप'। इसकी ठीक स्थिति जानने के लिए इसी खण्ड का फलक V तथा क्षेत्र-परिचय-खण्ड में समाविष्ट छायाचित्र न० १२ द्रष्टव्य है। ब्रॉड्रिक की प्रि० पें० में मुद्रित (प्लेट ४१) अफ्रीकी जिराफों के चित्रित रूप से तुलना करने पर सादृश्य स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु जिस शिलाश्रय पर यह चित्र बना हुआ है, उसके आसपास या भारत के किसी अन्य स्थान से जिराफ का कोई और चित्र प्राप्त नही हुआ है। ऐसी दशा में यह अनुमान किया गया है कि चित्रकार ने हिरनों को ही पीछा करने वाले अश्व के शैली-सादृश्य से इतना लम्बग्रीव बना दिया है कि वह हमें जिराफ लगने लगी है। इस चित्र का परिचय देते हुए मोनोग्राफ में लिखा गया है—

'Rider on long-necked horse pursues long-necked giraffe-like Sambhar doe'

जिसका अर्थ है कि एक अश्वारोही लम्बग्रीव अश्व पर बैठा हुआ जिराफ़ जैसी लम्बग्रीवा साँभर हिरणी का पीछा कर रहा है। घोष ने ऐसी ही व्याख्या अपने मोनोग्राफ के पृ० २१ पर भी की है। गॉर्डन ने भी इसे संगत माना है और सारी परिस्थिति पर विचार करते हुए साधारणतया यही लगता है, क्योंकि यह मान्यता कि यह चित्र उस काल का है जब नर्मदा के तटवर्ती प्रदेश में जिराफ होते थे असम्भव कल्पना प्रतीत होती है। प्रि० बैं० इ० क० पृ० ११० पर एक सम्भावना गॉर्डन ने यह भी मानी कि शायद ८वीं से १०वीं शती ई० के बीच किसी शक्तिशाली शासक ने किसी जिराफ़ को अफ्रीका से भारत मँगा लिया हो और प्रस्तुत चित्र उसी का हो। पर उन्होंने इस अनुमान का कोई आधार नही दिया और न यह सोचने का कष्ट किया कि इस प्रकार मँगाये हुए पशु का घोड़े पर चढ़कर शिकार नही किया जाता। कठिनाई केवल यही है कि विशाल आकार के इस चित्र में इतनी लम्बी गर्दन धोखे से या चित्रकार की त्रुटि मात्र से बन गई हो, ऐसा नही लगता। फिर यदि उसे

सुदीर्घ बनाना चित्रकार को अभीष्ट था। तो प्रश्न उठता है, क्यों ? समीपवर्ती लम्बग्रीव अश्व के सादृश्य से एक बुद्धिसंगत उत्तर मिलता है पर वह नितान्त पर्याप्त नहीं लगता। मूलचित्र को देखने पर तो यह व्याख्या और भी असन्तोषप्रद लगती है। इस सम्बन्ध में इस खंड के प्रारंभिक अंश में भी कुछ विचार किया गया है जिसे देखा जा सकता है। प्रस्तुत अनुकृति मोनोग्राफ में प्रकाशित चित्र पर आधारित है।

चित्र सं०--२, ३, ४

पूरक शैली के ये तीनों चित्र पँचमढ़ी क्षेत्र की गुफाओं में सफ़ेद रंग से अंकित मूलतः गॉर्डन द्वारा अनुकृत तथा सा० क० (१९४०) वा० ५, नं० ११ के पृ० ६६४ और ६६६ पर प्रकाशित हैं। गॉर्डन ने दूसरे चित्र को अपने श्रेणीक्रम में उत्तर द्वितीय श्रेणी में तथा तीसरे-चौथे चित्रों को उत्तर तृतीय श्रेणी में रक्खा है। आदमी को मुँह में निगलते हुए मगर और नर्तित रीछ का आलेखन माड़ादेव की गुफा में हुआ है परन्तु गले में घण्टी पहने हुए बैल का चित्रण महादेव की गुफा का है। तीनों चित्र रोचक हैं किन्तु मगर वाला दृश्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प० प०, फलक XXVI

चित्र सं०--१

कोहबर (मिर्जापुर) की गुफा-छत में गहरे कत्थई रंग से अंकित कुत्ते जैसे दो वन्य पशु, जिनमें से एक का शिरोभाग मिट गया है। यह चित्र मूल से अनुकृत एवं प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०--२

सोनभद्र (पँचमढ़ी) में अंकित शिकारी कुत्ते का एक अत्यन्त सशक्त चित्र। यह अनुकृति गॉर्डन के महादेव पहाड़ियों से सम्बद्ध लेख के साथ प्रकाशित एक चित्र पर आधारित है। पशु की सजगतापूर्ण मुद्रा, आवयविक संगठन और छाती तथा पुट्ठों के उभार आदि का पतली संतुलित रेखाओं द्वारा कलात्मक रीति से आलेखन हुआ है।

चित्र सं०--३

इमलीखोह (पँचमढ़ी) में सफेद रंग से पूरक शैली में अंकित छोटे पैरों वाले कुत्ते जैसे आकार का एक वन्य जीव जिसके मुँह के सामने बनी हुई चार बिन्दियाँ विचित्र लगती हैं। यह चित्र मूल से ही अनुकृत है और पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है।

प० प०, फलक XXVII

चित्र सं०—१

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) की गुफा में मटमैले सफेद रंग से पूरक शैली में अंकित झवरी पूँछ वाले कुत्तों जैसे जीवों की लम्वी पंक्ति में से मूल से अनुकृत तीन आकृतियाँ, जिनमें से बीचवाली मानवाकृति-सी प्रतीत होती है। उसके पूँछ नहीं है पर उस स्थान पर जो उभार वना है उससे अन्ततः वह पशु ही प्रतीत होती है। छाती के इधर-उधर लटकते हुए दो थन दिखाई देते हैं जिनसे पुनः उसके स्त्री होने का वोध होता है। वैठने और हाथ उठाने की मुद्रा भी मानवों जैसी लगती है।

चित्र सं०—२

वाजार केव (पँचमढ़ी) में सफेद ज़मीन पर लाल पतली रेखाओं से अंकित झवरी पूँछ वाला, एक अन्य विचित्र जीव जिसका मुँह चौड़ा, आँख उभरी और पीछे की देह अस्पष्ट है। यह भी मूल से ही अनुकृत है।

चित्र सं०—३, ४

यह चित्र क्रमशः (पँचमढ़ी) जम्वूद्वीप और माड़ादेव नामक स्थानों पर शिलांकित हैं और गॉर्डन द्वारा इनकी अनुकृतियाँ सा० क० (१९४० ई०) वा० ५, नं० ११, पृ० ६६४–६६५ पर प्रकाशित हैं। यह उन्हीं की रेखानुकृतियाँ हैं। गॉर्डन ने चित्र ३ को अज्ञातनाम कहा है और ४ को वारहसिंगे का विचित्र रूप वताया है। चौथा चित्र भी किसी अज्ञात वन्य जीव का ही लगता है। इसमें प्रजनन-अवयवों का इतनी दीर्घता के साथ अंकन हुआ है कि आश्चर्य होता है। अपने ढंग का यह अद्वितीय पशु-चित्र है। तीसरा चित्र भी मुझे इसी जीव का लगता है। उसके पेट के पास की वड़ी रेखा प्रजनन-अवयव का ही विकृत रूप लगती है। तीसरा चित्र गुलावी और चौथा पीताभ सफेद रंग में वनाया गया है। गॉर्डन ने इन चित्रों को क्रमशः प्रारम्भिक तृतीय और उत्तर तृतीय श्रेणी में रक्खा है।

प० प०, फलक XXVIII

चित्र सं०—१

वनियावेरी (पँचमढ़ी) नामक गुफा में सफेद पूरक शैली में अंकित इस चित्र में मधु-मक्खियों के छत्ते से युक्त वृक्ष पर क्रीड़ा करता हुआ वानर-समूह प्रदर्शित किया गया है। प्रत्येक वानर की मुद्रा स्वाभाविक है। छत्तेवाली डाल पर एक पक्षी भी चित्रित है। सवसे वड़ी विचित्रता यह है कि इसमें वीचवाली डाल पर पैर ऊपर को किये जो वड़ी आकृति वनी है वह 'वानर' की न होकर 'नर' की प्रतीत होती है। एक ओर उसके पूँछ नहीं वनी

है, दूसरी ओर शिर पर जटाजूट बना हुआ है। बन्दरों की मण्डली के बीच मनुष्य के इस प्रकार घुलमिलकर क्रीड़ा करने का यह एक ही दृश्य उपलब्ध होता है। यह मनुष्य के शाखामृगत्व का रोचक प्रमाण है जो वास्तविकता और कल्पना दोनों का द्योतक हो सकता है। छत्ते से उठती हुई पंक्तिबद्ध मधुमक्खियों का अंकन तथा शाखाओं मात्र से वृक्ष का रूप-संयोजन एवं प्रदर्शन इस चित्र को और भी अद्वितीय बना देता है।

चित्र सं०—२

इमलीखोह (पँचमढ़ी) में पूर्वोक्त शैली में ही अंकित एक अन्य वानर-समूह जिसमें गति तो है परन्तु क्रीड़ा-भाव प्रदर्शित नहीं है। आखेटकों के भय से भागने की मुद्रा में ही वानरों का चित्रण इसमें हुआ है। बीचवाले बैठे हुए वानर की पीठ में एक बाण भी चुभा हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि वानरों का भी आखेट किया जाता था।

दोनों ही चित्र मूल से अनुकृत हैं और यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहे हैं।

प० प०, फलक XXIX

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पंचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ पर अंकित पशु और उनपर आक्षिप्त धनुर्धर, जिसका एक पैर एक अन्य योद्धा पर बना हुआ है। चित्रित पशुओं में विचित्र प्रकार का पूरण मिलता है। एक पशु के सींगों के गोलाकार सिरे तथा दूसरे का समस्त पृष्ठभाग रंग से पूरित है। गॉर्डन ने अपनी अनुकृति, जो सा० क० (१९३९) वा० नं० ५ अंक ७ में प्लेट २ पर मुद्रित है, में इस पूरित अंश को घनी समानान्तर रेखाओं से प्रदर्शित किया है। प्रस्तुत चित्र में उसे पूरी तरह भर दिया गया है जो मूल रूप का कदाचित् अधिक सही बोध कराता है। नीचे वाले पशु का मुख स्वयं एक अन्य पशु पर आक्षिप्त है और वह सबसे बाद की रचना प्रतीत होती है। सम्भव है कि पूरण मूल चित्र बनने के बाद किसी अन्य के द्वारा किया गया हो और वह सबसे अन्तिम चित्रण का अंग हो।

चित्र सं०—२, ३

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के दो शिलांकन जिनकी अनुकृतियाँ सा० क० (१९४० ई०) वा० ५ नं० ११, पृ० ६६५ पर प्रकाशित हुई हैं और जिन्हें गॉर्डन ने उत्तर द्वितीय श्रेणी में रक्खा है।

चित्र नं० २ में उत्तर तृतीय श्रेणी की श्वेत मानवाकृति उत्तर द्वितीय श्रेणी के मट-मैले सफेद रंग वाले बाघों पर आक्षिप्त है। यह व्याघ्र-युग्म ठीक वैसा ही है जैसा इसी खण्ड के फलक XXI, चित्र सं० ३ में प्रदर्शित है और जो मिर्जापुर-क्षेत्र से अनुकृत किया गया है।

दोनों का रूप-साम्य एवं शैली-सादृश्य दर्शनीय है। मानवाकृति के केश मुक्त हैं और उसके हाथ में भी मुक्त केशों के गुच्छे जैसी एक आकृति बनी है जिसका अभिप्राय यातुमूलक प्रतीत होता है। मानवाकृति का शीश जटाजूट से युक्त है।

चित्र नं० ३ में दो हाथी और एक सिंह चित्रित हैं। बड़ा हाथी पूर्व तृतीय श्रेणी का है जो उत्तर द्वितीय श्रेणी के सिंह पर आक्षिप्त है। बड़े हाथी के कान उठे हुए चित्रित किये गये हैं जैसाकि इस क्षेत्र के अन्य गज-चित्रों में मिलता है।

प० प०, फलक XXX

चित्र सं०—१

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) की गुफा में मटमैले सफेद रंग के एक विशाल पशु पर आक्षिप्त चटक सफेद रंग का एक धनुर्धर। पशु का सारा शरीर समानान्तर रेखाओं के ज्यामितिक अलंकरण से युक्त है। वाह्यरेखा भी प्रायः अलंकरण-रेखाओं के समान ही है, जिसके सम्पूर्ण चित्र में एक विशेष संगति उत्पन्न हो गयी है। पशु के रूप से ज्ञात होता है कि चित्रकार ने एक बड़े साँभर हिरन को रूपायित किया है। पैर पतले और अलंकरणहीन हैं। पूँछ काफी लम्बी और काल्पनिक रीति से बनायी गयी है। यह चित्र मूल से अनुकृत है और यहाँ प्रथम वार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—२

गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं ज० आ० ले० में प्रकाशित पँचमढ़ी क्षेत्र का एक रोचक शूकर-चित्र, जिसमें शरीर का भीतरी अस्थिपंजर भी प्रदर्शित है और जो एक शैलीबद्ध मानवाकृति आक्षिप्त है। पशु का अंकन ज्यामितिक रूप-विन्यास से युक्त है। पीठ पर छोटे-छोटे केश क्रम-बद्ध रूप में अंकित किये गये हैं। शिरोभाग एकदम सादा है। उसमें केवल इकहरी वाह्यरेखा का प्रयोग हुआ है जबकि सारी शरीर-रचना दोहरी रेखाओं में हुई है। पिछले पैर पूरित हैं अगले अपूरित। पूँछ का आकार सबसे भिन्न और सरल है। कुल मिलाकर चित्र पर्याप्त रोचक ही नहीं, विचित्र भी लगता है।

चित्र सं०—३

यह चित्र भी पूर्वोक्त चित्र की तरह ही गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं उसी जर्नल में प्रकाशित है। इसमें प्राचीनतम अलंकृत शैली में अंकित मानवाकृति पर एक पूरक शैली का हिरन आक्षिप्त है।

चित्र सं०—४

माड़ादेव (पंचमढ़ी) के गुफा-द्वार पर ही सफेद रंग में अंकित एक पशु-चित्र, जिस

पर बाद में लाल रेखाओं का जाल आक्षिप्त किया गया है। आक्षेपण का अभिप्राय अलंकरण ही प्रतीत होता है पर मुख के पास की रेखाएँ देखने से लगता है जैसे अन्य पशु-आकृति बनाने का भाव भी रहा हो। समानान्तर रेखाओं की लम्बी पट्टियों द्वारा अलंकरण की यह चेष्टा अप्रतिम और रोचक प्रतीत होती है।

प० प०, फलक XXXI

चित्र सं०——१, २, ३, ६

यह चारों चित्र रायगढ़ क्षेत्र के है। पहले तीन कबरापहाड़ के शिलाश्रय पर अंकित हैं और अन्तिम चित्र अमरनाथ दत्त के अनुसार सिंघनपुर का है। (द्रष्टव्य प्रि० रे० रॉ० सि०, प्लेट न० VIII चित्र सं० २-३ तथा उनका विवरण) चित्र सं० ६ दत्त द्वारा प्रकाशित प्रतिकृतियों से और शेष तीनों पाण्डे द्वारा किये गये रेखांकनों पर आधारित हैं। एक प्रत्यक्षदर्शी के नाते पाण्डे की धारणा है कि यह चित्र भी कबरापहाड़ के ही शिलाश्रय पर अंकित है। यह सत्य है कि सरीसृप या पुरातन छिपकलियों की जाति के जीवों को प्रदर्शित करनेवाले चित्र कबरा पहाड़ की एक प्रमुख विशेषता है जबकि सिंघनपुर की ख्याति अन्य चित्रों के कारण मानी गयी है। पहले चित्र में कच्छप का अंकन मिलता है जिसकी वर्गाकार पीठ को रेखाओं द्वारा ज्यामितिक रीति से अलंकृत किया गया है। चारों कोनों से दोहरी लहरीली रेखाओं द्वारा पैरों का चित्रण किया गया हैं। ऊपर-नीचे मुख और पीठ की नोक को अर्धवृत्ताकार रूप मे व्यक्त किया गया है। इस चित्र को हाथ उठाये भागती हुई वैसी मानवाकृति के रूप में भी परिकल्पित किया जा सकता है जैसी सिंघनपुर के आखेट-दृश्य में मिलती है परन्तु कठिनाई पीठ की नोक जैसे नीचे वाले अर्धवृत्त की है जिसकी मानव-शरीर से उतनी संगति प्रतीत नही होती जितनी कच्छप से, इसी लिए इसे अन्ततः उसी रूप में ग्रहण किया गया है। दूसरा चित्र मकड़ी जैसी आकृति का लगता है पर है छोटी छिपकली का ही। इसके चारों पैरों की उठान ऊपर की ओर है जो अस्वाभाविक लगती है। तीसरे चित्र में एक बड़ी छिपकली बनी हुई है जिसकी पीठ पर खड़ी धारियाँ बनी है। गॉर्डन ने सा० क० (१९३९) वा० ५, अंक ५ में 'प्लेट' ४ पर कबरा पहाड़ की जो दो छिपकलियाँ समाविष्ट की हैं उनमें से एक का चित्रण-विधान प्रायः इसके बहुत अनुरूप है। चित्र नं० ६ की आकृतियों को दत्त ने सृष्टि के नितान्त आदिम विशालकाय सरीसृपों के रूप में कल्पित किया है जो कल्पना-विलास मात्र लगता है और उनके आलोचकों ने ऐसी धारणा व्यक्त भी की है।

चित्र सं०—४

मिर्ज़ापुर क्षेत्र में लिखनिया–२ की गुफा में बीच के भाग में, गेरुए रँग से पूरक शैली में बनी हुई यह आकृति भी चित्र नं० १ की तरह पहले चौकोर मानवाकृतियों जैसी लगती है पर नीचे की पुच्छ के कारण इसे किसी आदिम जीव का रूप मानना ही संगत प्रतीत होता है । यह मूल से अनुकृत एवं प्रथम बार प्रकाशित है ।

चित्र सं०—५

सागर-क्षेत्र के एक शिलाश्रय से श्यामकुमार पाण्डे द्वारा अनुकृत वृश्चिक की प्रतिकृति के आधार पर बनी हुई पूरक शैली की यह आकृति अप्रतिम और रोचक है । पीछे के डंक की नोक और आगे के चिमटों से बिच्छूपन का सफलता से बोध कराया गया है । पैरों को उस बोध में अनावश्यक समझकर चित्रित नहीं किया गया है ।

प० प०, फलक XXXII

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के सर्वप्रमुख शिलाश्रय-समूह के प्रवेशद्वार पर मटमैले सफ़ेद रंग से पूरक शैली में आलिखित एक विशाल आकार का जीव, जो स्वरूप से बड़े चींटे की तरह लगता है । देखते ही लगा कि इसे 'The Great God Ant' (चींटों का महान् देवता) कहा जाय तभी इसकी आकृति-प्रकृति का बोध कराया जा सकता है । इस 'विशालकाय' पिपीलिका के अंकन के पीछे रचयिता का ठीक-ठीक क्या भाव रहा होगा, इसका अनुमान करना कठिन है परन्तु किसी अति प्रभाव की धारणा सरलता से की जा सकता है । चित्रित जीव का मुख दायीं ओर है जिससे श्मश्रुवत् दो अधमुड़ी रेखाएँ निकली हैं । इस तरह से केश-तन्तु ऐसे जीवों में होते भी हैं । पैर अनेक बने हैं जिनमें चार विशेष हैं शेष गौण रूप में अंकित हैं । गतिशीलता का बोध बड़े पैरों से अधिक होता है । सबसे पिछले अंग में छोटे पैरों जैसी एक रेखा डंक या पुच्छवत् निकली हुई है । शरीर का मुख्य भाग कहीं सँकरा और कहीं उभरा चित्रित किया गया है जैसा बड़ी पिपीलिकाओं का होता भी है । इसकी महत्ता आकार और विषय के कारण ही अधिक है, अन्यथा रूप-रचना साधारण है । प्रस्तुत अनुकृति मूल से की गयी है और पहले-पहल यहीं प्रकाशित हो रही है ।

चित्र सं०—२

सिंघनपुर के शिला-चित्रों में प्राप्त एक विचित्र आकृति जिसे अमरनाथ दत्त ने मत्स्यकन्या (Mermaid) बताया है । (द्रष्टव्य, प्रि० रे० रॉ० सिं, प्लेट नं० ११ चित्र-३ तथा उसका विवरण) यही नहीं, इसके आधार पर उन्होंने और भी बहुत-सा भौगोलिक

ऊहापोह किया है; यह मानते हुए कि पुरातन भारत में अरब सागर के तटवासी मत्स्यकन्याओं से बहुत परिचित थे। इसके विरुद्ध गॉर्डन ने अन्यत्र चित्रित अनेक मानवाकृतियों से इसकी तुलना करते हुए अन्ततः इसे एक शैलीबद्ध मानवाकृति ही स्वीकार किया है जो उचित ही लगता है। [द्रष्टव्य सा० के० (१९३९ ई०) वा० ५, अंक ३, पृष्ठ १४६]। क्षेत्र-परिचय के अन्तर्गत सिघनपुर के चित्रों पर आधारित एक छायाचित्र के कोने पर यह आकृति प्रदर्शित है। यह अनुकृति दत्त द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त चित्र पर आधारित है।

चित्र सं०—३

सागर-क्षेत्र के एक शिलाश्रय पर पूरक शैली में अंकित मछली की अद्वितीय यह अनुकृति पाण्डे के द्वारा की गयी प्रतिकृति के आधार पर बनायी गयी है। इसमें मछली के पंखों और पूँछ के आकार को स्पष्टतया प्रदर्शित किया गया है।.

प० प०, फलक XXXIII

मिर्जापुर क्षेत्र में भल्डरिया नदी के तटवर्ती शिलाश्रय पर गेरुए रँग से चित्रित एक प्राकृतिक दृश्य जिसमें चार जल-पक्षी (Four Snipe) प्रदर्शित हैं। जलाशय के किनारे दो वृक्ष भी अंकित किये गये है। पक्षियों की मुद्रा विशेषकर किनारे वाले की अधिक स्वाभाविक लगती है। विविध वस्तुओं के संयत संयोजन से युक्त यथार्थ रूप में प्राकृतिक दृश्य को व्यक्त करनेवाला यह कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन एवं अद्वितीय दृश्य-चित्र है। वृक्षों के नीचे कतिपय धुँधली पशु-आकृतियाँ भी बनी हैं। मनोरंजन घोष ने अपने क्रम से इसे भल्डरिया के शिलाश्रय II का प्रथम चित्र कहा है। प्रस्तुत छायाचित्र उन्हीं के प्रयत्न से विनिर्मित अनुकृति पर आधारित है तथा उनके 'मोनोग्राफ' में ही सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ है।

प० प०, फलक XXXIV

चित्र सं०—१

सागर-क्षेत्र के शिलाश्रय पर अंकित एक दृश्य जिसमें एक विचित्र आकृति के अतिरिक्त चार जल-पक्षी सरोवर में क्रीड़ा करते हुए प्रदर्शित हैं। यह अनुकृति जिसपर आधारित है वह पाण्डे द्वारा प्राप्त छायाचित्र 'क्षेत्र-परिचय' के प्रसंग में प्रस्तुत किये गये चित्रों में समाविष्ट है। चार पक्षी बनाना किसी अभिप्राय विशेष का द्योतक हो सकता है।

चित्र सं०—२

महादेव (पँचमढ़ी) की गुफा में गुलाबी (पिंक) रंग से अंकित घेरे में घिरा हुआ एक अज्ञातनाम पशु। गॉर्डन ने इस चित्र को प्रारम्भिक तृतीय श्रेणी में माना है। यह

किया गया है जिनसे निकलती दो रेखाओं में से एक पंखों का और पुच्छ का द्योतन करती है। इस आकृति को शृंखलाबद्ध करने में पंखों वाली रेखा बढ़ाकर दूसरी ऐसी ही आकृति के शरीर-वृत्त के निचले भाग से जोड़ दी गई है और इसी सन्धिस्थल से एक रेखा ऊपर की ओर ले जाकर लघु मयूर की एक अन्य आकृति को उसके छोर पर बना दिया गया है। मयूर के रूप से अनुप्रेरित विचित्र आकल्पन की यह शृंखला पहले काफी लम्बाई तक बनी रही होगी। अब उसका बहुत-सा अंश सीलन के प्रभाव से पत्थर की सतह के गल जाने के कारण नष्ट हो गया है और जो शेष रह गया है वह भी धुँधला पड़ता जा रहा है। प्रस्तुत चित्र में इसी अंग की संक्षिप्त-सी रेखानुकृति समाविष्ट है जो अपने मूल रूप की विशालता और कलात्मकता का स्वल्प आभास ही देती है। किनारे पर जो मानवाकृति बनी है, उसे भी अनुकृत कर लिया गया है। इससे पूर्व यह चित्र कहीं भी प्रकाशित नहीं हुआ है।

चित्र सं०—२

सागर-क्षेत्र का एक मयूरांकन जिसमें पुच्छ-भाग की विशेष चेतना को व्यक्त करने के लिए सामान्य पूरक शैली का त्याग करके रेखाओं का तरंगित विन्यास किया गया है। कलात्मक दृष्टि से यह विशेष आकर्षक लगता है। सिर की कॅलगी ग्रीवा-भंग आदि स्वाभाविक है पर पैरों का आकार जितना बड़ा है, ऊपर निकले एक पंख का रूप उतना ही छोटा है।

चित्र सं—३

माण्टेरोजा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय में एक उभरे टूटे कोने पर सफेद रंग से अर्ध-पूरक शैली में बने अजा-मयूर मैत्री के इस अत्यन्त रोचक दृश्य की प्रथम अनुकृति एवं प्रकाशन का श्रेय गॉर्डन को है। पशु और पक्षी का ऐसा भावपूर्ण वस्तुगत संयोजन अद्वितीय है।

चित्र सं०—४, ५

ये दोनों मयूर-चित्र पँचमढ़ी क्षेत्र के हैं। पहला चित्र सं० ४ पूरक शैली में इमली-खोह में चित्रित है तथा दूसरा चित्र सं० ५ लाल बाह्य रेखायुक्त श्वेतवर्णी शैली में सोनभद्र में बना है। इस मयूर की मुद्रा और ग्रीवा-भंग अप्रतिम और आकर्षक है। यह चित्र सा० क० (१९४०) अंक ११ में प्रकाशित है परन्तु चित्र सं० ४ यहीं पहली बार छप रहा है।

प० प०, फलक XXXVII

चित्र सं०—१

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० IV पर गहरी और चौड़ी लाल रेखाओं में वनदेवी जैसी एक विचित्र मानवाकृति के नीचे बहुत बड़े आकार में अंकित विशालकाय

मयूर जिसकी दीर्घता और पुच्छ-रेखाओं की तरंगमयता गति का यथेष्ट आभास देती है। पैरों की रचना विचित्र रूप में हुई है क्योंकि उनके मोड़ एक ही दिशा में न होकर परस्पर प्रतिकूल दिशा में बने हैं। ऊपर शरीर की सारी रेखाएँ वर्तुल हैं परन्तु पैर कोणाकार हैं। यह विभेद कदाचित् पैरों में यथार्थ रूप-सादृश्य लाने के आग्रह से आ गया है। सिर की कलंगी पुच्छवत् बनाई गई है जो संगत है। ग्रीवा से लेकर पुच्छ तक के समस्त देह-भाग को केवल दो समानान्तर-प्रवाही रेखाओं द्वारा रूपायित किया गया है। इन रेखाओं का अन्तर ग्रीवा-भाग की तुलना में पीछे की ओर बढ़ता गया है जो स्वाभाविक लगता है। पुच्छ की पाँच तरंगित रेखाओं में से दो-दो इन्हीं दोनों शरीर-रेखाओं से प्रस्फुटित हुई हैं, केवल मध्यवर्ती पाँचवीं रेखा सर्वथा स्वतन्त्र रूप से स्थित है। चित्र कुछ अनगढ़ होते हुए भी सशक्त और रोचक है। उसकी यह अनुकृति मूल पर आधारित और अद्यापि अप्रकाशित है।

चित्र सं०—२

कोहवर (मिर्ज़ापुर) की गुफा-छत में अत्यन्त सशक्त लाल रेखाओं में आलिखित मयूराकृति, जिसमें समस्त प्रकृत रूप को ज्यामितिक आकल्पन में संपुंजित करके वैचित्र्यपूर्ण रूप दिया गया है। अपने ढंग का यह सर्वथा अद्वितीय चित्र है। रेखा-जाल को आवद्ध करने में मूल-रूप की चेतना और कलात्मक संयम का अद्भुत परिचय दिया गया है। आदिम कलाकार की चेतना में स्वाभाविक रीति से ऐसी कल्पना उत्पन्न हुई और उसने उसे एक व्यवस्थित रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की, यह कला के भारतीय इतिहास में एक घटना की तरह महत्त्वपूर्ण लगता है। सारे रूप-विधान में शिल्पगत स्वच्छन्दता और ग्रीवा-भङ्ग की स्वाभाविकता एक साथ लक्षित होती है। कलंगी मुख की दोनों रेखाओं को ही आगे बढ़ाकर कुशलतापूर्वक बना दी गई है। एक पैर ऊपर से नीचे तक आती हुई खड़ी रेखा से संकेतित है जबकि दूसरे की रेखा शरीर के आधे भाग तक ही गई है तथा उसके नीचे पँजे का आभास देनेवाला अर्धवृत्त भी बना हुआ है। पुच्छ भाग पृथक् उभार के साथ प्रदर्शित न करके शरीर के पिछले अंश को आयताकार विभाजित करके प्रदर्शित किया गया है। यह चित्र भी मूल से अनुकृत होकर प्रथम वार प्रकाशित हो रहा है।

1.

2.

3

1.

2.

3.

1.

प० ८० फलक–V

१

1.

2.

प० प० फलक–VII

2.

1.
2.
4.

1.
2.
3.

प० प० फलक–XI

1.
2.
3.

प० प० फलक–XIII

प० प० फलक–XV

प० प० फलक–XVI

प० प० फलक–XVII

प० प० फलक–XIX

1.

2.
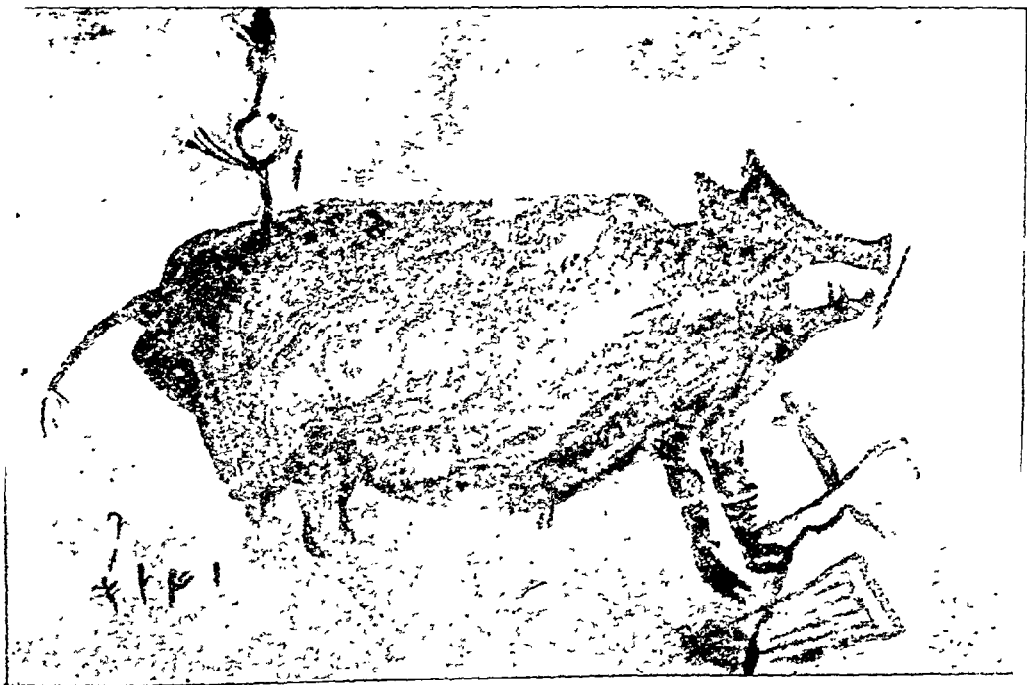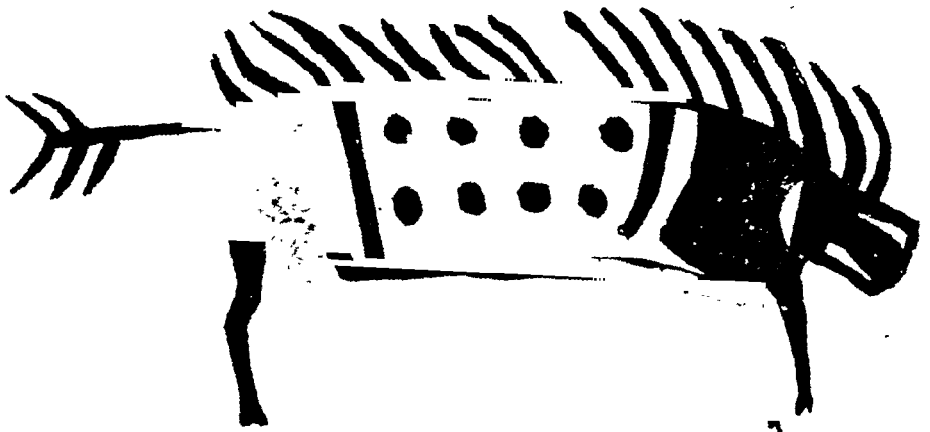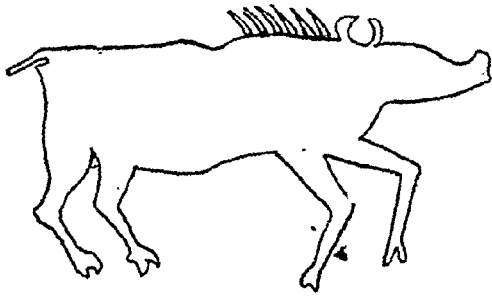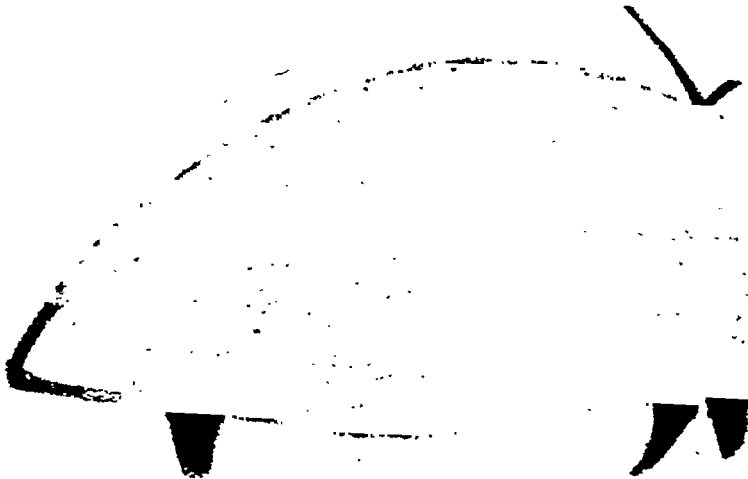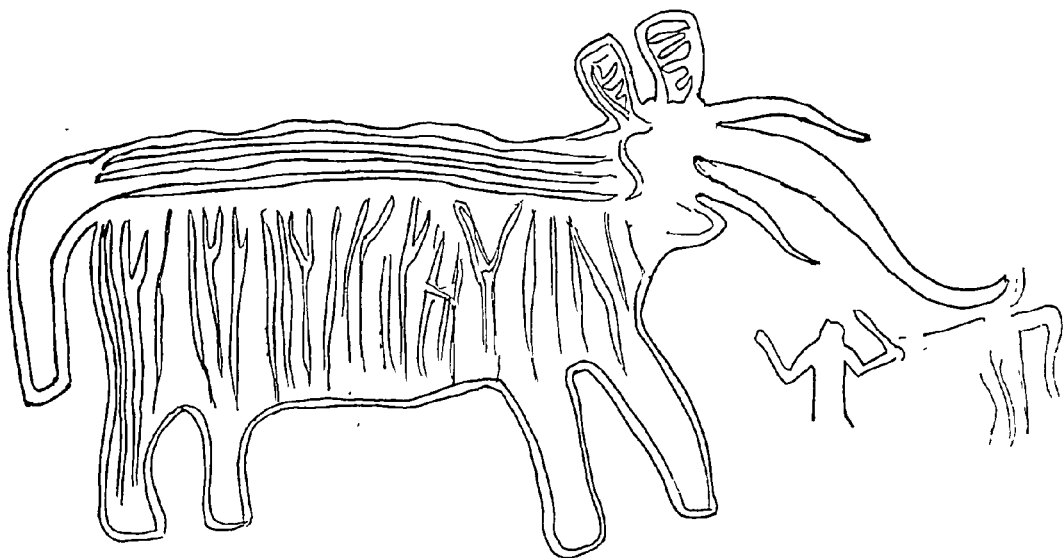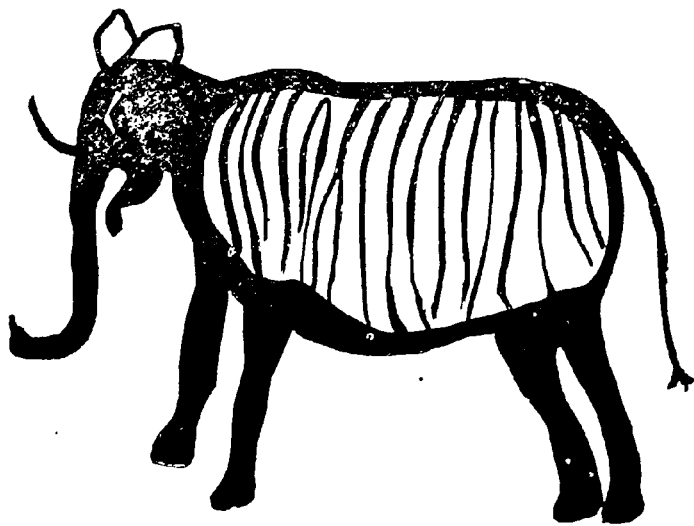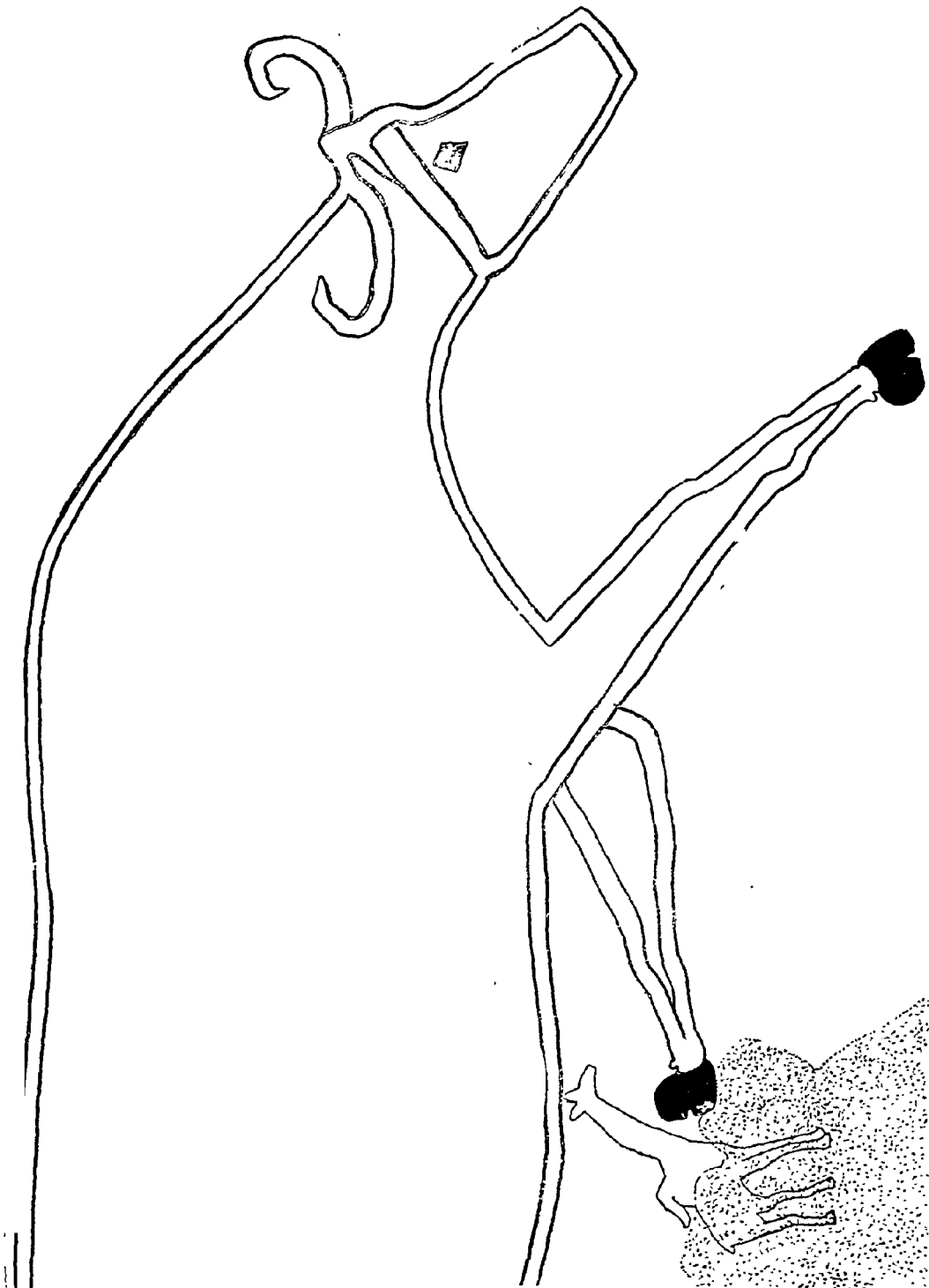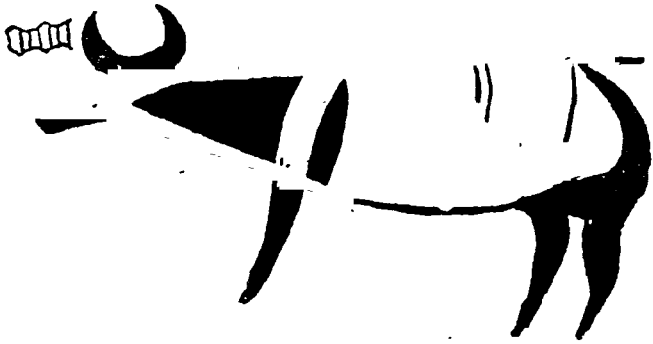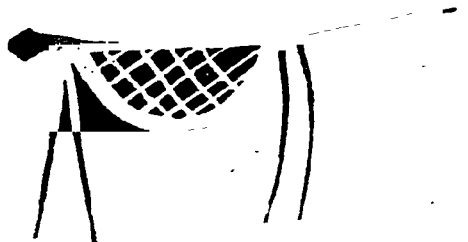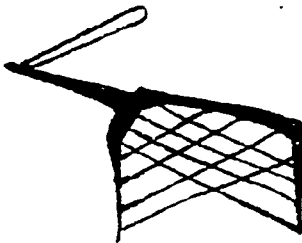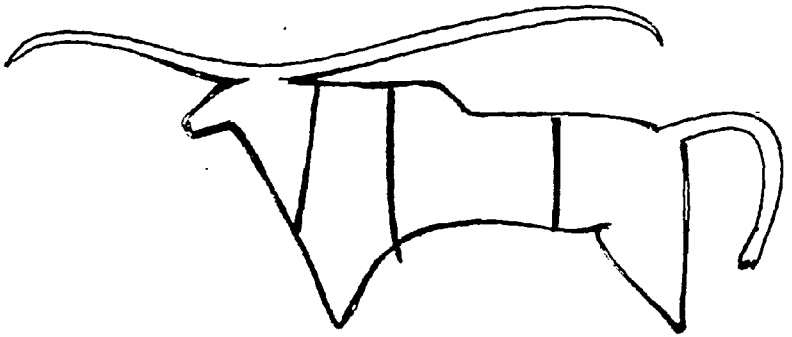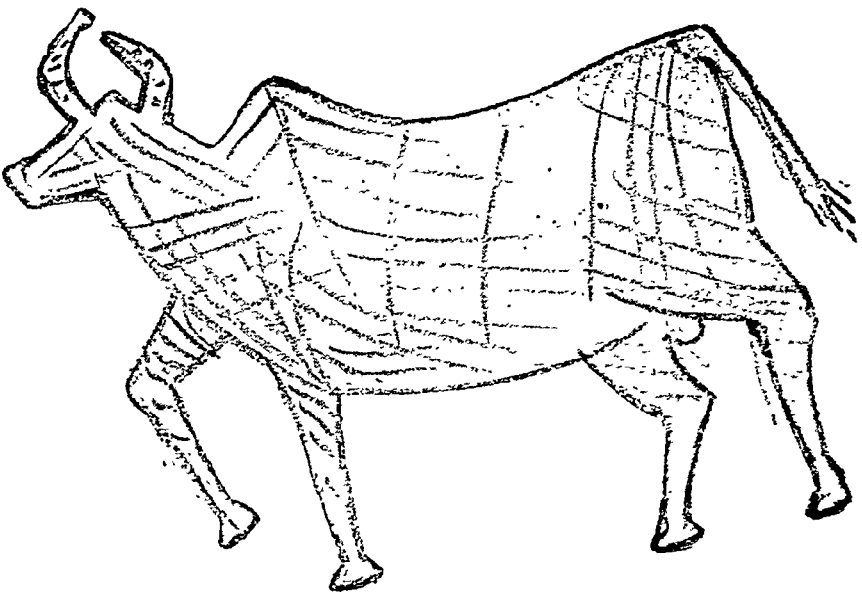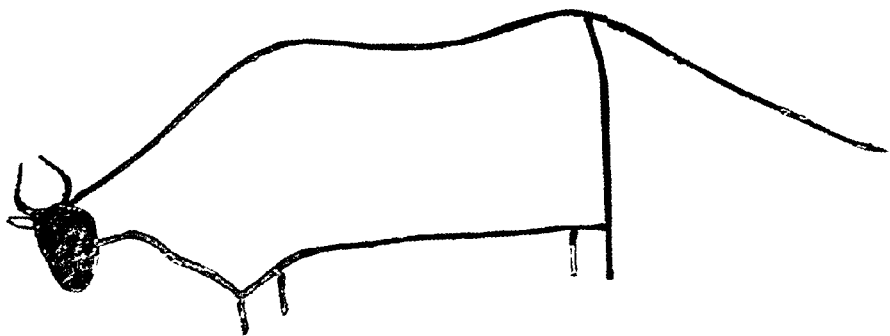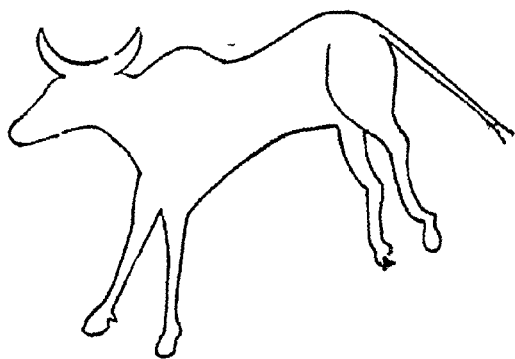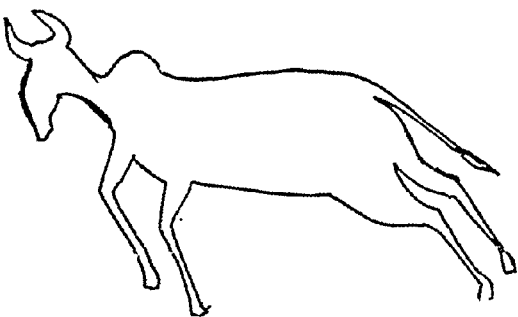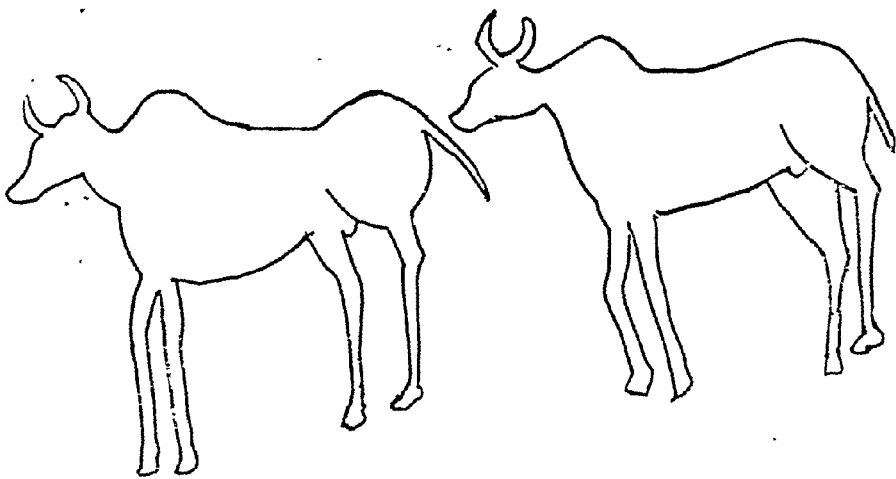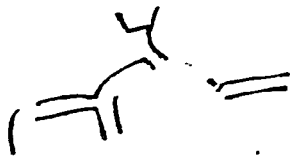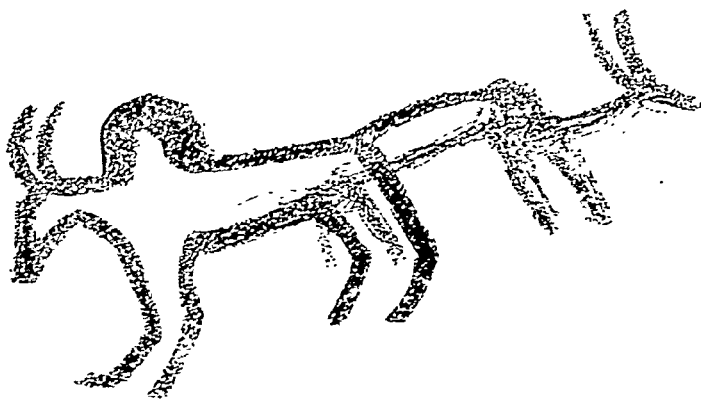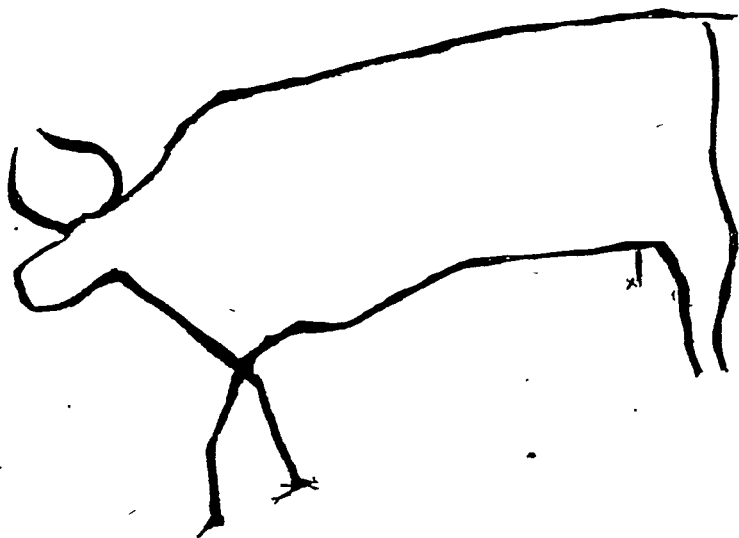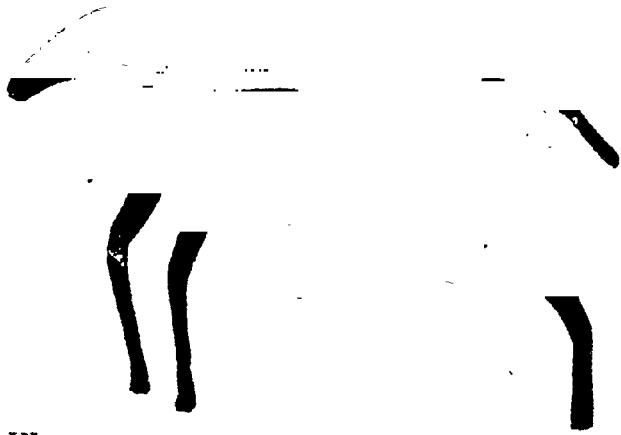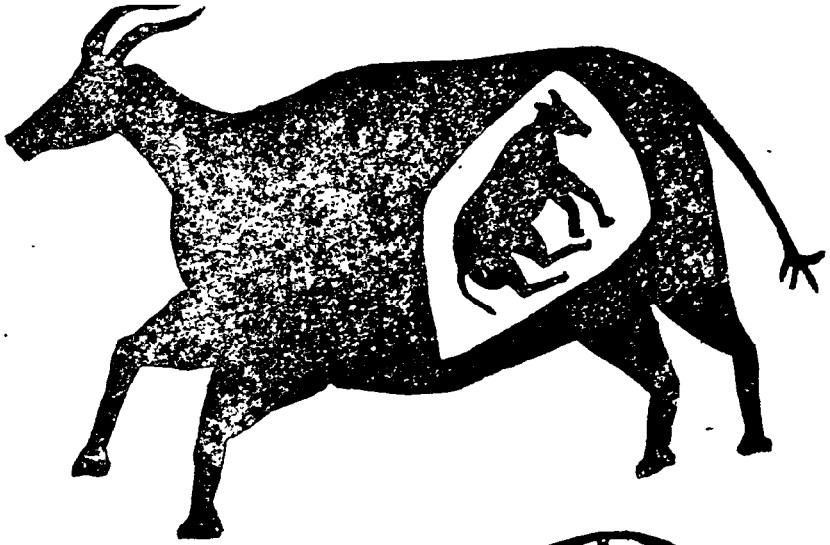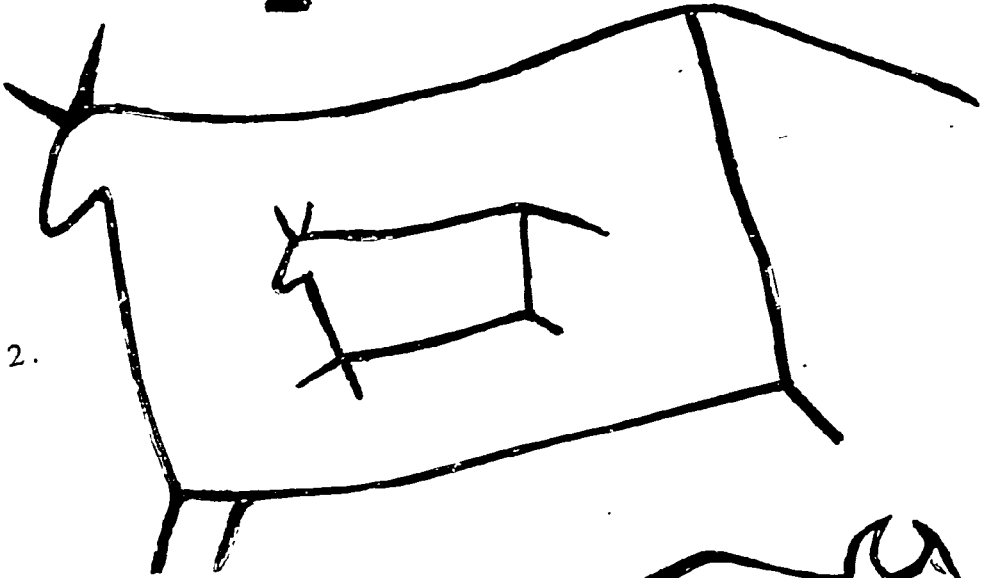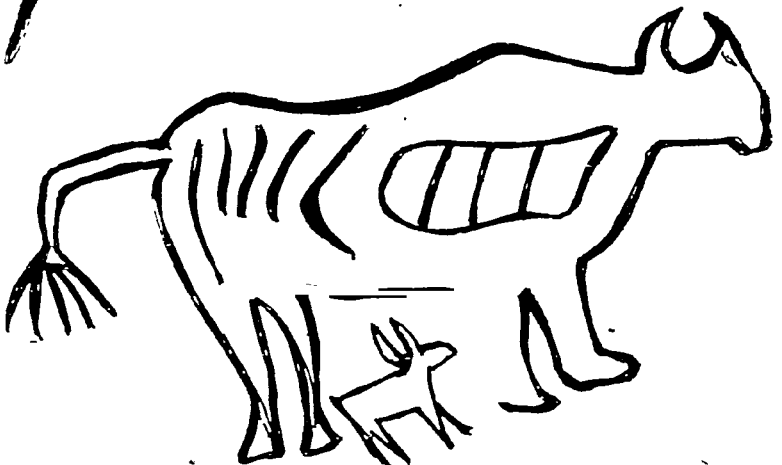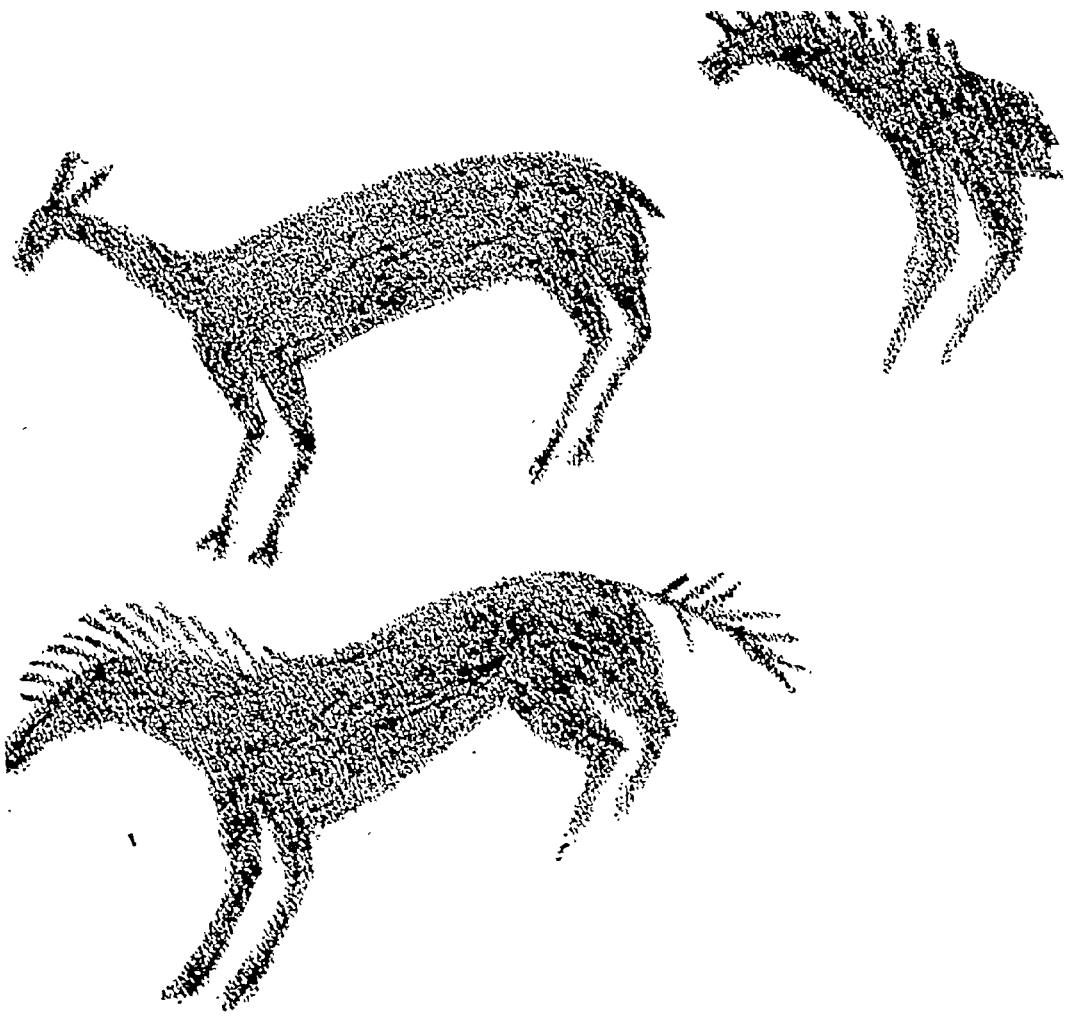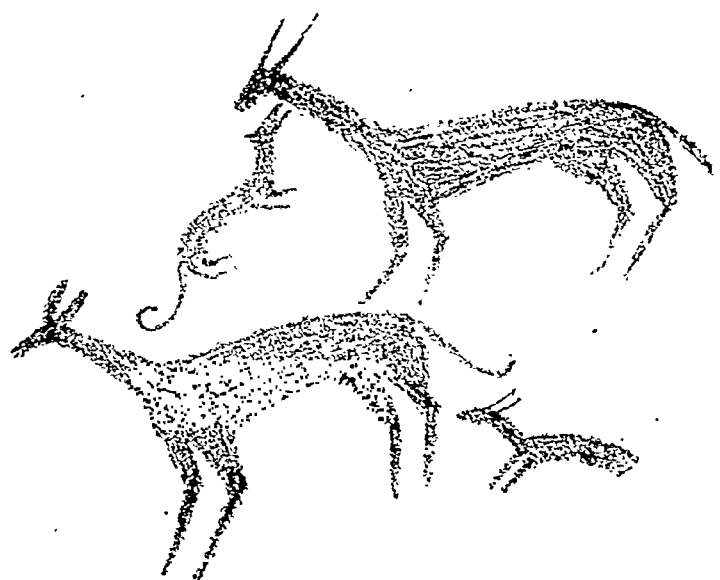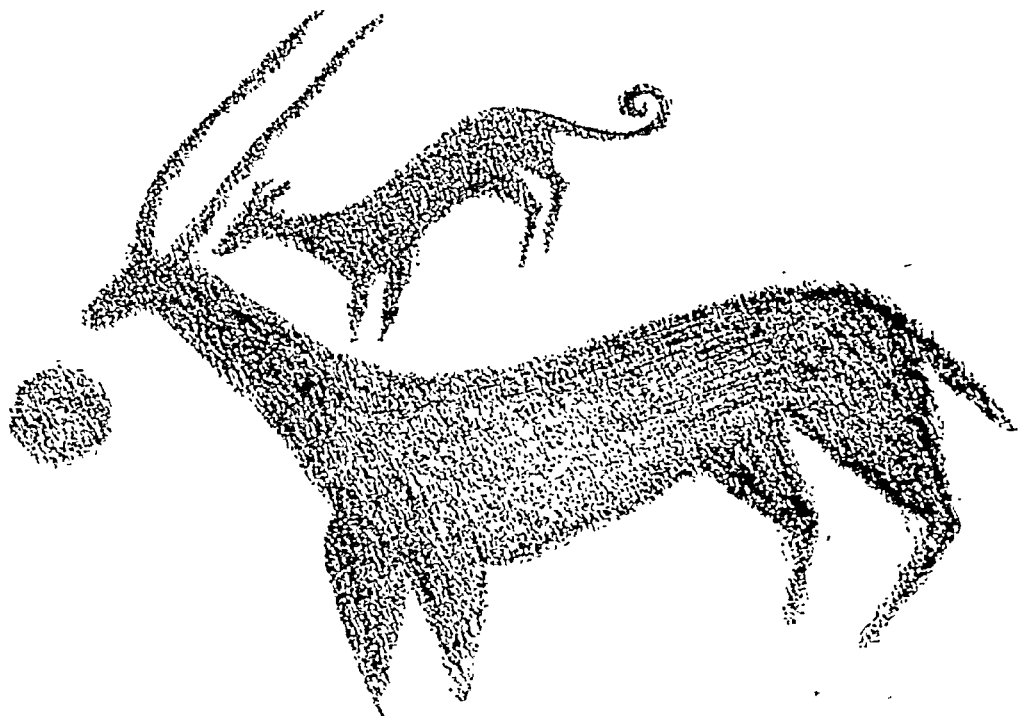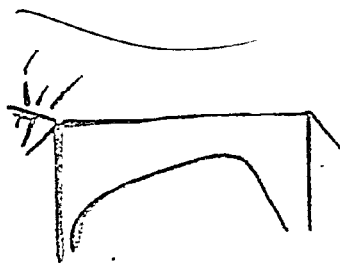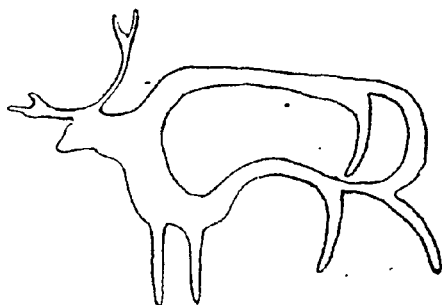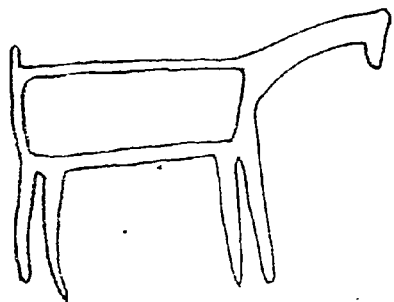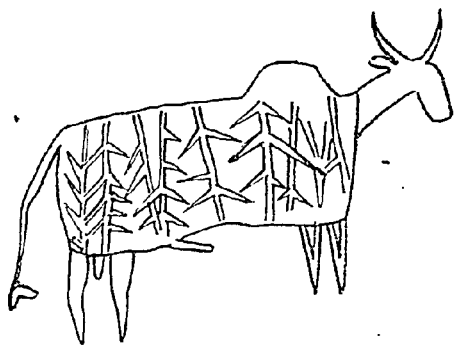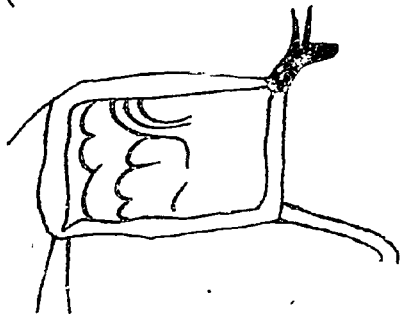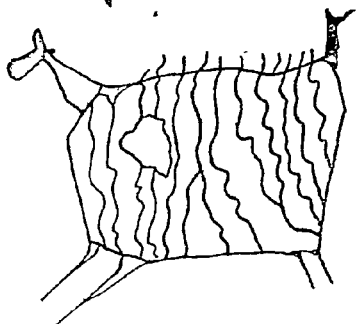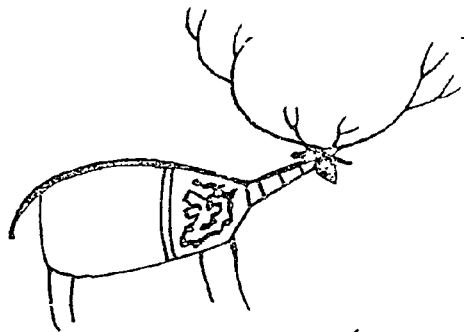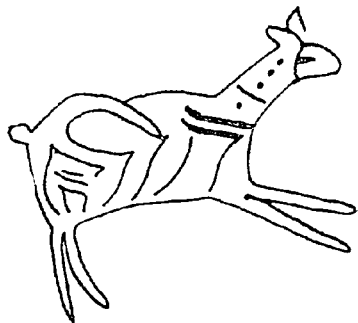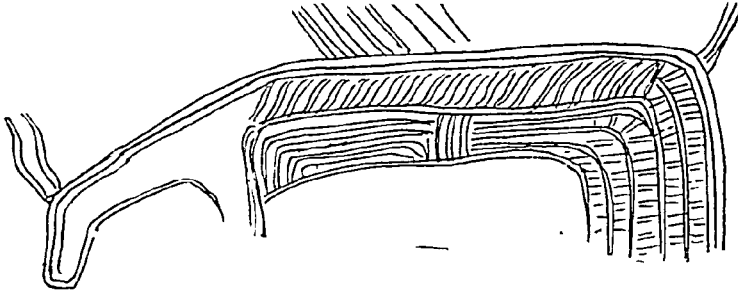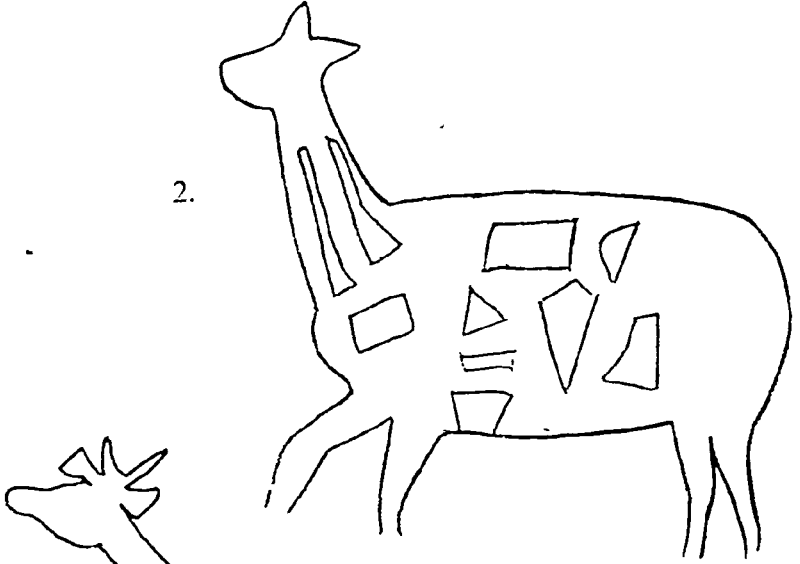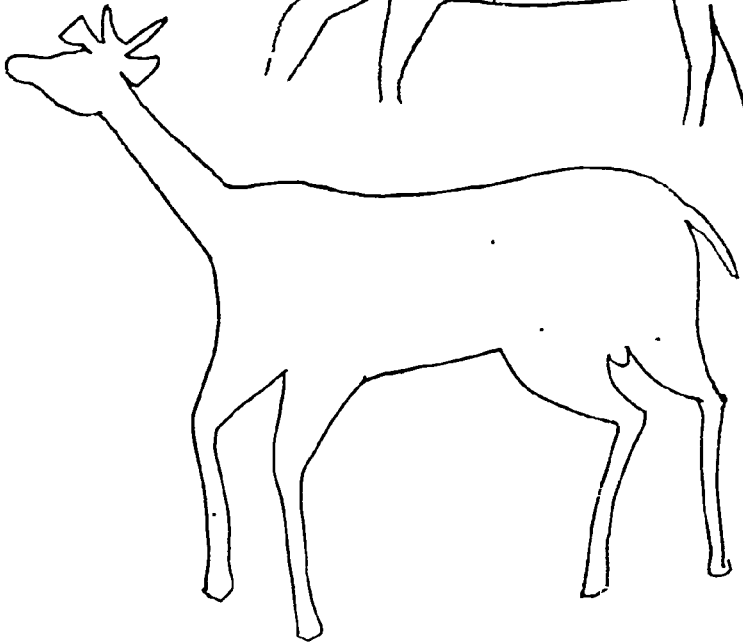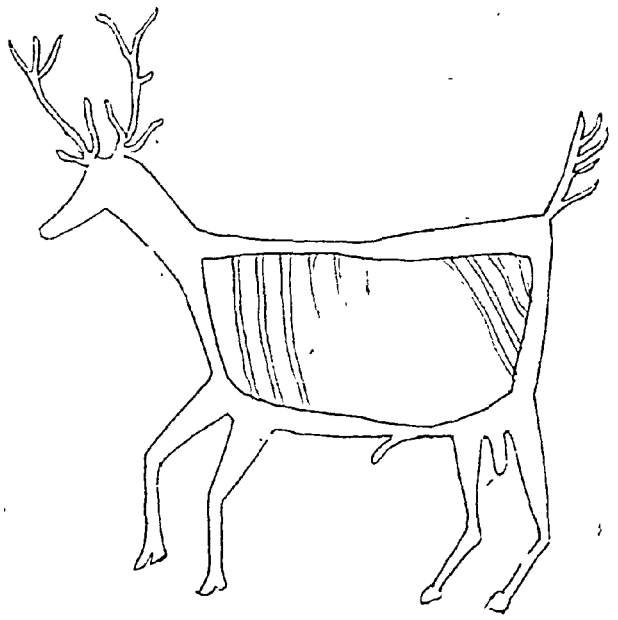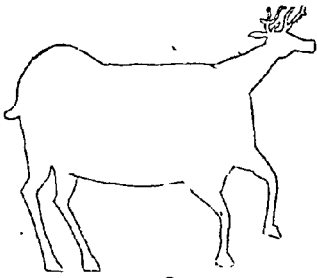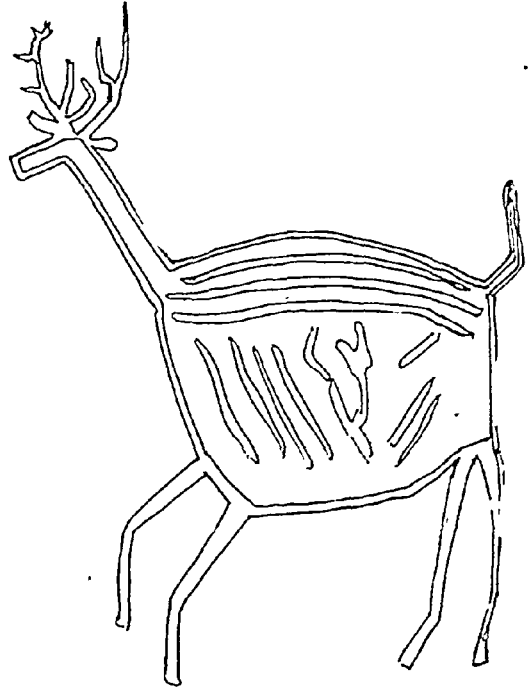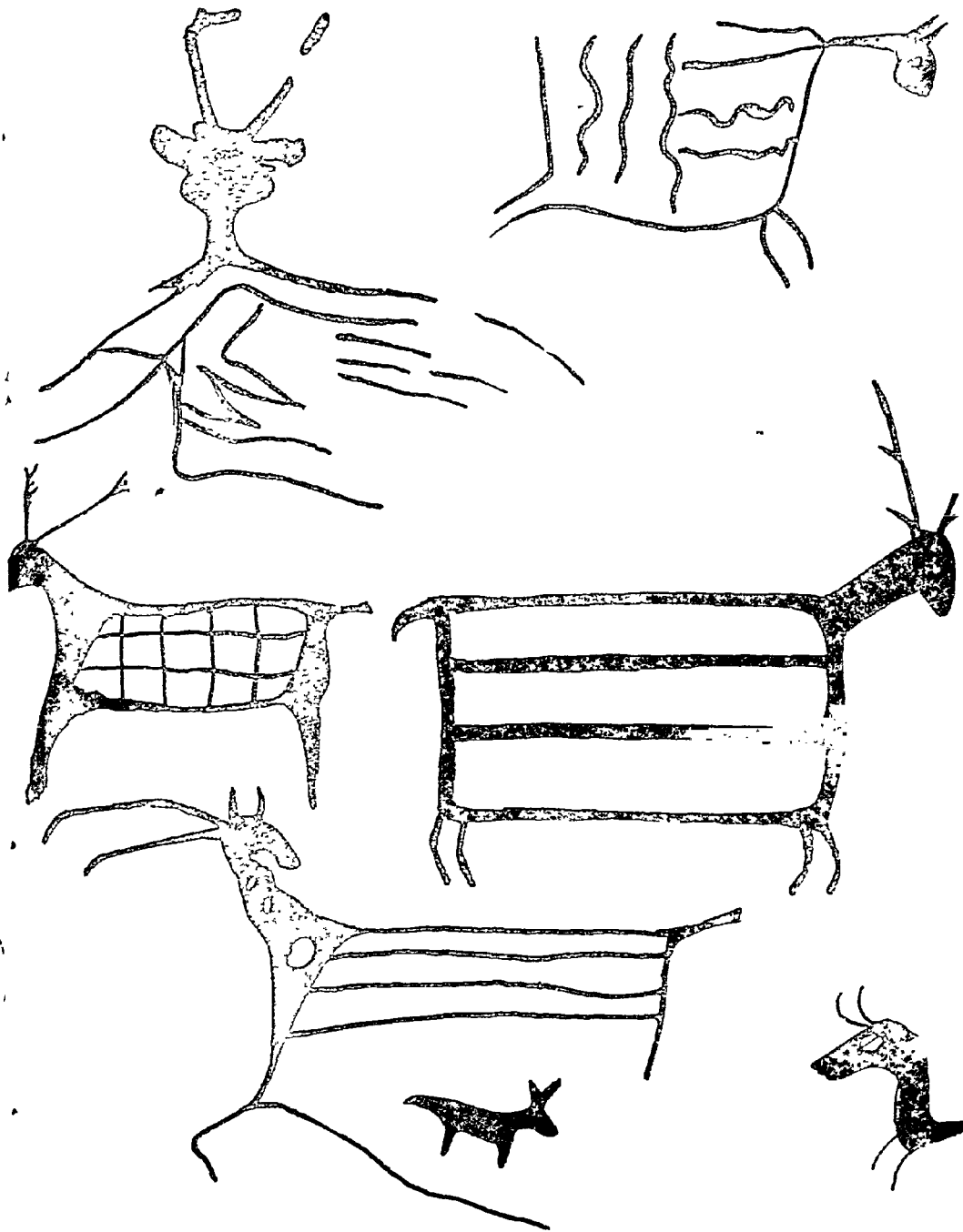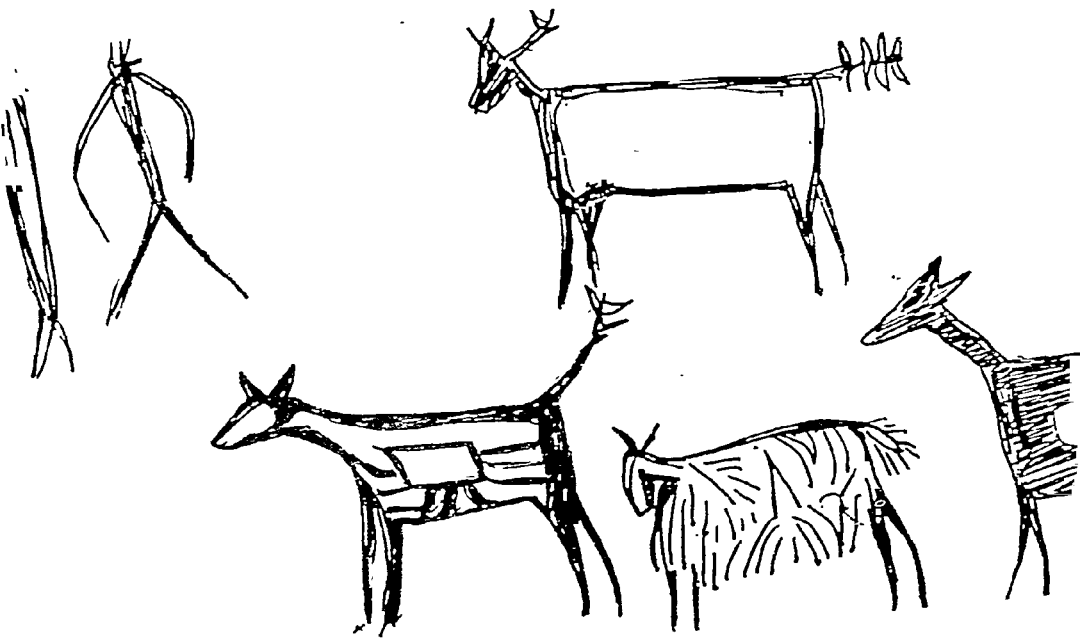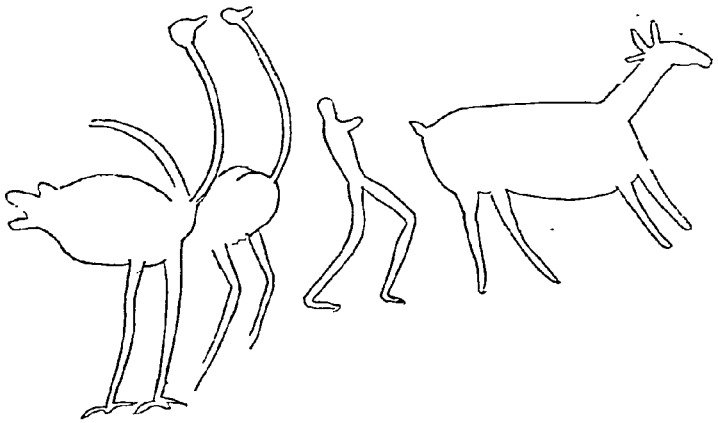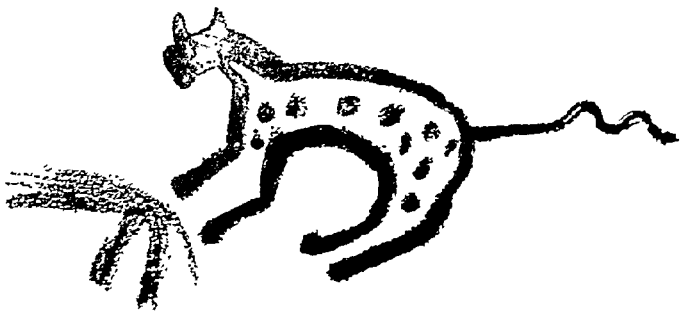
प० प० फलक–XX

1.
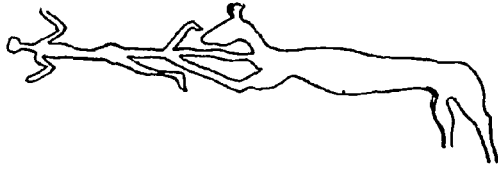
2.
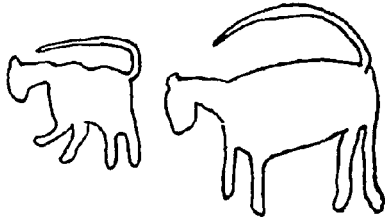
3.
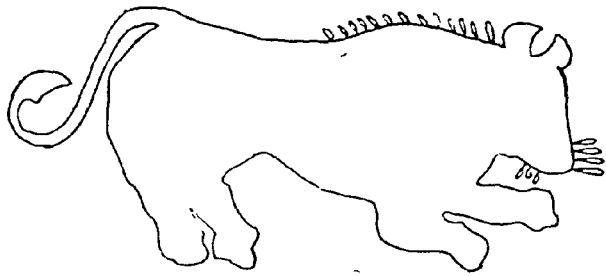
4.

1.

2.

प० प० फलक–XXII

1.

2.

3.

4.

1.

2.

3.

प० प० फलक–XXIV

प० प० फलक–XXV

1.

2.

3.

प० प० फलक–XXVI

1.

2.

3.

4.

प० प० फलक–XXVII

1.

2.

प० प० फलक–XXIX
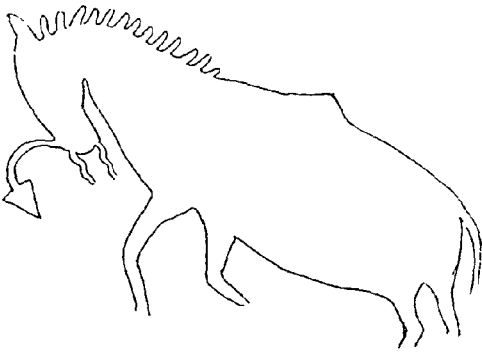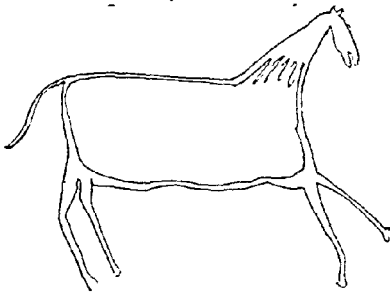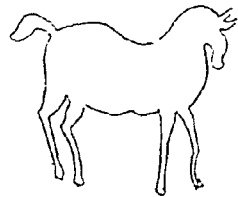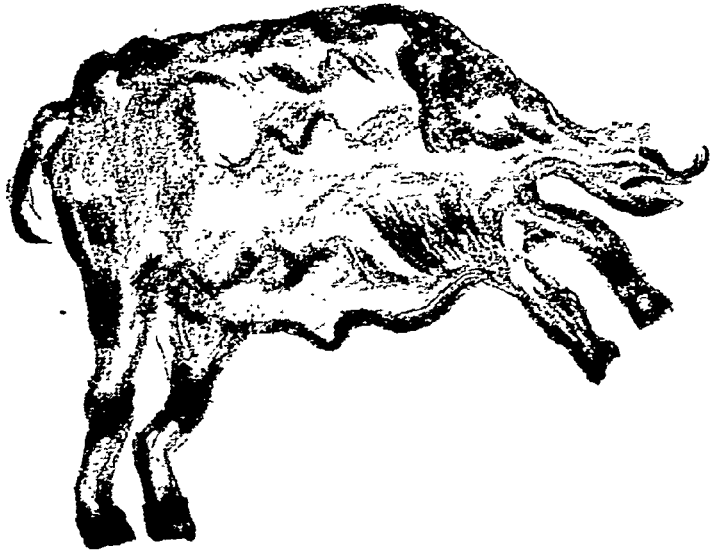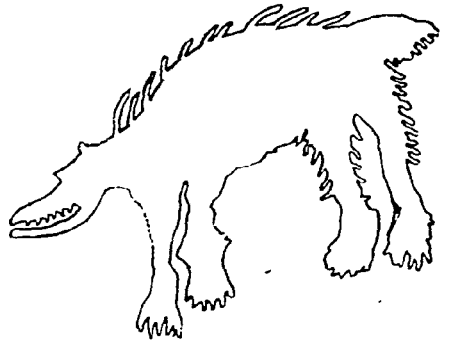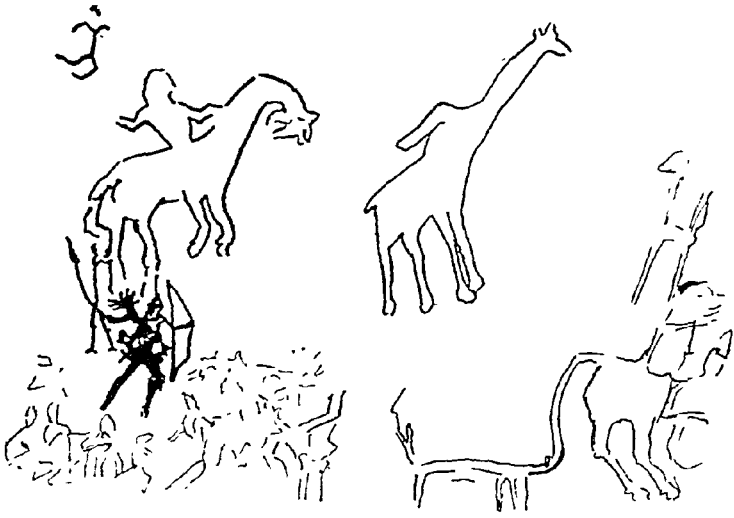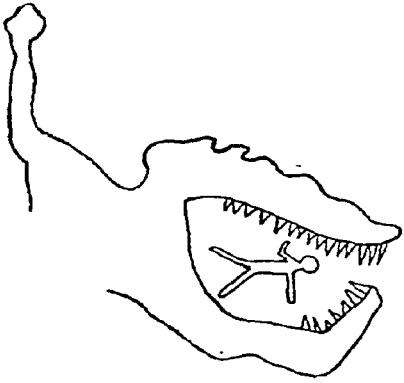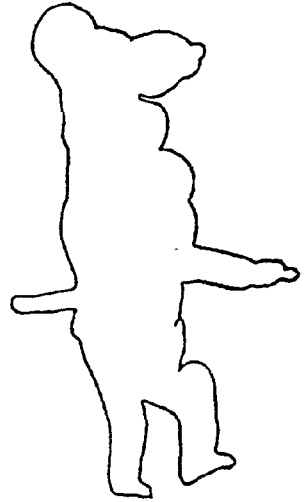
प० प० फलक–XXX
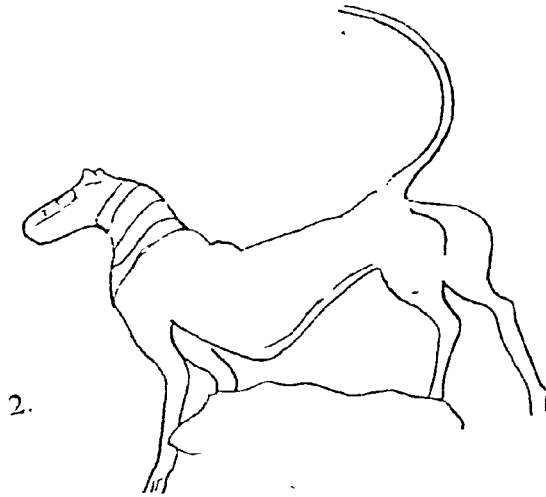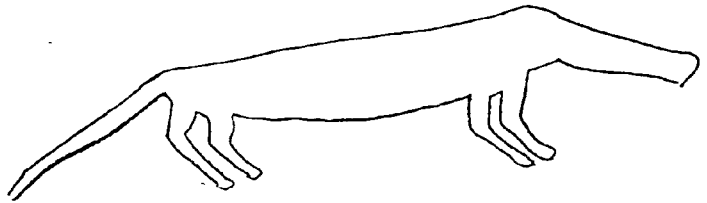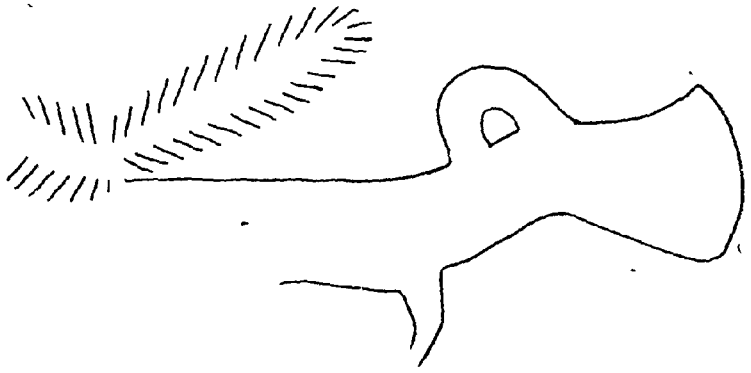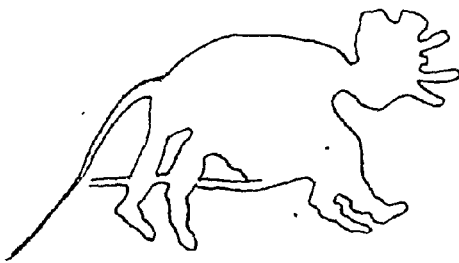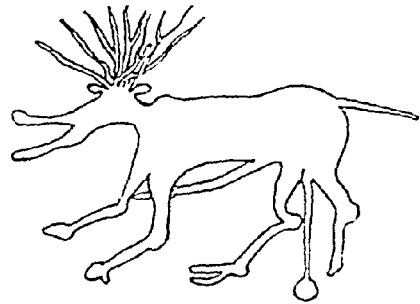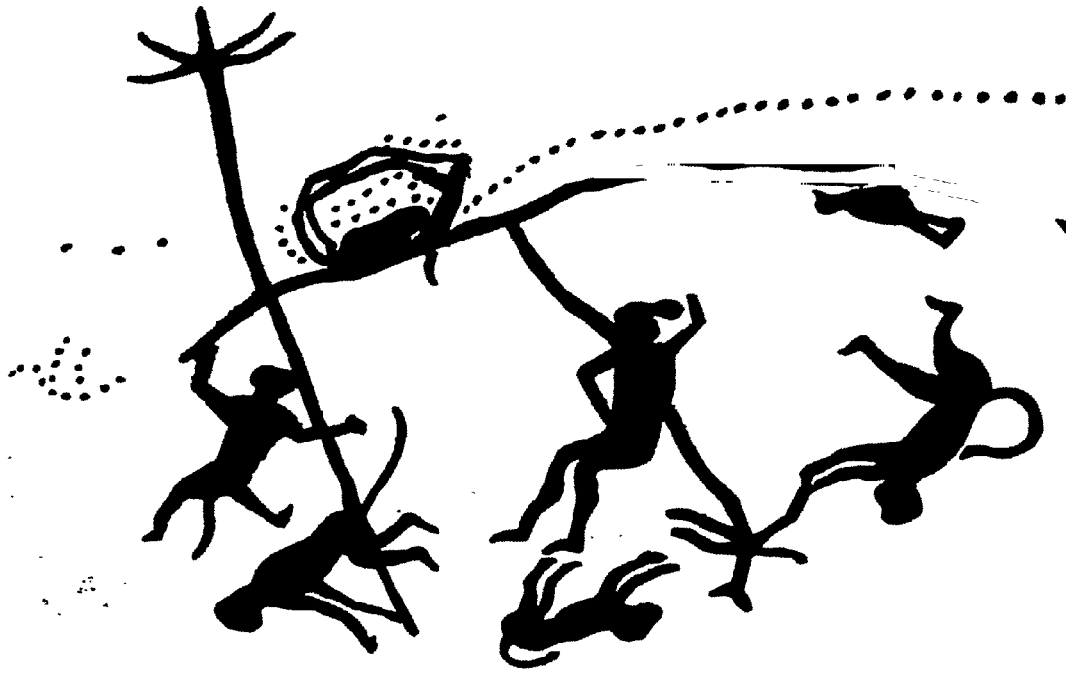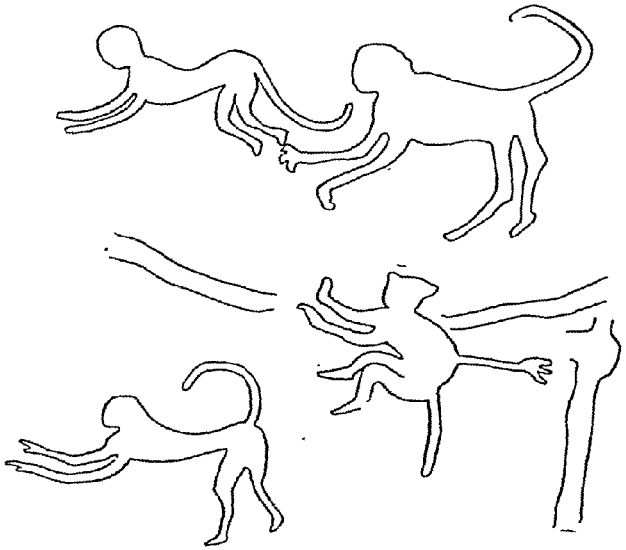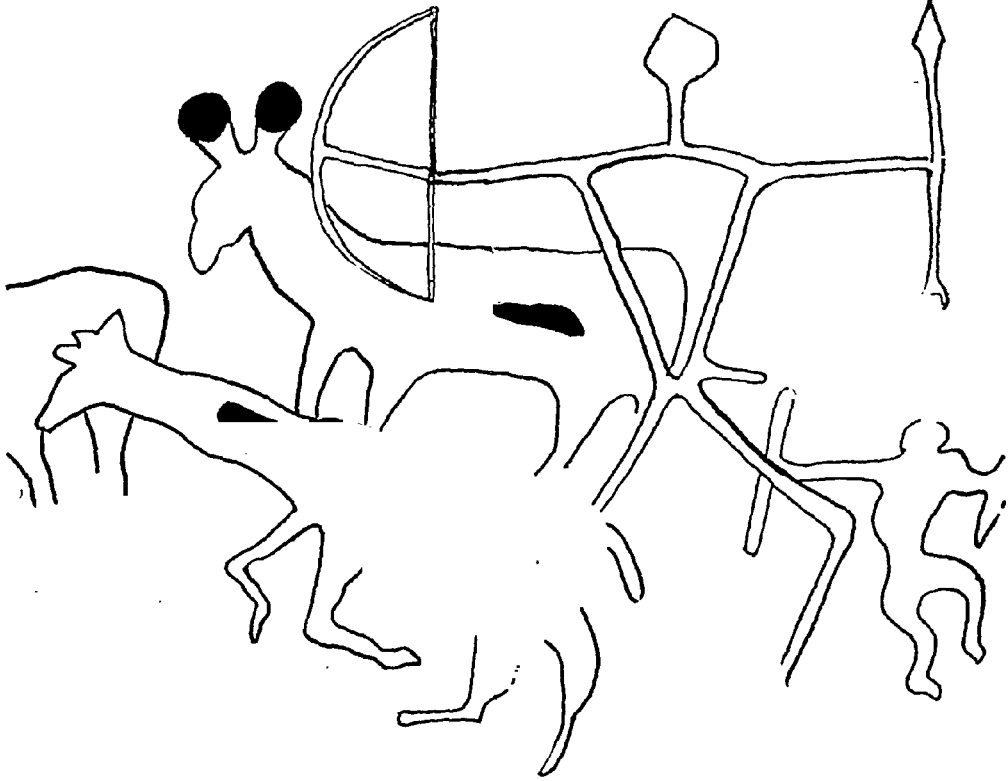
प० प० फलक–XXXI
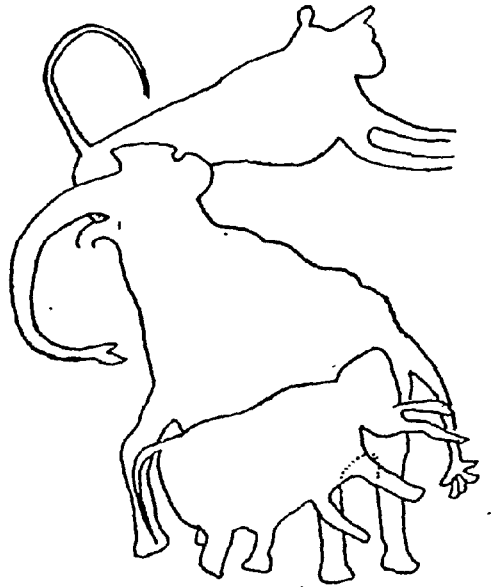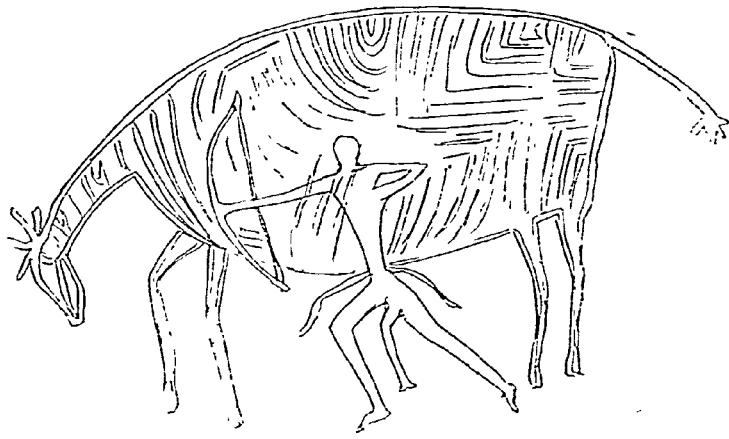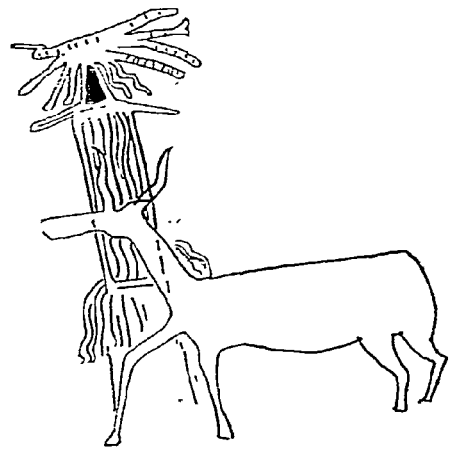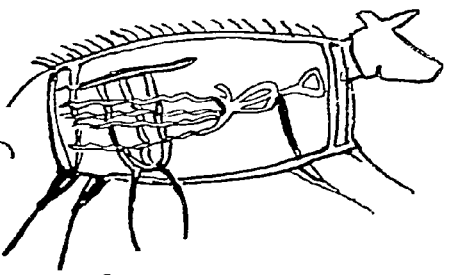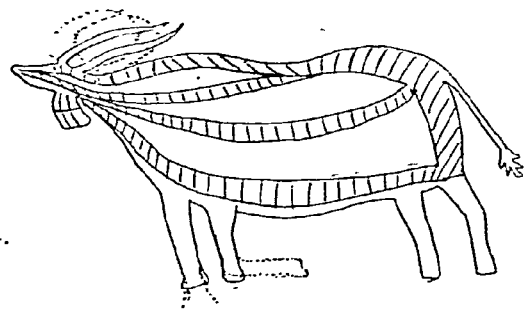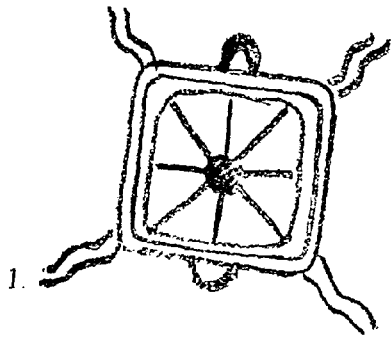
प० प० फलक–XXXII
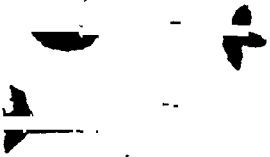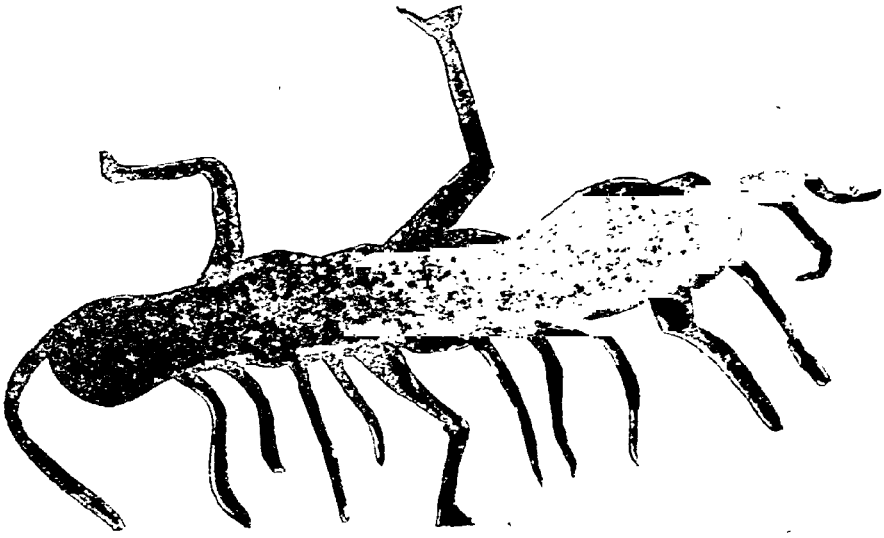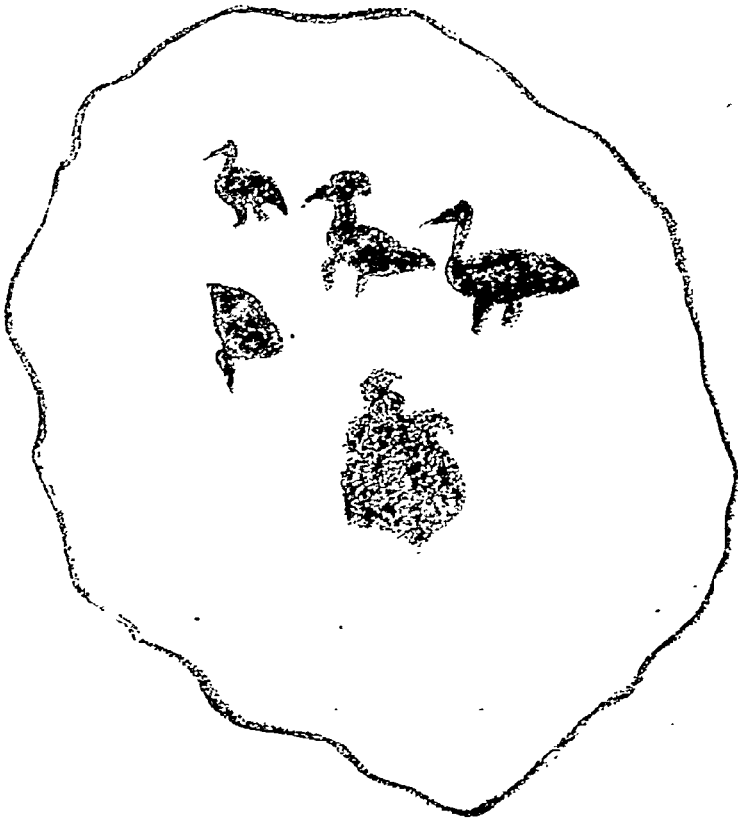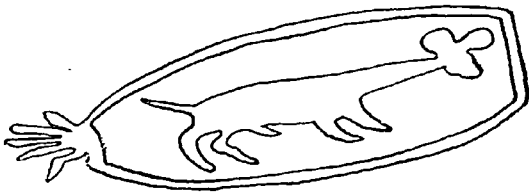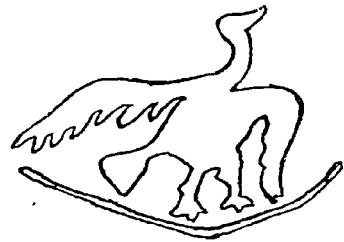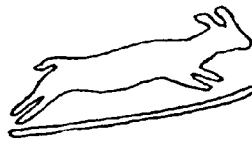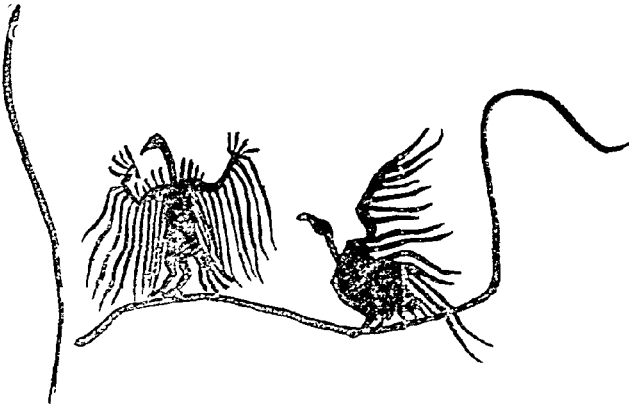
प० प० फलक–XXXIV
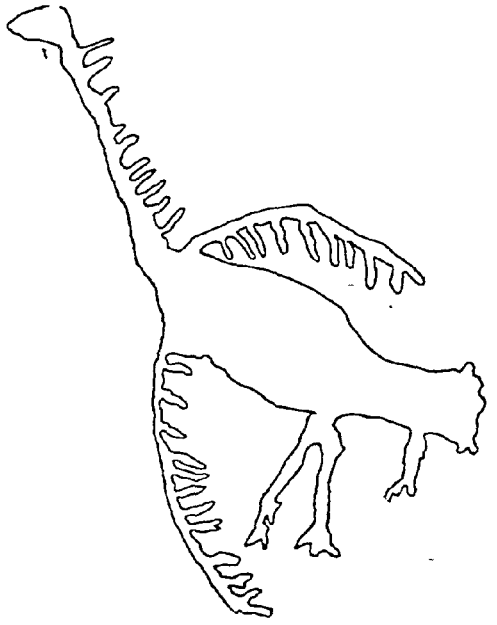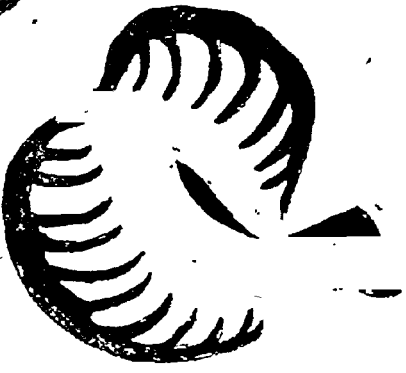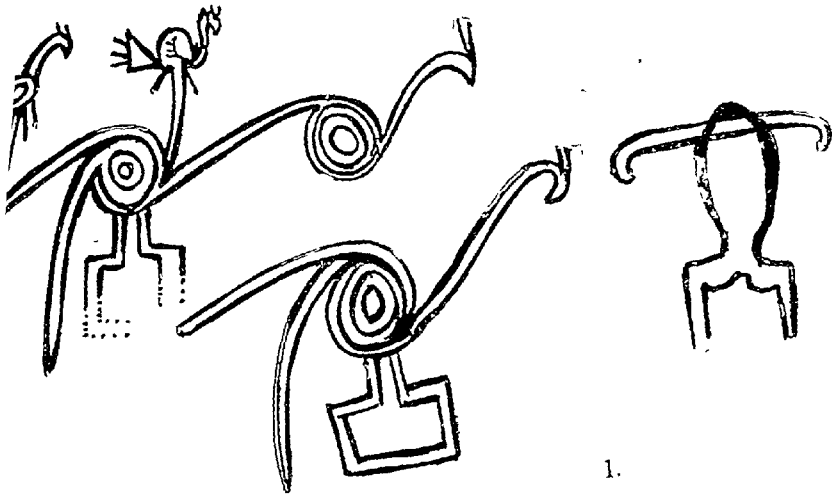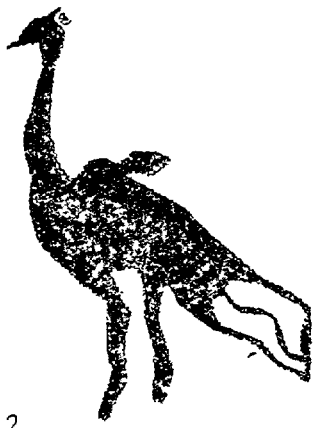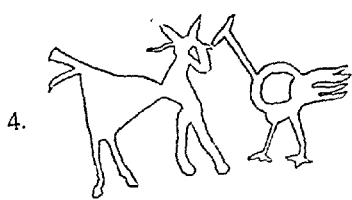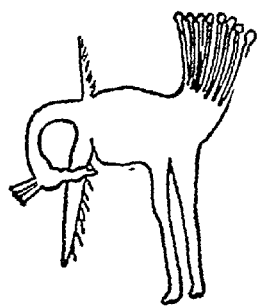
प० प० फलक–XXXV

प० प० फलक–XXXVI

1.

2.
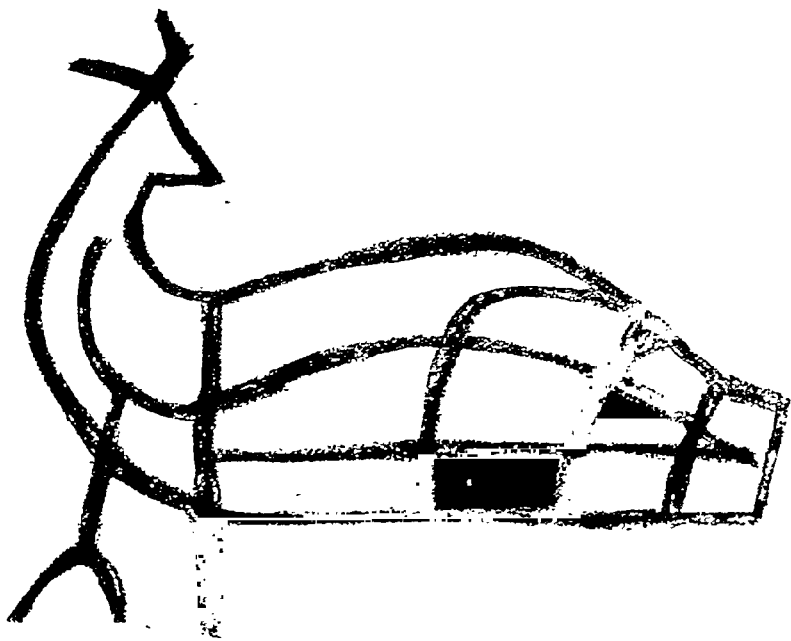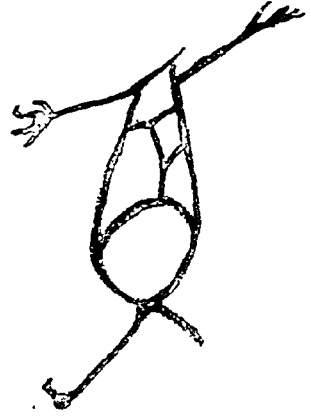
मानवाकृतियाँ

चित्र-खंड-३

ज० बी० उ० रि० सो० के जर्नल की
चौथी वाल्यूम में एण्डर्सन के लेख के
साथ १९१८ ई० में प्रकाशित सिघन-
पुर की एक गतिशील मानवाकृति ।

मानवाकृतियाँ

प्रागैतिहासिक चित्रों की समग्र परम्परा को ध्यान में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि योरोप में मानव-चित्रण का स्थान काल-क्रम, परिमाण और कलात्मक वैभव सभी दृष्टियों मे पशु-चित्रण के बाद आता है। योरोपीय प्रागैतिहासिक कला के विशेपज्ञ वर्किट महोदय का निष्कर्ष है कि वहां के शिला-चित्रों में मानवाकृतियों का सापेक्षिक अभाव भी एक उल्लेखनीय तथ्य है तथा जहाँ मानव-अंकन हुआ भी है वहां मनुष्य को बहुत ही बुरी तरह से रूपायित किया गया है।[1] इस धारणा के पीछे फ्रांस और स्पेन की गुफाओं के अगणित चित्र रहे होंगे पर उनमें संभवतः लास्को का वह सुप्रसिद्ध चित्र अवश्य रहा होगा जिसे ब्रॉड्रिक ने 'दि प्रिहिस्टारिक ट्रैजेडी' शीर्षक दिया है तथा जिसमें एक सुचित्रित महाकार वाइसन के आगे उसके आघात से धराशायी एवं मृत मनुष्य की आकृति व्यंग्य-चित्रों जैसी अनगढ़ रेखाओं द्वारा चित्रित है। उसके मुख की रूपरेखा समीपस्थ और उसी विधि से अंकित पक्षी जैसी चित्रित की गयी है। इससे पशु और मानव दोनों की चित्रण-विधि और शक्तिमत्ता का तुलनात्मक अन्तर सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाता है। योरोपीय चित्रों में मानवाकृतियाँ सर्वत्र इतनी अनगढ़ चित्रित नहीं हुई हैं किन्तु एक प्रकार का व्यापक विभेद तो लक्षित होता ही है। अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की स्थिति योरोप से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। वहाँ उतना विभेद नहीं है। भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों में पशु-चित्रण और मानव-चित्रण के बीच भी ऐसा कोई विभेद या विसंगति दृष्टिगत नहीं होती। प्रायः जिन शैलियों में जितनी कुशलता और शक्ति के साथ पशुओं को अंकित किया गया है उनमें लगभग उसी प्रकार मनुष्य को भी चित्रित किया गया है। इस बात को सामान्यतः पंचमढ़ी, रायगढ़, मिर्ज़ापुर तथा चम्बलघाटी और होशंगाबाद इत्यादि सभी क्षेत्रों को उदाहृत करते

---

१ (i) The comparative absense of human figures is also remarkable and when they do occur they are always extremely badly drawn.

—दि ओल्ड स्टोन एज, पृ० २१०

(ii) स्वच्छन्दतापरक अनगढ़ योरोपीय मानवाकृतियों के कुछ उदाहरण ब्रॉड्रिक की प्रि० पें० में प्लेट नं० २५ पर मुद्रित रूप में देखे जा सकते हैं।

हुए प्रमाणित किया जा सकता है क्योंकि इनमें से किसी भी क्षेत्र में केवल पशु-चित्रण ही हुआ हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। कुछ अपवाद भी मिलते हैं जैसे होशंगाबाद के शिलाश्रय नं० १० पर नव लक्षित महाकाय महिष जिसके समानान्तर उसी प्रकार की दोहरी बाह्य-रेखाओं से अंकित उतने ही विशाल आकार की कोई मानवाकृति निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। (द्रष्टव्य, खंड २ फलक III) विशालता की तरह पशु-चित्रण की अधिकता भी कुछ स्थलों में अवश्य प्रदर्शित की जा सकती है परन्तु व्यापक रीति से मानव-चित्रण उसकी सापेक्षता में प्रायः अभिन्न ही प्रतीत होता है। योरोप जैसा अन्तर तो यहाँ कदापि नहीं मिलता। सांस्कृतिक दृष्टि से इस स्थिति की व्याख्या महत्त्वपूर्ण और सांकेतिक हो सकती है।

किन्हीं अज्ञात आदिम विश्वास-परक कारणों से किसी देश-काल में मानव-चित्रण वर्जित रहा हो, केवल पशु-चित्रण ही लोक-समर्थित रहा हो ऐसी दुरूह कल्पना करना भी संगत नहीं लगता क्योंकि पशुओं की खाल ओढ़कर छद्मवेश धारण किये अथवा प्रकृत वेश में मानवाकृतियों को नितान्त आरम्भिक युग से शिलांकित किये जाने की परम्परा न्यूनाधिक रूप में प्रायः अखण्ड रीति से प्रचलित रही है। भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों को देखने से मानव-रूपांकन के विषय में या उसके पीछे किसी प्रकार की वर्जना (*taboo*) का आभास नहीं मिलता।

प्रस्तुत खण्ड में जो मानवाकृतियाँ समाविष्ट की गयी हैं वे अधिकतर स्फुट और पृथक् महत्त्व के साथ चित्रित मिलती हैं किन्तु यदि वास्तविक स्थिति को देखा जाय तो पशु-पक्षियों तथा पूजा-प्रतीकों से सम्बद्ध द्वितीय और नवम खण्डों को छोड़कर शेष सभी खंडों के चित्र मानवाकृतियों से युक्त हैं। ऐसी दशा में प्रस्तुत खंड तक ही उनके स्वरूप की व्याख्या को सीमित नहीं रक्खा जा सकता। यह दूसरी बात है कि अन्य खण्डों में प्राप्त मानवाकृतियों की अंकन-विधि बहुत अंशों में इस खंड के चित्रों से भिन्न नहीं है; स्थितियाँ और सन्दर्भ अवश्य दूसरे तथा पृथक् हैं। कुछ आकृतियाँ ऐसी भी मिलती हैं जो हैं सम्भवतः मानव-रूप ही, पर जिन्हें मत्स्यकन्या आदि कहा गया है। वैसी कुछ आकृतियाँ फलक IX, चित्र सं० १ में भी हैं। अधिकतर मानवाकृतियाँ पूरक शैली की हैं। जिनमें सिंघनपुर के कपि-मानव (Apeman) की स्थिति विशिष्टतम कही जा सकती है। कुछ चौड़ी रेखाओं में रची गयी हैं तथा कुछ में शरीर प्रायः यष्टिवत् पतला बनाया गया है। कुछ का आकार डमरू जैसा द्वि-त्रिकोणात्मक है। आयताकार एवं रेखालंकृत देह वाली मानवाकृतियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। वे पंचमढ़ी-क्षेत्र से विशेषतः सम्बद्ध हैं। गॉर्डन ने सिंघनपुर और कबरापहाड़ की आयताकार पूरक शैली की आकृतियों से उनका परम्परागत सम्बन्ध जोड़कर मात्र ज्यामितिक रूप-सादृश्य के आधार पर ऐसी सभी मानवाकृतियों को सम-

सामयिक मानने का दुराग्रह किया है।[1] मानव-रूपांकन से हटकर यह समस्या काल-निर्णय की सीमा में चली जाती है जो यहां इष्ट नहीं है किन्तु इससे इतना संकेत अवश्य ग्रहण किया जा सकता है कि मानवाकृतियों की रूप-विधि कलात्मक दृष्टि से ही नहीं, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। आँख, नाक आदि वे वस्तुएँ जो शरीर की बाह्य रेखा के भीतर आती हैं अपवाद रूप में ही प्रदर्शित की गयी हैं। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि मनुष्य ने अपने अस्तित्व को सर्वप्रथम अपनी उस छाया के रूप में देखा होगा जो प्रकाशित वातावरण में निरन्तर शरीर के साथ रहती है और तदनुरूप अपने को चित्रित करने की प्रेरणा उसे इस सहज अनुभव से ही मिली होगी। यह सत्य है कि शिलाचित्रों में अंकित अधिकांश मानवाकृतियाँ छायाभास हैं तथापि उक्त धारणा एक संभावित अनुमान मात्र ही कही जा सकती है। कुछ आकृतियाँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें शिरोभाग तथा कहीं-कहीं अन्य अवयव भी केन्द्रीय देह भाग से पृथक् चित्रित किये गये हैं। (द्र० फलक V चित्र सं० ३ और ५ तथा फलक VI चित्र सं० २)। उनका पारस्परिक संयोजन कल्पना द्वारा ही घटित होता है जिससे रूपांकन की छायापरक व्याख्या अंशतः खंडित और मर्यादित हो जाती है।[2] छायाभास रूपों में भी कल्पनात्मक वैविध्य का इतना प्रसार मिलता है कि अन्ततः छायात्मक चित्रण को भी कल्पना का एक स्वाभाविक प्रकार मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कदाचित् इसीलिए छायात्मक होने पर भी तथा बिना मुख की भीतरी रेखाओं और नेत्रादि की स्थिति निर्दिष्ट किये ही विविध भावभंगिमाओं और क्रियाओं के अनुरूप सशक्त और व्यंजक अंग-विन्यास सम्भव हो सका। सरल, सामान्य और बहुधा अनगढ़ लगने पर भी आकृतियाँ सप्राण दिखायी देती हैं। उनमें कलात्मक एवं कल्पनात्मक वैभव के साथ मानवोचित सजीवता का अद्भुत बोध होता है। रचनाकार की सृजनशीलता से अनुप्राणित अनेक मानवाकृतियाँ उन संदर्भों की पूरी प्रतीति करा देती हैं जिनमें उन्हें रूपायित किया गया है। अनावश्यक के त्याग और आवश्यक के कलात्मक उपयोग की सहज वृत्ति न्यूनाधिक रूप में प्रायः सर्वत्र मिलती है। यह दूसरी बात है कि एक विशाल काल-विस्तार में निर्मित होते रहने के कारण बहुधा शैलीबद्धता तथा पारम्परिक रूपों की आवृत्ति के भी पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं। अशक्त और अव्यंजक आकृतियाँ भी

---

१. सा० क०, वा० V, नं० २, पृ० १४५

२. इस कलात्मक चित्रण-विधि का प्रयोग सहस्राब्दियों पूर्व की यूरोपीय कला में भी लक्षित होता है। पूर्वी स्पेन के कोगुल (cogul) नामक स्थान के एक शिला-चित्र में अंकित मानवाकृतियाँ द्रष्टव्य हैं। 'ओल्ड स्टोन एज,' ले० बर्किट, पृ० २२७, फि० ३०

यत्र-तत्र दिखाई दे जाती है पर अनुपातत: वे अधिक नहीं हैं। जैसा कहा जा चुका है, उपर्युक्त निष्कर्ष केवल इसी खंड की मानवाकृतियों तक सीमित नहीं है, उसमें अन्य निर्दिष्ट खंडों, विशेषत. आखेट-दृश्यों वाले प्रथम, धनुर्धरों वाले चतुर्थ तथा नृत्य-वाद्य वाले अष्टम खंड को भी दृष्टि में रक्खा गया है। पूजा-प्रतीक और देवताओं वाले नवम खंड में समाहित कुछ सामान्य मानवीय रूपों के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक मानव द्वारा चित्रित जो अतिमानवीय आकृतियाँ है, उनकी स्थिति अन्यों से भिन्न है क्योंकि उनमें पशु तथा मानव के आकारों को अनेक रूपों में मिश्रित करके कल्पना-वैचित्र्य के साथ प्रस्तुत किया गया है। उन्हे मानवाकृतियाँ कहना उसी स्थिति में सम्भव है जब यह निश्चित हो जाय कि पशु-मुख छद्‌मुख है जिसे मानव ने ऊपर से धारण कर लिया है। केवल कुछ ही चित्र इस रूप में व्याख्यायित किये जा सकते है सब नही। किसी भी रूप मे हो, मानवाकृतियों का समावेश शिलाचित्रों को अधिक आत्मीय और अर्थवान् बनाता है तथा मानव द्वारा मानव के अस्तित्व-बोध का सुदूर काल-विस्तार तक प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता है।

मानवाकृतियाँ : चित्र-परिचय

फलक I

चित्र सं०—१

सिंघनपुर के सबसे ऊपर वाले प्रमुख शिलाश्रय के दाहिने पार्श्व में, प्रसिद्ध आखेट-दृश्य के नीचे, उघरे शिला-भाग पर गेरुए रँग से अन्य मानव-कृतियों की तरह ही लघु आकार में अंकित एक नितान्त आदिम मानवाकृति जिसे इसके अनुकर्ता अमरनाथ दत्त ने अपनी पुस्तक में सर्वाधिक महत्त्व देते हुए सबसे पहले स्थान दिया है। उनके अनुसार यह 'मौस्टेरियन' युग के कपि-मानव (Ape-man) का चित्र हो सकता है जिसको योरोप में नियण्डर्थल मानव (Neanderthal Man) कहा जाता है। प्रस्तुत चित्र उन्हीं की अनुकृति पर आधारित है। इसके विषय में विपरीत धारणा यह व्यक्त की गयी है कि वास्तव में यह अनुकृति शिला-चित्र का सही रूप प्रस्तुत नहीं करती और मूल चित्र सामान्य मनुष्य का ही है, कपि-मानव का नहीं। मैंने सिंघनपुर जाकर स्वतः निरीक्षण किया और पाया कि पूरक शैली की कुछ ऐसी और आकृतियाँ भी आभासित होती हैं जो मिटती जा रही हैं। इसकी मुद्रा असाधारण है और 'वनमानुस' जैसी लगती है, इसमें सन्देह नहीं। अतएव मेरी दृष्टि में इसे अन्य मानवाकृतियों से भिन्न और विशिष्ट मानना ही उचित प्रतीत होता है। भारतीय शिला-चित्रों में प्राप्त मानवाकृतियों में यह जीवन की सबसे अधिक आदिम अवस्था को व्यक्त करती है।

चित्र सं०—२

मिर्जापुर क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ से मोरहोघाट की ओर जाने वाले मार्ग की एक शिला पर गहरे गेरुए रँग से अंकित एक विचित्र मानवाकृति जिसकी मुद्रा बैठने की है परन्तु हाथ ऊपर को उठे हुए उसी प्रकार समानान्तर घूमे हुए चित्रित हैं जिस प्रकार पैर। चित्र से यह सर्वथा स्पष्ट नहीं होता है कि आकृति स्त्री की है या पुरुष की। हाथ-पैर पार्श्व-दृष्टि से और मुख सम्मुख दृष्टि से बनाया गया है। यह चित्र मूल से अनुकृत होकर यहाँ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—३

सिंघनपुर के प्रमुख शिलाश्रय में अंकित एक गतिशील मानव-युग्म। अमरनाथ दत्त ने, जिनकी अनुकृति पर यह चित्र आधारित है, इसे गोलाकार शीर्ष वाले बौनों (round headed pigmies) का चित्र बताया है। चित्र में संयुक्त गतिमत्ता और लयान्विति द्रष्टव्य है।

फलक II

सिंघनपुर की एकस्थ अनेक मानवाकृतियाँ जिनमें सबसे बड़े आकार वाली केन्द्रीय आकृति, फलक I, चित्र सं० १, के कपि-मानव जैसी है। हाथों की मुद्रा ठीक उसकी उल्टी है किन्तु भंगिमा बहुत कुछ समान लगती है। सभी आकृतियाँ पूरक शैली की हैं। यह अनुकृति फोटो पर आधारित होने के कारण मूल से पूरण विधि में कुछ भिन्न हो गयी है किन्तु आकृतियों का संपुंजन और उनकी गतिशील मुद्राएँ यथावत् चित्रित हैं।

फलक III

चित्र सं०—१

सिंघनपुर की कतिपय अन्य गतिशील मानवाकृतियाँ जिनकी रूपरेखा में ज्यामितिक तत्त्व स्पष्ट दिखायी देते हैं। चित्र—१ का पिछला मानव, जो कि मूलतः अलग चित्रित है, का देह-भाग सीढ़ी की तरह बना है और चौथी का भी कुछ ऐसा ही है। इस आधार पर इन्हें सोपान-मानव (ladder-man) कहा जा सकता है। समानान्तर रेखाओं से, लम्बे आयत जैसी देह को पूरने की विधि सिंघनपुर में विशेष स्पष्टता और विविधता के साथ उपलब्ध होती है। दूसरी मानवाकृति में भी इसका आंशिक समावेश है। तीसरी सर्वथा पूरक शैली में रची गयी है। एक ही स्थान पर विविध शैलियों का समावेश रचनाकारों की स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय देता है। दूसरी को छोड़कर शेष सभी में समान दिशा में एक-एक सशस्त्र हाथ प्रदर्शित है। अस्त्रों का रूप भिन्न है पर वे छोटे-बड़े दण्ड ही लगते हैं। चौथी आकृति के हाथ में संभवतः उँगलियों के प्रदर्शन के कारण ही त्रिशूल जैसा रूप बन गया है। सिंघनपुर के प्रतीक-चिह्नों में ऐसा त्रिशूल-रूप अंकित अवश्य मिलता है, पर वह अस्त्र का रूप है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पाँच के स्थान पर तीन उँगलियाँ बनाकर हाथ के रूप का सांकेतिक आभास देना भी स्वाभाविक है।

चित्र सं०—२

यह भी सिंघनपुर की ही एक मानवाकृति है जिसकी भुजाएँ और इधर-उधर उठे

हुए पैर तीव्र गति का बोध कराते हैं। देह-भाग का आकार-प्रकार और पूरण-विधि रेखामूलक होकर भी चित्र—१ की आकृतियों से भिन्न और निजी ढंग की है। शीश गोलाकृत न होकर केवल रेखा के उभार से सांकेतिक है जो तीव्र गति के द्योतन से संगति रखता है। चित्र पर्याप्त सजीव लगता है।

चित्र सं०—३

भोपाल-क्षेत्र के धरमपुरी नामक शिलाश्रय में अंकित, पूरित गहरे कत्थई रंग की एक प्रधावित मानवाकृति जिसके बिखरे केशों और पैरों में गति का विशेष आभास होता है। लटकता हुआ वस्त्र और कमर के पास कोणाकृत उठी हुई रेखा जो कदाचित् अस्त्र को द्योतित करती है, रूप-योजना की संगति के अनुकूल है। सिर गोलाकार किन्तु देह यष्टिवत् एक ही रेखा द्वारा चित्रित है।

चित्र सं०—४

पँचमढ़ी-क्षेत्र की नवोपलब्ध इमलीखोह में सफेद रँग से अंकित यह चित्र उस जगह अपनी शैली का एक ही चित्र है। पँचमढ़ी के अन्य शिलाश्रयों में अवश्य ऐसी रेखाकार मानवाकृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें से कुछ गॉर्डन द्वारा अनुकृत भी हुई हैं। यह चित्र मूल से अनुकृत है और इससे पूर्व प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें तीनों मानवाकृतियाँ तीन भिन्न रेखा-योजनाओं से बनी हैं। बड़ी आयताकार, बीच की त्रिकोणाकार और किनारे की अपूर्ण और यष्टि-रूप देह वाली है। आयत की, शीर्ष तक जाने वाली, बीच की रेखा कुछ लहराती हुई रहती है जो इस शैली के चित्रों की विशेषता है।

फलक IV

चित्र सं०—१, २, ३, ४

यह चारों मानव-युग्म पँचमढ़ी क्षेत्र के हैं। पहला और तीसरा इमलीखोह से, दूसरा मान्टेरोज़ा और चौथा जम्बूद्वीप से अनुकृत किया गया है। पहले तीन चित्र सफेद पूरक शैली के हैं किन्तु चौथा लाल बाह्य-रेखा युक्त श्वेत पतली रेखाओं वाली उस शैली में बना है जो सबसे पुरानी मानी जाती है। तीसरे को छोड़कर शेष युग्म स्पष्टतः स्त्री-पुरुष के हैं। मुक्त केश, आदिम कटि-वस्त्र या पत्राच्छादन तथा गतिशील मुद्राएँ सबमें समान हैं। इससे अधिक आदिम अवस्था के युग्म-चित्र अभी तक भारत में अन्यत्र प्राप्त नहीं हुए हैं। पँचमढ़ी क्षेत्र में ही यह विशेषतः मिलते हैं। दूसरे चित्र में पुरुष का बायाँ हाथ कदाचित दो मुद्राओं में चित्रित है जो चित्रकार की द्विधा मनोवृत्ति का द्योतक प्रतीत होता है।

फलक V

चित्र सं०—१

होशंगाबाद, आदमगढ़; शिलाश्रय नं० ३ कत्थई पर रंग से अंकित एक अति प्राचीन एवं आदिम मानव-युग्म जो युद्ध-रत प्रतीत होता है। पहली आकृति हाथ में खड्ग जैसा कोई अस्त्र लिए हुए है और दूसरी प्रधावित मुद्रा में सामने आती दिखाई देती है। सारा रूपांकन रेखाओं से किया गया है। शिरोभूषा आदिम पंख-सज्जा-युक्त बिखरे केशों का आभास देती है और अतिरंजित भी लगती है। दूसरी आकृति रेखा-निर्मित होते हुए भी रूप-रचना की दृष्टि से भिन्न योजना रखती है। उसमें मध्यभाग त्रिकोणात्मक नहीं है और पैर इकहरी रेखाओं के स्थान पर दोहरी रेखाओं से बनाये गये हैं। कटि-बंध भी वैसे चित्रित नहीं है। कंठ के पीछे की रेखा पर तीन चिह्न विशेष रोचक हैं। मूल से अनुकृत, यहाँ प्रथम बार प्रकाशित।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी, इमलीखोह: गहरे काले रंग से अंकित, संभवत: अन्य तत्स्थानीय चित्र-शृंखलाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन एवं आदिम मानवाकृति। यष्टि-रूप होते हुए भी देह की मुद्रा से गतिशीलता का पूरा बोध होता है। कटि-बंध का संतुलन विशेष द्रष्टव्य है।

चित्र सं०—३, ४

पँचमढ़ी, डोरोथीडीप; गहरी लाल और कहीं चौड़ी कहीं पतली, सम्बद्ध-असम्बद्ध रेखाओं से बनी अनेक मानवाकृतियों में से दो विभिन्न शैलियों के दो चित्र। दोनों में पैर यष्टि-रूप है किन्तु कटि-बंध से ऊपर का देह-भाग भिन्न प्रकार से चित्रित है। पहले चित्र में शीश त्रिकोणात्मक तथा अन्य अवयव भी कुछ ज्यामितिकता लिए हुए हैं। दूसरे में स्थान को बाह्यत: घेरकर आकार और मुद्रा का प्रदर्शन किया गया है। मूल से अनुकृत।

चित्र सं०—५, ६

यह दोनों चित्र पंचमढ़ी क्षेत्र के हैं और क्रमश: ऊपरी डोरोथीडीप तथा मान्टेरोजा, शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा की गई अनुकृतियों के प्रकाशित रूप पर आधारित हैं। दोनों मानवाकृतियाँ योद्धाओं की हैं, पहली यष्टि-रूप सरल और दूसरी ज्यामितिक तथा जटिल रचना-विधान से युक्त है। अवयवों को उसमें (चित्र ६) आयताकार मूल देह-भाग से जोड़ा नहीं गया है। यहाँ तक कि हाथों और पैरों को कोहनी और टखनों के पास असम्बद्ध अस्थिवत् चित्रित किया गया है। इस प्रकार का विचित्र विन्यास कुछ अन्य चित्रों में भी मिलता है। बिंदु-युक्त त्रिकोण संभवत: ढाल है। उसे भी कटि-बंध से पूरी तरह सम्बद्ध नहीं किया गया है। शिरो भाग सबसे अधिक रोचक विधि से बनाया गया है, पूरित अर्ध-षट्कोण

को भीतर से कुछ रिक्त छोड़कर ऊपर रख दिया गया है जो केश-युक्त मानव-शीश का यथेष्ट आभास देता है।

फलक VI

चित्र सं० १, २, ३, ४

यह चारों मानव-चित्र पँचमढ़ी-क्षेत्र के है और क्रमश: डोरोथीडीप, बोरी, जम्बूद्वीप तथा सोनभद्र के शिलाश्रयों से सम्बद्ध है। इन्हें गॉर्डन ने अनुकृत करके 'साइंस एण्ड कल्चर' की वाल्यूम-V, अंक ६ में पहले प्रकाशित किया फिर अन्यत्र भी प्रयुक्त किया। प्रस्तुत चित्र उन्हीं से प्रतिकृत है। चित्र सं० १ बादामी रंग (Cream Colour) का है। उसमें मानवाकृति विचित्र रूप-रचना मे संयोजित की गई है। रेखाएँ असमान, गँठीली और रिक्तता के द्वीपों से युक्त नदी जैसी प्रवाहित है। गले के पास से उठी सीधी रेखा संभवत: उठे हुए हाथ का द्योतन करती है, मध्यवर्ती रेखा देह-यष्टि का तथा उसके इधर-उधर की रेखाएँ पैरो की द्योतक हैं। शीश एक वृत्त मे और कान बिंदुओं द्वारा आलिखित है। इस चित्र की शैली कुछ दुरूह होते हुए भी रोचक है। चित्र सं० २ का शिरोभाग फलक-V के चित्र सं० ६ की तरह देह भाग मे असम्बद्ध चित्रित किया गया है। उसमें अलंकरण के चिह्न अतिरिक्त और विशेष आकर्षक है। देह-भाग और पैर यष्टि-रूप है, केवल कटि-बंध असम्बद्ध रूपों मे योजित है। यह मानवाकृति धूमिल बैंगनी रंग में बनी है। चित्र सं० ३, लाल-सफेद मिली-जुली रेखाओं वाली विशिष्ट शैली का है किन्तु आकृति इस शैली के अन्य चित्रों की तरह सुगठित नही है। इसकी कल्पना यष्टि-मानव से ही विकसित लगती है। चित्र सं० ४ भी इसी द्विवर्णी मिश्रित रेखाओं वाली शैली का है किन्तु इसका रचना-विधान भिन्न और अधिक जटिल है, विशेषत: शिरोभाग। हाथों में तरकस, ढाल आदि अस्त्र सज्जित है। देह यष्टिवत् ही है। एक पैर तरकस जैसा पूरित और दूसरा सीधी रेखाओं द्वारा साधारण रीति से बनाया गया है। कटि-बंध शिरोभाग की तुलना में बहुत कम अलंकृत है। इसमें भी असम्बद्ध योजना का यत्किंचित समावेश मिलता है; ढाल वाले हाथ के समीप। मूल-चित्र के रेखा-सौन्दर्य एवं वर्ण-विन्यास का आंशिक आभास भी इस चित्र से नहीं हो पाता।

फलक VII

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी-क्षेत्र में स्थित ऊपरी डोरोथीडीप के उस शिला-चित्र की अनुकृति जो गॉर्डन द्वारा अनुकृत तो नहीं किया गया किन्तु इसकी स्थिति उनके द्वारा शोधित अन्य चित्रों के

पार्श्व में ही है। यह आयताकार देह वाला युग्म पंचमढ़ी की सुपरिचित अलंकृत शैली में ही चित्रित है। दोनों मानवाकृतियों की शिरोभूषा भिन्न प्रकार की है, पहली त्रिकोणात्मक पूरक आधार से विकीर्ण होने वाली मुक्त केशों जैसी लहराती हुई रेखाओं से युक्त है जबकि दूसरी में शीश के द्योतक गोलक के आसपास बिन्दु-वृत्त और उससे विकीर्ण सरल रेखाओं की योजना है। दोनों भूषाएँ आकर्षक हैं। दोनों आयतों की पूरण-विधि भी ज्यामितिक होते हुए परस्पर भिन्न है। बाँह पकड़ने की मुद्रा सजीवता उत्पन्न करती है। उससे सहचरण का भाव प्रकट होता है।

चित्र सं०—२

गॉर्डन द्वारा सिंघनपुर, कबरा पहाड़ तथा महादेव पर्वत मालाओं (पँचमढ़ी) की कतिपय शैलीबद्ध मानवाकृतियों के रूप को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के निमित्त एकत्र शिलाचित्रों की प्रतिकृतियाँ जो प्रायः उसी प्रकार इस चित्र में समाविष्ट हैं। ऊपरी पंक्ति में सिंघनपुर तथा निचली पंक्ति में क्रमशः कबरापहाड़ और पँचमढ़ी के चित्र हैं। आयताकार देह का रचना-साम्य तथा दाहिने किनारे की, दो-दो दण्ड धारण करनेवाली मानवाकृतियों का वस्तु-साम्य विशेष द्रष्टव्य है।

चित्र सं०—३

यह भी इस फलक के चित्र सं० १ की तरह द्विवर्णी अलंकृत ज्यामितिक शैली के आयताकार मानव-युग्म का चित्र है जो डोरोथीडीप में ही शिलांकित है। नाप लेने पर बड़े आयत की भुजाएँ $५\frac{३}{४}'' \times २\frac{३}{४}''$ की निकलीं। गॉर्डन ने इसे प्रारम्भिक प्रथम शृङ्खला का बताया है जो यहाँ प्राचीनतम कही जा सकती है। इतने छोटे आयत में जो लहरीली सफेद पतली रेखाओं के बीच लाल रेखाओं की योजना सूक्ष्म और विकसित कला-कुशलता का परिचय देती है। शृङ्खला-क्रम में सर्व प्राचीन एवं आरम्भिक होते हुए भी ऐसी कृतियाँ चित्रण की आदिम अवस्था का द्योतन नहीं करतीं।

फलक VIII

चित्र सं०—१, २

पँचमढ़ी-क्षेत्र में स्थित जम्बूद्वीप नाले के प्रमुख शिलाश्रय पर अंकित पूर्वोक्त द्विवर्णी शैली के ये चित्र अपने लयात्मक सूक्ष्म रेखांकन के कारण विशेष आकर्षक लगते हैं। पहला चित्र तिरछी छत में लगभग २० फीट की ऊँचाई पर अंकित है। चित्रकारों ने इसे किस प्रकार बनाया, यह आश्चर्य होता है। दूसरा चित्र भी लाल बाह्य-रेखाओं से युक्त लहरीली सफेद पतली रेखाओं से अलंकृत है। इसमें देह आयताकार न होकर यष्टि-रूप बनायी गयी

है। बिखरे केशों के दाहिने छोर से कटि-बंध तक आता हुआ केश-जाल विशेष स्वच्छन्दता का द्योतक है। बायें पैर के समीप प्रदर्शित धनुर्धर दूसरी शैली के है और बाद में अंकित किये गये हैं। मूल चित्र से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस चित्र में हाथों का आकार विचित्र है और दोहरी रेखाओं से बनाया गया है। उनका प्रसार केश-प्रसार से संगति रखता है।

फलक IX

चित्र सं०—१

गॉर्डन द्वारा अनेक स्थानों की मानवाकृतियों का एकत्रीकरण। मा० क० १९३९, पृ० १४६ पर प्रस्तुत अनुकृतियों पर आधारित प्रतिकृति। पहला चित्र मटमैले (ग्रे) रंग का है और आदमगढ़ के प्रमुख शिलाश्रय पर अंकित है; दूसरा क्रीम रंग का है और पँचमढ़ी क्षेत्र के सोनभद्र नामक स्थान से लिया गया है। तीसरा कुछ नीचे की ओर अंकित चित्र कबरापहाड़ का है। चौथा ढाल-तलवार या भालाधारी यष्टि-काय योद्धा मांटेरोजा (पँचमढ़ी) में शिलांकित है। इसका शीश-वृत्त ऊपर की ओर से खुला होने के कारण रोचक लगता है।

चित्र सं०—२

इस चित्र की दोनों मानवाकृतियाँ पँचमढ़ी-क्षेत्र की हैं और पूर्व निर्दिष्ट सा० क० में ही प्रतिकृत हैं। पहली आकृति जम्बूद्वीप की है और मटमैले (ग्रे) रंग से पूरक शैली में अंकित है तथा दूसरी सफेद है और काजरीघाट से ली गई है। दोनों की रचना-विधि एवं शैली एक जैसी लगती है।

फलक X

चित्र सं०—१

रायगढ़-क्षेत्र के कबरा पहाड़ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के नं० ५ (१९३५) में प्रकाशित अनुकृति का प्रतिरूप जिसमें पूरक-अपूरक मिश्रित शैली में एक घेरे के भीतर चार गतिशील मानवाकृतियाँ प्रदर्शित हैं। चौथी आकृति अर्ध स्पष्ट है। स्पष्ट आकृतियों की रेखाएं ज्यामितिकता लिए हुए हैं तथा देह-भाग त्रिकोणात्मक है। पहली आकृति की त्रिकोण-देह में मेरुदण्ड जैसी मध्यवर्ती रेखा भी बनी है जो अन्यों में नहीं है। कटि-बंध इधर-उधर लहराते हुए हैं तथा एक-दूसरे के हाथ हाथों से संलग्न हैं जिससे यह लगता है कि यह मानवाकृतियाँ नर्तन-मुद्रा में अंकित हैं।

चित्र सं० २

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत प्रारम्भिक तृतीय श्रेणी की लाल रेखायुक्त शैली में अंकित तीन मानवाकृतियों के समूहांकन की प्रतिकृति जिसमें मध्यवर्ती व्यक्ति वायीं ओर के व्यक्ति को एक हाथ से आवद्ध किये है तथा दूसरा हाथ वढ़ाकर दायीं ओर के व्यक्ति को अपने समीप बुला रहा है। तीनों की नाकें शैलीवद्ध एवं विशेष नुकीली हैं।

चित्र सं०—३

मान्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ पर कहीं-कहीं विशेष लाली लिए हलके गुलावी (पिंक) रँग से वने एक स्त्री-चित्र की प्रतिकृति जो गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित है। मान्टेरोज़ा में प्रायः ऐसी ही एक स्त्री-आकृति उस नव-प्राप्त झोंपड़ी वाले दृश्य के पास अंकित मिलती है जो प्रस्तुत पुस्तक के अन्तिम चित्र-खंड में समाविष्ट है। कटि पर दोनों हाथ रखे उसकी भी मुद्रा इस प्रकार की है।

फलक XI

इस फलक का यह चित्र कंडाकोट के समीपवाली लिखनिया की प्रसिद्ध गुफा के भीतरी भाग में अंकित है। इसमें आयताकार देह वाली पाँच समूह-वद्ध मानवाकृतियाँ और उनके पीछे एक वकरी जैसा पशु प्रदर्शित है। सवसे वड़ी आकृति संभवतः स्त्री की है जिसके कानों और पैरों में आभूषण भी वने हैं। उसके तथा अन्य तीन आकृतियों के दोनों हाथ दाहिनी ओर उठे हुए हैं। केवल मध्यवर्ती व्यक्ति का एक हाथ नीचे और दूसरा ऊपर उठा हुआ है। हाथों की ऐसी मुद्रा से ताली वजाने या किसी विशेष धार्मिक मनोभाव के प्रदर्शन का आभास मिलता है। सवके पैरों की गति एक ही ओर है। स्त्री और मध्यवर्ती आकृति के वीच जो पतली रेखाएँ वनी हैं वे मूल-चित्र के पीछे से झलकती हुई किसी अस्पष्ट आकृति का अवशेष लगती हैं। दायीं ओर की अन्तिम आकृति का कटि-वंध दोहरा वनाया गया है जवकि अन्य सभी आकृतियों में उसको कहीं पतला कहीं चौड़ा किन्तु सर्वत्र इकहरा ही प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत अनुकृति मूल से की गयी और यहाँ प्रथम वार प्रकाशित हो रही है।

फलक XII

चित्र सं०—१

सागर-क्षेत्र में गधेरी नदी के तट पर स्थित आवचन्द के निकटवर्ती शिलाश्रय से मूलतः श्री श्यामकुमार पाण्डेय द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित इस चित्र में पाँच

ज्यामितिक मानवाकृतियाँ पंक्ति-बद्ध की गयी हैं। सभी का रचना-विधान रेखात्मक होते हुए भी परस्पर भिन्न है। समग्र रूप से उनकी मुद्रा सहचरण ही नहीं सह-नर्तन की-सी लगती है। केवल अन्तिम आकृति हाथों में ढाल-तलवार लिये है। उसकी शिरोभूषा पूर्ववर्ती दोनों आकृतियों से भिन्न पुरुषत्व सूचक है। बीच वाली आकृति की लहरायी हुई चोटी से उसके स्त्री होने का अनुमान होता है। उसके बाद वाली आकृति मुक्त उठे हुए केशों वाली है। अन्तिम आकृति का मुड़ा हुआ पिछला पैर समस्त चित्र की गतिशीलता का द्योतक लगता है।

चित्र सं०—२

यह चित्र घोष के मोनोग्राफ में प्रकाशित उस चित्र पर आधारित है जिसे उन्होंने चित्र-परिचय देते समय त्रुटिपूर्वक सिंघनपुर से सम्बद्ध कर दिया है। वास्तव में यह मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के भल्डरिया नामक स्थान पर शिलांकित है। इसमें भी पाँच मानवाकृतियाँ गतिशील और पंक्ति-बद्ध रूप में प्रस्तुत की गई हैं। पहली दो युग्म बनाये हुए हैं, तीसरी तीव्र गतियुक्त है, चौथी-पाँचवीं अपेक्षाकृत कम गतिशील और अस्पष्ट है। सभी आकृतियों की मुद्राएँ रोचक हैं।

फलक XIII

चित्र सं०—१

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कण्डाकोट पहाड़ से सोन-तट की ओर जाते हुए सोरहोघाट के मार्ग में स्थित शिला पर गहरे गेरुए रँग से अंकित मानवाकृतियाँ जो मूल से अनुकृत और इससे पूर्व कहीं प्रकाशित नहीं हुई हैं। मध्यवर्ती बड़ी आकृति की दायीं ओर कोने पर और पार्श्व में जो गुणक-युक्त अलंकरण जैसा आलेखन है वह उसी शिला पर कुछ हटकर अंकित है किन्तु उसका सही आशय क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता। बड़ी आकृति की शिरोभूषा तीन रेखाओं से केश-सज्जा के विशेष प्रकार या पंख लगाने का बोध कराती है। बायीं ओर की कुछ छोटी एक अपूर्ण पैर वाली मानवाकृति शिरोभूषा और हाथों से भी रहित है। बड़ी आकृति के हाथ उसके पैरों की अपेक्षा बहुत पतले होते हुए भी एक सजीव मुद्रा का आभास कराते हैं। कुछ महीन रेखाएँ अतिरिक्त बन गयी हैं क्योंकि मूल-चित्र में हाथों का अंकन बहुत स्पष्ट नहीं था। पैरों को, अँगूठे और उँगलियों का सांकेतिक बोध कराने के लिए द्विधा विभाजित कर दिया गया है। दोनों आकृतियाँ पूरक-शैली में बनी हैं।

चित्र सं०—२

उसी क्षेत्र में कंडाकोट पहाड़ से पहले बसौली ग्राम के निकटवर्ती शिलाश्रय पर

अंकित दो धूमिल आकृतियाँ जो दण्डधारी गतिशील आखेटकों की प्रतीत होती हैं। दोनों के मध्य में मृत पशु का-सा बोध कराती हुई जो आकृति है उसका सही अर्थ स्पष्ट नहीं होता क्योंकि इस प्रकार निर्जीव और संतुलित रूप में पशु का आलेखन शिलाचित्रों में अपवाद ही है। अधिक संभावना इसी बात की लगती है कि यह किसी पूर्ववर्ती चित्र का अस्पष्ट अवशेष है। कमर पर हाथ रक्खे आखेटकों की भंगिमा नितान्त स्वाभाविक है। उनकी देह पैरों की गति और स्थिति से संगति रखती हुई चित्रित की गयी है। यह चित्र भी मूल से ही अनुकृत और इससे पूर्व अप्रकाशित है।

फलक XIV

चित्र सं०—१

माड़ादेव (पँचमढ़ी) नामक स्थान की सर्वप्रसिद्ध, अन्तिम गुफा की छत में सफेद रँग से अंकित तीन मानवाकृतियाँ जो पूरक शैली में ज्यामितकता लिये हुए चित्रित की गयी हैं। ऊपर धड़ त्रिकोणात्मक है परन्तु निचला भाग बीच वाली आकृति में अन्य दोनों से भिन्न बना है और अनेक कोणों से युक्त है। उसके कान भी उठे हुए कोण जैसे हैं जिनसे लगता है कि वह किसी पशु का छद्म-मुख धारण किये हैं। रूप-विन्यास प्रचलित शैली का होते हुए भी आकर्षक है। शीश अपेक्षाकृत छोटे आकार के हैं। भंगिमा हाथों-पैरों से विशेषतः प्रकट हुई है।

चित्र सं०—२

छातु-ग्राम के समीप वाली लिखनिया (मिर्ज़ापुर) में गरई के इसी तट पर, हाथी के आखेट-दृश्य के सामने की ओर स्थित कगार की शिलाओं पर इधर-उधर स्फुट रूप से अंकित कुछ गैरिक वर्णी मानवाकृतियाँ जिनके हाथ आयुध-युक्त हैं। धनुर्धर के हाथ में धनुष-बाण की स्थिति और कानों की अपूरकता विशेष द्रष्टव्य है। उसके सामने की आकृति का निचला भाग कुछ अस्पष्ट हो गया है। अंतिम आकृति की रचना-शैली वैसी ही त्रिकोणात्मक है जैसी पूर्वोक्त चित्र सं० १ की बीच वाली की। दोनों का रूप-साम्य भी सर्वथा प्रकट है। केवल इसमें पैर एक ही दिशा में मुड़े हुए न होकर विपरीत बने हैं।

चित्र सं०—३

पूर्वोक्त लिखनिया (मिर्ज़ापुर) के इधर वाले कगार की छत में अंकित पूरक शैली की कतिपय-गैरिक मानवाकृतियाँ जो परस्पर असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। इनमें दो विशेष हैं। एक के हाथ में गदा जैसा कोई आयुध है और उठे हुए कान पूर्वोक्त चित्र सं० १ की छद्म-मुखी आकृति जैसे लगते हैं। दूसरी खड़े होने की सामान्य मुद्रा में आलिखित है। अन्य छोटी

आकृतियाँ-चिह्न या प्रतीक-चिह्न जैसी लगती हैं।

इस फलक के तीनों चित्र मूल से अनुकृत और इससे पूर्व अप्रकाशित हैं।

फलक XV

चित्र सं०—१

गुफामन्दिर (भोपाल) में गहरी लाल रेखाओं से अंकित एक प्रधावित मानवाकृति जिसके हाथों में क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता। पहले में अपूर्ण रूप से चित्रित धनुष और दूसरे में साँप या रस्सी जैसी कोई वस्तु है। एक पैर का आकार बना है परन्तु दूसरा टेढ़ी रेखा के पतलेपन में विलीन हो गया है। कटि के समीप अधोरेखा की चौड़ाई सबसे अधिक है। रूप-विधान में संतुलन का कुछ अभाव लगता है।

चित्र सं० २, ३, ४

यह तीनों चित्र बेतवा नदी के उद्गम स्थान भदभदा (भोपाल) के पार्श्व में स्थित 'फारेस्ट-नर्सरी' के ठीक ऊपर वाले गुफा जैसे शिलाश्रय में अंकित दण्डधारी मानवाकृतियों के हैं जिनकी मुद्राएँ मिलती-जुलती हैं तथा शैली और रूप-विन्यास में भी साम्य है। पतली रेखाओं से बनी प्रायः छोटे आकार की ये सभी आकृतियाँ गतिशील आखेटकों की हैं और उनकी स्वाभाविक भंगिमाएँ व्यक्त करती हैं। देह-भाग त्रिकोणात्मक है तथा अन्य अवयव भी ज्यामितिकता लिये हुए हैं। तीसरे चित्र की ऊपरी और चौथे चित्र के बीच वाली आकृति विशेष गतिशीलता-युक्त है। तीनों चित्र मूल से अनुकृत हैं।

फलक XVI

चित्र सं०—१

लिखनिया—१ (मिर्ज़ापुर) के हाथी वाले प्रसिद्ध आखेट-दृश्य के दायीं ओर जमी काई के पार्श्व में किनारे पर अंकित पूरक शैली की एक अपूर्ण आकृति जो मानव जैसी लगती है। उसके पास के लघु रेखांकन का आशय भी स्पष्ट नहीं होता।

चित्र सं०—२

रौंप (मिर्ज़ापुर) के दक्षिण पार्श्व में स्थित सबसे बड़े शिलाश्रय में अंकित एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रेखाकृति जो स्त्री की-सी लगती है। उसकी यह प्रतिकृति मूल का आभास मात्र देती है। उसकी रेखाएँ अस्पष्ट हैं। हाथ और कटि के पास की गोलाकृतियाँ किन्हीं पदार्थों का स्पष्ट बोध नहीं करातीं। लगता है जैसे वह घड़ा लिये हुए हो परन्तु दूसरा हाथ रिक्त होने से यह कल्पना सही नहीं लगती। निर्दिष्ट वस्तु पाश-रज्जु भी हो

सकता है। देह भाग असंतुलित और अतिरंजित है। मूल से अनुकृत।

चित्र सं०—३

निम्बू-खंड या बाज़ार-केव (पँचमढ़ी) में लाल बाह्य रेखायुक्त सफेद रँग से बनी एक प्रधावित मानवाकृति। एक हाथ मिट-सा गया है। कटिबन्ध के दोनों सिरे प्रदर्शित हैं। मूल से अनुकृत।

चित्र सं०—४

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय पर बंदरों के समूह और मधुमक्खियों के छत्ते वाले दृश्य के पास ही चित्रित एक व्यक्ति जिसे मधुमक्खियों ने आतंकित कर रक्खा है। चित्रण सफेद रंग से अंकित किया गया है। मूल से अनुकृत, प्रथम बार प्रकाशित।
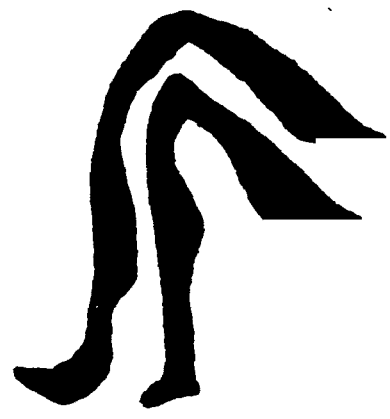
1.

2.

3.

मा० फलक–I

1.
2.
3.
4.

मा०, फलक–IV

मा०, फलक-V

मा०, फलक—VI

o, फलक—VII

1.

2.

मा०, फलक–VIII

मा०, फलक–IX

1.

2.

3.

मा०, फलक–X

मा०, फलक–XI

मा०, फलक–XII

1.

2.

मा०, फलक–XIII

मा०, फलक–XIV

मा०, फलक–XV

1.

2.

4.

3.
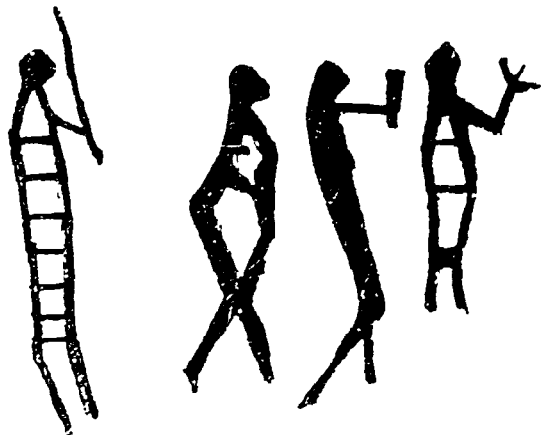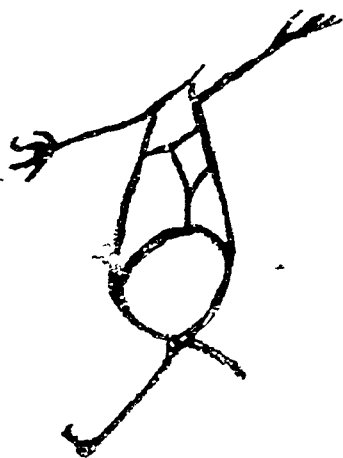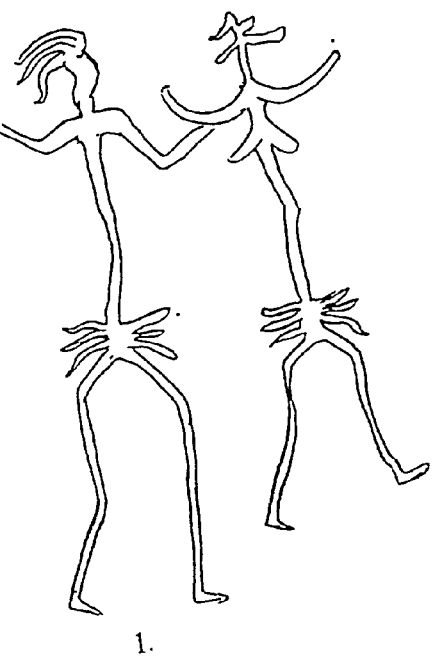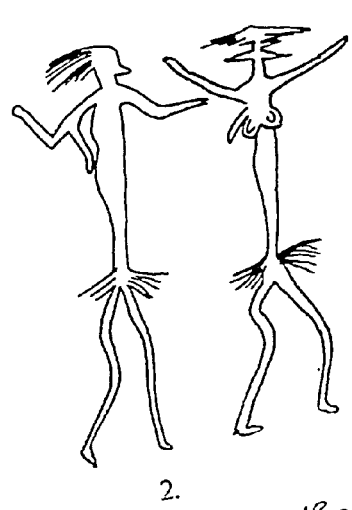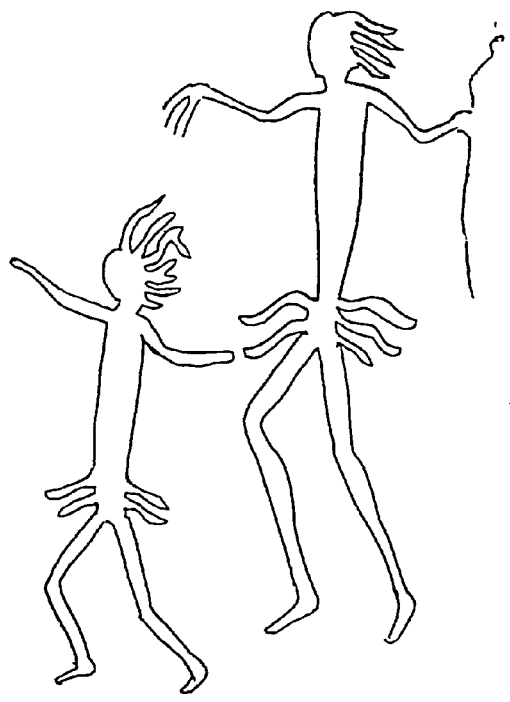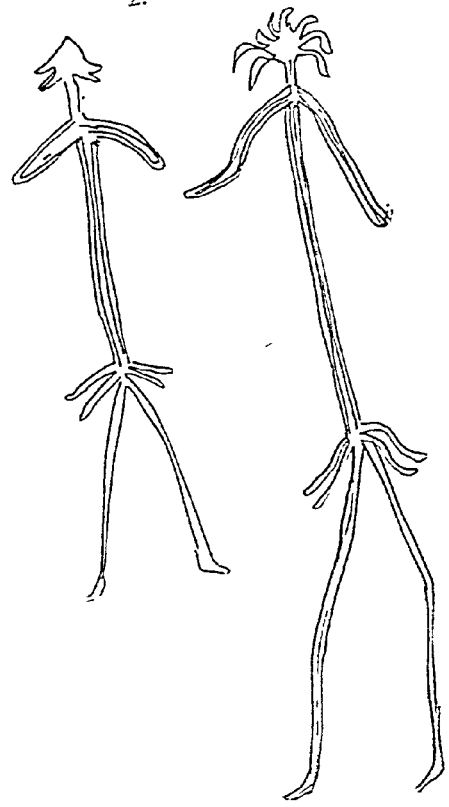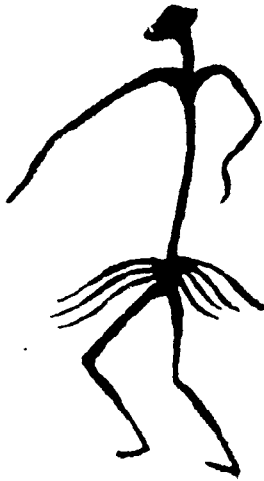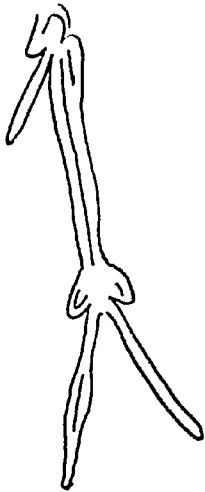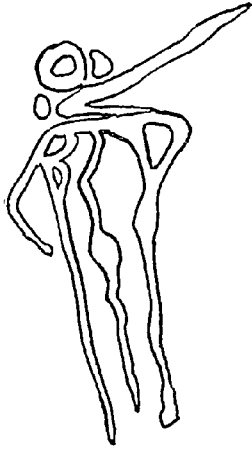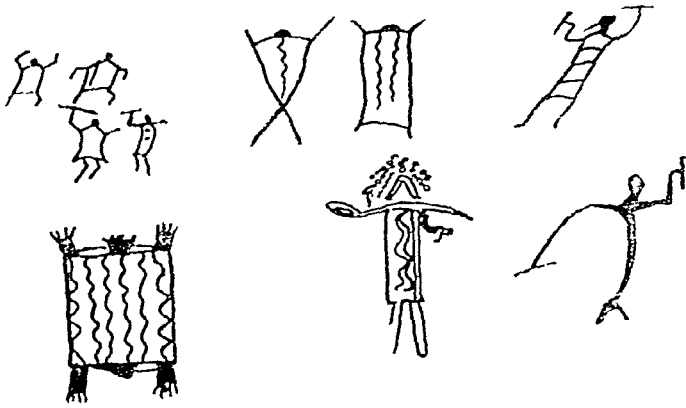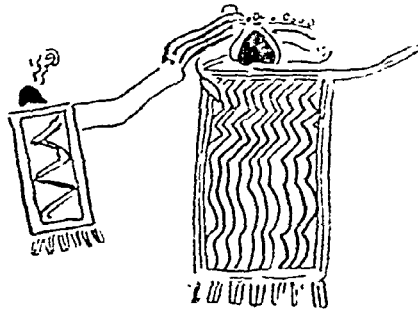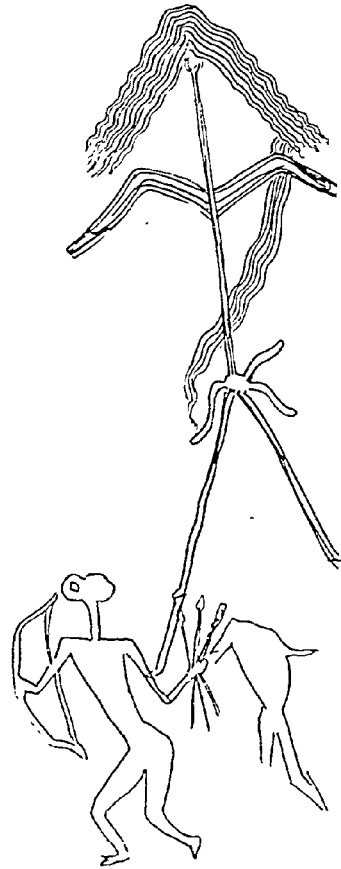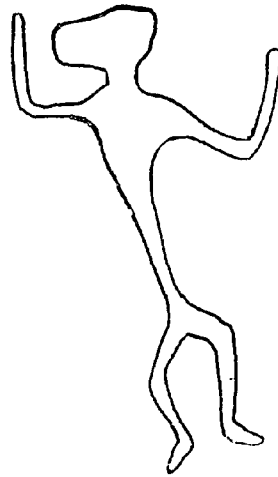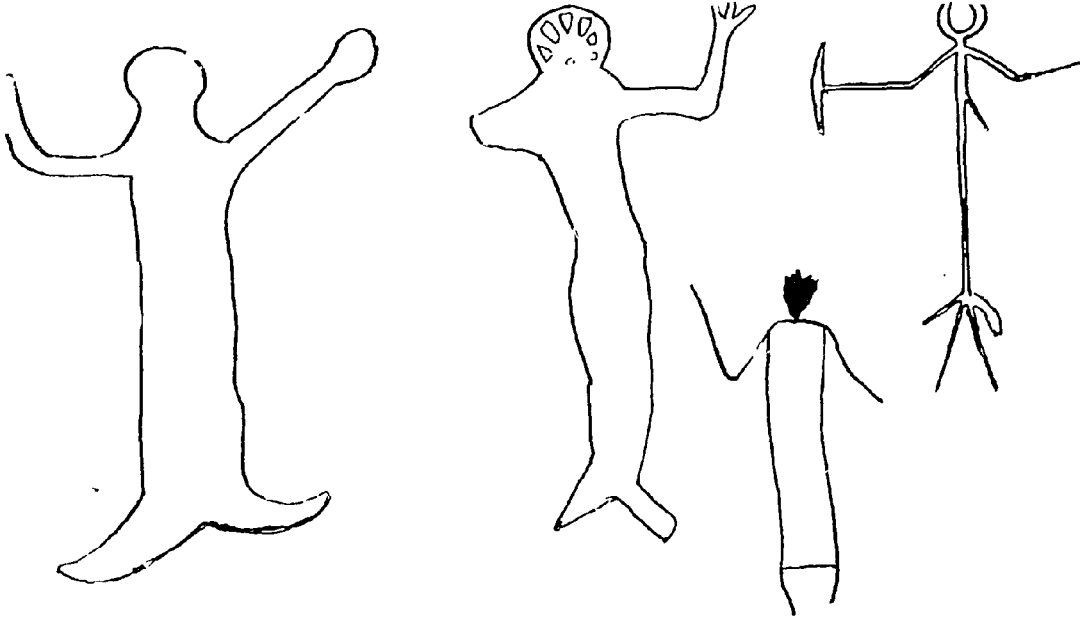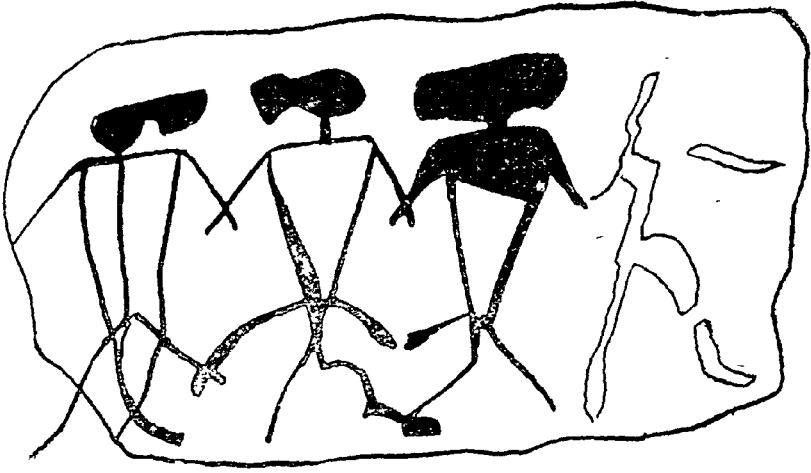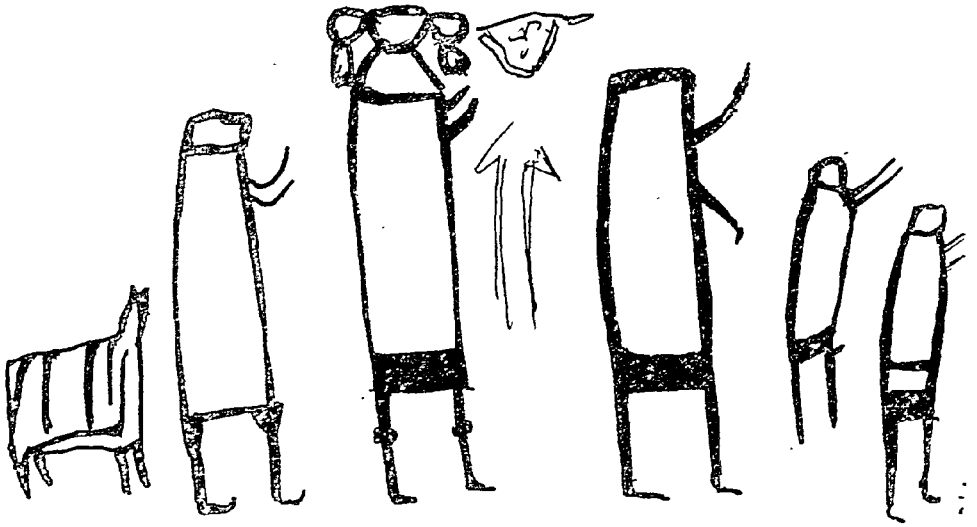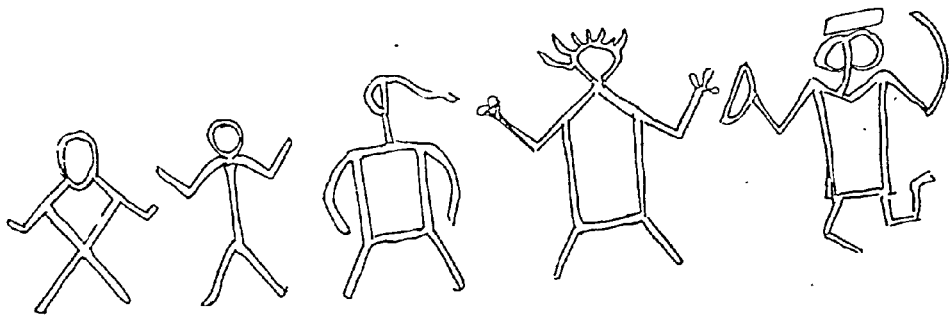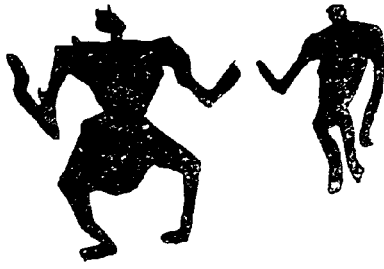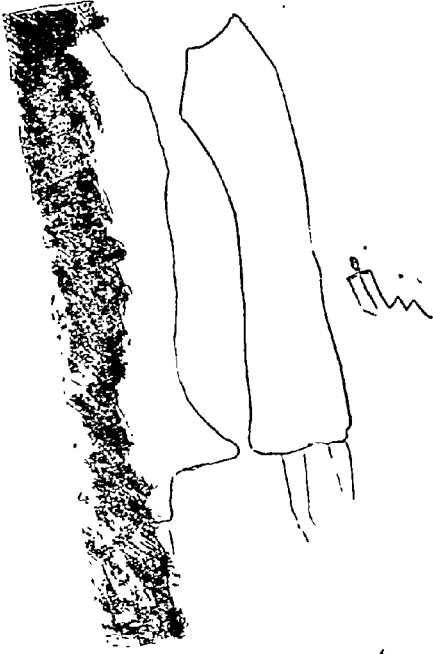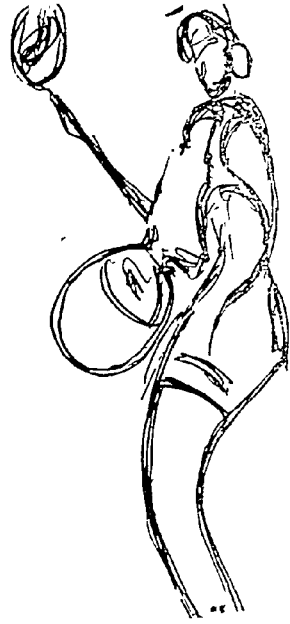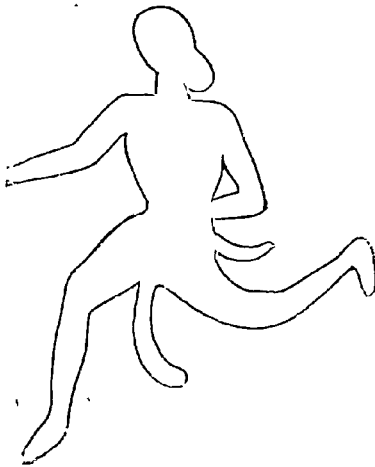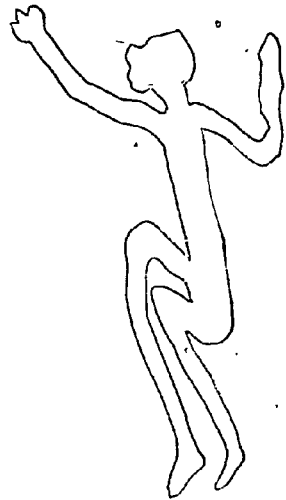
मा०, फलक–XVI
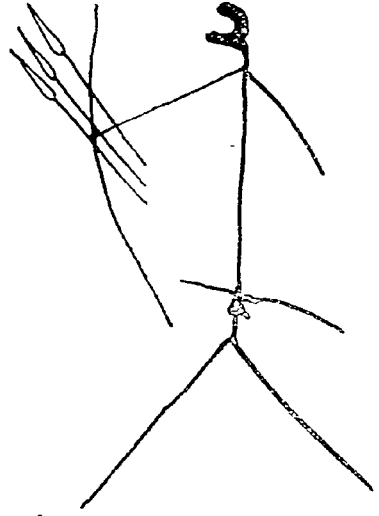
धनुर्धर तथा अश्वयोद्धा

चित्र-खंड ४

गॉर्डन द्वारा अनुकृत
मान्टेरोजा • (पँचमढ़ी)
के शिलाश्रय नं० ४
पर अंकितएक धनुर्धर

धनुर्धर तथा अन्य योद्धा

पूर्ववर्ती पाषाणास्त्रों तथा परवर्ती धातु-अस्त्रों की सापेक्षता में धनुष-बाण का उद्भव भारतवर्ष में कब और कितना आगे-पीछे हुआ, इस समस्या पर अभी तक सम्यक् रीति से विचार नहीं हुआ है। इसके निदान में भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों का क्या महत्त्व है तथा उनसे कैसा और कितना प्रामाणिक साक्ष्य मिल सकता है, इस प्रश्न का तो स्पर्श भी किसीने नहीं किया है। गॉर्डन ने युद्ध-दृश्यों के प्रसंग में तथा अन्यत्र भी चित्रों में आलिखित आयुधों का नामोल्लेख मात्र किया है। भारतीय शिलाचित्रों की प्राचीनता के प्रति पूर्वाग्रही एवं संदिग्ध होने के कारण उनसे इससे अधिक की आशा नहीं की जा सकती थी।

संकालिया ने भारतीय संदर्भ में प्रागैतिहासिक काल के पाषाण विनिर्मित बाण-फलकों का उल्लेख प्रस्तर-परशुओं, काष्ठ-संयोग द्वारा उनसे बनी कुल्हाड़ियों तथा विभिन्न आकार के, फेंके जा सकने वाले, गोलकों (Sling balls) के साथ किया है और इन्हें प्रस्तर-ताम्र-युगीन सभ्यता के प्रमुख प्रारम्भिक युद्धोपकरण के रूप में निर्दिष्ट किया है।[1] नव-पाषाण काल में इन बाण-फलकों को प्राचीन पाषाणकाल की तुलना में अधिक नुकीला, वेधक और धारदार बनाया जाने लगा तथा धातु-युगों में उनके ये सभी गुण और निखार दिये गये। बाण-फलकों की स्थिति एवं उनका यह विकास-क्रम मानव-इतिहास के अत्यन्त प्राचीन युगों तक धनुष-बाण के व्यापक प्रयोग का निर्भ्रान्त प्रमाण है। प्रागैतिहासिक चित्रों में इन अस्त्रों का अंकन उनके अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध कराने के अतिरिक्त उनकी प्रयोग-विधियों का भी बहुमुखी परिचय देता है। घायल पशुओं के शरीर पर बाणों के अंकन से भी धनुष-प्रयोग का प्रमाण मिलता है जैसे निया (Niaux) गुफा का आहत शूकर।[2] धनुष के उद्भव को मैक्स राफायल ने योरोपीय प्राचीन प्रस्तर-युगीन कला के चरम विकास के बाद सहसा ह्रासोन्मुखी हो उठने का एक मुख्य कारण माना है तथा जो उसके द्वारा व्याख्या-

---

१. इण्डियन आर्कियॉलोजी टुडे, पृ० ६१

२. दि ओल्ड स्टोन एज, पृ० २११, फि० २८

यित नहीं होता उसका कारण अंशतः भ्रमणशील जीवन के नवविकसित काम-सम्बन्धों में निहित बताया है।[1]

रचना-विधि और प्रयोग-कौशल के विचार से प्राचीन पाषाण-अस्त्रों की अपेक्षा धनुष-बाण अधिक बौद्धिक-विकास की अवस्था से सम्बद्ध एवं परवर्ती काल की उपज प्रतीत होता है। प्रत्यंचानुबंधन, शर-संधान तथा अस्त्र-क्षेपण में मानव-शरीर के अतिरिक्त जड़ पदार्थ की शक्ति का यान्त्रिक-विधि से प्राथमिक उपयोग यही सिद्ध करता है कि इसके निर्माण और प्रयोग में अधिक विलक्षणता और दक्षता अपेक्षित रही होगी। पाषाण-फलक-युक्त बाणों को साधारण 'शर-काण्ड' के बाणों की तुलना में बाद की वस्तु कहा जा सकता है पर बाँस जैसी सहज सुलभ चीज़ से बने होने पर भी किसी प्रकार धनुष के उद्भव को पाषाण-अस्त्रों से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता। दोनों के उद्भव में कहाँ कितना अंतर रहा, यह निर्दिष्ट करना भी असंभव ही लगता है। अफ्रीकी तथा योरोपीय शिलाचित्र इस बात के साक्षी हैं कि उद्भव का निर्णय चाहे न हो सके किन्तु धनुर्धरों का चित्रण शताब्दियों ही नहीं सहस्राब्दियों से भी अधिक प्राचीन माना जा सकता है।[2] यूरेशिया में पायी जानेवाली आरिग्नेशियन, सौल्युट्रियन तथा मैग्डालेनियन संस्कृतियों के समानान्तर अफ्रीका में अतेरियन और कैप्सियन संस्कृतियाँ मिलती हैं। इनमें से उत्तरी अफ्रीका में प्राप्त होनेवाली अतेरियन संस्कृति को दोनों ओर धारवाले बाण-फलकों के निर्माण का ही श्रेय नहीं दिया जाता है वरन् उसे धनुष-बाण के मूल आविष्कार का गौरव भी प्रदान किया जाता है।[3] कैप्सियन संस्कृति के निर्माता भी धनुष-बाण से परिचित थे तथा इस संस्कृति का प्रसार दक्षिणी स्पेन और इटली तक था। योरोपीय तथा अफ्रीकी शिलाचित्रों में धनुर्धरों का अंकन इसीलिए आश्चर्यजनक रूप में प्राप्त होता है। ब्रॉड्रिक ने स्पेन और रोडेशिया के धनुर्धरों की आकृति में सादृश्य दिखाते हुए उनके विचित्र शैली-साम्य पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है।[4] स्टुअर्ट पिगॉट ने भी अफ्रीका से ही धनुष का उद्भव सम्भावित माना है तथा ग्रीक, तुर्की, पारसीक और आर्य सभ्यताओं में धनुष-बाण के व्यापक प्रयोग पर एक साथ दृष्टिपात किया है।[5] उन्होंने बाँस के सामान्य धनुष (Simple bow) तथा शृङ्ग आदि अनेक वस्तुओं के योग से बने संयोजित धनुष (Composite bow) दोनों की चर्चा की है तथा संसार के विभिन्न क्षेत्रों

१. प्रि० के० पे०, पृ० १३
२. प्रि० पे०, चित्र-फलक ५, ६, ३६, ३७, ३८, ३९
३. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ, पृ० ५१
४. प्रि० पे०, पृ० १२
५. प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० २८२

में उनके प्रयोग की स्थिति पर भी किंचित प्रकाश डाला है पर उनकी चिंता रथ और धनुष को समान रूप मे प्रयुक्त करनेवाली सभ्यताओं के समानान्तर प्रस्तुतीकरण की ओर विशेष रही, जिसके कारण उद्भव की समस्या के और पहलुओं पर विचार नही किया जा सका।

पिगॉट ने आर्य जाति के प्रसग में ऋग्वेद का नामोल्लेख करते हुए उसमें दी गयी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाओं की चर्चा की है जैसे वैदिक काल मे प्रयोग के वाद धनुष पर मे प्रत्यचा उतार दी जाती थी तथा प्रत्यचा का निर्माण गो-चर्म के तन्तु से किया जाता था आदि-आदि ।[1] ऋग्वेद में बाणो के लिए 'अयोमुखम्' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि धातु-फलक युक्त बाण उस काल में प्रयुक्त होने लगे थे ।[2] बाद में वैदिक परम्परा का यह ज्ञान पुंजीभूत होकर धनुर्वेद के रूप में विद्या-गुरु के माध्यम से ही अर्जित किया जाने वाला एक स्वतन्त्र विषय बन गया जिसका प्रचुर परिचय रामायण, महाभारत तथा पौराणिक साहित्य से उपलब्ध होता है। इस ज्ञान के विकास में आर्येतर भारतीय जातियों का कितना योग रहा, इसका निराकरण भी स्पष्ट रीति से अभी नही हुआ है। 'बाण' शब्द को लेकर कुछ ऊहापोह इस आधार पर किया गया है कि इसका मूल आधार आग्नेय परिवार की भाषाओं का 'पनह' शब्द है।[3] यह धारणा फादर डब्ल्यू० श्मित (W. Schmidt) के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है। दक्षिण की प्रागैतिहासिक सामग्री का परीक्षण करके दीक्षितार इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पुरातन वन्य दक्षिणी अनार्य जातियों को धनुष का ज्ञान उत्तर भारतीय आर्यो के सम्पर्क से हुआ।[4] भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों में आलिखित धनुर्धरों तथा धनुर्युद्धों का सूक्ष्म अध्ययन धनुर्विद्या में समाविष्ट आर्येतर अंश को पहचानने में सहायक हो सकता है इसमें सदेह नही। सिंधु-घाटी सभ्यता को धनुष का प्रयोग ज्ञात था परन्तु उसका जितना आधिक्य आर्य और आर्येतर अन्य संस्कृतियों में मिलता है उतना प्राप्त सामग्री के आधार पर उसमें दृष्टिगत नही होता। भारतीय संस्कृति के अध्येता के लिए यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। धनुष की प्रधानता कदाचित् धातु युग से पूर्व ही अधिक रही, बाद में उत्तरोत्तर अन्य प्रभावशाली अस्त्रो के आविर्भाव ने उसे विभाजित कर दिया। दूर तक प्रहार करने की दिशा में उसकी अद्वितीयता इतिहास-युग आरम्भ होने के बहुत बाद तक खंडित नही हुई। इस पृष्ठ-भूमि में प्रस्तुत खंड के चित्र विशेष प्रेरक प्रतीत होंगे। इस खंड के अतिरिक्त खंड I के धनुष द्वारा आखेट के तथा खंड VI के धनुर्युद्ध सम्बन्धी चित्र भी द्रष्टव्य

---

१. प्रिहिस्टारिक इण्डिया, पृ० २८२
२. द्र०—वैदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स; (ऋ० VI, ७५, १५)
३. भारतीय संस्कृति मे आर्येतरांश, पृ० ५७–५८
४. प्रिहिस्टॉरिक साउथ इण्डिया, पृ० ६८–६९

हैं। दक्षिण में ऐसे अनेक वृप-चित्र मिलते है जिनके सींगों में धनुप बँधे प्रदर्शित किये गये हैं। वे निश्चय ही धनुर्धरों के किसी उत्सव विशेष से सम्बद्ध रहे होंगे जिसमें उन्मत्त बैल के सींगों मे धनुप निकाल लेना पराक्रम-सूचक समझा जाता होगा।[1]

विदेशी शिलाचित्रों में धनुप-पूर्व युग के चित्रों से धनुप-युग के चित्रों को पृथक् करना कहाँ तक सम्भव है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु भारतीय संदर्भ में मैं व्यक्तिगत निरीक्षण एवं अनुशीलन के आधार पर इसे सर्वथा सम्भव समझता हूँ। यहाँ ऐसा क्षेत्र है जिसके शिलाश्रयों पर आलिखित चित्रों में धनुप का नितान्त अभाव दिखायी देता है, साथ ही यह भी कि जो अस्त्र उनमें अंकित हैं वे धनुप-युग से पूर्व के ही प्रतीत होते हैं, बाद के नहीं। उन्हें भाला मानकर परवर्ती बताना गॉर्डन का दुराग्रह मात्र लगता है।[2]

सिंघनपुर के किसी भी चित्र में धनुप-बाण अंकित नहीं है तथा दण्डाकार जो आयुध अंकित मिलते है उससे अधिक प्रारम्भिक अवस्था के अस्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि उनमें फलक तक नहीं बना है। कबरा पहाड़ में भी मुझे किसी धनुर्धर का चित्र दिखायी नहीं दिया। इस प्रकार देखने पर रायगढ़-क्षेत्र के चित्रों की एक निषेधात्मक किन्तु अपूर्व विशेपता लक्षित होती है जो भारतीय चित्रों के काल-निर्धारण एवं वर्गीकरण दोनों में अन्यतम रीति से सहायक हो सकती है। रायगढ़ क्षेत्र के ठीक विपरीत पँचमढ़ी-क्षेत्र में धनुर्धरों का सर्वाधिक प्रचुरता के साथ अंकन हुआ है। गॉर्डन ने धातु-निर्मित बाण-फलकों को अपने शृङ्खला-क्रम में प्रथम शृङ्खला तक परिव्याप्त माना है किन्तु शेप को निर्विवाद रूप से धनुप-बाण से परिचित बताया है। वे प्रथम शृङ्खला के विपय में इतने निश्चित नहीं थे जितना द्वितीय के।[3] प्रस्तुत खंड में अधिकांश धनुर्युक्त चित्र पँचमढ़ी के ही विविध स्थानों से सम्बद्ध है। होशंगाबाद-क्षेत्र पँचमढ़ी से संलग्न है अतः वहाँ भी धनुर्धर अंकित मिलते हैं परन्तु उतनी प्रचुरता के साथ नहीं जितनी कि पँचमढ़ी-क्षेत्र में दिखाई देती है। भोपाल-क्षेत्र का शहदकराड़ धनुप के रूपांकन की दृष्टि से विशेप उल्लेखनीय है क्योंकि वहाँ के अज्ञात चित्रकारों ने धनुप को धनुर्धर के आकार से कई गुना अधिक लम्बा बनाया है। वाकणकर के फ्रेंच भापा में प्रकाशित लेख के साथ मुद्रित तीनों चित्रों (फि० ६, २५, २६—पेन्तर्स रूपेस्त्रे इंदियाने) को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन निर्दिष्ट चित्रों में पहला और दूसरा तो एक ही शिला-चित्र पर आधारित है। आश्चर्य है कि फिर भी दोनों में धनुप

---

१. प्रि० वै० इं० क०, पृ० ११४

२. वही, पृ० १०३

३. वही, पृ० १०३, १०५, १०६

का आकार भिन्न-भिन्न प्रकार का अंकित हुआ है। इसमें अनुकृतिकार का प्रमाद दिखायी देता है। धनुष ही नही धनुर्धर और वाण-विद्ध पशु के रूप में भी अंकन-दोष स्पष्ट है। नीचे दूसरे और तीसरे चित्र में अंकित धनुर्धरों की लघु अनुकृतियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं क्योंकि इस खंड के चित्रों में एक भी चित्र गहदकराड़ का समाविष्ट नहीं किया जा सका।
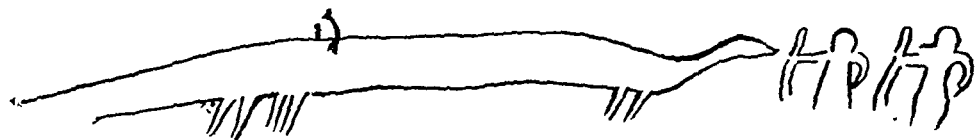
इतने विशालकाय धनुषों का चित्रण विदेश के प्रकाशित शिला-चित्रों में भी मुझे अभी तक देखने को नही मिला। मौर्यकालीन भारतीय धनुर्धर ६ फुट का धनुष धारण करते थे, ऐसा मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है। पिगॉट ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[1]

पूर्व निर्दिष्ट योरोपीय चित्रों में बहुधा प्रत्यंचा का अंकन नही मिलता किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यंचाहीन धनुषों का प्रयोग सम्भव मान लिया जाय। वास्तव में चित्रणगत सांकेतिकता का आश्रय लेने के कारण मात्र दंड के अंकन से पूरे धनुष का अंकन अभीष्ट है। वनियावेरी के वाहरी भाग में अंकित धनुर्धर का धनुष इसी प्रकार प्रत्यंचारहित चित्रित है। (द्रष्टव्य, फलक II चित्र सं० १) यही नहीं उसका तूणीर भी तीर-हीन वनाया गया है। एक चित्र में दोहरी प्रत्यंचा भी अंकित है। (द्र० फ० VI चित्र सं० १) उतरी हुई प्रत्यंचा इस खंड के चित्रों में प्रयोग-अप्रयोग किसी भी दशा में अंकित नहीं मिलती। तूणीर धारण करने के भी अनेक प्रकार परिलक्षित होते है। फलक II चित्र १ तथा फलक V चित्र १ से तूणीर हाथ में; फलक IX चित्र ३ में कंधे पर रखे दण्ड से संलग्न तथा फलक III, चित्र ३ में कटि से वँधा लगता है। अधिकांश चित्रों में तूणीर के विना ही धनुर्धरों का अंकन हुआ है। वाण प्रायः उनके हाथ में प्रदर्शित किये गये है जिनकी संख्या एक, दो या तीन तक मिलती है। जहाँ एक से अधिक धनुर्धर पंक्तिवद्ध रूप में अंकित किये गये हैं वहाँ प्रायः सबके हाथों में वाण-संख्या समान रखी गयी है (द्रष्टव्य फलक I तथा फलक VII चित्र १)। अधिकता के कारण कहीं-कहीं यह पंक्तियाँ 'अभिप्राय' जैसी लगने लगती है, पर स्पष्टतः उन्हें वैसा कहना कठिन है। वाणों को कही फलकयुक्त, कहीं फलकहीन, कहीं पुंखित, कहीं अपुंखित सरल रूप में ही वनाया गया है। इसी प्रकार धनुष भी मध्योन्नत और मध्यनत

१. प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० २८७

दोनों रूपों के बनाये गये हैं। कोई धनुष 'शार्ङ्ग' अर्थात् शृङ्ग-विनिर्मित भी है, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत धनुषों का काष्ठ-निर्मित होना उनके चित्रित रूप से विशेष लक्षित होता है। धनुष-बाण हाथ से संलग्न या अलग, दोनों ही विधियों से चित्रित हैं किन्तु अलग बने होने पर भी उनमें भाव संलग्नता का ही रहता है।

सभी योद्धा पुरुष ही दिखायी देते हैं तथा उनका चित्रण प्रत्येक क्षेत्र में हुआ है। धनुर्धरों के अतिरिक्त दण्डधारी, खड्गधारी, परशुधारी, भालाधारी, क्षुरिकाधारी, ढाल-खड्ग-धारी तथा खूँटीदार दण्ड वाले (Pikemen) इत्यादि अनेक प्रकार के अस्त्रधारी योद्धा अंकित मिलते हैं। ढालों में सर्वाधिक अनेक रूपता दिखायी देती है। वे आयताकार, गोलाकार; वर्तुल या मध्योन्नत, सपाट, अंडाकार, हत्थेदार, काँटेदार, द्वित्रिकोणात्मक, ऊपर डमरुवत् तथा नीचे त्रिकोणात्मक रूप की हैं। बहुधा उनमें अलंकरण भी मिलता है जिसमें त्रि-वृत्त गुणक या गुणन-चिह्न तथा त्रि-आयत जैसे आकारों का प्रयोग किया गया है। यह विविधता योद्धाओं की वेष-भूषा में भी लक्षित होती है। सामान्य कटिबन्ध, झालरदार कटिबन्ध, उष्णीष, कंचुक, केशबन्ध, पट्ट-बन्ध, अधोवस्त्र, जंघा-पट तथा ऐसे ही अनेक प्रकार के शरीराच्छदनों से योद्धा सुसज्जित किये गये हैं परन्तु आदिम अवस्था के योद्धा भी पर्याप्त मात्रा में चित्रित मिलते हैं जिनके शरीर पर कोई भी वस्त्र अंकित नहीं मिलता अथवा यदि मिलता है तो बहुत अल्प।

सबसे अधिक आकर्षक योद्धाओं की गतिशील भंगिमाएँ तथा भाव-मुद्राएँ हैं जिनमें अप्रतिम सजीवता दृष्टिगोचर होती है। कहीं-कहीं गति में लयात्मकता भी निहित मिलती है। बाण खींचते और चलाते हुए धनुर्धर अविचल, झुके, बैठे, खड़े तथा दौड़ते सभी अवस्थाओं में चित्रित किये गये हैं। शिलाचित्रों में अंकित अस्त्र जीवन के उच्छल प्रवाह की तरंगमयता में बाधक न होकर साधक ही प्रतीत होते हैं। उनसे आत्म-रक्षा और प्रभुत्व-स्थापना दोनों भावों की व्यंजना होती है।

धनुर्धर तथा अन्य योद्धा : चित्र-परिचय

फलक I

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० X की दाहिनी ओर निचले भाग पर अंकित चार आदिम धनुर्धरों का यह जीवन्त एवं गतिशील समूहांकन अपने ढंग का अद्वितीय है। उसके प्रस्तुत प्रतिरूप में पहले दोनों धनुर्धरों के पैर एक मुद्रा में हैं तथा शेष दोनों के दूसरी मुद्रा में। दोनों मुद्राओं की पारस्परिक संगति, गति की लयात्मकता का आभास देती है। लगता है जैसे उत्साह से अनुप्रेरित चारों वीर उछलते हुए नृत्य-सा करते हुए जा रहे हैं। उनकी बाह्य आकृति उनके भीतर के आदिम उल्लास एवं मुक्त जीवन की सहज अभिव्यक्ति कर रही है। प्रत्येक के बायें हाथ में धनुष है और दाहिने हाथ में दो-दो तीर, केवल पहले के हाथ में एक ही तीर चित्रित हुआ है। सम्भव है यह विषमता संपुंजन की दृष्टि से कलाकार ने जानबूझकर कर दी हो क्योंकि पहला व्यक्ति दूसरे की ओर अधिक झुका हुआ है। यह भी हो सकता है हाथ में दो-दो तीर बनाने का भाव कलाकार के मन में पहली आकृति बनाने के बाद उत्पन्न हुआ हो। सभी की पीठ पर भरे हुए तरकस बँधे हैं जिनका सिरा दूसरी ओर निकला हुआ है। केश गतिशीलता के अनुसार उड़ते हुए बनाये गये हैं। यह चित्र आदिम चित्रों में प्रयुक्त आपूरण-शैली का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रस्तुत छाया-चित्र मूल से गृहीत न होकर अनुकृति पर आधारित है। मूल आकार इससे कई गुना बड़ा है तथा अधिक प्रभावशाली भी।

फलक II

चित्र सं०—१

बनियाबेरी (पँचमढ़ी) की गुफा के द्वार-पार्श्व में गहरे कत्थई रँग से कदाचित् सबसे प्राचीन रेखा-शैली में, स्वस्तिक-पूजन के बाहरी दृश्य के ऊपर अंकित एक प्रधावित धनुर्धर जो एक हाथ में धनुष और दूसरे में तूणीर लिये हुए है। धनुष में प्रत्यञ्चा और तूणीर में तीर प्रदर्शित नहीं है जिसका कारण वस्तुमूलकता ही न होकर चित्रणगत सांकेतिकता भी हो सकती है। उड़ता हुआ कटिबन्ध, पैरों की गतिशील मुद्रा तथा आकार की दीर्घता

विशेष आकर्षक है। इस चित्र की सापेक्षिक स्थिति पूजा-प्रतीक वाले नवें खण्ड में समाविष्ट फलक VIII के चित्र सं० १ में देखी जा सकती है। मूल से अनुकृत।

चित्र सं०—२

मान्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्र की प्रतिकृति जिसे मूल से मिलाकर देख लिया गया है। धनुर्धर के एक ही हाथ में तीन बाण और धनुष एक साथ प्रदर्शित है। उसका दूसरा हाथ नितान्त रिक्त है। दोनों हाथों और दोनों पैरों की, शरीर-रेखा से कोणात्मक संगति, मुख-रचना की विचित्रता तथा कटि-वन्ध की रेखात्मकता विशेष ध्यान आकृष्ट करती है।

चित्र सं०—३

गौंप (मिर्ज़ापुर) के विवरण के साथ इं० आॅ० (१६५७) में प्रकाशित छाया-चित्र पर आधारित रेखा-चित्र जो एक सवस्त्र धनुर्धर का प्रतीत होता है। धनुष के ऊपरी भाग से सम्बद्ध आकारों का अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट नहीं होता। इस चित्र की रंगीन ट्रान्सपैरेंसी प्रयाग-विश्वविद्यालय के 'कौशाम्बी संग्रहालय' में सुरक्षित है। मानवाकृति की वेश-भूषा विशेषत: महत्वपूर्ण है।

चित्र सं०—४

लिखनिया—१ (मिर्ज़ापुर) के प्रसिद्ध आखेट-दृश्य के सामने वाले कगार में गेरुए रँग से अंकित विचित्र शिरोभूषा से सज्जित एक धनुर्धर का पूरक शैली में निर्मित चित्र जिसमें हाथ और बाण की रेखा को कलात्मक रीति से एक ही में संलग्न कर दिया गया है। योद्धा की भंगिमा दर्शनीय है।

फलक III

चित्र सं०—१

धरमपुरी (भोपाल) के पन्द्रहवें शिलाश्रय से श्यामकुमार पाण्डेय द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित पूरक एवं अर्धपूरक शैली के दो धनुर्धरों की प्रतिकृति। अनुकृति में दूसरे के कटिवस्त्र का मूलरूप कुछ भिन्न था। संभवत: केवल आड़ी रेखाएँ ही थीं जिन्हें इसमें चौड़ी पट्टियों का रूप मिल गया है। शेष शरीर भाग तथा पहले की सम्पूर्ण आकृति मूलानुकृति के ही अनुरूप है। इस चित्र की सबसे बड़ी विशेषता धनुष और बाणों के प्रदर्शन में निहित है। पहली आकृति में एक बाण हाथ से संलग्न परन्तु दूसरा बाण और उलटा धनुष असंलग्न है किन्तु भाव हाथ में होने का ही है। दूसरे हाथ में जो तीर है उसका फलक अन्यों से भिन्न है और नुकीला नहीं है। पहले हाथ के मध्यवर्ती बाण की तरह उसमें भी

पंख प्रदर्शित नहीं हैं। दूसरी आकृति के एक हाथ में तीनों वाण एक दूसरे को काटते हुए कर्णवत् चित्रित हैं पर दूसरे रूप में धनुष उलटा ही है। यह अवश्य है कि इसमें वह संलग्न है।

चित्र सं०—२

मान्टेरोज़ा (पॅचमढ़ी) से मूलतः अनुकृत एक धनुर्धर जो एक पैर उठाये त्वरा के साथ सन्तुलन करते हुए शर-सन्धान कर रहा है। लहराते हुए कटिवन्ध से उस त्वरा का वोध होता है। यह शिलाचित्र सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित है।

चित्र सं०—३

इमलीखोह (पॅचमढ़ी) में अंकित पूर्वोक्त श्वेतवर्णी पूरक शैली का ही एक अन्य धनुर्धर जिसकी शर-संधान-भंगिमा भी प्रायः वैसी ही है। कटि-वन्ध अवश्य उतना अलंकृत और लहराता हुआ नहीं है। सिर के पीछे कन्धे से ऊपर उठा हुआ पंख जैसे आकार के चित्रण का अभिप्राय क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता। उसका स्वरूप रोचक और रहस्यमय लगता है। कमर के समीप भी प्रायः वैसा ही कुछ चित्रित है पर उसे सरलता से कटि-वंध माना जा सकता है। पूरण की वाह्य-रेखा कहीं-कहीं अनगढ़ है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक IV

चित्र सं०—१

जम्वूद्वीप (पंचमढ़ी) से मूलतः अनुकृत एक आदिम धनुर्धर की आकृति जो अवस्त्र प्रतीत होती है। केशों का जूड़ा वना हुआ है। पैर शरीर के उर्ध्व भाग के अनुपात में अधिक लम्वे हैं। पूरी आकृति शैली-वद्धता से रहित है। दो तीर नितान्त पिछले भाग से हाथ में संलग्न चित्रित हैं। उनके फलक नुकीले होते हुए भी पारम्परित शैली से भिन्न हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय पर वायीं ओर ऊपर श्वेतवर्णी पूरक शैली में अंकित धनुर्धर दम्पति। पुरुष शर-संधान कर रहा है और स्त्री धनुष-वाण लिए उसकी ओर देख रही है। दूसरी आकृति अधोवस्त्र के कारण ही स्त्री की प्रतीत होती है। पुरुष की संधान-भंगिमा आकर्षक है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक V

चित्र सं०—१

जम्वूद्वीप (पँचमढ़ी) के प्रमुख शिलाश्रय पर सफ़ेद रँग से पूरक शैली में अंकित एक

योद्धा जिसके एक हाथ में तूणीर जैसी आकृति लहराते हुए पट्ट के साथ चित्रित है। सम्भव है यह कोड़ा या वैसा ही कोई अन्य अस्त्र हो जिसका नाम-रूप अब अपरिचित हो चुका है। पैरों की गतिशीलता और उठे हुए हाथ से आघात करने की तत्परता प्रकट होती है।

चित्र सं०—२

मेह्यू पीप (पँचमढ़ी) के गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्र की प्रतिकृति। यह युद्ध-दृश्य में प्रदर्शित एक योद्धा की आकृति है जिसके हाथ में एक भाला और दो वाण संलग्न और असंलग्न, मिश्रित प्रकार से अंकित हैं। यही इसकी विशेषता है। दूसरा हाथ अप्रदर्शित है। संभव है वह धनुपयुक्त रहा हो पर मूल में ही मिट गया हो।

चित्र सं०—३

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्र पर आधारित प्रतिकृति जिसे मूल चित्र से मिलाकर देख लिया गया है। सभी आकृतियाँ इसी प्रकार एक ही स्थान पर शिलाश्रय के बीचोंबीच सामने ही सफ़ेद रँग से अंकित हैं। ऊपर दो धनुर्धर प्रायः एक ही मुद्रा में बनाये गये हैं। उनके पीछे विपरीत दिशा में जाता हुआ एक पक्षी आलिखित है। नीचे दायीं ओर ढाल और दण्ड लिए अत्यन्त त्वरा से प्रधावित एक योद्धा तथा बायीं ओर एक अन्य धनुर्धर चित्रित है। इन दोनों का वेश-विन्यास और चित्रण-शैली प्रायः समान है। धनुर्धर की कमर में बिना तूणीर के अनेक वाण संलग्न हैं तथा दो वाण उसके हाथ में भी प्रदर्शित हैं। एक में विचित्र प्रकार का अनुबन्धन बनाया गया है तथा धनुप की कोटि में भी फुँदने का सूक्ष्मता से अंकन किया गया है। ऊपर के धनुर्धरों के कटिभाग के समीप भी महीन रेखाओं से विभिन्न प्रकार के अनुबन्धन बनाये गये हैं। जो अस्त्र दोनों की कमर में लगे हैं उनकी आकृति इसी फलक के चित्र नं० १ के अस्त्र से साम्य रखती है। गॉर्डन ने इन सब को उत्तर तृतीय शृङ्खला से सम्बद्ध किया है।

फलक VI

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत बाह्य रेखानुकृति पर आधारित प्रतिकृति जिसमें एक मुक्तकेश योद्धा एक हाथ में दोहरी प्रत्यंचा वाला धनुप और दूसरे में दो पुंखित शर लिये हुए है जिनके फलक बहुत नुकीले हैं। उसकी कमर में तूणीर जैसा कुछ बन्धा हुआ है। कटि-बन्ध के सिरे जालीदार और आकर्षक हैं। एक पैर अपूर्ण तथा दूसरा अनगढ़ रूप में बना है। मूल-चित्र क्रीम रँग में बना है।

चित्र सं०—२

मान्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ से अनुकृत धनुर्धर ज्यामितिक रूप वाली गहरे गेरुए रँग की एक कलात्मक आकृति जिसमें शरीर भाग आयताकार वलयित रेखाओं से विनिर्मित किया गया है। अन्य अवयव भी रेखात्मक और ज्यामितिकता युक्त हैं। शिरोभाग दोहरे त्रिकोण के रूप में अलग बना है। धनुष बाण के रूप में परिणत हो जाने वाली हाथ की रेखा से संलग्न है। दूसरे हाथ में जो वस्तु है वह जलती हुई दोहरी लौ वाली मशाल जैसी लगती है। एक पैर समकोणात्मक तथा दूसरा सीधी रेखा से प्रदर्शित किया गया है। धनुष का कुछ भाग अपूर्ण है जो मूल चित्र में क्षत हो गया प्रतीत होता है। रूप-विन्यास की दृष्टि से यह चित्र अप्रतिम है।

चित्र सं०—३

इस चित्र में समाविष्ट दोनों धनुर्धरों की आकृतियाँ भी पूर्वोक्त शिलाश्रय से ही अनुकृत हैं। उनका शीशभाग विचित्र प्रकार का है और मानवाकार न होकर किसी पशुमुखी आच्छादन से युक्त प्रतीत होता है। आखेटक प्रायः इस प्रकार के छद्म-मुख धारण करके आखेट करते थे जिससे शीघ्र सफलता प्राप्त हो। ऊपर वाला धनुर्धर दण्ड की ओर से धनुष पकड़े हुए बैठा है और उसके पास कोई बाण नहीं है। दूसरा हाथ उठाकर वह जैसे किसी को बुला रहा है। निचला एक ही हाथ में धनुष-बाण दोनों सम्हाले हुए जा रहा है और उसका भी दूसरा हाथ उठा है पर आगे की ओर। दोनों की भंगिमाएँ स्वाभाविक हैं।

इस फलक के तीनों चित्र सा० क० में प्रकाशित एवं गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृतियों पर आधारित हैं।

फलक VII

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ पर अंकित ७ धनुर्धरों की पंक्ति में से गॉर्डन द्वारा प्रकाशित केवल तीन धनुर्धरों की वाह्यरेखानुकृति पर आधारित प्रतिकृति। मूल चित्र मटमैले सफ़ेद रँग में अंकित है जिसमें धनुर्धरों की छाती पर प्रदर्शित धब्बे गेरुए रँग के हैं। यह संभवतः बाद में डाल दिये गये है क्योंकि पास ही कुछ चित्र ऐसे भी हैं जिन्हें पूरा गेरुआ कर देने की चेष्टा की गयी है। तीनों धनुर्धर छद्ममुख लगाये है। धनुष-बाण पकड़ने की विधि समान है, केवल तीसरे के हाथ में दो के स्थान पर एक ही बाण चित्रित किया गया है और वह भी उल्टा है। इस धनुर्धर का कटिबंध भी अन्यों की अपेक्षा बड़ा और लहराता हुआ है। मुख और गति एक ही दिशा में होते हुए भी पद-संचार-क्रम तीनों में

थोड़ी पृथकता लिए हुए है। गॉर्डन ने इस चित्र को उत्तर द्वितीय शृङ्खला में स्थान दिया है।

चित्र सं०—२

ऊपरी डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) में लाल वारीक और सधी हुई वाह्य रेखाओं वाली श्वेतवर्णी पूरक शैली में अंकित प्राय: एक ही प्रकार की अंग-भंगिमा वाले तीन धनुर्धर जो प्राचीनतर आयताकार मानवाकृतियों पर आक्षिप्त हैं। केवल पहले के हाथ में तीन वाण प्रदर्शित हैं। शिरोभाग तीनों का पृथक्-पृथक् रीति से मुड़ा हुआ चित्रित है। कटि-बन्ध भी प्राय: समान रूप से चित्रित हैं। मूलचित्र इस अनुकृति की तुलना में कहीं अधिक सुन्दर और सशक्त है। प्रस्तुत रेखानुकृति मूल से ही की गयी है।

फलक VIII

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के प्रमुख शिलाश्रय पर सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित एक ही दिशा में शर-संधान करते हुए दो यष्टिकाय धनुर्धर। पहले धनुर्धर ने वाण छोड़ दिया है जो अभी दण्ड से वाहर नहीं निकल पाया है किन्तु प्रत्यञ्चा अपने स्थान पर आ गयी है। दूसरे धनुर्धर का हाथ प्रत्यंचा खींचे हुए है किन्तु वाण प्रदर्शित नहीं है, केवल सांकेतिक ही है। दोनों योद्धाओं के पैरों की भंगिमा संधान की सजगता पूर्ण रीति से सर्वथा युक्त है, विशेषत: पहले की। मूल से अनुकृत।

चित्र सं०—२

आदमगढ़ (होशंगावाद) के शिलाश्रय नं० ६ पर मटमैले सफेद रँग में पूरक शैली में चित्रित एक प्रधावित धनुर्धर की वाह्यरेखानुकृति जिसके केश और कटि-वन्ध वेग के अनुरूप उड़ते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। एक हाथ में एक दूसरे को काटते हुए तीन वाण और दूसरे में वाणवत् परिवर्धित हाथ की रेखा से संलग्न धनुप अंकित है। मूल से अनुकृत।

इस चित्र के सामने अंकित अन्य श्वेतवर्णी चित्रों पर लाल घुड़सवार आक्षिप्त हैं तथा समीप ही और भी सफेद चित्र हैं जो रँग और शैली में इसके वाद के प्रतीत होते हैं।

चित्र सं०—३

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के नवज्ञात शिलाश्रय पर वानर-समूह के ऊपर सफ़ेद रँग में ही अंकित एक नग्नकाय मुक्तकेश धनुर्धर जो एक हाथ में धनुप और दूसरे में वाण लिए है। वाण वाला हाथ पीछे की ओर उठा हुआ है। ऊपर का धड़ त्वरा के कारण आगे झुका हुआ चित्रित किया गया है जिसको पिछले पैर की उठान से संतुलित किया गया है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक IX

चित्र सं०—१

इमलीखोह (पँचमढ़ी) में ही वायी ओर शिलाश्रय के किनारे पर गहरे सफेद रँग से पूरक शैली में संतुलन पूर्वक अंकित एक धनुर्धर जो पूर्वांकित पशु की हलकी सफेद आकृति पर आक्षिप्त है। धनुर्धर के पीछे वृक्ष की शाखाएँ प्रदर्शित हैं जो दृश्य के पूर्ण परिकल्पन के आरम्भ की सूचना देती है। योद्धा एक हाथ में धनुष और दो वाण लिए है तथा दूसरे हाथ में कुल्हाड़ी जैसी कोई तिकोनी वस्तु है। इस शिलाश्रय के एक पारिवारिक दृश्य में स्त्रियों के हाथ में भी ऐसी ही वस्तु चित्रित मिलती है (द्रष्टव्य खण्ड ७, पा० दृ० फलक ६)। मुख और शिरोभूषा की गोलाकृत संगति, ग्रीवा की क्रमशः संकुचित होती हुई उठान तथा पैरों की सम्पूर्ण रूप-विन्यास के साथ एकात्मता चित्र को विशेष आकर्षण प्रदान करती है। धनुष-वाण और उनको पकड़नेवाले हाथ का आकार शरीर-भाग की सापेक्षता में कुछ कम संतुलित है। रूपात्मक संतुलन शिलाचित्रों में अधिक नहीं मिलता इसलिए यह चित्र और भी महत्वपूर्ण लगता है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

वनियावेरी (पँचमढ़ी) की गुफा-छत में सफेद रँग से अंकित धनुर्धर की वाह्यरेखा-नुकृति जो मूल पर ही आधारित है। इस चित्र में वाण प्रदर्शित करने की कोई चेष्टा नही है। आगे झुककर चलने की मुद्रा त्वरा-सूचक है।

चित्र सं०—३

माड़ादेव (पँचमढ़ी) की अन्तिम गुफा तक जाने के मार्ग में स्थित पहले विशाल शिलाश्रय पर अंकित तथा नष्ट होने से बची कुछ वीराकृतियों में से एक की मूल पर आधारित रेखानुकृति। इस शिलाश्रय के अन्य चित्रों की तरह यह भी लाल वाह्यरेखाओं वाली श्वेतवर्णी शैली में विनिर्मित है। प्रस्तुत रेखा-रूप मूल चित्र की सूक्ष्मता, विन्यास तथा अन्य वास्तविकताओं का सामान्य-सा आभास ही कराता है। एक हाथ में धनुष-बाण, दूसरे में कंधे पर रखी लाठी का एक सिरा पकड़े तथा दूसरे में तरकस लटकाये यह धनुर्धर पर्याप्त स्वाभाविक मुद्रा में आलिखित है। पैरों में पद-त्राण धारण करने का संकेत भी पट्टी जैसी रेखाओं से प्रकट है। चित्रित मानवाकृति दीर्घ आकार की है। चित्रण-कला में ही नहीं उसकी वेशभूषा में भी सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है।

चित्र सं०—४

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय पर वायीं ओर सफेद रँग से अङ्कित, एक धनु-

धर की वाह्यरेखानुकृति जिसमें उसके झुककर चलने की मुद्रा अत्यन्त स्वाभाविक है । मू० अनु० प्र० प्र० ।

फलक X

चित्र सं०—१

नरयावली (सागर) के शिलाश्रय से श्याममोहन पांडेय द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित एक दण्डधारी योद्धा का चित्र जिसमें वस्त्रालेखन का कोई प्रयास नहीं दिखायी देता। एक आदिम मानवाकृति सजग मुद्रा में अङ्कित है । दण्ड का एक सिरा पीछे की ओर तथा दूसरा कंधे से ऊपर निकला हुआ चित्रित है । यद्यपि उठे हुए हाथ के कारण उसकी सुसम्बद्धता *बाधित हो जाती है । दण्ड का अस्पष्ट अंश बिंदु-रेखा से निर्दिष्ट है । पीछे मुड़ते हुए पैर का* रूप शैली-बद्ध न होकर दृश्यात्मक विधि से बनाया गया है।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के अङ्क ५ में प्रकाशित एक अन्य दण्डधारी मानवाकृति जिसे उन्होंने सिंघनपुर की कुछ वैसी ही आकृति से तुलना करते हुए प्रस्तुत किया है । यह बैठी हुई मुद्रा में दोनों हाथों से दण्ड उठाये चित्रित है। उदर का चंचुवत् उभार विचित्र प्रतीत होता है । वह किस वस्तु का द्योतक है यह स्पष्ट नहीं होता ।

चित्र सं०—३

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के अङ्क ७ में प्रकाशित, अर्धपूरक शैली में अङ्कित एक योद्धा का चित्र जिसके हाथ में दण्ड या तलवार जैसी वस्तु है। कमर में लटकते हुए म्यान में मूठ भी प्रदर्शित की गई है। इसीलिए हाथ की वस्तु को तलवार मानने में कुछ कठिनाई होती है परन्तु ऐसा बुद्धि-संगत चित्रण किया गया हो, यह मानना आवश्यक नहीं है । म्यान की कल्पना मूठ के बिना सम्भव है चित्रकार के मन में आयी ही न हो । यह अवश्य है कि हाथ के शस्त्र में मूठ का प्रदर्शन स्पष्ट नहीं है । वक्षस्थल में त्रिकोणात्मक रिक्तता छोड़कर चित्र को आकर्षक बनाया गया है। उससे कवच का आभास भी होता है । शीश के ऊपर उठी हुई भूषा तथा कानों की बड़ी आकृति विचित्र लगती है । मुद्रा से त्वरा और आवेश की प्रतीति होती है । गॉर्डन ने इसे प्रारम्भिक तृतीय श्रेणी में स्थान दिया है परन्तु शस्त्र-रूप और वेश-भूषा से यह अधिक परवर्ती दिखायी देता है ।

चित्र सं०—४

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के अङ्क १० में प्रकाशित चित्र पर आधारित दो दण्डधारियों (Pikemen) की वाह्यरेखानुकृति। इसमें दोनों दण्डों के वीच ऊपर उठी हुई वस्तु यह सिद्ध करती है कि यह दण्ड विशेष प्रकार के हैं और इनका उपयोग अस्त्र रूप में विशेष प्रकार से ही किया जाता था। दोनों व्यक्ति प्रायः समान रीति से इन्हें उठाये हुए हैं जिससे लगता है कि इनका उपयोग इसी प्रकार होना था। विषयवस्तु की दृष्टि से यह चित्र अद्वितीय है।

फलक XI

चित्र सं०—१, २

कोहवर (पँचमढ़ी) की गुफा के दाहिने पार्श्व में गहरे गेरुए रँग से शिलांकित पूरक शैली के ये योद्धा-चित्र अत्यन्त सशक्त और अप्रतिम हैं। प्रस्तुत चित्रों को मूल से ही प्रतिकृत किया है यद्यपि मोनोग्राफ में इनकी अनुकृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इसका कारण यह है कि उनमें इन चित्रों की शक्ति का पूरा समावेश नहीं हो सका। दोनों चित्र प्रायः एक जैसी वीररसात्मक भावभंगी प्रदर्शित करते हैं किन्तु दोनों में शिरोभूषा, ढाल और खाँडे की स्थिति तथा पैरों की आकृति में अन्तर भी मिलता है। दूसरे चित्र में खाँडा अस्वाभाविक रूप में अङ्कित है। उसका कुछ भाग एक सीध में और शेष दूसरी सीध में कोण वनाता हुआ वना है जिसकी विचित्रता का समाधान मूल चित्र को देखने से ही होता है। चित्रकार ने पत्थर की उठान आ जाने के कारण विवश होकर खाँडे को इस प्रकार वना दिया है। इन दोनों चित्रों को देखकर उस कम्पन का सहज अनुभव होने लगता है जो आदिम योद्धाओं के शरीर में अस्त्र धारण करने पर विशेष रूप से व्याप्त हो जाता है। दोनों योद्धाओं की पदगति, नर्तन की-सी स्थिति का द्योतन करती है जिसमें शस्त्रों को कँपाते हुए योद्धा त्वरा से कभी इस ओर कभी उस ओर झुकते और उछलते हैं। आन्तरिक भावना की इतनी अधिक व्यञ्जकता इस प्रकार की सरल शैली में आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। भारतीय शिलाचित्रों में कलात्मक दृष्टि से इनका विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान माना जाना चाहिए।

फलक XII

चित्र सं०—१, २

आदमगढ़ (होशंगावाद) के शिलाश्रय नं० १० पर क्रमशः कत्थई और गेरुए रँग से पूरक शैली में अङ्कित यह तीनों वाह्यानुकृतियाँ मूल से ही चित्रित की गयी हैं। इनमें

प्रदर्शित ढाल-खड्ग धारी योद्धा प्रायः एक ही प्रकार की प्रधावित मुद्रा में आलिखित हैं किन्तु तीनों के शस्त्रों का आकार पारस्परिक भिन्नता रखता है। खड्ग इतने अनिश्चित रूप के हैं कि वे धातु विनिर्मित न लगकर काठ से बने प्रतीत होते हैं। दूसरे चित्र में तो सन्देह के लिए भी अवकाश नहीं है क्योंकि वह स्पष्टतः शाखावत् आगे विभाजित दोहरी नोक वाला बना है। कमर में लगे म्यान से खड्ग रूप-संगति नहीं रखते। पहले चित्र में एक जगह मूठ भी प्रदर्शित है। तीनों मानवाकृतियों के केश पीछे की ओर उड़ते हुए चित्रित किये गये हैं जिससे गति का बोध होता है। प्रथम योद्धा की ढाल आयताकार अलंकरण से युक्त और सबसे भिन्न है। कटिबन्ध केवल द्वितीय योद्धा के चित्र में ही बना है।

फलक XIII

चित्र सं०—१

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय में मटमैले सफेद रँग से पूरक शैली में अङ्कित एक योद्धा की बाह्यरेखानुकृति। ढाल का डमरूवत् आकार तथा स्वाभाविक वीर-मुद्रा विशेष ध्यान आकर्षित करती है।

चित्र सं०—२

बनियावेरी (पँचमढ़ी) की गुफा में पूजा-दृश्य के नीचे सफेद रँग से चित्रित गोलाकार ढाल और दण्डाकार खड्ग धारण किये एक योद्धा की बाह्यरेखानुकृति। पैरों से विशेष गति-शीलता प्रकट है।

चित्र सं०—३

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के एक शिलाश्रय से की गयी योद्धा की बाह्यानुकृति जिसमें काँटेदार ढाल सबसे अधिक प्रमुख दिखाई देती है। चित्र का आकार-संयोजन शिथिल है।

फलक XIV

गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्रों पर आधारित चार ढाल और खड्गधारी योद्धाओं की रेखाकृतियाँ।

चित्र सं०—१

आदमगढ़ (होशंगाबाद), प्रारम्भिक तृतीय श्रृङ्खला। इस चित्र में पैरों की आकृति सबसे अधिक त्वरित गति की द्योतक है। कटिबन्ध का उड़ता हुआ पिछला सिरा उससे संगति रखता है। काँटेदार ढाल पूर्व फलक के अन्तिम चित्र से तुलनीय है।

चित्र सं०—२

झालई (पँचमढ़ी) प्रारम्भिक से उत्तर तृतीय शृङ्खला तक इसका काल अनुमानित किया जा सकता है। जूड़ा सिर मे भी बड़े आकार का बना है। खड्ग अन्यों से भिन्न आगे की ओर भारी बनाया गया है।

चित्र सं०—३

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ पर अङ्कित उत्तर तृतीय शृङ्खला का चित्र जिसमें कमर में लगी छुरी विशेष ध्यान खींचती है। अगला पैर अस्पष्ट होने के कारण अपूर्ण है।

चित्र सं०—४

झालई (पँचमढ़ी) में शिलांकित उत्तर चतुर्थ शृङ्खला का आधुनिक सिपाही जैसी आकृति वाला योद्धा। हाथ का विचित्र शस्त्र, उन्नत अंडाकार शिरोभूषा, वक्ष की पट्टियाँ, जाँघिये जैसा अधोवस्त्र तथा ढाल का आकार असामान्य और ऐतिहासिक युग का लगता है।

फलक XV

चित्र सं०—१

इसमें ढाल और खड्गधारी समस्त आकृतियाँ पँचमढ़ी क्षेत्र की हैं और केवल बायीं ओर ऊपर से नीचे क्रम में तीसरी आकृति को छोड़कर सभी डोरोथीडीप से गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृतियों पर आधारित हैं। वह तीसरी आकृति मेह्यू पीप की गुफा के युद्ध-दृश्य का अंग है। धनचिह्नांकित ढालों वाली आकृतियाँ प्रारम्भिक चतुर्थ श्रेणी की मानी गयी हैं तथा शेष को भी प्रारम्भिक चतुर्थ श्रेणी में रक्खा गया है जो उचित नहीं लगता। दायीं ओर की मध्यवर्ती आकृति इसी खण्ड के फलक XIII, चित्र सं० १ के मूल की ही अंशानुकृति है। इसके नीचे वाले चित्र में ढाल अनुकृत नहीं की गयी है। केवल खड्गवाला हाथ प्रदर्शित है। सभी आकृतियाँ एक दिशा में मुख किये हुए हैं और पहली को छोड़कर शेष सभी अपूर्ण हैं। उसका निचला भाग विशेषतया सुगठित है तथा कटिबन्ध लाँगूलवत् प्रतीत होता है। मेह्यू पीप वाले चित्र का वेश जाँघिये जैसे अधोवस्त्र के कारण आधुनिक सिपाही का-सा लगता है। सफेद रँग के यह सभी चित्र सा० क० के खण्ड १० में प्रकाशित हो चुके हैं।

चित्र सं०—२

झालई (पँचमढ़ी) के गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित एक ढाल-खड्ग धारी योद्धा की वाह्यानुकृति जिसमें उसकी नुकीली शिरोभूषा विशेष ध्यान आकृष्ट करती

है। सा० क० के खंड १० में ही प्रकाशित।

फलक XVI

चित्र सं०—१

पँचमढ़ी क्षेत्र में स्थित मान्टेरोज़ा के शिलाश्रय नं० ४, जम्बूद्वीप के शिलाश्रय नं० १ तथा काजरी घाट से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के खंड—१० में प्रकाशित रेखा-चित्रों पर आधारित तीन सशस्त्र योद्धाओं की वाह्यरेखानुकृतियाँ। पहली में योद्धा के एक हाथ में कुछ मुड़ा हुआ भाला प्रदर्शित है तथा दूसरे की स्थिति अस्फुट है। उसका देहभाग दीर्घ, पैर छोटे तथा पीछे मुड़ा हुआ मुख मूषक जैसा आच्छादनयुक्त लगता है। दूसरी में केशों का अनुवन्धन आँखों के गोलक तथा कटिबन्ध विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं। तीसरी आकृति सबसे अधिक गतिशीलता लिये हुए है। उड़ते हुए लहरीले लतर जैसे बन्धन विचित्र किन्तु आकर्षक लगते हैं। उनके धारण और चित्रण का अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट नहीं है। शत्रु से अपने को छिपाने अथवा शरीर को अतिरिक्त अलंकरण प्रदान करने के उद्देश्य से उनकी स्थिति सम्यक् मानी जा सकती है। दो का प्रकाशन सा० क० के खंड ६ में तथा तीसरी का खंड १० में हो चुका है।

चित्र सं०—२

दकन कोल, दौरी के शिलाश्रय का उल्लेख गॉर्डन ने सा० क० के दसवें खंड में इस में प्रतिकृत दोनों रेखाकृतियों को प्रस्तुत करते हुए महादेव पहाड़ियों के सन्दर्भ में ही किया है। अतः इसकी स्थिति भी पँचमढ़ी में मानी जानी चाहिए। विचित्र शिरस्त्राणधारी ये दोनों योद्धा ग्रीक सिपाहियों की वेशभूषा का स्मरण दिलाते हैं और ऐतिहासिक युग के प्रतीत होते हैं। इसीलिए गॉर्डन ने इन्हें उत्तर चतुर्थ श्रेणी में स्थान दिया है। दोनों की ढालें भिन्न आकार-प्रकार की हैं। पहला योद्धा एक हाथ में भाला उठाये तथा दूसरे में ढाल लटकाये है और दूसरा योद्धा दोनों सशस्त्र हाथ ऊपर किये हुए है। ढाल के अतिरिक्त उसके पास जो अन्य शस्त्र है, उसका रूप अंशानुकृत अतएव अस्पष्ट है। दोनों के वक्ष पर गुणक (क्रास) रूप में पट्टियाँ चित्रित हैं।

फलक XVII

चित्र सं०—१

माड़ादेव (पँचमढ़ी) के प्रथम समूह, शिलाश्रय नं० २-३ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के खंड १० में प्रकाशित चित्रों पर आधारित दो परशुधारी योद्धाओं की वाह्य

रेखानुकृतियाँ जिनमें से पहली झालरदार कटिबन्ध से युक्त होने तथा शिरोभूषा के विभेद के कारण स्त्री की-सी प्रतीत होती है। दोनों के परशु आकार और प्रकार में भिन्नता रखते हैं। गॉर्डन ने यही शस्त्र-भेद प्रदर्शित करने के लिए इन्हें प्रस्तुत किया और अपने श्रेणी-क्रम में इन्हें उत्तर तृतीय शृङ्खला से सम्बद्ध बताया।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पॅचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ पर बैंगनी रंग से अंकित आकृतियों के ऊपर आक्षिप्त एक सफेद मानवाकृति जो गॉर्डन के अनुसार उत्तर तृतीत श्रेणी की है किन्तु उसके नीचे एक व्यक्ति, सम्भवतः स्त्री को साथ ले जाता हुआ धनुर्धर उससे पूर्व का है। धनुर्धर के उठे हुए कान और मुखाकृति यह सूचित करते हैं कि वह किसी पशु का छद्ममुख धारण किये हुए है। चित्रकार ने उसके पिछले हाथ को साथ जाने वाले व्यक्ति के हाथ से विचित्र प्रकार से एकाकार करके जोड़ दिया है जो रचना-विधि की दृष्टि से रोचक है। मूलतः गॉर्डन द्वारा ही अनुकृत और सा० क० के अंक ६ में प्रकाशित वाह्यरेखानुकृति पर आधारित।

चित्र सं०—३

माड़ादेव (पॅचमढ़ी) के प्रथम समूह, शिलाश्रय नं० १ पर अंकित श्वेतवर्णी चित्र जिसकी वाह्यरेखानुकृति गॉर्डन ने सा० क० के नं० ७ में प्रकाशित की। प्रस्तुत प्रतिकृति उसी पर आधारित है। इसमें एक वीर कन्धे पर बहँगी जैसी वस्तु सम्हाले हुए है। उसका पिछला जालदार अंश ताड़-पत्र का आभास देता है जिससे गोल फल या पात्र संलग्न है।

फलक XVIII

चित्र सं०—१

बोरी (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के अंक ७ में प्रकाशित रेखा-चित्र की प्रतिकृति जिस में एक छोटी चौकी पर बैठा हुआ विशालकाय मनुष्य हाथ में छुरी लिए हुए है। उसने कटि-बंध खोलकर रख लिया है किन्तु उसकी मुख-मुद्रा से लगता है कि छुरी किसी आशंका से उठायी गयी है। बैठने की विधि का चित्रण शैलीबद्ध न होकर प्रयास-जन्य प्रतीत होता है। मूल चित्र संभवतः श्वेतवर्णी, लाल वाह्यरेखाओं वाली शैली का है जिसमें भीतर भी रेखांकन हुआ है।

चित्र सं०—२-३

यह दोनों योद्धा-चित्र माड़ादेव (पॅचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० १ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के अंक १० में प्रकाशित रेखाचित्रों पर आधारित हैं। इनमें एक हाथ में

छुरी और दूसरे में फरसा लिए दो योद्धा चित्रित हैं। चित्र नं० २ में योद्धा बैठकर प्रहार करती हुई मुद्रा में अंकित है किन्तु चित्र नं० ३ में पीछे मुड़कर देखने और त्वरा से चलने की मुद्रा प्रदर्शित है। उसकी शिरोभूषा, कटि-बन्ध की स्थिति, गतिशीलता, पैरों से व्यक्त होने वाली गतिशीलता से संगति रखती है। इसमें चित्रित फरसे का आकार पूर्वोक्त चित्र के फरसे से भिन्न है।
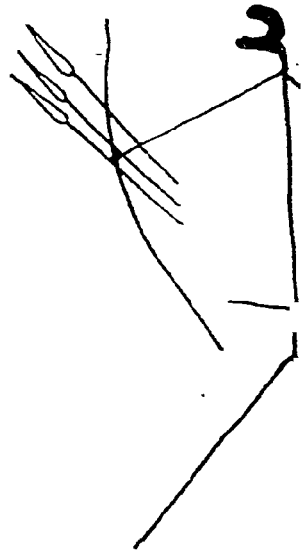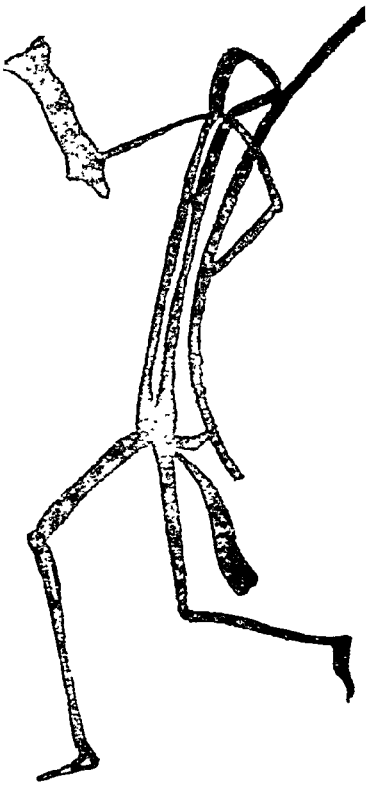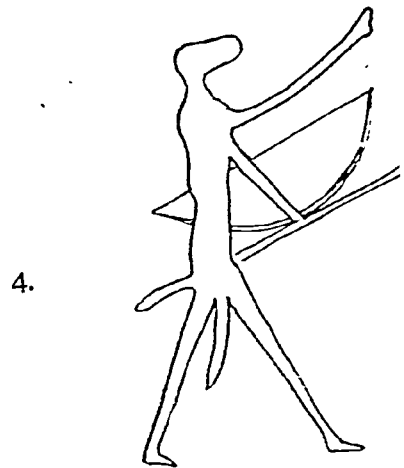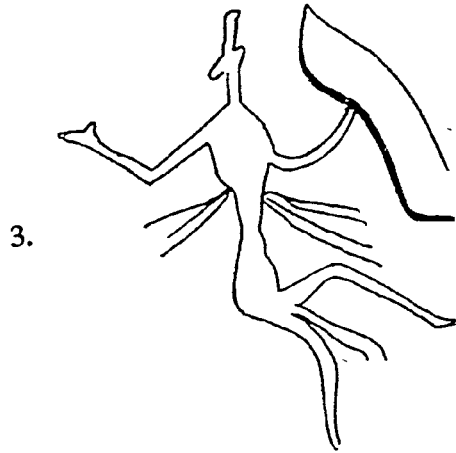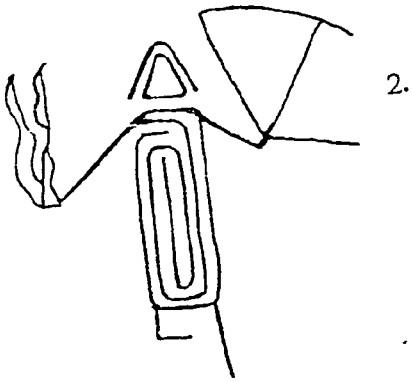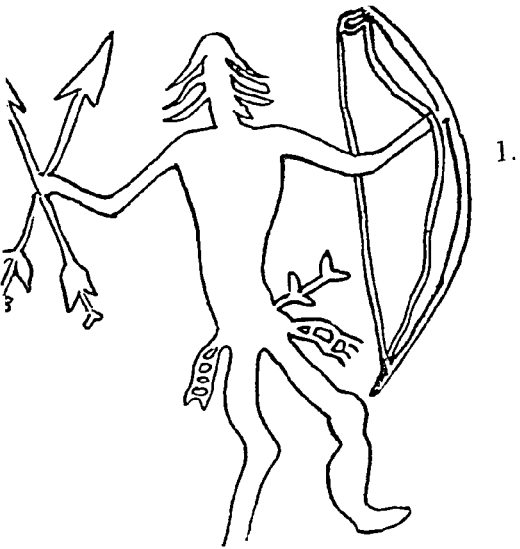
ध० यो० फलक–II

ध० यो० फलक—III

1.
3.
2.
4.

व० यो० फलक–VII

ध० यो० फलक–X

1.

2.

ध० यो० फलक–XI

1

2.

3.

व० यो० फलक–XII

1.

2.

3.

व० यो० फलक–XIII

ध० यो० फ़लक–XIV

प्र० यो० फलक-XV

० यो० फलक–XVI

1.

2.

3.

ध० यो० फलक–XVII

घ० यो० फलक–XVIII
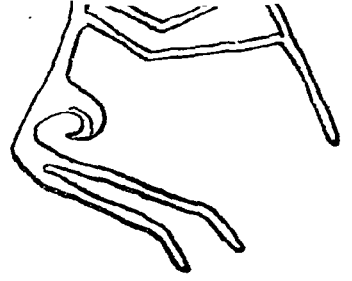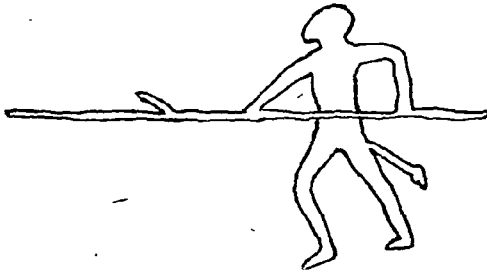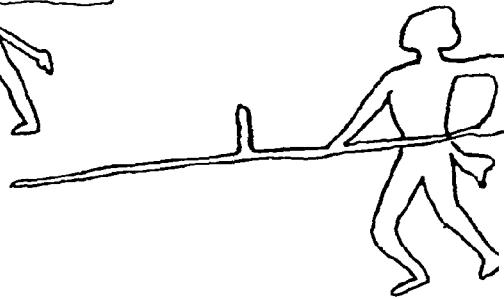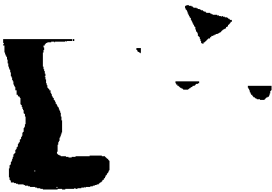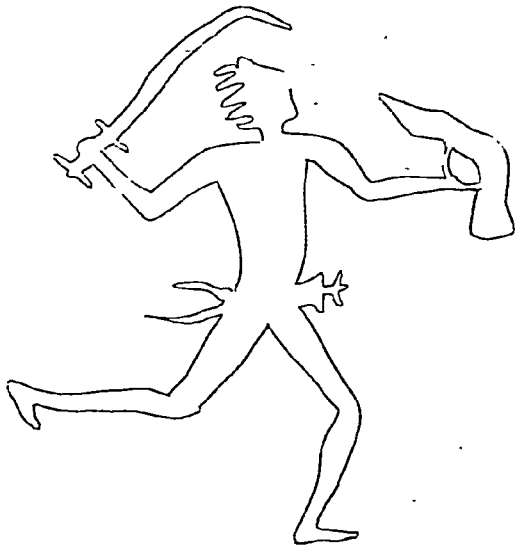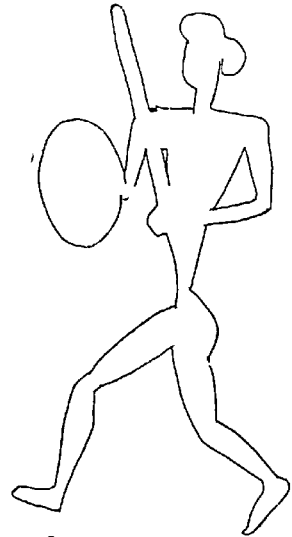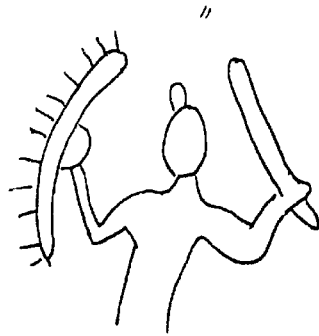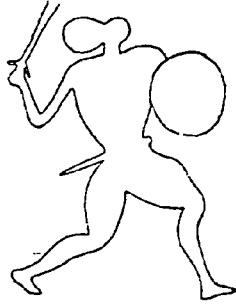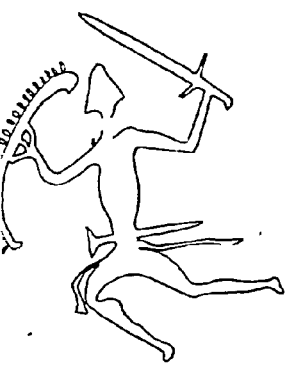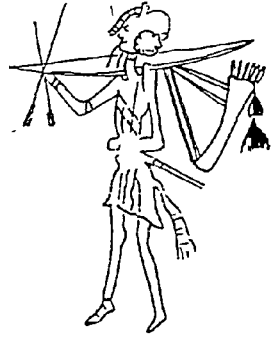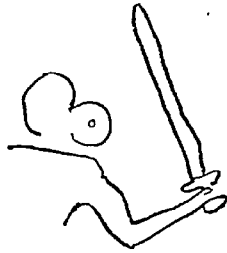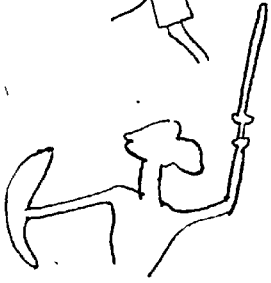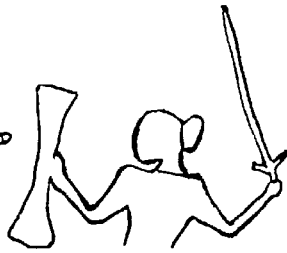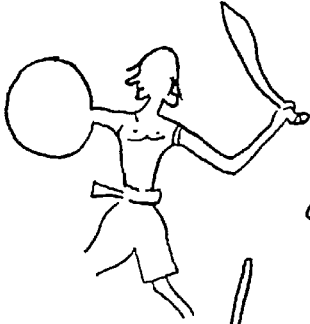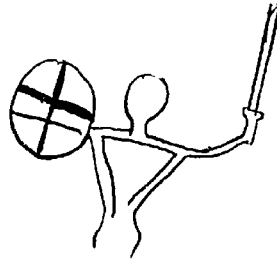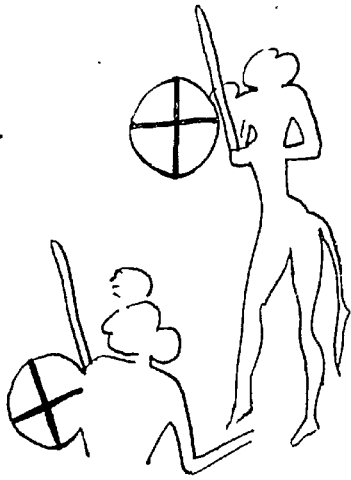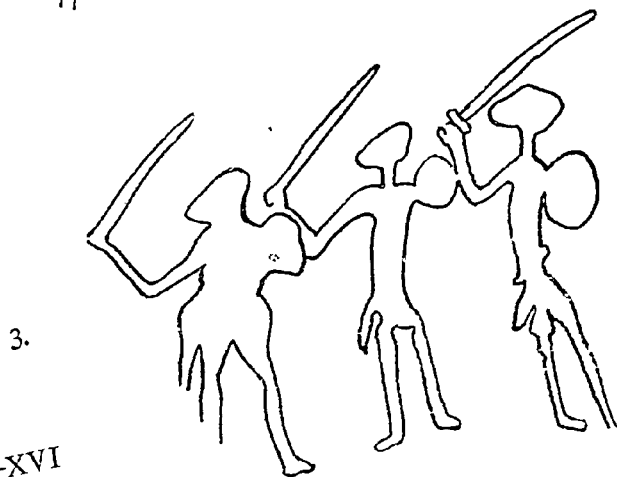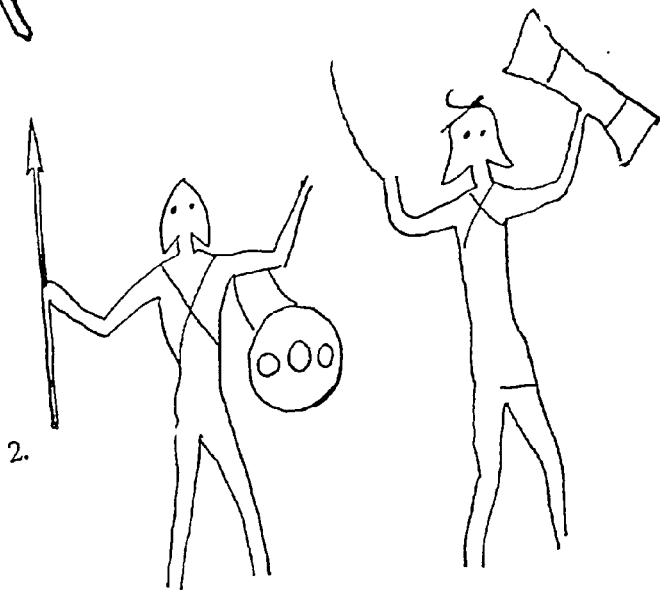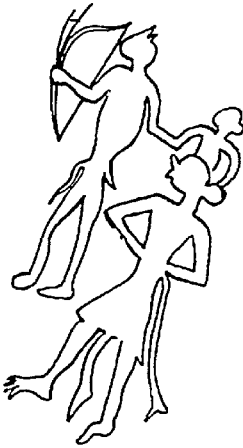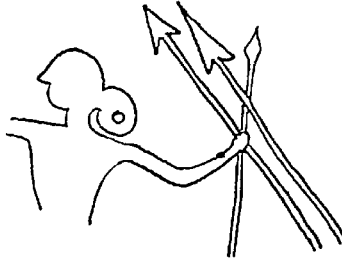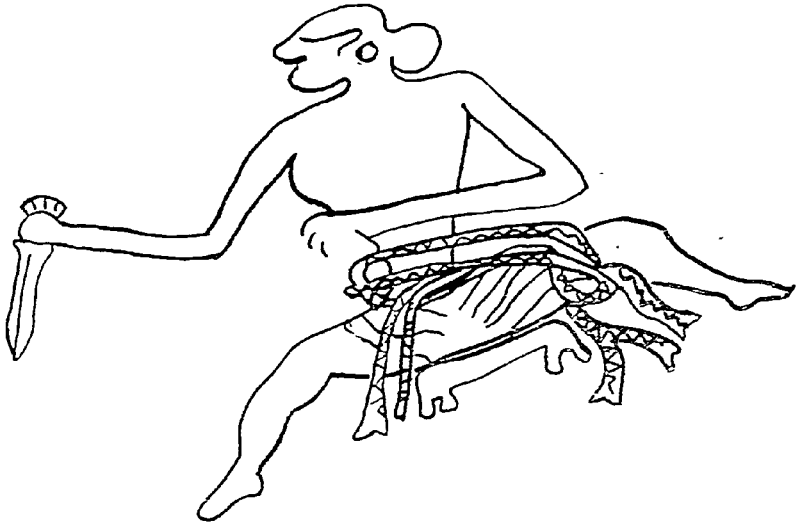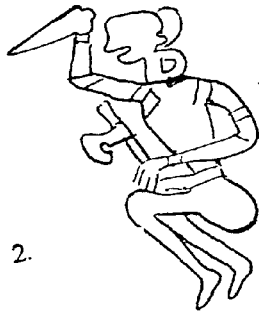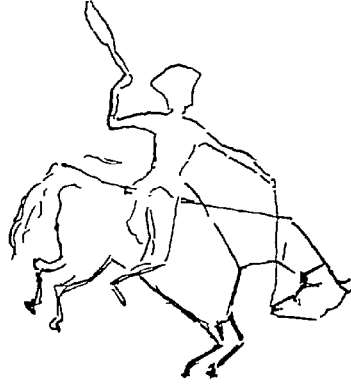
अश्वारोही तथा अन्य आरोही

चित्र-खंड-५

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में भल्डरिया के शिलाश्रय नं० १ की छत में अंकित एक सशस्त्र अश्वारोही का शक्तिशाली मनोरंजन चित्र जिसकी अनुकृति सर्वप्रथम घोष के 'मोनोग्राफ' में फलक XXI पर प्रकाशित हुई।

अश्वारोही तथा अन्य आरोही

पशु-आरोहण की स्थिति सांस्कृतिक विकास-क्रम में वन्य पशुओं को बुद्धि-कौशल एवं शक्ति से वशीभूत कर लेने अथवा पशु-पालन की स्थिति के बाद ही कल्पनीय कही जा सकती है। 'पशु' शब्द का अर्थ ही है पाश-बद्ध। यह संज्ञा वास्तव में वनचरों की आदिम अवस्था को द्योतित नहीं करती और न इससे उनके आखेट की व्यंजना होती है। यह भी सत्य है कि सभी आखेट-पशु आरोहण-पशु नहीं बने किन्तु जो बने उनमें अश्व का स्थान अज्ञात काल से सर्वोपरि प्रतीत होता है। प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम पाँच-छः चित्रों को छोड़कर शेष सभी अश्व से सम्बद्ध हैं।

योरोपीय प्रागैतिहासिक चित्रों में वन्य अश्व (Equus caballus ferus) का अंकन सहस्राब्दियों पूर्व हिम-युग तक जाता है पर उनमें अश्वारोहियों का प्रदर्शन नहीं मिलता। उसकी आशा करना भी व्यर्थ है क्योंकि वहाँ हिम-युग में मनुष्य और पशु के बीच पालक-पालित सम्बन्ध ही विकसित नहीं हुआ था। यह सम्बन्ध-विकास मानव-संस्कृति के विशेषज्ञों के विचार से नव-पाषाण-काल की वस्तु है। अतः आरोहण के सभी चित्र सामान्यतया इसी काल के सिद्ध होते हैं या इससे परवर्ती। पूर्ववर्ती उन्हें तभी माना जा सकता है जब कोई असाधारण और सुनिश्चित प्रमाण प्राप्त हो जाय। योरोप में अश्वारोहण का आरम्भ २००० ई० पू० के आसपास माना जाता है। उससे पहले मानना कठिन लगता है।[1] उसका श्रेय मध्य योरोप की युद्ध-परशु वाली मानव जातियों को दिया जाता है क्योंकि उनका प्रसार त्वरा के साथ विस्तृत भूभाग में हुआ।[2] भारतवर्ष में अश्व की स्थिति योरोप जैसी असंदिग्ध नहीं है। प्रत्युत यहाँ उसे मूलतः एक भारतीय पशु मानना भी बहुधा संदेहास्पद रहा है। आर्य जाति से विशेषतः सम्बद्ध कर दिये जाने के कारण अश्व की समस्या भारतीय इतिहास और पुरातत्व में पर्याप्त विवाद-ग्रस्त रही है। कुछ भारतीय विद्वानों ने योरोपीय विद्वानों का इस विषय में प्रतिवाद किया। अमरनाथ दत्त ने शिवालिक पहाड़ियों और दक्षिण की कुर्नूल गुफाओं तथा नर्मदा घाटी में प्राप्त अस्थि-अवशेषों के आधार पर घोड़े के अस्तित्व

१. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ, पृ० ९३
२. आर्कियॉलाजी ऐण्ड सोसायटी, पृ० २१४

को प्रागैतिहासिक युग में भी सम्भव माना है ।[१] नर्मदा घाटी के हस्त-परशु का उपयोग करने वाले प्रस्तरयुगीन निवासियों को जिन पशुओं का ज्ञान था उनमें वन्य अश्व (Equus namadicus Falc.) भी था ।[२] यही नहीं, संकालिया ने इस बात की भी संभावना मानी है कि भारतीय हिम-युग के द्वितीय 'इंटरग्लेशियल टेरेस' में नर्मदा और गोदावरी की घाटियों में हाथी, महिष, वृष तथा अश्व आदि का अस्तित्व हो सकता है ।[३] सामान्यतया सिन्धु घाटी सभ्यता निरश्व सभ्यता के रूप में ग्रहण की जाती है किन्तु लोथल में (१९५८-६०) अश्व या अश्व जैसी आकृति वाली तीन मृण्मूर्तियों की उपलब्धि से यह धारणा पुनर्विचारणीय हो गयी है ।[४] उनमें से एक हड़प्पा की उत्खनित सामग्री के प्रथम काल-खंड से सम्बद्ध होने के कारण पर्याप्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है । यदि मूर्त-पशु अश्व ही सिद्ध होता है तो सिन्धुघाटी-सभ्यता के निर्माताओं की स्थिति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता हो सकती है । रंगपुर के एक मृत्खण्ड और एक चित्र में भी अश्व अंकित है ।[५] इसी तरह रोपड़, हस्तिनापुर और आलमगीरपुर के नगण्य पात्र-खण्डों से भी अश्व की स्थिति का प्रमाण मिलता है ।[६] वी० गॉर्डन चाइल्ड ने सिंधु घाटी में मिले काठी के 'मॉडलों' की संदिग्धता का निर्देश करते हुए अश्वारोहण का १००० ई० पूर्व से पहले कोई प्रामाणिक आधार नहीं माना है ।[७] स्वामी शंकरानन्द ने सिंधु-घाटी को आर्य सभ्यता सिद्ध करने के उद्देश्य से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वैदिक आर्य भी घोड़े से परिचित नहीं थे और अश्व का अर्थ सूर्य या 'अपसु योनिः वा अश्व' के अनुसार जलोद्भव जीव था ।[८]

उक्त आधारों पर पशु-चित्रों वाले द्वितीय खण्ड में समाहित अश्व-आकृतियाँ और प्रस्तुत खण्ड के अश्वारोहियों की प्रामाणिता तथा सापेक्षिक कालक्रमात्मक स्थिति अधिक विश्वसनीय लगने लगती है । आरोहण-विषयक शिलाचित्रों में भी ऐसे

१. प्रि० पे० रॉ० सि०, प्लेट नं० ८ का परिचय
२. प्रि० प्रो० इं० पा०, पृ० ५४
३. वही, पृ० ४
४. इंडियन आर्कियालॉजी टु-डे, पृ० ६१
५. वही, पृ० ६३-६४; तथा प्रि० प्रो० इं० पा, पृ० १६७
६. प्रि० प्रो० इं० पा०, पृ० १८५
७. But apart from some dubious models of saddles from Indus valley dating round about 2500 B. C., There is no really satisfactory evidence for horse riding much before 1000 B.C.
—मैन मेक्स हिमसेल्फ, पृ० १२६
८. As'va is no other than the sun.
—ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ दि प्रिहिस्टॉरिक इंडस, वाल्यूम I, पृ० ८०

अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनकी प्रकृति नितान्त आदिम है। उनमें विना वल्गा और काठी के आरोही अश्व या अन्य पशु पर कभी खड़े और कभी अप्रचलित विधि से बैठे हुए चित्रित मिलते हैं। इन स्थितियों को चित्रण की आदिम विधि द्वारा आरोहण का भाव व्यक्त करने के रूप में व्याख्यायित करके पूर्ण सन्तोष नहीं होता क्योंकि ऐसा चित्रण बहुत कम मिलता है और जिस रूप में मिलता है उसमें वास्तविकता का पुट भी दिखाई देता है। इस संदर्भ में इसी खण्ड के तीन चित्र द्रष्टव्य हैं, फ० III, चित्र सं० २; फ० XI, चित्र १ और फ० XIII। बीच वाले को छोड़कर शेष दोनों चित्रों में पशु अश्व से भिन्न लगता है। तीसरे में तो संदेह की भी स्थिति नहीं है। विना वल्गा के अश्वारोहण IX चित्र सं० २ तथा फ० X चित्र १ में और विना काठी के फ० III चित्र १, फ० VI तथा कुछ अन्य चित्रों में भी देखा जा सकता है। फ० VI वाले चित्र में तो एक अश्वारोही पर दूसरा अश्वारोही आक्षिप्त है जिससे दो विभिन्न आकार-प्रकार के अश्वों का एक साथ तुलनात्मक परिचय प्राप्त हो जाता है। कहीं अश्व अयालयुक्त और कहीं अयालहीन बनाये गये हैं। अश्व-चित्रण पँचमढ़ी, होशंगाबाद, सागर, भोपाल, बाँदा और मिर्ज़ापुर क्षेत्रों में विशेषतः मिलता है। रायगढ़-क्षेत्र में धनुष की तरह अश्व का अंकन भी प्राप्त नहीं होता; इसीलिए न वहाँ धनुर्धर मिलते हैं और न अश्वारोही। अमरनाथ दत्त द्वारा प्रकाशित सिंघनपुर के प्रागैतिहासिक अश्व के चित्र की अप्रामाणिकता द्वितीय खण्ड में निर्दिष्ट की ही जा चुकी है। यदि गॉर्डन ने अश्व और अश्वारोहियों के चित्रण को यथोचित सापेक्षिक दृष्टि से देखा होता तो उनका कदापि यह साहस न होता कि रायगढ़ और पँचमढ़ी क्षेत्र के शिलाचित्रों को समान स्तर पर रख देते।[1] आरोहण-दृश्यों में अथवा अश्व को साथ लेकर पैदल चलते हुए आरोहियों के अंकन में वल्गा का प्रदर्शन पूर्वोक्त कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सामान्य रीति से किया गया है। पहले और दूसरे फलक के चित्र ही इसे प्रमाणित करते हैं। आगे और भी अनेक चित्रों में वल्गा स्पष्ट दिखाई देती है। कहीं-कहीं वल्गा के अतिरिक्त गले के नीचे लटकता हुआ पट-बन्ध भी दिखाया गया है. (द्र० फ० III, चित्र १)। आदमगढ़ के शिलाश्रय नं० १० पर अनेक अश्वारोही अंकित हैं। जिराफ़-ग्रुप में भी अश्वारोहियों का समावेश है किन्तु सबसे विशेष बात यह है कि उसपर नीचे की ओर अंकित ऐसे ही चित्रों में रकाब जैसी गोलाकार वस्तु भी अंकित मिलती है। (द्र० फ० IX, चित्र १)। गॉर्डन ने इसकी अनुकृति में दो और रकाबों की अनुकृतियाँ दे दी हैं।[2] उन्होंने इनकी विभिन्न रचना को आरोही की छाप

---

१. मा० क०. वॉ० V. नं० २. पृ० १४५

२. वही, वॉ० V. नं० १०, फ० ५ ए

(horse-brand) के रूप में ग्रहण किया है।[1] इससे भी बढ़कर समस्या उत्पन्न करने वाला अंकन है झूलदार घोड़ों का, क्योंकि उनको ऐतिहासिक युग से पहले ले जाना प्रायः असंभव दिखायी देता है। (द्र० फ० X, चित्र २ तथा फ० XI चित्र २)। अगले खण्ड में समाविष्ट अन्तिम-युद्ध-दृश्य में दो अश्वारोही ऐसे ही झूलदार घोड़ों (caparisoned horses) पर सवार है। इनके विषय में गॉर्डन ने यह धारणा व्यक्त की है कि शत्रुओं को पराजित करने के लिए जिन युद्धों में ऐसे अश्वों के आरोहियों ने अपनी सेना सहित भाग लिया होगा वे उस भू-भाग में हुए होंगे जो निश्चित रूप से उन पहाड़ियों से भिन्न होगा जिनमें यह चित्र अंकित मिलते है।[2] गज और गजारोहियों के विषय में भी गॉर्डन की यही धारणा है।[3] इस संदर्भ में प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम फलक का प्रथम चित्र विशेषतः द्रष्टव्य है। इसी का दूसरा चित्र गजारोहण का इतना आदिम रूप प्रस्तुत करता है कि उससे गॉर्डन की धारणा एकांगी और मात्र अंश-सत्य प्रतीत होने लगती है।

आरोहण-पशुओं में सबसे विचित्र पशु विढम के शिला-चित्रों में लक्षित होता है (द्र० फ० XII)। उसे अश्व तो किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। बड़े आकार के श्वान से अवश्य उसका रूप-साम्य लगता है किन्तु पूँछ कुत्ते की पूँछ से अधिक लम्बी और ताड़ के पत्ते जैसी झबरी चित्रित मिलती है। आरोही की तुलना में पशु का देह-मान श्वान की अपेक्षा किसी अन्य बड़े पशु का ही प्रतीत होता है जो सम्भवतः कुछ जातिगत लक्षणों में उसी के समान रहा होगा। विढम के चित्र-समूह में अंकित अन्य पशु भी ऐसे ही अपरिचित वन्य और उत्सुकता उत्पन्न करने वाले है। फलक XI के आरोहण पशु भी ऐसे ही विचित्र आकार-प्रकार के है।

आरोहियों की वेष-भूषा तथा शस्त्र-सज्जा का अध्ययन भी पर्याप्त रोचक है। कुछ आरोही खड़े बालों वाले, निर्वस्त्र और वन्य जीवनावस्था के मिलते है किन्तु उनके विपरीत अनेक ऐसे आरोही है जिनका वेश-विन्यास-विधि और अस्त्र-वस्त्रादि इतनी विकसित अवस्था के हैं कि उन्हें प्रागैतिहासिक कहने में संकोच होता है। वास्तव में आरोहण-चित्र एक सुदीर्घ विकास-परम्परा से सम्बद्ध हैं जिसका एक छोर संस्कृति के आदिम वन्य जीवन

१. वही, पृ० ५८४

२. *Somewhere, certainly not in the hills where their paintings are found, they rode to war on caparisoned horses and, and advanced their spearmen in ranks to encounter the enemy.*

—सा० क०, वॉ० V, नं० १०, पृ० ५७८

३. प्रि० वै० इं० क०, पृ० १०५

के उधर वाले सिरे का स्पर्श करता है तथा दूसरा इतिहास की सीमाओं से जुड़ता हुआ प्रतीत होता है। आरोहण के साथ मानव-हित में पशु-शक्ति, विशेषतः अश्व-शक्ति के उपयोग द्वारा जिस गतिशीलता का संचार हुआ और जो सांस्कृतिक समृद्धि उत्पन्न हुई; प्रस्तुत खण्ड के चित्रों से उसका सम्यक् परिचय मिल जाता है। वेश-भूषा और अस्त्र-शस्त्रों का वैविध्य दोनों उस विकासमान गतिशीलता को ही द्योतित करते हैं। लम्बा-ऊँचा उष्णीष, सिले हुए जैसे वस्त्र, फुँदनेदार टोपी, विविध प्रकार के जूट-बंध, लहराते हुए कटि-बन्ध तथा वक्ष पर कसी एक-दूसरे को गुणन-चिह्न की तरह काटती हुई धारीदार पट्टियाँ, गॉर्डन ने जिनकी अजन्ता के चित्र से तुलना करके पँचमढ़ी के शिला-चित्रों के रचनाकाल की उत्तर सीमा १०वीं शती ई० के आसपास निर्धारित कर दी, अश्वारोहियों के इसी चित्र-समूह में वेश-वैचित्र्य के साथ देखी जा सकती हैं।

आयुधों में असमान रूप वाले विविध-प्रकार के काष्ठ, पाषाण एवं धातु से बने फलक वाले खड्ग, भाले, धनुष-बाण, सादी और कांटेदार ढालें, कशा-दण्ड, सहज रूप में उपलब्ध होते हैं जिनकी विशेषताएँ चित्र-परिचय में देखी जा सकती हैं। पूर्व-निर्दिष्ट आक्षिप्त-चित्र (फ० VI) में तीन कटियों वाला विचित्र अस्त्र असाधारण लगता है। फलक VII, चित्र २ का भाला भी आकार-प्रकार में विशाल और साधारण से भिन्न है। डोरीदार चाबुक का किसी चित्र में अंकन नहीं मिलता।

सांस्कृतिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य और उल्लेखनीय है और वह यह कि कुछ चित्रों में स्वामी-सेवक सम्बन्ध का भाव भी देखा जा सकता है। एक चित्र में मुख्य अश्वारोही को बड़ा और सहयोगी को छोटा चित्रित किया गया है। (द्र० फ० IV, चित्र १)। चित्रण-गत अन्य विशेषताओं एवं शैली-भेद से परिचित होने के लिए चित्र-परिचय ही देखना आवश्यक होगा।

अश्वारोही तथा अन्य आरोही : चित्र-परिचय

फलक I

उत्तरप्रदेश के बाँदा जिले में स्थित मलवा नामक स्थान के निकटवर्ती एक शिलाश्रय से सी० ए० सिल्वेराड द्वारा अनुकृत एवं प्रो० ए० सो० बं० की आठवीं वॉल्यूम (१९०७ ई०) में प्रकाशित बाह्यरेखानुकृति पर आधारित इस प्रतिकृति में तीन दंडधारी अश्वारोही अपने-अपने घोड़े की रास थामे, पैदल एक ही दिशा में जाते दिखाये गये हैं । तीनों ऊँची शिरोभूषा से युक्त, वस्त्र पहने चित्रित हैं । बायीं ओर वाले एक अश्वारोही का वक्ष अर्ध-पूरक शैली के अनुरूप त्रिकोणात्मक आपूरण से उसी भाँति अलंकृत है जिस प्रकार तीनों अश्वों का शरीर आयताकार आपूरण से । इस प्रकार इस चित्र में पूरक और अर्धपूरक दोनों शैलियों का, ज्यामितिकता के आंशिक समावेश के साथ, मिश्रण हुआ है । दाहिनी ओर ऊपर वाले अश्वारोही का अधोभाग मिटा हुआ है पर जो अंश अवशिष्ट है उससे त्रिकोणात्मक आपूरण के कारण कटिबंध का आभास होता है । सवारों की अपेक्षा घोड़ों के पैर स्पष्टतया गतिशीलता लिये हुए हैं किन्तु उनकी रचना विशेष संतुलित नहीं है । घोड़े के गले और पूँछ पर क्रमबद्ध उभार देकर बालों का प्रदर्शन समान शैली में किया गया है जिसके कारण चित्र अधिक आकर्षक हो गया है । मिटे हुए पैरों वाले सवार के घोड़े की पूँछ में बालों के उभार बहुत कम किन्तु दोनों ओर आलिखित हैं । चित्र का संपुजन संयत और कलात्मक है ।

फलक II

चित्र सं०—१

नरयावली (सागर) के निकट सिद्धबाबा की गुफा में गेरुए रँग से अंकित अश्व सहित पैदल चलते हुए दो सवारों का छाया-चित्र जो श्यामकुमार पाण्डे के सौजन्य से प्राप्त हुआ है । इस चित्र की विषय-वस्तु पूर्वोक्त फलक I के चित्र जैसी है और इसमें भी दो शैलियों का मिश्रण मिलता है परन्तु उसका स्वरूप भिन्न है । अश्वारोहियों के सवस्त्र शरीर विचित्र प्रकार के लहरीले रेखाजाल द्वारा किंचित् ज्यामितिकता के योग से बनाये गये हैं ।

अगले सवार के हाथ का बड़े फल वाला भाला और उसके पैर अश्व की तरह पूरक शैली में आलिखित हैं। घोड़े की पीठ पर काठी स्पष्टता के साथ अंकित है और मस्तक की सज्जा भी प्रकट है। शैलीगत वैविध्य के कारण चित्र विशेष आकर्षक हो गया है। बायीं ओर ऊपरी कोने पर पूरक शैली में एक मानवाकृति और बनी है।

चित्र सं०—२

महड़रिया (मिर्ज़ापुर) में उपलब्ध एवं घोष द्वारा मोनोग्राफ में प्रकाशित (फ० XXI) चित्र पर आधारित सशक्त रेखानुकृति जिसमें एक अश्वारोही चाबुक चलाने की अत्यन्त स्वाभाविक मुद्रा में अंकित है तथा खिंचती हुई रास के कारण झुके शीश वाला अश्व भी पर्याप्त सजीवता से चित्रित है। उसकी रूप-रेखा ज्यामितिकता लिए हुए है जो सवार के अंकन में बहुत कम लक्षित होती है। घोड़े के सभी अवयव सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण की कुशलता का परिचय देते हैं। मूल चित्र इस अनुकृति से कहीं अधिक शक्तिशाली होगा, उसके प्रकाशित रूप को देखकर ऐसा अनुमान होता है।

फलक III

चित्र सं०—१

इमलीखोह (पँचमढ़ी) में सफेद रँग से पूरक-शैली में अंकित एक अश्वारोही की मूल पर आधारित अनुकृति जो इससे पूर्व प्रकाशित नहीं हुई है। विषय-वस्तु पूर्वोक्त चित्र की ही है परन्तु रचना-विधि और शक्तिमत्ता में पर्याप्त अंतर है। यह चित्र ज्यामितिकता रहित सामान्य ढंग से बना है। कानों और पूँछ के बालों को अतिरंजित सरलता से प्रायः एक जैसी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अश्व-मुख में किंचित् रिक्तता छोड़कर संभवतः आँख का आभास कराया गया है। पैर अनगढ़ हैं और सम्मुख-दृष्टि से अंकित सवार की कशाघात-मुद्रा पूर्व चित्र की अपेक्षा कम स्वाभाविक है। फिर भी इसकी रचना अपनी विधि से पूर्ण है। दायीं ओर ऊपर एक पशु का शीश (पूरे का अंश) और नीचे गिरते हुए तीन-चार बाण प्रदर्शित हैं। एक बाण अर्धचन्द्रयुक्त है। इमलीखोह के एक युद्ध-दृश्य (खण्ड ६, फलक V, चित्र सं० २) में भी ऐसा ही बाण चित्रित है।

चित्र सं०—२

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० १० के मध्यवर्ती निचले भाग में गेरुए रंग से अंकित अर्ध-स्पष्ट चित्र की मूल पर आधारित अनुकृति जिसमें क्रमशः उठे हुए आकर्षक केश-विन्यास वाला आरोही दोनों हाथों में विचित्र अस्त्र लिए पूरक शैली में चित्रित है। जिस पशु पर वह सवार है उसमें ऐसा कोई लक्षण नहीं है कि उसे अश्व कहा जा सके। उसके

चारों पैर नुकीले और गतियुक्त बनाये गये हैं। पशु की रचना-विधि सवार से कई रूपों में भिन्न है। सवार को बैठाने की विधि चित्रण की आदिम अवस्था सूचित करती है। पशु को पार्श्व दृष्टि से और आरोही को सम्मुख-दृष्टि से परिकल्पित किया गया है।

फलक IV

चित्र सं०—१

निम्बूभोज (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय पर पूरक शैली में सफेद रंग से अंकित एक अश्वारोही और उसके सेवक का चित्र जिसमें सवार घोड़े से उतर कर त्वरा से पैदल चल रहा है। उसके उठे हुए हाथ में लम्बी तलवार है। उसका तरकस घोड़े की काठी से संलग्न है। सेवक एक हाथ से घोड़े को सम्हाले हुए है तथा दूसरे से उसका धनुष थामे है। उसकी कमर में भी लम्बी और आगे को कुछ टेढ़ी तलवार लगी हुई है। उचके हुए कन्धे तथा छोटा आकार उसकी विनम्रता और हीनता को सूचित करते हैं। सवार उसकी तुलना में लगभग दुगना ऊँचा है। उसके पैर तीव्र गति से युक्त हैं जबकि अश्व नितान्त गतिहीन अवस्था में चित्रित है। घोड़े की अयाल और पूँछ फलक I के चित्र की तरह शैलीबद्ध किन्तु आकर्षक ढंग से बनी हुई है। उसका देह-भाग डमरूवत् बीच में संकीर्ण बनाया गया है। केवल अश्व-मुख को छोड़कर सारा चित्र पूरित है। घोड़े के पैरों को मनुष्य के पैरों जैसा आगे निकला हुआ अंकित किया गया है। यह भी शैली के आग्रह का ही परिणाम है। गॉर्डन ने इसे भी देखा अवश्य होगा पर अनुकृत नहीं किया। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के प्रवेश द्वार से ही प्रमुख रूप में दीखने वाला, ऊँचे पर, मटमैले सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित ढाल और खाँडाधारी एक आरोही जिसके पशु की आकृति से ज्ञात नहीं होता कि वह कौन-सा पशु है। पतली पूँछ, एकशफ और ऊँट जैसी लम्बी गर्दन और छोटा मुँह सभी कुछ विचित्र लगता है। पशु पार्श्व-दृष्टि से और सवार सम्मुख-दृष्टि से अंकित है। उसकी उठी हुई शिरोभूषा और काँटेदार ढाल के उभार विशेष ध्यान आकृष्ट करते हैं। लगाम भी विचित्र रूप से प्रदर्शित की गई है। एक सवार की कमर से और दूसरी पशु के पैर तक आती हुई उसके वक्ष से संलग्न है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक V

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के सुप्रसिद्ध शिलाश्रय नं० X पर अंकित सशस्त्र अश्वारोहियों का एक समूह जिसमें तीन सवारों के साथ एक पैदल योद्धा भी प्रदर्शित किया गया

है। तीनों अश्वारोहियों के हाथ भिन्न-भिन्न मुद्राओं में खड्ग धारण किये हैं। उनकी पीठ के पीछे लटकती हुई वृत्ताकार वस्तु ढाल प्रतीत होती है। तीनों एक-एक हाथ से घोड़े की रासें पकड़े हुए हैं और घोड़ों की ग्रीवाएँ भी तीन विभिन्न भंगिमाओं में चित्रित हैं। सभी के पैरों से गतिशीलता व्यक्त होती है। अगला सवार घोड़े को मोड़ने की चेष्टा में स्वयं पीछे झुका हुआ है। उसके हाथ का खड्ग त्रिशूल जैसा है। खड्गों के स्वरूप की असमानता इस अनुमान के लिए आधार प्रस्तुत करती है कि वे सम्भवतः धातु-विनिर्मित न होकर काष्ठ और लघु पाषाणास्त्रों के योग से बने हुए होंगे। अन्य चित्रों से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। सभी योद्धा कमर में एक अन्य अस्त्र धारण किये हुए हैं जो छोटा है और चित्र में जिसकी मूठ और नोक ही प्रदर्शित है। घोड़े काठी और रकाब आदि के बिना चित्रित हैं। इस स्थिति से उनके आदिम उपयोग का प्रमाण मिलता है। प्रस्तुत छायाचित्र मूलचित्र की रेखानुकृति पर आधारित है।

फलक VI

मान्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के तीसरे और चौथे शिलाश्रय की सन्धि पर अंकित गहरे लाल रँग के अश्वारोही पर आक्षिप्त श्वेतबिंदु-युक्त हलके लाल रँग का एक अन्य अश्वारोही। शैली-शिल्प, वर्ण-विधान और कलात्मक आकल्पन सभी दृष्टियों से यह दोनों चित्र अप्रतिम और महत्वपूर्ण हैं। निचले चित्र का घोड़ा छोटी जाति का टट्टू जैसा है जबकि ऊपर वाले आक्षिप्त चित्र का अश्व ऊँची जाति का दीर्घ स्फूर्तिमय सुगठित शरीर वाला है। पहले में अयाल के रेखाबद्ध संतुलित वृत्ताकार अनुक्रम का सौन्दर्य है तो दूसरे में श्वेत बिंदुओं, अलंकरण पंक्तियों का। पहले में सवार एक हाथ में ऐंठे हुए पंजे जैसा एक विचित्र प्रकार का अस्त्र लिये हुए है परन्तु दूसरे में उसका अस्त्र वाला हाथ मिट गया है। दोनों सवार दूसरे हाथ से अपने-अपने घोड़े की लगाम प्रायः एक ही विधि से थामे हुए हैं। नीचे के चित्र में सवार के पैर घोड़े के शरीर के नीचे निकले हुए चित्रित नहीं लगते। ऊपर वाले चित्र में न केवल पैर निकले हुए चित्रित हैं वरन् सफेद रेखाओं से उन्हें घोड़े के देह भाग पर ज्यामितिकता के साथ उभारने का भी यत्न किया गया है। छोटे घोड़े का मुँह अनुपात में जितना बड़ा बना है, बड़े घोड़े का उतना ही छोटा दिखाई देता है, उसके पैर भी पतले और अधिक त्वरा-युक्त हैं। मूलचित्र में उसका रूप इससे भी अधिक आकर्षक है। यद्यपि रँग काफी धुँधला पड़ गया है। छोटे घोड़े के कान प्रदर्शित नहीं हैं और बड़ा घोड़ा बिना अयाल का बनाया गया है। दोनों की मुद्रा एक होते हुए भी भंगिमा में अन्तर है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक VII

चित्र सं०--१

लिखनिया--१, (मिर्जापुर) के गजाखेट वाले प्रसिद्ध दृश्य के अन्तर्गत प्रदर्शित सशस्त्र अश्वारोहियों का पृथक् अंकन, मूल से ही अनुकृत । अश्वारोही सम्मुख-दृष्टि से और अश्व पार्श्व-दृष्टि से बनाये गये हैं। बीच वाला पैदल सिपाही सम्मुख-दृष्टि से ही चित्रित है। घोड़ों के अवयवों का उभार, पतले पैर, दीर्घाकार देह तथा त्रिकोणात्मक नुकीला मुख शैलीबद्ध होते हुए भी आकर्षक लगता है। सम्पूर्ण दृश्य की तरह यह अंग भी गेरुए रँग से पूरक शैली में अंकित है।

चित्र सं०--२

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के एक शिलाश्रय पर रेखांकित एक रोचक अश्वारोही जिसके एक हाथ में कमल जैसे फलक वाला भारी आकार का भाला है और दूसरा अपूर्ण है। सवार का ऊर्ध्वभाग ही एक त्रिकोण रूप में प्रदर्शित है। उसकी शिरोभूषा उसी प्रकार की घूमी हुई रेखाओं से विनिर्मित है जैसी घोड़े की अयाल-रचना में प्रयुक्त है। ग्रीवा अर्ध-वृत्ताकार मुड़ी हुई और अतिरंजित रूप में चित्रित है। आँख के प्रदर्शन से चित्र में सजीवता आ गयी है। पिछले पैर अगले पैरों की अपेक्षा स्वाभाविक किन्तु भारी बने हैं। पुच्छ का अंकन नहीं हुआ है। भाले के समीप आयताकार वस्तु का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। प्रस्तुत रेखानुकृति श्यामकुमार पाण्डे द्वारा की गई प्रतिकृति पर आधारित है।

फलक VIII

चित्र सं०--१

नरयावली (सागर) के शिलाश्रय से श्यामकुमार पाण्डे द्वारा की गई बाह्यरेखानुकृति पर आधारित प्रतिकृति जिसमें एक अश्वारोही हाथ में ढाल लिए चित्रित है। उसके दूसरे हाथ की स्थिति, बिंदु-रेखाओं के संकेत के अनुसार लगाम थामने की है जिसकी संगति मुख से कण्ठ तक आती हुई सीधी रेखा से प्रकट है। आरोहित पशु बड़े कानों और काठी के उभार से ही अश्व प्रतीत होता है, अन्यथा उसका चित्रण शिथिल और अनभिव्यंजक ढंग से हुआ है। आरोही की शिरोभूषा, पशु में शिश्न-प्रदर्शन विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। काठी का पूर्व निर्दिष्ट उभार आरोही के घुटनों के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है जैसा फलक III, चित्र सं० २ से स्पष्ट है। फलक III चित्र सं० १ की तरह पशु के अधोभाग तक आरोही के पैर प्रदर्शित न होने से ऐसा अनुमान आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। चित्र के पूरक शैली में होने के कारण रूप-बोध की यह कठिनाई उपस्थित हुई है।

चित्र सं०—२

मेह्यू पीप (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के अंक १० में प्रकाशित रेखानुकृति पर आधारित प्रतिकृति जिसमें खड्गधारी अश्वारोही की त्वरायुक्त मुद्रा और अश्व की गतिशीलता द्रष्टव्य है। पिछले दोनों पैर पार्श्वदृष्टि के आग्रह से एक में ही प्रदर्शित हैं किन्तु अगले पृथक्-पृथक्। आँख तथा पूँछ के उड़ते हुए केशों का प्रदर्शन विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। लगाम थामे हुए हाथ कोहनी के पास असम्बद्ध है जो संभवतः शिलाचित्र की अस्पष्टता का सूचक है।

चित्र सं०—३

गॉर्डन ने इस चित्र को सा० क०, अंक १०, 'प्लेट ४, बी' के रूप में प्रकाशित करके इसके परिचय में स्थान-निर्देश करते हुए डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) का उल्लेख किया है। यही नहीं, उन्होंने उत्तर द्वितीय श्रेणी के घुड़सवार पर आक्षिप्त प्रारम्भिक चतुर्थ श्रेणी का घुड़सवार कहकर इसके श्रेणी-क्रम का निर्देश भी कर दिया है। जिस फलक पर यह चित्र मुद्रित है उसी पर पहले 'प्लेट ४, ए' के रूप में होशंगाबाद का हाथी वाला चित्र छपा हुआ है। जिस घुड़सवार पर यह आक्षिप्त है वह और यह दोनों शैली की दृष्टि से होशंगाबाद के प्रतीत होते हैं क्योंकि घोड़े के अयाल का क्रमबद्ध चार खानों की ज्यामितिक पद्धति से अंकन वहीं के चित्रों की प्रमुख विशेषता है। (द्रष्टव्य, आगे फलक IX, चित्र सं० १)। ऊपर वाले भाले के नीचे उस चित्र का पृष्ठ-भाग प्रदर्शित है जिस पर प्रस्तुत चित्र आक्षिप्त है।

फलक IX

चित्र सं०—१

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के सर्वप्रसिद्ध शिलाश्रय नं० १० पर चटक कत्थई रँग से क्षेपांकन-शैली में अंकित है और यह शैली इस शिलाश्रय के विविध स्तरों में लक्षित सभी शैलियों से पृथक् और विशिष्ट है। इसमें ज्यामितिकता और शक्ति भी सबसे अधिक दिखायी देती है। अयाल-चित्रण की विशेषता की ओर पूर्व-चित्र के परिचय में निर्देश किया जा चुका है। इस चित्र में उसके अतिरिक्त घोड़ों के नासा-रंध्रों से निःसृत लहराती हुई रेखाएँ तथा पेट के नीचे रकाब के स्थान पर बना हुआ विचित्र आकार सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करता है। सम्भवतः यह सज्जा की वस्तुएँ हैं। सवार के सिर पर और दोनों बग़लों में भी सज्जा की वस्तुओं का ही चित्रण है जो उसके वेश-विन्यास का अंग है। अश्वारोही सम्मुख-दृष्टि से और अश्व पार्श्व-दृष्टि से अंकित है, सवार के एक हाथ में बड़ा भाला जो घोड़े की पीठ से सम्बद्ध कर दिया गया है तथा दूसरे हाथ में कुछ खिंची हुई रास है। घोड़े की गर्दन उसी

के अनुरूप झुकी हुई है। वह उठी हुई पूँछ की तरह पैरों की गतिशीलता से भी संगति रखती है। मूल से अनुकृत।

चित्र सं०—२

मिर्ज़ापुर में भल्डरिया नदी के कगार पर स्थित हरीवाले बाबा के स्थान के सामने के शिलाश्रय की बायीं ओर निचले भाग से अनुकृत एक अश्वारोही की आकृति जिसमें उसकी भंगिमा विशेष द्रष्टव्य है। उसके पीछे का रेखा-जाल चित्र से असम्बद्ध है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक X

चित्र सं०—१

मान्टेरोजा (पँचमढ़ी) के बायें किनारे के शिलाश्रय पर अनेक सफेद रंग के चित्रों के समीप लाल गेरुए रँग से अंकित एक छोटे चित्र तथा उसी स्थान के निकट भूमि पर उत्कीर्ण लगभग वैसे ही छोटे एक अन्य चित्र की क्रमश: प्रस्तुत रेखानुकृतियाँ जिनमें दण्ड-धारी अश्वारोही प्रदर्शित हैं। दोनों में घोड़े के अगले पैरों की रचना-विधि तथा सवार की हाथ उठाने की मुद्रा प्राय: समान है। शिरोभूषा, सवार के पैरों के निरूपण आदि में भेद भी लक्षित होता है। भारतीय शिलाचित्रों के निकट उत्कीर्णन के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं अत: यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, शैली-साम्य के कारण महत्व और भी बढ़ जाता है। गॉर्डन इससे परिचित नहीं थे। उत्कीर्ण चित्र की खोज तब हुई जब पाण्डे-मुकर्जी मेरे साथ मान्टे-रोजा के चित्र देखने गये थे। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

यह झूलदार घोड़े के सवार की रेखानुकृति गॉर्डन द्वारा प्रकाशित रेखाचित्र पर आधारित है। इसी के नीचे उन्होंने झालई के एक आरोही की आकृति को अजन्ता की पहली गुफा के एक चित्र के साथ प्रस्तुत करते हुए दोनों के पट्टीदार वक्ष-पट्टों में सादृश्य प्रदर्शित किया है। ऊपर वाले अश्व के शिरोपट्ट भी उसी प्रकार पट्टीदार बनाये गये हैं। ऐसी समानता के कारण ही वे पँचमढ़ी के समस्त शिला-चित्रों को बहुत प्राचीन मानने के विरुद्ध हो गये। अश्वारोही के चित्र में झूल को भी पट्टीदार ही चित्रित किया गया है परन्तु उन्हें पूर्वोक्त पट्टियों की तरह क्रमश: पूरित नहीं किया गया है। घोड़े के अगले दोनों पैर प्रदर्शित हैं किन्तु पिछला पैर एक ही बनाया गया है जो पार्श्व-दृष्टि से दोनों की स्थिति व्यक्त करता है।

फलक XI

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के एक शिलाश्रय की छत में सफेद रँग से अंकित दो बड़े पशु जिनमें पहला गर्दभ जैसे लम्बे कानवाले अश्व का है जिस पर आरोही भी अंकित है। वह दोनों हाथों में ढाल और खड्ग लिये वाहन की पीठ पर खड़ा चित्रित किया गया है। घोड़े की लगाम बनायी गयी है परन्तु उसे कंठ तक लाकर छोड़ दिया गया है। अयाल और ढाल की कीलें प्रायः समान रूप से उभरी हुई अवस्था में प्रदर्शित हैं। पूँछ के बालों में ऐसी शैली-बद्धता लक्षित नहीं होती। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

यह चित्र भी जम्बूद्वीप का ही है। चटक सफेद रँग के बारहसिंगे के समीप ऊपर की ओर लाल बाह्यरेखाओं वाली श्वेत-पूरक शैली में गतिशील झूलदार घोड़े पर एक सवार चित्रित है जिसका साम्य पूर्व फलक के दूसरे चित्र से स्पष्ट है। इसमें झूल की दो पट्टियाँ पूरक रूप में भी प्रदर्शित हैं। घोड़े की प्रधावित मुद्रा अधिक सजीव और स्वाभाविक है। मूल से अनुकृत।

फलक XII

चित्र सं०—१, २

यह दोनों आरोहण-चित्र विढम (मिर्ज़ापुर) के नवज्ञात शिलाश्रय पर गहरे गेरुए रँग से पूरक शैली में अंकित हैं और अब बहुत अस्पष्ट हो गये हैं। सीलन पाने पर ही पूरी तरह दिखायी देते हैं। दोनों चित्रों में आरोहण-मुद्रा एक होते हुए भी आरोहियों और पशुओं में अंतर है, पहले में वक्ष और शिरोभूषा से आरोही स्त्री तथा दूसरे में इनके अभाव और विन्यास-भेद से वह पुरुष सिद्ध होता है। पहले में पशु का पुरुष-चिह्न निर्दिष्ट है दूसरे में इसका अभाव है। संभव है उसे मादा पशु बनाने का भाव रहा हो। ऐसी दशा में आरोही और आरोहण पशु के लिंग-भेद को अर्थपूर्ण और आकस्मिक दोनों ही रूपों में ग्रहण किया जा सकता है। अर्थपूर्ण मानने पर इन चित्रों का महत्त्व बढ़ जाता है। स्त्री का पिछला हाथ अर्ध स्पष्ट है किन्तु अगले में चार रेखाओं से उँगलियों का सशक्त आभास दिया गया है। पुरुष का अगला हाथ पशु के शीश पर और पिछला शक्ति-प्रदर्शन की मुद्रा में उठा हुआ है। मुख का आकार ऐसा है जैसे वह किसी पशुमुखी आच्छादन से युक्त हो। पशु के अगले पैरों के पास चित्रित दो रेखाएँ प्रस्तुत चित्रित से सम्बद्ध नहीं लगतीं। दोनों चित्रों में पूँछ का आलेखन खजूर के पत्ते की तरह हुआ है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XIII

कोहबर (मिर्जापुर) के मुख्य शिलाश्रय में सामने की भीतरी दीवार के मध्यमार्ग में गेरुए रँग से प्राय. पूरक शैली में अंकित आरोही-युग्म। आरोहित पशु का मुख इतना चौड़ा बना है कि किसी ज्ञात जाति से उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता। आरोही पीठ पर खड़े चित्रित किये गये है जिससे पशुओं की विशालता तथा आरोहण-विधि की विचित्रता दोनों ही प्रकट होती है। पहले आरोही का एक हाथ अर्ध-प्रदर्शित है और दूसरा कुछ फेंकने या फेंक चुकने की मुद्रा में है। अन्य आरोही बिना हाथ के ही अंकित किया है अथवा उसके हाथ मिट गये है। चित्र में नीचे की ओर चार विभिन्न प्रकार की मानवाकृतियाँ पर्यवेक्षकों के रूप में अथवा सह-नर्तन की मुद्रा में साथ-साथ आलिखित हैं। दायीं ओर वाली आकृति लाँगूल जैसी वस्तु से विभूषित है। बायी ओर से दूसरी आकृति वेश-विन्यास से स्त्री की प्रतीत होती है। ये चारों आरोहण दृश्य से असम्बद्ध भी हो सकती हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XIV

चित्र सं०—१

लिखनिया–१ (मिर्जापुर) में जीवाकृति वाले एक चित्र (द्र० खंड–२, फलक XXXI चित्र स०४) के नीचे के शिलाभाग में आलिखित एक अन्य आरोही युग्म जो स्वयं सशस्त्र है तथा उसके आगे-पीछे कई और सशस्त्र मानवाकृतियाँ चित्रित है। दोनों आरोहियों की मुद्रा प्रायः समान है। ऊपर वाला आरोहित पशु पुच्छ-विहीन अंकित है जबकि नीचे वाले की पुच्छ विशेष भंगिमा के साथ उठी हुई प्रदर्शित की गयी है। सारी आकृतियाँ गेरुए रँग से पूरक शैली में बनी हुई है। सबसे नीचे की ओर हाथ की छाप जैसा एक आकार भी लक्षित होता है परन्तु वह सामान्य रूप से प्राप्त क्षेपांकन विधि वाली छापों से भिन्न प्रकार का है। सम्भवतः वह प्रस्तुत चित्र से असम्बद्ध है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

महड़रिया (मिर्जापुर) मे अनुकृत एवं घोष द्वारा मोनोग्राफ में प्रकाशित (XXI.G.) चित्र की बाह्यरेखानुकृति जिसके परिचय में घोष ने पशु को ऊँट बताया है। उनकी यह धारणा सही नहीं है। ग्रीवा, शिश्न और पुच्छ तीनों का आकार ऊँट से भिन्न है और कुत्ते जैसे किसी अन्य पशु का बोध कराता है। आरोही का स्वरूप मिटा हुआ है। उसकी स्थिति पीठ पर बने अवशेष चिह्नों मे प्रकट होती है। पशु के गले के पास की पतली रेखा रास की द्योतक हो सकती है। मूल चित्र पूरक शैली का लगता है।

फलक XV

चित्र स०—१

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० ३ से अनुकृत एवं गॉर्डन द्वारा सा० क० की दसवी वाल्यूम में प्रकाशित चित्र पर आधारित वाह्यरेखानुकृति जिसमें महावत सहित तीन वीर हाथी पर चढ़कर कही जा रहे हैं। महावत के हाथ में अंकुश न होकर एक दीर्घ दंड है जिससे वह हाथी की सूँड पर प्रहार कर रहा है। पिछला आरोही ढाल लिये हुए है। वीच वाली दोनों मानवाकृतियाँ हाथ उठाये प्रसन्न मुद्रा में अंकित हैं। हाथी के आगे एक निरस्त्र मार्ग-दर्शक और पीछे एक सशस्त्र योद्धा प्रदर्शित है जो सामान्यतया रक्षक प्रतीत होता है। पर जिस रूप में पिछला आरोही झुककर अपनी ढाल उसके तलवार लिये हाथ की ओर किए है, उससे वह आक्रामक ही अधिक सिद्ध होता है। हाथी को त्वरा से चलाने की चेष्टा इस अर्थ से अधिक संगति रखती है। गॉर्डन ने इसे युद्ध-दृश्य के रूप में ही ग्रहण किया है। उस अर्थ-दृष्टि से इसे युद्ध-दृश्य वाले खण्ड में समाविष्ट किया जा सकता था परन्तु इसमें युद्ध की अपेक्षा गजारोहण अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से चित्रित है और इसी विशेषता के कारण इसे प्रस्तुत खंड में रक्खा गया है।

चित्र सं०—२

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के नवज्ञात शिलाश्रय पर वायीं ओर सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित एक दण्डधारी गजारोही की वाह्यरेखानुकृति जिसमें हाथी को सामान्य रूप से प्रदर्शित किया गया गया है। पँचमढ़ी तथा आदमगढ़ के अनेक शिलाश्रयों पर जो गज-चित्र अंकित मिलते हैं उनमें प्रायः उठे हुए कानों और निकले हुए दाँतों वाले हाथी ही अधिक मिलते हैं। वह रूप उनकी वन्य प्रकृति को सूचित करता है। इसमें न कान वनाये गये हैं न दाँत, जिससे हाथी का पालतूपन अभिव्यञ्जित माना जा सकता है। चित्रणगत इस अभाव को चित्रकार की हीन आकलन-क्षमता के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि पालतू हाथियों के चित्रण में कान और दाँत वरावर अंकित मिलते हैं। पूरा चित्र गतिशीलता से रहित है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फ

1

2

1.

अ० आ०, फलक–VI

1.

2.

2.

3.

अ० आ०, फलक–VIII

1.
2.

1.

2.

Jhalai

Ajanta Cave I

2.

अ० आ०, फलक–XIII

1.

2.

1.

2.

अ० आ०, फलक–XV
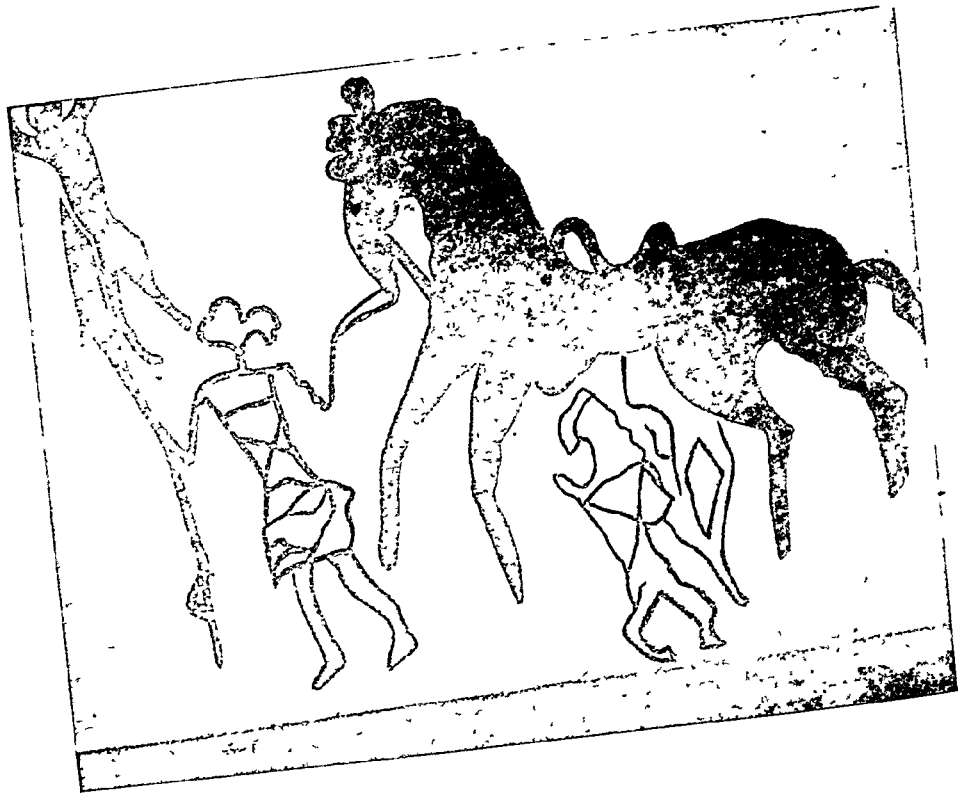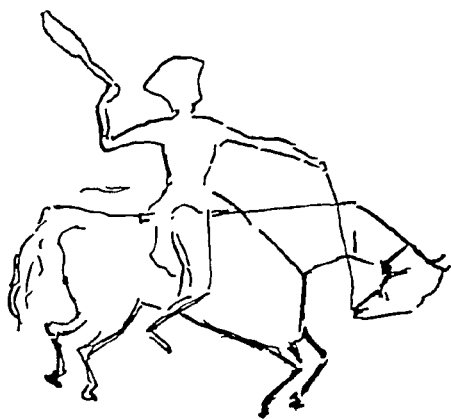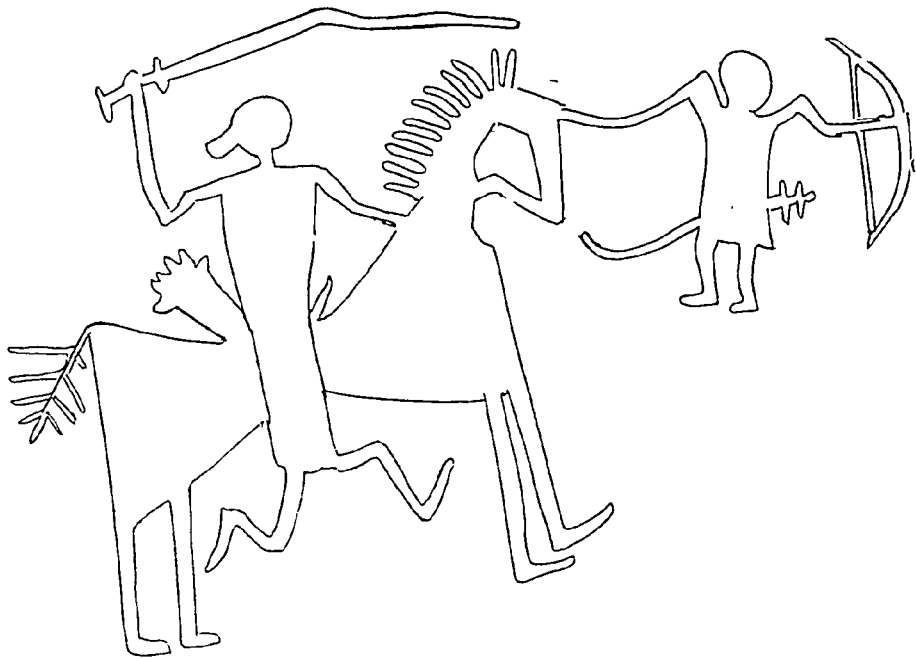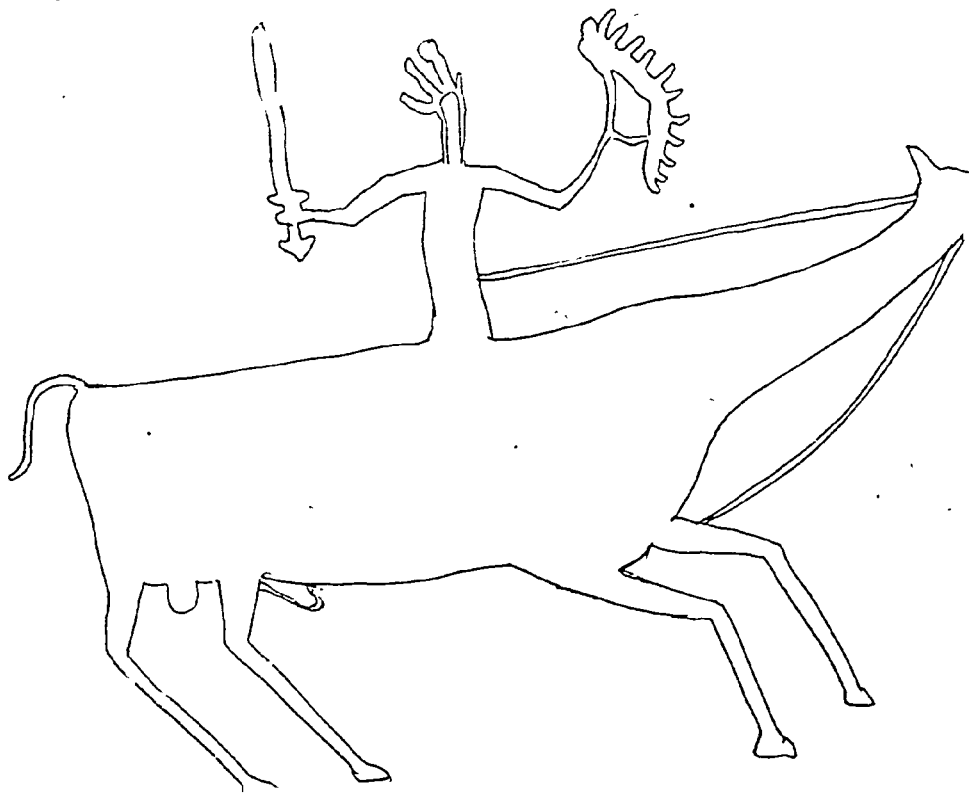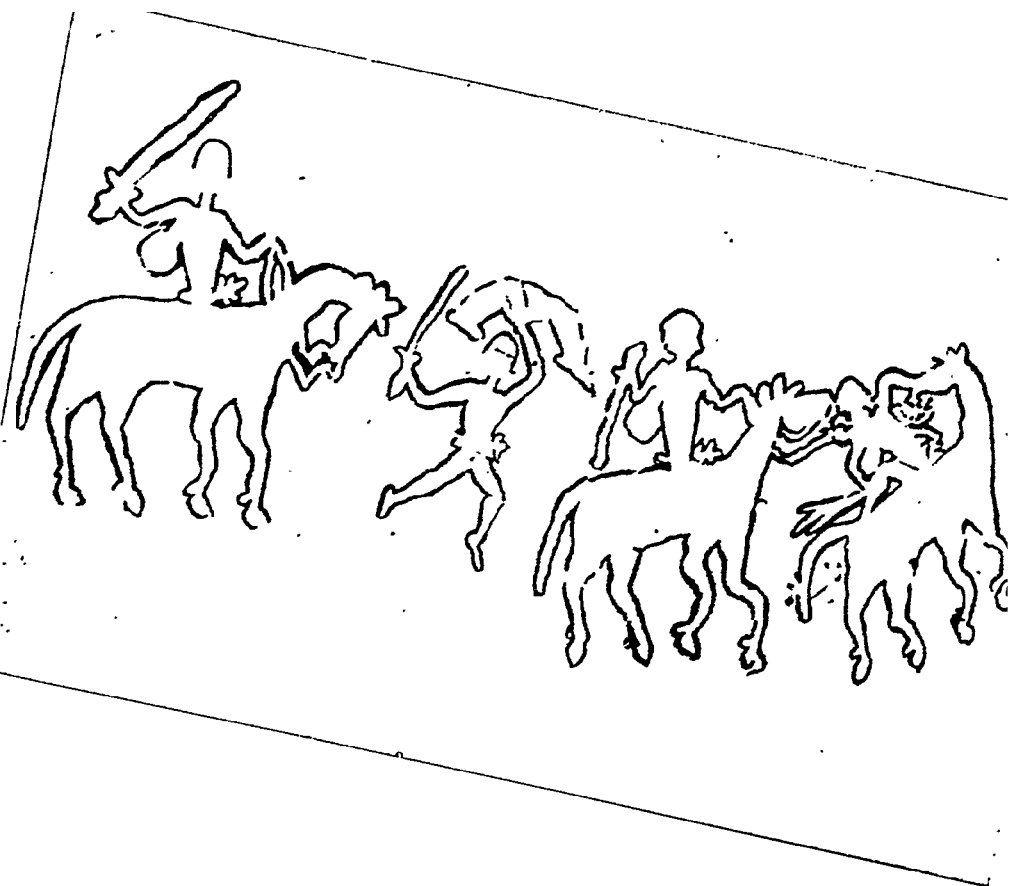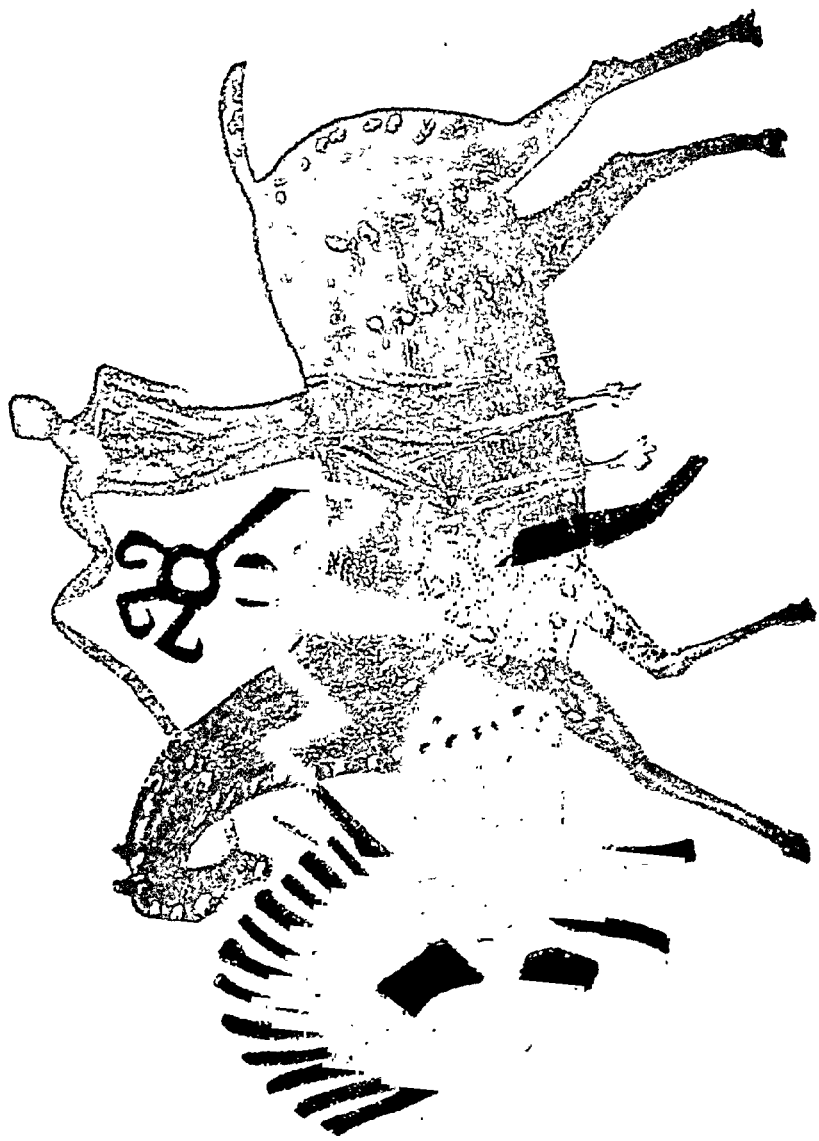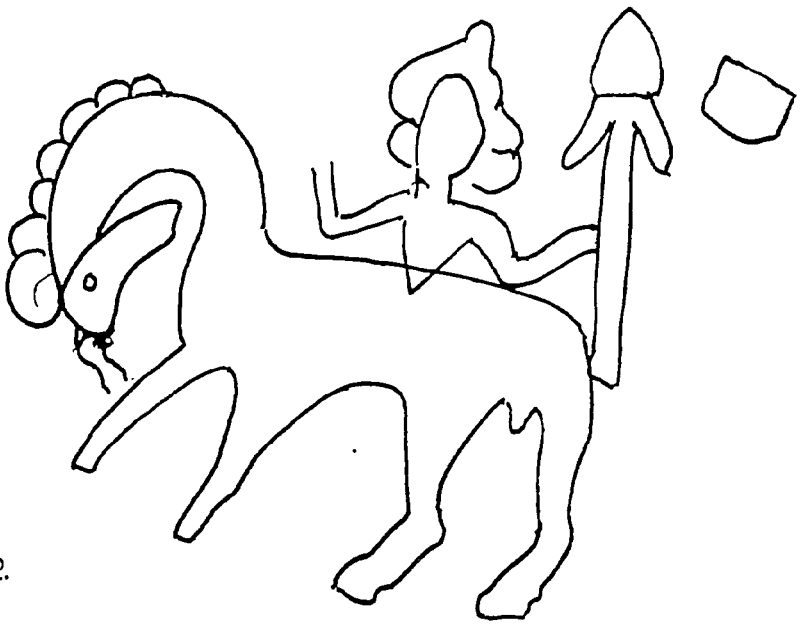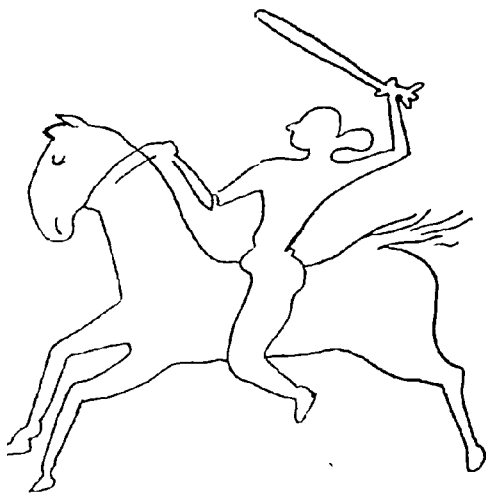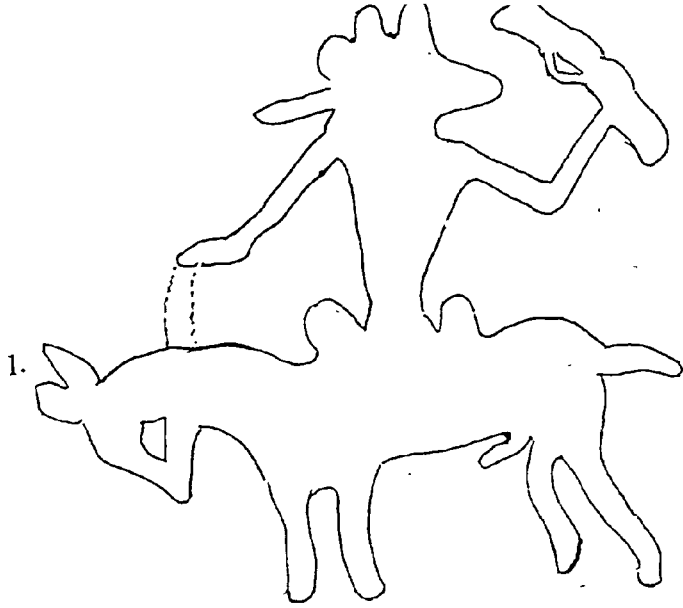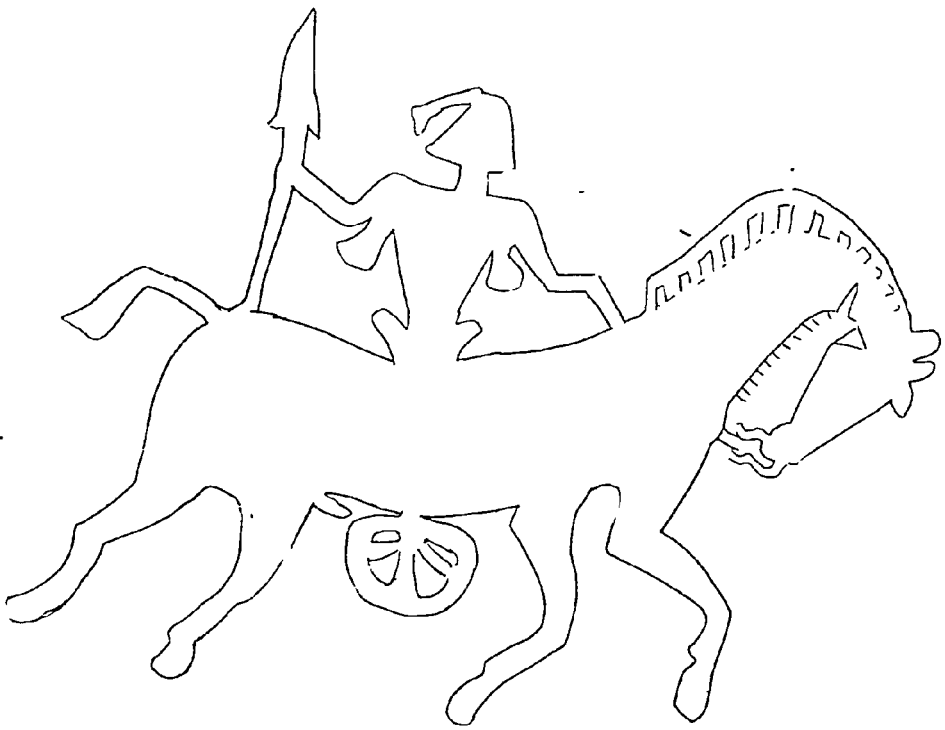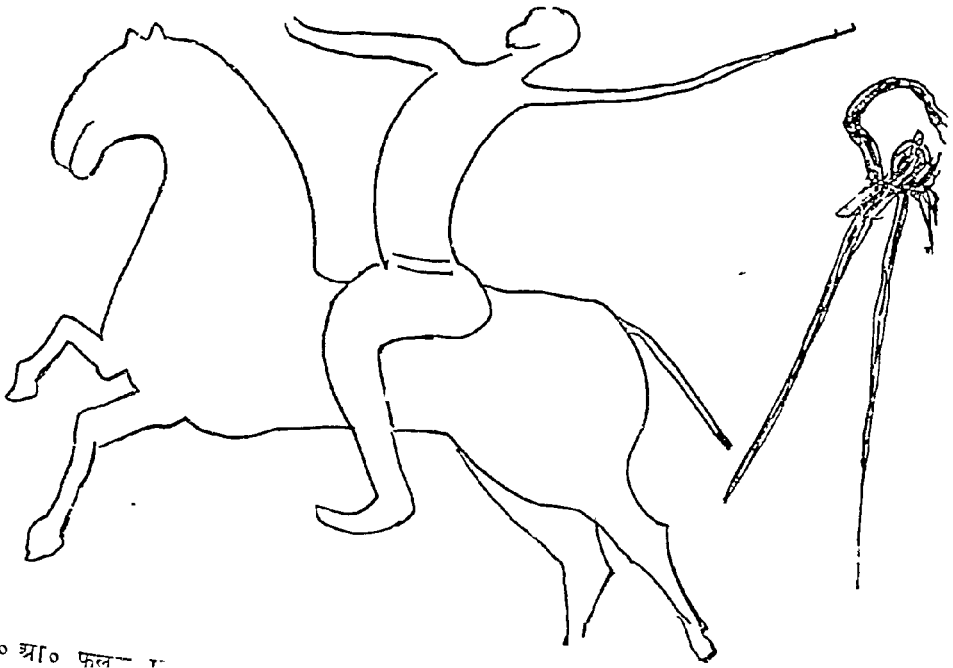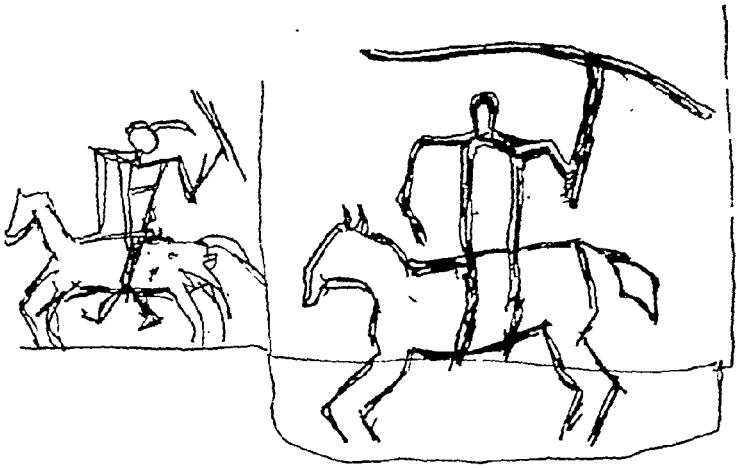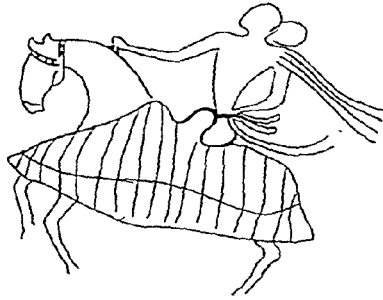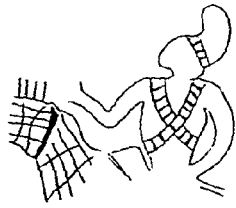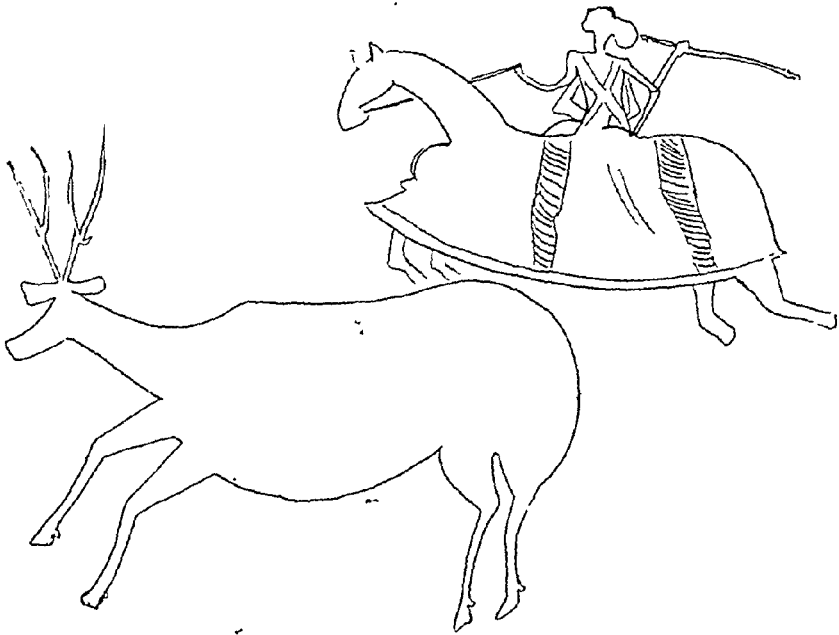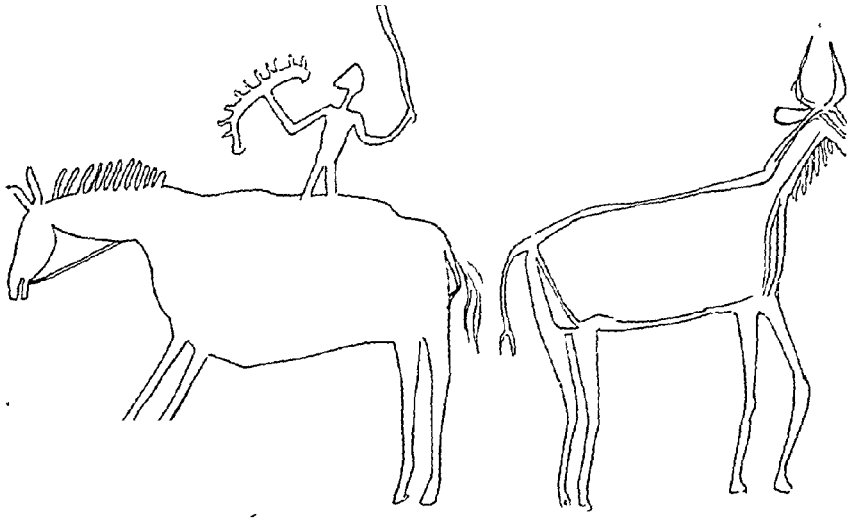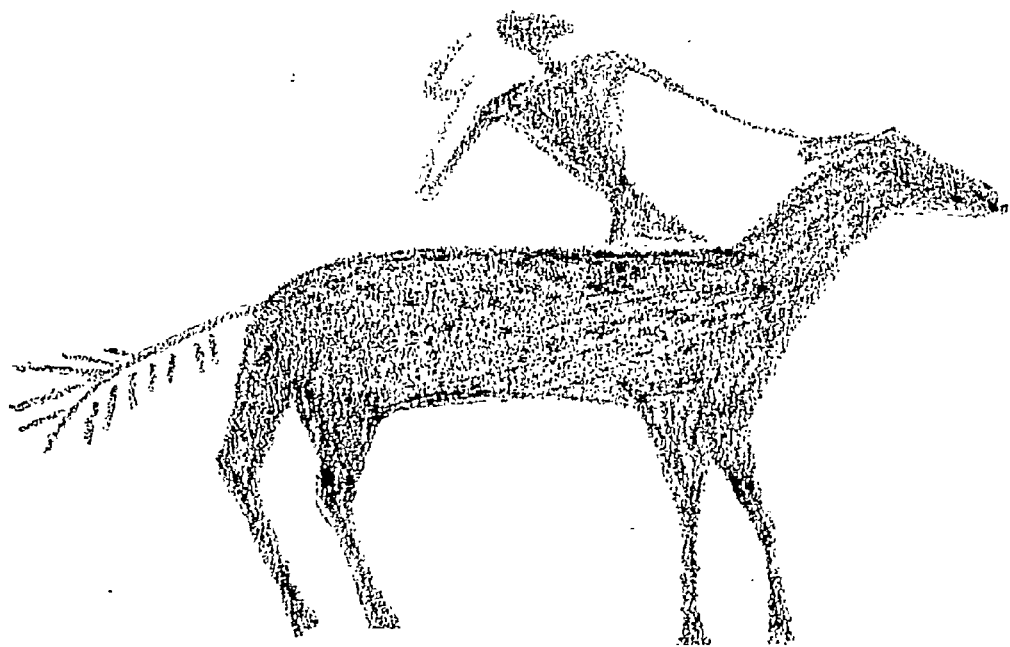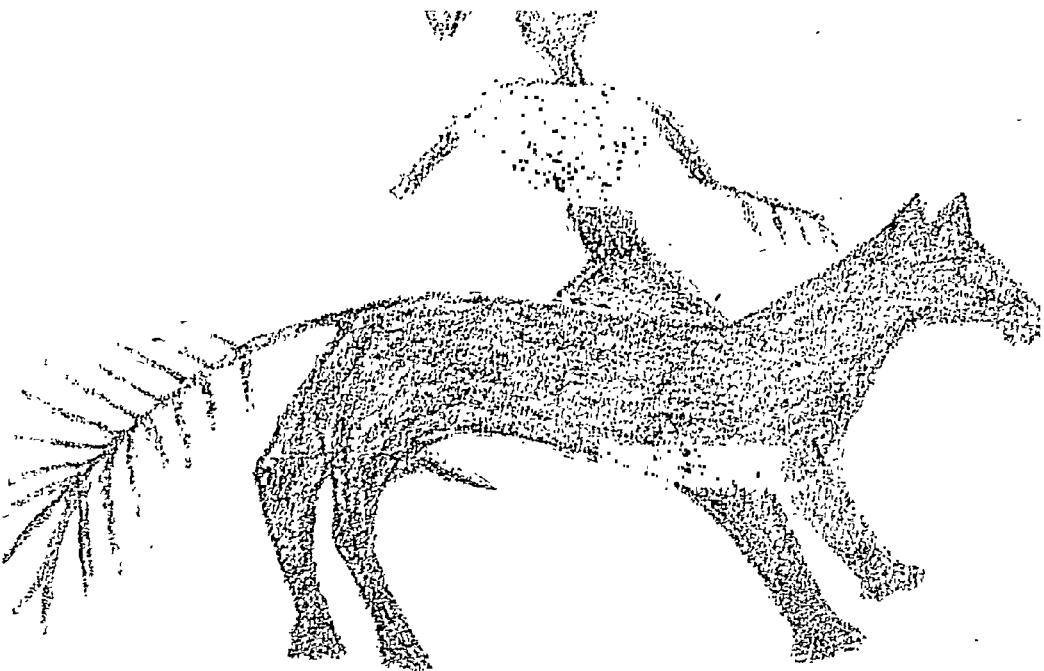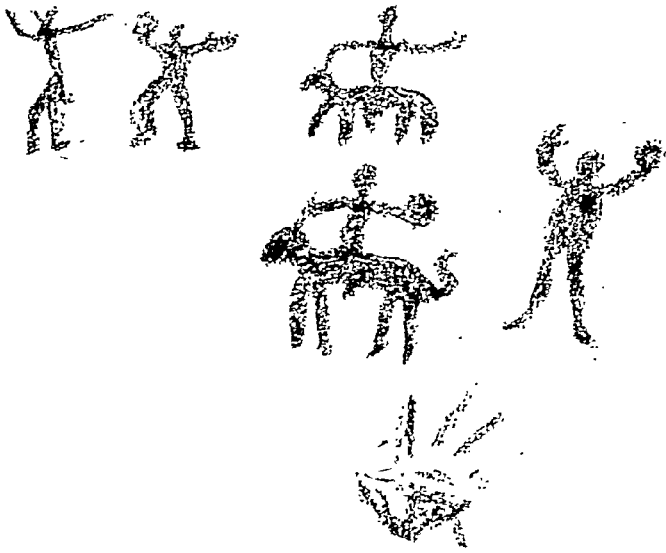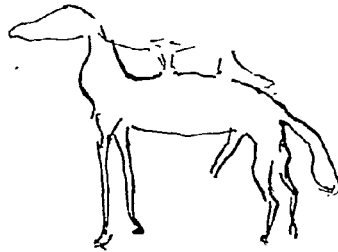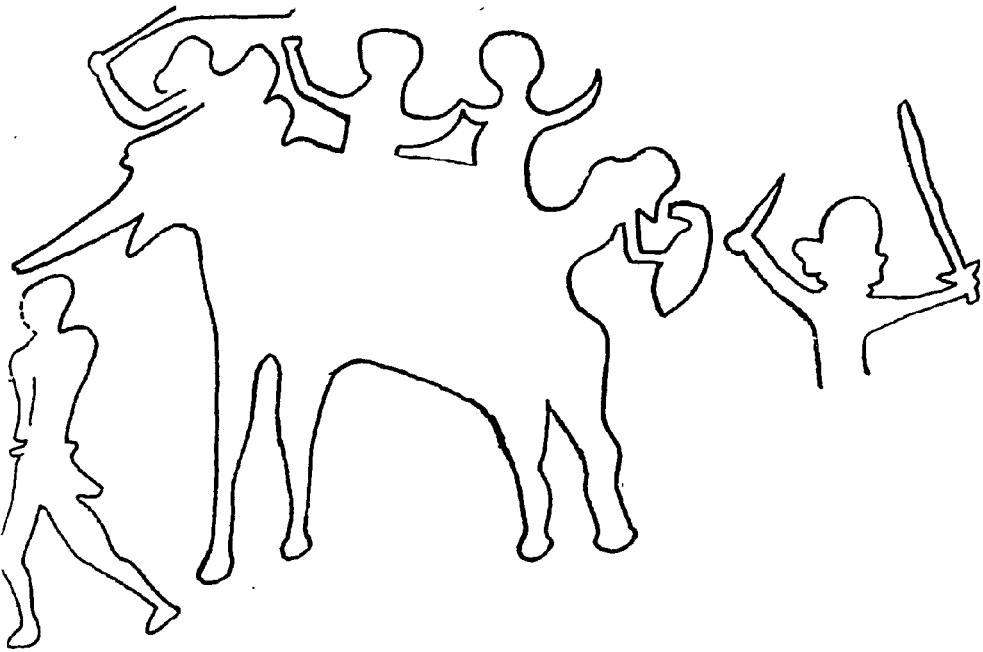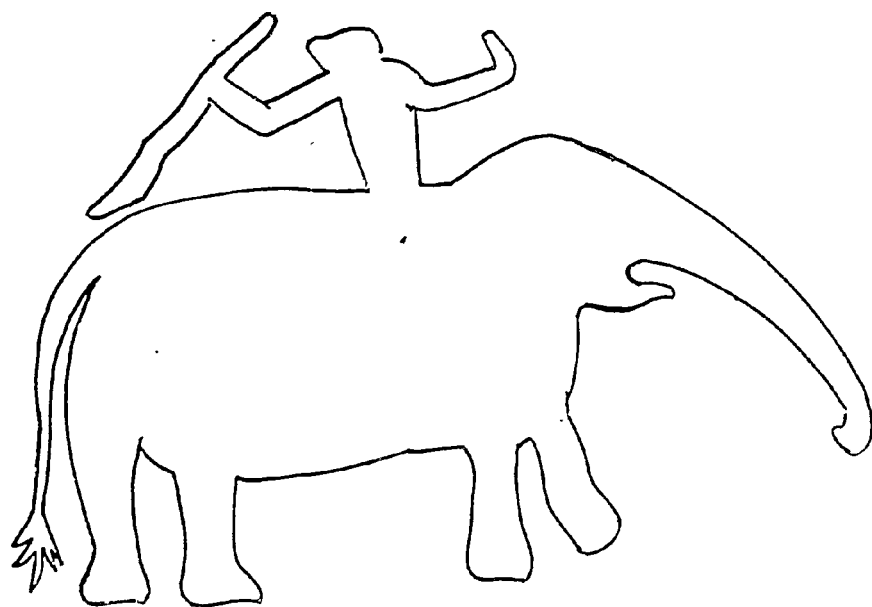
युद्ध-दृश्य

चित्र-खंड—६

पँचमढ़ी-क्षेत्र में स्थित जम्बूद्वीप के शिलाश्रय नं० ३ पर अंकित एक युद्ध-दृश्य जिसमें अश्वारोहियों के समक्ष शत्रु-सेना का नायक पराभूत हो गया है। इस चित्र की अनुकृति एवं प्रकाशन का प्राथमिक श्रेय गॉर्डन को है। प्रस्तुत बाह्य रेखानुकृति उन्हीं के द्वारा प्रकाशित चित्र पर आधारित है।

युद्ध-दृश्य

युद्ध और संघर्ष की प्रवृत्ति अहं की चेतना से युक्त सभी प्राणियों में सहज रूप मे लक्षित होती है अतः यह स्वाभाविक ही है कि शिलाचित्रों के क्षेत्र में भी इसकी बहु-विध अभिव्यक्ति हुई हो। अस्त्रधारियों और आरोहियों से सम्बद्ध पूर्ववर्ती खंड IV और V की सामग्री उस वातावरण का यथेष्ट परिचय दे देती है जिसमें जीवन-संघर्ष मनुष्य और पशु के बीच से हटकर मनुष्य-मनुष्य के बीच केन्द्रित हो गया था। कोई युग ऐसा रहा होगा जब मनुष्यों में पारस्परिक संघर्ष न हुआ होगा, ऐसा सोचना अवास्तविक लगता है क्योंकि सारे परिवर्तन के रहते हुए भी मानव-प्रकृति में कुछ स्थायी तत्त्व स्पष्ट दिखायी दे जाते हैं। यह दूसरी बात है कि युग विशेष की कला में कोई तत्त्व प्रधान होकर व्यक्त हो, कोई गौण बना रहे या अव्यक्त ही रह जाये। जहाँ तक प्रागैतिहासिक परम्परा के चित्रण में प्रतिफलित होने वाले जीवन का सम्बन्ध है अति प्रारम्भिक अवस्था के चित्रों में प्रायः निरपवाद रूप से या तो पशुओं तथा अन्य जीवों को स्वतन्त्र विषय बनाया गया है या मानवों को। इनके अतिरिक्त आखेट-दृश्यों को अंकित किया गया है जिनमें दोनों का समावेश हो जाता है। प्रस्तुत खंड में समाहित पहले तीन फलकों के चित्र पर्याप्त आदिम अवस्था का बोध कराते हैं। यद्यपि उनमें ढाल-खड्ग अथवा अंगाच्छादन का चित्रण होने से उन्हें प्राचीन प्रस्तर युग से सम्बद्ध करना उचित नहीं लगता। जिन चित्रों में प्रस्तर को ही प्रहार का उपकरण बनाया गया है उनको अवश्य कुछ भिन्न दृष्टि से देखा जा सकता है। गॉर्डन ने चित्रों को श्रेणी-बद्ध करने में उनकी रचना-शैली को वातावरण और विषय-वस्तु मे अधिक महत्त्व दिया, जिससे कभी-कभी भ्रामक परिणाम भी निकले हैं। परन्तु इस बात का श्रेय गॉर्डन को ही देना होगा कि उन्होंने गुफा-चित्रों में प्राप्त युद्ध के प्रसंग पर लिखे गये अपने लेख 'वारफेयर इन इंडियन केव आर्ट' में सर्वप्रथम समग्र स्थिति पर विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि पँचमढ़ी और होशंगाबाद क्षेत्रों में अंकित युद्ध-दृश्यों को प्रदर्शित करने वाले यह चित्र अपने समय का एक ऐसा अज्ञात अलिखित विवरण प्रस्तुत करते हैं जो बहुत दूर तक साहित्यिक वर्णनों का पूरक हो सकता है साथ ही बहुत-सी भ्रान्तियों का निराकरण भी कर

सकना है। यह योद्धा कौन थे और उनमें कब युद्ध हुआ, इसको निश्चित रूप से बता सकना अटकल की ही बात होगी। उनके सामान्य उपकरण ऐसे हैं जो सुदीर्घ काल तक प्रायः उसी रूप में चलते रहे। कुछ लोगों को यह मान्यता आकर्षक लग सकती है कि इन चित्रों में महाभारत-युद्ध की स्मृतियाँ उन युद्धावशिष्ट जातियों द्वारा सजीव रूप से अंकित की गयी हैं जिन्हें विवश होकर वनवास ग्रहण करना पड़ा। यह विचार इसलिए और भी सम्भाव्य लग सकता है कि पॅचमढ़ी में पाँचों पाण्डवों से सम्बन्धित एक लोक-कथा प्रचलित मिलती है। किन्तु जो काल-निर्देश अपने पूर्व लेख (सा० क० वॉ० V, नं० ७) में गॉर्डन ने किया है उसमें उनके मन से इस तरह की कोई भी धारणा बुद्धि-संगत संभावना प्रतीत नहीं होती। उनके अनुसार यह चित्र ५वीं शती ई० से १०वीं शती ई० के बीच होने वाले उन स्थानीय युद्धों के द्योतक हैं जिनका कोई साहित्यिक विवरण प्राप्त नहीं है।[1]

जितने भी युद्ध-दृश्य इस खण्ड में प्रस्तुत किये गये हैं उनमें से एक में भी रथ और रथारूढ़ योद्धाओं का अंकन नहीं है। महाभारत और उसके बाद की जिस भारतीय युद्ध-परम्परा में चतुरंगिणी सेना की धारणा बराबर बनी रही, मौर्य-काल तक उसमें युद्ध के छः विभाग स्थापित हो गये थे।[2] यदि गॉर्डन का यह कथन सत्य मान लिया जाय कि सघन वन से घिरे पॅचमढ़ी के पर्वत प्रदेश के बाहर हुए युद्धों को ही वहाँ के शिलाचित्रों में अभिव्यक्ति मिली है तब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि रथ आदि यानों का अंकन उनमें क्यों नहीं मिलता। वास्तव में चित्रांकित युद्धों को किसी बाहरी प्रदेश से सम्बद्ध करने के पीछे कोई

---

1. These pictures form, for the warfare of the period when they were executed, a record which should do much to supplement literary descriptions, and serve to clear up many ambiguities. Exactly who these warriors were and when they fought is a matter for conjecture. The general equipment is one which persisted over a long period and though it may be a hypothesis attractive to some to see in these paintings a record of the wars of the *Mahabharata* depicted by some remnant driven into the jungle, more especially seeing that there is in Panchmarhi a local Panch Pandu legend, the dating given in our last article precludes in our opinion any such thing being a reasonable possibility. It is more probable that these are local wars of the 5th to 10th Century. A. D., of which we have no literary record. —सा० क० वॉ० V, नं० १०, पृ० ५८४

२. प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० २८७

अकाट्य तर्क दिखायी नही देता। हाथी और घोडों का अकन इतने बडे निष्कर्ष के लिए पर्याप्त नही है, क्योंकि इन पशुओं का पर्वतीय प्रान्त में रहना अकल्पनीय नही है।

मुख्य पॅचमढी-क्षेत्र तथा उसके आस-पास प्राप्त योद्धाओं तथा युद्धों के चित्र प्रस्तर युग की तुलना में ही विकसित और अर्वाचीन कहे जा सकते है। मध्यकालीन साहित्य एव कला में निरूपित योद्धाओं तथा युद्धों की सापेक्षता में वे फिर भी कही अधिक अविकसित सांस्कृतिक अवस्था से सम्बद्ध एव आदिम दिखायी देते है। केट-जूट, कटि-बन्ध, वक्ष-पट्ट तथा शिरोभूषा आदि का ऊपरी साम्य प्रदर्शित करके किसी निश्चित परिणाम तक नही पहुँचा जा सकता। सही रूप में साम्य की खोज संस्कृति की गहरायी तक जाकर की जानी चाहिये और इस स्तर पर यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि पॅचमढी के युद्ध-चित्रों का वातावरण कुछ अपवादों को छोड़कर मध्यकालीन भारतीय साहित्य और कला के वातावरण से तत्वत: भिन्न है। अपवाद प्रस्तुत करते है वे चित्र, जिनमें समूह-युद्ध तथा झूलदार घोड़ों का अकन हुआ है (द्र० अन्तिम फलक)। इन अपवादों के विषय में पृथक् खोज आवश्यक है क्योंकि यह असम्भव नही है कि इनकी भी कोई आदिम स्थिति रही हो जो ज्ञात तथ्यों से भिन्न हो। ज्ञात से नवज्ञात को मूल्यांकित करने की प्रक्रिया स्वाभाकि और सरल है किन्तु कभी-कभी इसकी भी आवश्यकता होती है कि नवज्ञात के आलोक में पूर्वज्ञात का नया मूल्याकन या पुनर्परीक्षण किया जाय।

होशंगाबाद और पॅचमढी, जहाँ युद्ध-दृश्य प्रचुरता से मिलते है, के अतिरिक्त शिला-चित्रों की प्राप्ति के अन्य क्षेत्रों में मिर्जापुर तथा भोपाल क्षेत्र के चित्र अधिक वन्य एवं आदिम वातावरण का परिचय देते है। प्रस्तुत खण्ड में अन्य खण्डों की तुलना में सबसे कम चित्र समाविष्ट है, क्योंकि शिला-चित्रों में युद्ध-दृश्य मिलते ही कम है। समाविष्ट चित्रों में चार को छोड़कर शेष सभी पॅचमढी क्षेत्र से ही सम्बद्ध है। इनमें चार-पॉच चित्र द्वन्द्व-युद्ध के है जिनमें अस्त्र रूप में दंडाकार खॉडा, ढाल, प्रस्तर-खंड और धनुष-बाण प्रयुक्त हुए है। इमलीखोह के दोनों धनुर्युद्ध-दृश्यों में तूणीर प्रदर्शित नही है। धनुष-बाण और ढाल-खॉडा धारियों के बीच पारस्परिक युद्ध भी अकित मिलता है जिससे दोनों को पृथक् युग की जातियों से सम्बन्धित करना सम्भव नही लगता। कुछ योद्धा लांगूल जैसी वस्तु धारण किये दिखायी देते है जिसे अवश्य साधारण वेश-विन्यास का अग न मानकर जाति-विशेष के प्रतीक चिह्न के रूप में ग्रहण किया जा सकता है (द्र० फ० III तथा खंड IV फ० III चित्र २)। विध्य के दक्षिणी भाग में किसी वानर जाति के निवास की धारणा बाल्मीकि रामायण से पुष्ट होती है, किन्तु उस साहित्यिक प्रमाण का शिलाचित्रों में अंकित लांगूलभूषित मानवाकृतियों से कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नही है क्योंकि राम-रावण की पौराणिक

कथा की छाया भी उनमें नहीं मिली और न कोई ज्ञात युद्ध-प्रसंग ही लक्षित होता है। एक-दो विचित्र एवं अज्ञात प्रसंग मिलते हैं, जैसे फलक VII में किन्तु परिचित सन्दर्भो से जोड़ पाना दुरूह ही नहीं, असम्भव भी लगता है। इस खण्ड के प्रायः सभी चित्र युद्ध-मुद्राओं के आलेखन की दृष्टि से विशेषतः महत्वपूर्ण हैं।

युद्ध-दृश्य : चित्र-परिचय

फलक I

चित्र सं०—१

लिखनिया-२, (मिर्ज़ापुर) की गुफा-छत में गहरे गेरुए रंग से अंकित एक युग्म जो परस्पर युद्ध की मुद्रा में प्रतिभासित होता है। पहली की अपेक्षा दूसरी आकृति में अभिप्राय अधिक स्पष्ट है किन्तु रचना-विधि की दृष्टि से दोनों ही पूर्ण नहीं हैं। उनकी यह अपूर्णता ही उन्हें अधिक सांकेतिक बनाती है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

लिखनिया-१ के पास स्थित कोहवर (मिर्ज़ापुर) में शिलांकित एक आदिम युद्ध-दृश्य जिसमें ढाल और खाँडा लेकर लड़ते हुए विचित्र वेश-भूषा वाले दो प्रतिद्वन्द्वी चित्रित हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक II

इस फलक का यह चित्र जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय से अनुकृत है तथा एक विचित्र युद्ध-दृश्य प्रस्तुत करता है जिसमें तीन मानवाकृतियाँ संघर्परत हैं। तीनों सिर के ऊपर गोलाकृति भारी पत्थर जैसी कोई वस्तु उठाये हुए हैं। एक ओर से एक और दूसरी ओर से दो व्यक्ति प्रहार कर रहे हैं। तीनों के पैरों से तीव्र गति लक्षित होती है। दायीं ओर वाली दोनों आकृतियाँ अधिक गतिशील और लोचदार हैं। उनके पिछले पैर भी अधिक उठे हुए हैं। लगता है जैसे वे ऊँचे से नीचे की ओर आ रहे हों। बायीं ओर वाली आकृति के पैर अपेक्षाकृत कम गतिमान् हैं तथा उसकी कमर में कटि-बन्ध भी प्रदर्शित किया गया है। इसे शिला-युद्ध की संज्ञा दी जा सकती है जो राम-कथा में वर्णित मिलता है, किन्तु वास्तव में यह चित्र पौराणिक संदर्भ से रहित है। इसका अंकन लाल गेरुए रंग से पूरक शैली में हुआ है तथा संपुंजन स्वाभाविकता लिये हुए है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक III

इमली खोह (पँचमढ़ी) के नवज्ञात शिलाश्रय से अनुकृत इस चित्र में पूर्ववर्ती फलक II की तरह शिला-युद्ध का दृश्य अंकित है किन्तु स्थिति सर्वथा भिन्न और अत्यन्त रोचक है। इसमें दो युग्म प्रदर्शित हैं। पहला संघर्परत और दूसरा परामर्शलीन। दोनों की भाव-स्थिति और भंगिमा पृथक् होते हुए भी असम्बद्ध नहीं है और वे एक ही दृश्य के अंग हैं। परामर्श संभवत: संघर्परत युग्म के विषय में ही हो रहा है जिसके पत्थर सिर से गिरते हुए बनाए गये हैं। गिरकर भूमि तक पहुँचने से पूर्व के क्षण में ही उनकी कल्पना चित्रकार ने साकार की है। पहली आकृति का रूप-विन्यास विचित्र है। उठाये हुए दो संयुक्त अपूरित वृत्तों से स्त्री के सिर का आभास मिलता है अन्यथा उनका कोई अर्थ स्फुटित नहीं होता। दोनों हाथों के बीच उभार देखकर एक कल्पना स्त्री-वक्ष की होती है, दूसरी सिर की, जो कम संगत लगती है। कन्धों को देह-भाग से विचित्रता-पूर्वक सम्बद्ध किया गया है। एक हाथ प्रतिद्वन्द्वी का हाथ पकड़े है और दूसरा उसके सिर पर रक्खा है जिससे पत्थर गिराया जा चुका है। दोनों युग्मों की दायीं ओर की आकृतियाँ विचित्र मुख वाली हैं और उनको वानरों जैसी लांगूल से भूपित भी किया गया है। पहले युग्म में दोनों पैर से पैर भिड़ाए एक दूसरे को गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसमें प्रतिद्वन्द्वी की आँख भी प्रदर्शित की गयी है। ऐसा कम ही मिलता है। आँख की रचना-शैली भी रोचक है। दूसरे युग्म में पहला व्यक्ति पत्थर को शीश पर बिना हाथों से थामे रक्खे हुए है। उसका एक हाथ झुककर कान के पास तक चला गया है तथा दूसरा साथी की बाँह को छू रहा है। परामर्श की स्थिति वार्ता की स्वाभाविक मुद्रा के साथ चित्रित है। यह युग्म इतनी निःस्पृहता के साथ वार्तालीन है कि पहले युग्म को युद्धरत कहने के स्थान पर क्रीड़ारत कहने को मन करता है। वन्य जीवन के किसी रहस्यमय संदर्भ से युक्त यह चित्र अद्वितीय है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक IV

चित्र सं०—१

भल्डरिया या महड़रिया (मिर्जापुर) में से किसी स्थान पर शिलांकित चित्र की मोनोग्राफ में प्रकाशित (XXI d) छाया पर आधारित इस प्रतिकृति में फलक I, चित्र सं० २ की तरह ढालों वाला युद्ध-दृश्य अंकित है। योद्धाओं की मुद्राओं में अन्तर है पर इसमें स्वाभाविकता अधिक है। वेप-भूपा में भी। बिल्कुल दायीं ओर एक प्रधावित सशस्त्र योद्धा और चित्रित है। युद्धरत युग्म और उसके बीच बनी हुई दीर्घ आकृति का आशय स्पष्ट नहीं होता।

चित्र सं०—२

वाकणकर द्वारा भोपाल-क्षेत्र के एक शिलाश्रय से अनुकृत एवं इं० आॅ० १९५६-५७ के पृष्ठ ८० पर प्रकाशित चित्र की प्रतिकृति जिसमें अनेक सशस्त्र व्यक्ति युद्ध करते हुए प्रदर्शित हैं। दो धनुर्धर सर्वथा स्पष्ट हैं। उनके पीछे की दो आकृतियाँ कुछ अपूर्ण लगती हैं। आयत का निश्चित अर्थ ज्ञात नहीं होता। उसके पास की बड़ी मानवाकृति का कटिबन्ध और पहले धनुर्धर की शिरोभूषा विशेष आकर्षक है। सबसे अन्त की दोनों आकृतियाँ कुछ छोटे आकार की हैं। सभी आकृतियाँ सजीव हैं और ज्यामितिक रेखा-शैली में बनी हैं।

फलक V

चित्र सं०—१

निम्बूभोज (पँचमढ़ी) के तन्तुवादक वाले प्रसिद्ध चित्र के नीचे सफेद रंग से ही अंकित धनुर्युद्ध का एक दृश्य जिसमें योद्धा त्वरा के साथ धनुष पर बाण चढ़ाकर छोड़ते जा रहे हैं। कुछ बाण अभी पृथ्वी पर गिरे भी नहीं हैं। दायीं ओर के योद्धा का प्रत्यञ्चा साधने वाला हाथ उसे छोड़ने के बाद की नितान्त स्वाभाविक मुद्रा में चित्रित है। बाण धनुष-दण्ड से पूरी तरह बाहर आलिखित नहीं है। और प्रत्यंचा भी पूरी तरह नहीं बनायी गयी है जिससे लगता है कि चित्रकार ने संधान क्षण के भीतर प्रवेश करके समय की अत्यन्त लघु सीमा में दृश्यांकन किया है। यह चित्र शिलांकित पूरे दृश्य को प्रस्तुत नहीं करता। निचला योद्धा मूल चित्र में पूर्ण है, यहाँ अपूर्ण। सभी योद्धा तरकस कमर में लगाये हुए हैं। उनकी कायाएँ और अवयव क्षीण होते हुए भी गति से युक्त हैं। उनमें थोड़ी लयात्मकता भी लक्षित होती है। मूल-चित्र पूरक शैली का है और यह उसकी बाह्यरेखानुकृति मात्र है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

इमलीखोह (पँचमढ़ी) में शिलांकित एक अन्य धनुर्युद्ध-दृश्य जिसमें पूर्व चित्र जैसा अनेकमुखी सूक्ष्म काल-बोध प्रदर्शित नहीं है परन्तु छूटे हुए बाणों से उसका आभास अवश्य होता है। दाहिनी ओर गिरते हुए बाणों में से अर्ध चन्द्रयुक्त फलक विशेष द्रष्टव्य है। लहराते हुए कटि-बन्ध गति का संकेत करते हैं। मुद्राएँ इनमें भी स्वाभाविक हैं। रचना-शैली भी पूर्व चित्र जैसी ही है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक VI

इस फलक का यह युद्ध-दृश्य इमलीखोह (पँचमढ़ी) का ही है। इसमें दो धनुर्धरों के बीच ढाल और खाँडा लिए एक योद्धा प्रदर्शित है जिसका स्वरूप पिछले पैर की दीर्घता

को छोड़कर प्राय: सन्तुलित और गतियुक्त है। कटि-बन्ध एक ही ओर दिखाया गया है। लटकता हुआ अधोवस्त्र अन्यों से भिन्न और अधिक चौड़ा है। शिलाचित्र मूलत: सफेद रंग से पूरक शैली में बना हुआ है। इसकी स्थिति शिलाश्रय के बीच में नीचे की ओर है और यह कुछ अन्य चित्रों की अपेक्षा बाद का चित्र प्रतीत होता है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक VII

बनियाबेरी (पँचमढ़ी) की गुफा में दायें हाथ, सामने नीचे की ओर सफेद रंग से अंकित यह विचित्र युद्ध-दृश्य किसी रहस्यपूर्ण संघर्ष की स्थिति का द्योतक है। बैठी हुई विशालकाय मानवाकृति के एक हाथ में छुरी और दूसरे में दण्ड, अस्थि या कोई अन्य प्रकार का अस्त्र प्रदर्शित है। माथे से निकली हुई अलक, नुकीली नाक, खुलता हुआ मुख, पैरों की ऐंठती हुई उँगलियाँ सब उसके तीखे मानसिक तनाव को सूचित करते है। कटि-बन्ध के लम्बे पटकों की झालर और उँगलियों का अंकन-साम्य चित्र को कलात्मक समृद्धि प्रदान करता है। घुटनों तक का कटिवस्त्र और जूड़ा, जो उसके ठीक सामने वाली आकृति में भी प्रदर्शित है, दोनों के स्त्री होने का आभास देता है परन्तु यह झलक भ्रामक है क्योंकि वक्ष का रूप स्त्रियों जैसा नहीं है और जूड़े अन्यत्र पुरुष-चित्रों में भी बहुधा प्रदर्शित मिलते हैं। छुरी का आकार-प्रकार विकसित सभ्यता का प्रमाण है। नीचे वाले व्यक्ति का भाला और पिछले व्यक्ति के हाथ का फरसा भी यही सिद्ध करता है। उसकी शिरोभूषा विचित्र है किन्तु वह भी सर्वथा आदिम नहीं लगती। उसके हाथ का धनुष-बाण बीच वाले व्यक्ति की काया से सलग्न है। शिलाचित्रों मे ऐसा अपवाद रूप में ही मिलता है। सामान्यतया प्रत्येक आकृति दूसरे से असम्बद्ध और अपने में पूर्ण चित्रित की जाती है। उसका मुड़ा हुआ पिछला पैर इस बात की सूचना देता है कि वह तेजी से चलते-चलते रुक जाने की चेष्टा कर रहा है। बीच वाली आकृति का पहली आकृति की ओर उठा हुआ हाथ आवेगयुक्त वार्तालाप का सूचक है। उसके होठों से भी ऐसा ही लगता है। दूसरे हाथ में वह थैली जैसी कोई वस्तु लिये हुए है। अधिक प्राचीन न होने पर भी विषय-वस्तु और रचना-शैली की दृष्टि से यह चित्र महत्वपूर्ण और अतुलनीय है। इसकी उपलब्धि ने मुझे विशेष सन्तोष प्रदान किया था। यह अनुकृति मूल जैसी सशक्त न होने पर भी उसका सम्यक् स्वरूप व्यक्त करती है। यहाँ यह पहली बार प्रकाशित हो रही है।

फलक VIII

चित्र सं०—१

बोरी (पँचमढ़ी) के इस तुमुल युद्ध-दृश्य में अनेक योद्धा ढाल और खाँडा लिए हुए संघर्षरत दिखाये गये हैं। उनके नीचे की सतह में पूर्व तृतीय शृङ्खला के अनेक धनुर्धर अंकित हैं। गॉर्डन ने इस चित्र को उत्तर तृतीय शृङ्खला में स्थान दिया है। प्रस्तुत प्रतिकृति उन्हीं के द्वारा प्रकाशित अनुकृति पर आधारित है। इस चित्र में ऊपर से फैली हुई वितानात्मक रेखाओं का निश्चित अभिप्राय स्पष्ट नहीं है।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ मे गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं अनेक स्थलों पर प्रकाशित चित्र की इस प्रतिकृति में युद्ध-स्थल में ही एक सेनापति का आत्मसमर्पण का दृश्य अंकित है। झूलदार घोड़ों वाले अश्वारोही सरदारों के सामने वह अस्त्र रखकर झुकता हुआ दिखाया गया है। अभी युद्ध-विराम घोषित नहीं हुआ है अतः दोनों पक्ष के सैनिक युद्ध किये जा रहे हैं। सैनिक धनुष-बाण और ढाल-तलवार दोनों प्रकार के अस्त्र लिये हुए हैं। पैर उठाये घोड़ों की मुद्रा विशेष आकर्षक है।

यु० दृ०, फलक–I

यु० द्०, फलक–II

1.

2.

यु० दृ०, फलक–IV

यु० दृ०, फलक—V

यु० दू०, फलक–VI

1.
2.
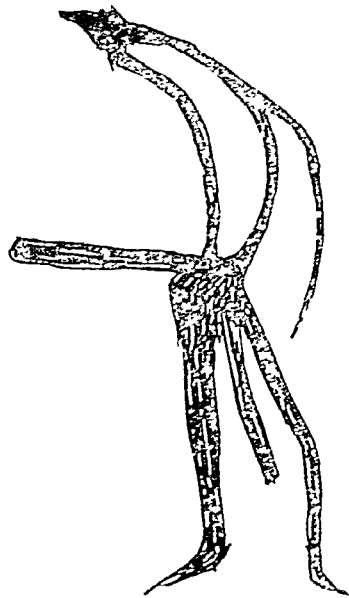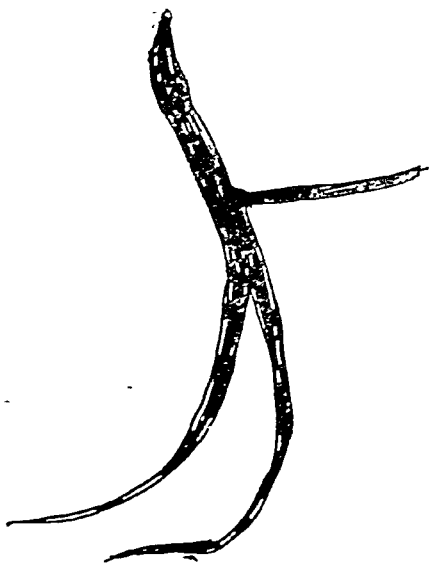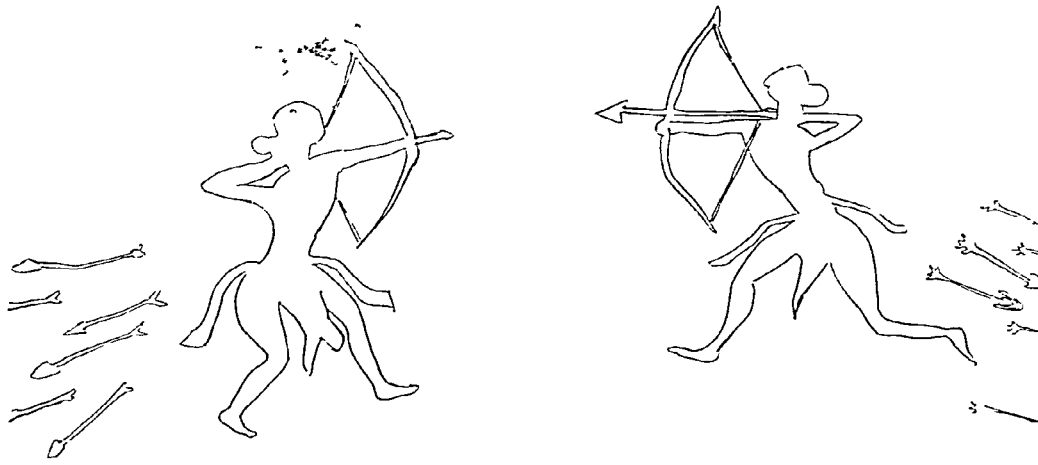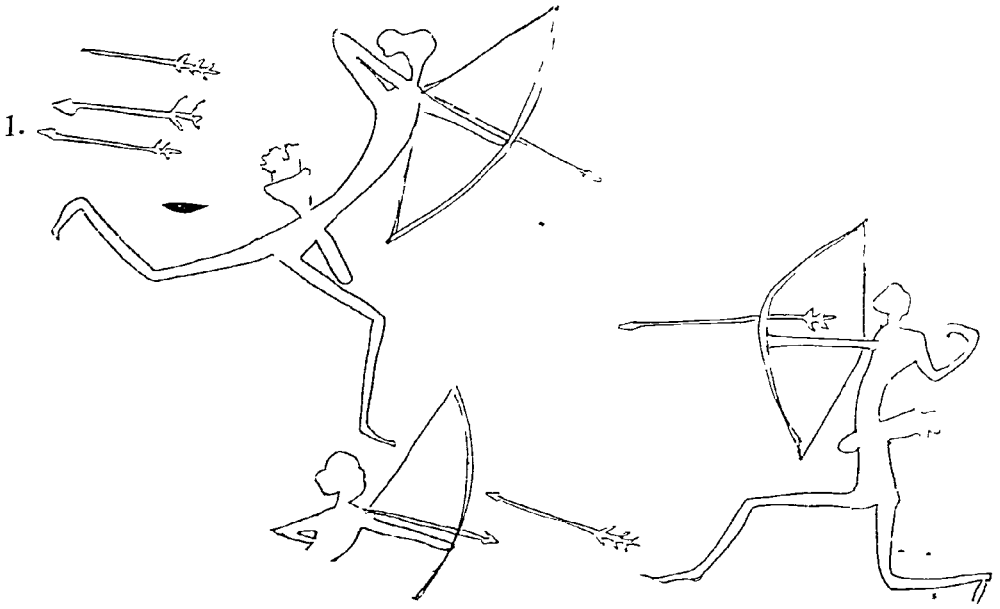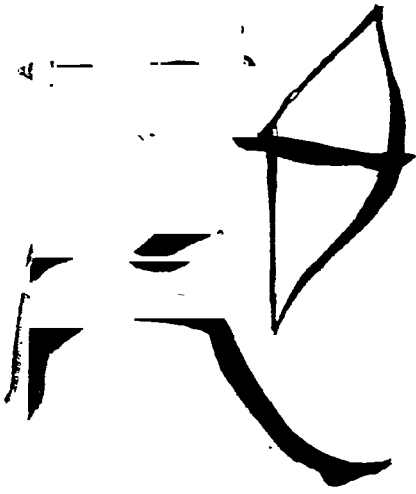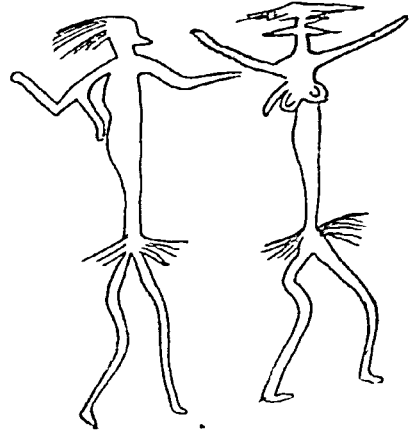
चित्र-खंड-७

मान्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय से गॉर्डन द्वारा अनुकृत आदिम दम्पति का चित्र जो मूलतः श्वेत वर्ण में अंकित है।

पारिवारिक दृश्य

प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रों में पारिवारिक जीवन की स्थिति सूचित करने वाले अनेक दृश्य आलिखित मिलते हैं। एक निश्चित सामाजिक संस्था के रूप में परिवार की मान्यता मानव सभ्यता के विकास-क्रम में बहुत बाद में हुई, किन्तु विकास के विविध स्तरों में उसकी सत्ता अनेक रूपों में नितान्त प्रारम्भिक अवस्था से ही मिलने लगती है। मानवेतर जीव-जगत में भी नर-नारी-परक द्विधा विभाजन, पारस्परिक आकर्षण, सहचरण, सहवास तथा नवजात सन्तति के प्रति आत्मीयता का भाव स्पष्ट और व्यापक रीति से लक्षित होता है। स्तनपायी जीवों में सन्तान-रक्षा की वृत्ति पारस्परिक यौन-सम्बन्ध से निकटतम रूप से संग्रथित तथा अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक सक्रिय एवं महत्वपूर्ण दिखाई देती है। मनुष्य में यह वृत्ति कालान्तर में विशेषता ग्रहण करती गयी। परिवार के घटक तत्वों में यह रक्षा-वृत्ति, जो एक प्रकार से आत्मरक्षा का ही परिविस्तार कही जा सकती है, नैसर्गिक काम-वृत्ति से कम महत्ता नहीं रखती। फिर भी जहाँ तक प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों का सम्बन्ध है, काम-चेतना की अभिव्यक्ति जिजीविषा की तुलना में अत्यन्त नगण्य सिद्ध होती है। गॉर्डन की धारण है कि कुप्पगल्लु में जो कामचार के दृश्य अंकित मिलते हैं वे स्थानीय विशेषता के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। (द्र० प्रि० बैं० इं० क०, पृ० १८५)। समग्रता में स्थिति पर विचार करने से वे अपवाद ही प्रतीत होते हैं, देश में भी विदेश में भी। आखेट-पशुओं और आखेट-दृश्यों के आलेखन की प्रचुरता के समक्ष मिथुन-भाव का अंकन कुछ न होने जैसा ही कहा जायेगा। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः यह है कि आदिम और प्रागैतिहासिक युगों की गहन संघर्षपूर्ण अवस्था में शक्तिशाली और हिंस्र पशुओं के समक्ष मनुष्य के आगे जीवन-रक्षा और क्षुधा-शान्ति यह दो समस्याएँ इतनी प्रबल थीं कि इनके समाधान में उसकी समस्त चेतना केन्द्रित रही। काम प्रकृति के स्वाभाविक धर्म के रूप में स्थित था, किसी जिजीविषापरक समस्या के रूप में नहीं। कदाचित् इसीलिये जब कलात्मक अभिव्यक्ति सम्भव हुई तो पशु और पशु-संघर्ष ही उसके मुख्य विषय बने। पारिवारिक दृश्यों का चित्रण फलतः जीवन के अधिक सुस्थिर और साधन-सम्पन्न होने के बाद ही विशेष रूप से सामने आया। प्रागैतिहासिक काल के अधिक प्राचीन चित्रों में 'पुत्रदारगृहादि' वाली

आसक्ति की कल्पना तक मन में नहीं उठती। वंश की चेतना और वंश-वृद्धि की चिन्ता यह दोनों ही उसकी जीवन-रक्षामूलक चिन्ता की छाया तक नहीं छू पाती। मातृत्व और परिवार की विविध स्थितियों से सम्बद्ध जो भी चित्र मिलते हैं वे इसीलिये उत्तरपाषाण और नव-पाषाण काल के ही अधिक प्रतीत होते हैं। कुछ इससे भी बाद के अनुमानित किये जा सकते हैं। शिला-चित्रों में शिशुओं का चित्रण अपवाद रूप में ही मिलता है। काल-क्रम में उत्तरोत्तर पारिवारिक दृश्यों में उनका समावेश अधिक मिलने लगता है।

प्रस्तुत खण्ड में केवल छ फलक हैं जिनमें तेरह चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें कामचार, अपहरण, सहचरण, सहनर्तन, प्रसाधन, शिशुपालन, पशुपालन, भोजन-छाजन तथा जल-सचय आदि विषय अंकित मिलते हैं। इस खण्ड के अतिरिक्त कुछ अन्य खण्डों में भी ऐसे चित्र समाविष्ट हैं जिनमें पारिवारिक जीवन का सम्यक् चित्रण हुआ है। खण्ड तीन की मानवाकृतियों में फलक IV चित्र सं० १, २ तथा फलक VII चित्र सं० १ में नितान्त आदिम अवस्था के स्त्री-पुरुष युग्म आलिखित हैं जिनकी आकृति-प्रकृति वन्य जीवन के सर्वथा अनुरूप प्रतीत होती है। फलक IV चित्र सं० ३, ४ तथा फलक VIII चित्र सं० १ में भी युग्म ही चित्रित है पर वह स्त्री-पुरुष युग्म न होकर वयस्क-अवयस्क पुरुष-युग्म है। खण्ड आठ, जिसमें नृत्य-वाद्य विषयक चित्र संकलित हैं, के फलक I, चित्र सं० २ तथा फलक II, चित्र सं० १, २ में हाथ में हाथ दिये हुए स्त्री-पुरुष के सहनर्तन का अंकन इस प्रकार हुआ है कि उसे भी पारिवारिक जीवन का व्यंजक माना जा सकता है। इसी खण्ड के फलक IX के चित्र सं० १ में एक तन्तुवादक के पूरे परिवार का दृश्य अंकित है जिसमें एक स्त्री नर्तन कर रही है, एक बालक के साथ है तथा एक अन्य अकेले संगीतमय वातावरण का सुख ले रही है। खण्ड नौ के पूजा-प्रतीकों में रोप का एक शैलीबद्ध समूहांकन भी सम्मिलित है जिसमें स्त्री-पुरुष शिशुओं के बीच परस्पर समीपस्थ चित्रित हैं। यह भी परिवार जैसा प्रतीत होता है। खण्ड दस के विविध-विषयी चित्रों के फलक II, चित्र सं० १ में जो मधु-संचय का दृश्य अंकित मिलता है उसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही सम्मिलित रीति से कार्यरत प्रदर्शित किये गये हैं। पुरुष लम्बी लकड़ी से मधुमक्खियों को उड़ा रहा है तथा स्त्री छत्ते के समीप जाकर पात्र में मधु सञ्चित कर रही है। दोनों को दम्पति के रूप में ग्रहण करके इसे भी पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध किया जा सकता है जो वास्तविक और सत्य प्रतीत होता है। और भी कुछ चित्र ऐसे निर्दिष्ट किये जा सकते हैं जिनसे पारिवारिकता का आभास मिलता है। उन सभी को इस खण्ड में समाविष्ट किया जा सकता था परन्तु वे जहाँ रक्खे गये हैं वहाँ उनकी संगति इससे भी अधिक है। उनकी ओर भी ध्यान चला जाय इस दृष्टि से ही उपर्युक्त निर्देश सार्थक कहे जा सकते हैं।

इस खण्ड के फलक I और V के पहले चित्रों को छोड़कर प्रायः सभी पंचमढ़ी-क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। अन्य खण्डों के पारिवारिक दृश्य भी रौंप वाले उपर्युक्त चित्र को छोड़ कर पंचमढ़ी-क्षेत्र के ही हैं जिससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ शिला-चित्रों की परम्परा सुस्थिर गृहस्थ जीवन के विकास तक प्रायः अखण्ड रीति से चलती रही तथा यह भी कि यहाँ के चित्रकारों की प्रवृत्ति पारिवारिक दृश्यों के अंकन की ओर विशेष उन्मुख रही। अधिकतर उनकी रचना पूरक शैली में हुई है। रूप-रचना में अवश्य विभेद है। यह भी आकस्मिक नहीं है कि जिन क्षेत्रों में पारिवारिक दृश्य अंकित हैं उनमें सवत्स पशुओं का चित्रण भी मिलता है जो भावात्मक स्तर पर विशेष संगत प्रतीत होता है। प्राप्त भारतीय शिलाचित्रों में रति-कर्म कहीं भी प्रदर्शित नहीं है।[१] स्त्रियाँ युद्ध-आखेट जैसे किसी कठोर कार्य में प्रवृत्त चित्रित नहीं की गयी हैं। उनका कार्य सहचरण और संपोषण के क्षेत्र तक ही सीमित प्रतीत होता है।

इन पारिवारिक दृश्यों की सम्यक् व्याख्या चित्र-परिचय अंश में की गयी है तथा अन्य प्रकार के वस्तुगत आकलन के लिए 'ज्ञानोदय', नवम्बर १९६१ में प्रकाशित मेरा 'प्रागैतिहासिक चित्रों में भारतीय परिवार' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

१. Depiction of men and women engaged in some form of sexual intercourse are not only rare but wholly non-existent at any of the known sites where rock paintings or engravings have been found. —प्रि० कै० इं० कं०, पृ० ११५

पारिवारिक-दृश्य : चित्र-परिचय

फलक I

चित्र सं०—१

दक्षिण भारत मे रायचूर प्रदेश के वेलारी क्षेत्र में स्थित (वेकल फॉरेस्ट) कुप्पगल्लु नामक स्थान मे गॉर्डन द्वारा उपलब्ध एवं प्रकाशित चित्र पर आधारित प्रतिकृति जिसमें आरोही (गॉर्डन के अनुसार अश्वारोही), नर्तक; अनेक स्त्री-पुरुष युग्म तथा पशु-पक्षी प्रदर्शित है। पक्तिबद्ध नग्न मानवाकृतियाँ अतीत युग के उस आदिम सहचरण की द्योतक है जिससे पारिवारिक जीवन विकसित हुआ। इनमें बायी ओर नीचे कुछ कामातुर पुरुष स्त्रियों को पकड़े हुए हैं। ऐसा काम भाव शिला-चित्रों में नितान्त अपवाद के रूप में अंकित मिलता है अन्यथा सारे चित्र इससे मुक्त है । उनमें आखेट, युद्ध आदि अन्य विषय ही प्रमुख है।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढी) के शिलाश्रय नं० ४ पर मटमैले सफेद रँग से अंकित इस चित्र में दो योद्धा पुरुषों के साथ एक सज्जित एवं अलंकृत स्त्री का सहचरण प्रदर्शित है । यह प्रतिकृति गॉर्डन द्वारा की गयी सदोष अनुकृति पर आधारित है जिसमें मूल-चित्र को देखकर आवश्यक संशोधन कर दिया गया है। पहले व्यक्ति के हाथ का अस्त्र, दूसरे का धनुष, गॉर्डन की अनुकृति में समाविष्ट नही था। स्त्री के कटि-बन्ध की झालरें भी उसमें ठीक ढग से नही बनी थी। स्त्री का एक हाथ घूमता हुआ है और दूसरा कुछ ऊपर को उठा हुआ। इस मुद्रा से नर्तन का आभास होता है अतएव यह चित्र सहचरण ही नही सह-नर्तन का भी द्योतक हो सकता है। पुरुषों का अंकन यष्टिवत् हुआ है किन्तु स्त्री का देहभाग आयताकार चित्रित है। रेखाओं में ज्यामितिकता सर्वत्र व्याप्त है। शिरोभूषाएँ और शीश के आकार भी अलग-अलग ढंग से बनाये गये है। चित्रण पर्याप्त रोचक है।

फलक II

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ८ में लाल वाह्यरेखा युक्त श्वेतवर्णी शैली में निजी अंकन-विधि के साथ चित्रित अपहरण का एक अत्यन्त मनोरंजक दृश्य जिसमें धनुर्धर वीर पुरुष एक स्त्री को हाथ पकड़कर ले जा रहा है। तीन स्त्रियाँ इस स्थिति को देखकर चकित हैं। 'पाणिगृहीत' स्त्री उनकी ओर अथवा पुरुष की ओर मुड़कर देख रही है। यह रेखानुकृति गॉर्डन द्वारा प्रकाशित अनुकृति पर आधारित है परन्तु मूल शिला-चित्र को देखने पर ज्ञात होता है कि पहली तीन स्त्रियाँ अनेक अनगढ़ आयताकार चिह्नों के बाद पर्याप्त व्यवधान देकर अंकित हैं। शैलीगत विशेषताओं और विषय संदर्भ की दृष्टि से अवश्य वे पृथक् न होकर चित्र का ही सम्बद्ध अंश प्रतीत होती है। सभी स्त्रियों का देह-भाग आयताकार और एक दूसरे को काटती हुई कर्ण-रेखाओं से युक्त है। उनके अधोवस्त्र भी रेखांकित हैं; पहली और अन्तिम आकृति में चारखाने वाले और तीसरी चौथी में खड़ी पट्टियों वाले रूप में। मुख का रचना-प्रकार विशिष्ट एवं सरल है। शिरोरेखा सीधी नाक की नोक तक चली जाती है और होठों का आभास दिये बिना उसे एक ही घुमाव देकर गले से जोड़ दिया गया है। शिरोरेखा का दूसरा सिरा कहीं सीधे कण्ठ तक चला गया है कहीं जूड़े के वृत्त का रूप ग्रहण करने के बाद स्कन्ध-रेखा में परिणत हुआ है। स्त्री-पुरुष सभी के चेहरों के भीतर बिन्दु देकर आँख का चित्रण किया गया है जो अन्य प्रकार की पूरक शैलियों में नहीं मिलता। धनुर्धर की मुद्रा से अपहरण की सफलता का गर्व प्रकट हो रहा है। इस शैली में व्यंग्यमूलक विकृतीकरण (caricaturing) का समावेश इसे सबसे पृथक् करते हुए विशिष्ट और अद्वितीय बना देता है।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ पर ही मटमैले सफेद रंग से पूरक शैली में निर्मित पुरुष-चित्र पर आक्षिप्त एक मुक्त-केशी स्त्री की आकृति जिसके पैर एकाकार सम्बद्ध रूप में बने हैं और उठे हुए हाथों वाली उसकी मुद्रा भी असाधारण है। सम्भव है इस प्रकार का आक्षेपण स्त्री-पुरुष के पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध किसी प्रकार के विश्वास का प्रतीक हो क्योंकि दोनों चित्रों की शैली प्रायः एक जैसी है। पुरुष के पैर और स्त्री के केश लहराते हुए चित्रित हैं। अधिक संभावना दोनों चित्रों के परस्पर असम्बद्ध होने की ही है। उस दिशा में इसे पारिवारिक दृश्यों के वर्ग में न मानकर मानवाकृतियों के वर्ग में रखना होगा। यह प्रतिकृति गॉर्डन द्वारा प्रकाशित अनुकृति पर आधारित है। इस चित्र से कुछ ही दूर पर लहरीले बालों के कुछ अंकन-अवशेषों के मिलने से ऐसा अनुमान होता

है कि कभी ऐसे अन्य चित्र भी उस शिलाश्रय पर अंकित रहे होंगे जो अब विलुप्त हो गये हैं ।

चित्र सं०—३

फलक I, चित्र सं० १ में प्रदर्शित एक कामातुर स्त्री-पुरुष युग्म का परिवृद्ध वाह्य-रेखांकन जिसमें उत्तेजित पुरुष स्त्री को केशों से पकड़े हुए है। दोनों नग्नावस्था में चित्रित हैं। इसकी सही स्थिति निर्दिष्ट चित्र देखकर ज्ञात की जा सकती है।

चित्र सं०—४

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्र की प्रतिकृति जिसमें एक धनुर्धर अपनी पत्नी के साथ जाते हुए चित्रित है । स्त्री के हाथ में पात्र जैसी कोई वस्तु है। हाथों के ऊपर उसका उत्तरीय चन्द्राकार चित्रित है। अधोवस्त्र तथा कटि-बन्ध भी सुस्पष्ट हैं। पुरुष स्त्री की तुलना में प्रायः निर्वस्त्र है । कटिबन्ध से ही उसकी सवस्त्रता सिद्ध होती है।

फलक III

चित्र सं०—१

मान्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के दाहिने किनारे वाले शिलाश्रय के ऊँचे भाग में, जो बिना ऊपर चढ़े दिखाई नहीं देता, सफेद रंग से पूरक शैली में अंकित आदिम पारिवारिक जीवन का सूचक एक महत्वपूर्ण दृश्य जिसमें धनुष-बाण, तरकस और फरसे से सुसज्जित एक योद्धा अपनी स्त्री को साथ लिये जा रहा है । स्त्री सिर पर पात्र या टोकरी में कुछ फल रक्खे हुए है। उसके पीछे-पीछे पालतू कुत्ता चला आ रहा है। कुत्ते के मुँह और स्त्री के हाथ को मिलाने वाली रेखा संभवतः डोरी की द्योतक है। बायीं ओर लहराती हुई हाथ की दोहरी रेखाएँ डोरी या वस्त्र के उड़ते हुए सिरे को व्यक्त करती हैं । स्त्री के इस हाथ की कलाई में दो कंगन भी स्पष्ट हैं। पैर ऊँचे अधोवस्त्र से निकले हुए उसी ओर गतिशील हैं जिधर उसका योद्धा-पति जा रहा है। स्त्री-पुरुष दोनों के केश जूड़े के रूप में बँधे हैं जिनके आकार में कुछ अंतर है। स्त्री का दूसरा हाथ कुछ क्षीण रूप में चित्रित है। उसमें उँगलियाँ भी प्रदर्शित नहीं की गयी हैं। डोरी थामने वाले हाथ में अँगूठे का स्वाभाविक निदर्शन है। कुत्ते के उठे हुए कान और टेढ़ी पूँछ से भी आलेखन की स्वाभाविकता लक्षित होती है। यह चित्र गॉर्डन को अज्ञात था । इसकी प्रस्तुत वाह्यरेखानुकृति मूल से ही की गयी है।

चित्र सं०—२

पूर्वोक्त चित्र के नितान्त समीप उसी शैली में यह झोंपड़ी का अद्वितीय दृश्य भी

अंकित है जो पारिवारिक स्तर पर पशु-पालन का निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करता है। ऊर्ध्व दृष्टि से आलिखित केन्द्रीय अलंकृत चौकोर घेरे के बीच टिके हुए भीतरी खंभे से बंधी हुई एक बकरी स्वाभाविक मुद्रा में बैठी है। बाहर रासभ-वृषभ बिना बन्धन के ही विराजमान हैं। दाहिने खम्भे का निचला भाग हल जैसे आकार का बना है और बैल के सींग उसके ऊपर आक्षिप्त हैं। झोंपड़ी में एक ओर थैली जैसी कोई वस्तु लटक रही है, दूसरी ओर भीतर पात्रों में कुछ और रक्खा हुआ है। दायीं तरफ पीछे कमर पर हाथ रक्खे एक स्त्री खड़ी है जिसके पैर चित्र में प्रदर्शित नहीं रहे या मिट गये हैं। नीचे की ओर पक्षियों के उठे हुए शीश जैसी आकृतियाँ सम्भवतः घर के सामने बने बाड़े के खूँटों की द्योतक हैं। शिला-चित्रों में ऐसे दृश्य बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं जिनसे पशु-पालन, कृषि-कार्य, गृह-निर्माण, आदि व्यवस्थित पारिवारिक जीवन की सूचक अनेक विकास-दशाएँ एक साथ चित्रित मिलती हों। इस चित्र में वे समस्त अवस्थाएँ एक साथ प्रदर्शित हैं अतः इसकी महत्ता स्वतः सिद्ध है। गॉर्डन को इस चित्र का भी ज्ञान नहीं था। यह बाह्यरेखानुकृति मूल-चित्र पर आधारित है।

इस फलक के दोनों चित्र लघु रूप में मेरे ही लेख के साथ 'ज्ञानोदय' के 'परिवार विशेषांक' (नवम्बर, १९६१) में एक बार प्रकाशित हो चुके हैं।

फलक IV

चित्र सं०—१

महादेव गुफा (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित श्वेतवर्णी पूरक शैली के चित्र पर आधारित बाह्यरेखानुकृति जिसमें पारिवारिक जीवन का संकुल चित्रण किया गया है। वृत्ताकार बैठी हुई चार स्त्रियाँ भोजन बना रही हैं। तीन पात्रों में कुछ सामग्री रक्खी हुई है। एक को छोड़कर शेष सभी स्त्रियाँ हाथ में अस्थियां लेकर उनसे माँस पृथक् कर रही हैं अथवा पात्रों में रक्खी वस्तुओं को पकाने के लिये लकड़ियाँ ठीक कर रही है। डण्डे की तरह जो वस्तु उनके हाथ में है उसके सिरे अस्थियों जैसे हैं इसीलिये यहाँ दोहरी अर्थ-संभावना व्यक्त की गयी है। स्त्रियों की संलग्नता अस्थि वाले अर्थ के पक्ष में अधिक प्रतीत होती है। बीच में कुछ बड़े आकार में हाथ से हाथ मिलाये एक युग्म सह-नर्तन कर रहा है। उसके पीछे दायीं ओर एक अन्य व्यक्ति किसी भारी कृषि-यन्त्र को काँवर की तरह उठाये हुए उनके नर्तन को देख रहा है। यन्त्र एक ओर त्रिकोणात्मक और दूसरी ओर आयताकार उपकरणों से संयुक्त है जिससे उसकी विचित्रता बढ़ जाती है। उसे उठाने वाले की कमर बोझ से झुकी और देह लयात्मक भंगिमा से युक्त है। जो स्त्री हाथों में कुछ लिये नहीं है उसका दूसरा पैर या तो पार्श्व-दृष्टि के कारण प्रदर्शित नहीं है या

कमर के नीचे से निकली रेखा के रूप में चित्रण क्रम में विकृत हो गयी है । गॉर्डन ने इसे बिना व्याख्यायित किये पारिवारिक-दृश्य (Domestic Scene) मात्र कहकर छोड़ दिया है।

चित्र सं०—२

निम्बूभोज (पँचमढ़ी) के ऊपरवाले शिलाश्रय में तन्तुवाद्य वाले प्रसिद्ध चित्र के नीचे, सफेद जमीन पर लाल रेखाओं से अंकित इस दृश्य में मंडप के नीचे बैठे एक दम्पति को प्रेमालाप करते हुए प्रदर्शित किया गया है । पुरुष का हाथ स्त्री के कन्धे पर और स्त्री का हाथ उसका कटि पर रक्खा है। पुरुष के दूसरे हाथ में एक दण्डाकार वस्तु है तथा स्त्री भी अपना दूसरा हाथ किसी वृत्ताकार वस्तु पर टिकाये है । स्त्री के ऊपर वाला वृत्त चन्द्रमा का द्योतक लगता है । पुरुष के ऊपर वाली आकृति खुले पट वाले गोल गवाक्ष का आभास देती है । मण्डप का बायाँ भाग ही प्रदर्शित है जो दो खम्भों पर टिका है । तिरछी रेखाएँ उसके पट्टीदार रूप को व्यक्त करती हैं। दोनों के बैठने की मुद्रा स्वाभाविक है पर वह उनके आसनस्थ होने की कल्पना जगाती है । गॉर्डन ने जब तन्तुवाद्य वाला चित्र अनुकृत किया तो इसे भी देखा ही होगा परन्तु उन्होंने किसी कारण इसे उपेक्षित कर दिया। वास्तव में पारिवारिक जीवन की विकसित अवस्था को व्यक्त करने वाला यह चित्र भी अद्वितीय ही है । यह बाह्यरेखानुकृति मूल पर आधारित है और फलक III के पूर्व चित्रों के साथ छप चुकी है ।

फलक V

चित्र सं०—१

लिखनिया–२, (मिर्जापुर) की गुफा के दाहिने किनारे पर गहरे गेरुए रंग से अंकित पूरक शैली के इस चित्र में 'माता और शिशु' का नितान्त आदिम रूप लक्षित होता है। इस प्रकार का पारिवारिकता-सूचक आलेखन इस क्षेत्र के शिलाचित्रों में अपवाद रूप में ही प्राप्त हुआ है । माता की पीछे को निकली हुई चोटी, चोटी के पीछे का गुच्छा उसके सज्जित और प्रसन्न रूप की व्यंजना करता है । मुख के बीच का रिक्त स्थान उससे असंगत नहीं लगता है । फैले हाथों से शिशु को उठाये वह अपनी वत्सलता को सहज रूप में व्यक्त कर रही है । पैरों का घुमाव और पंजों का आयताकार रूप ऊपरी भाग की तरह स्वाभाविक रूप में चित्रित नहीं हुआ है। पैर के पास रस्सी की तरह कोई वस्तु पड़ी हुई है । मूल से अनुकृत इस चित्र का बाह्यरेखाकार पूर्वोक्त चित्रों के साथ एक बार प्रकाशित हो चुका है ।

चित्र सं०—२

महादेव पहाड़ी (पँचमढ़ी) के एक शिलाश्रय से गॉर्डन द्वारा की गयी प्रकाशित

अनुकृति पर आधारित यह प्रतिकृति पूरक शैली के मूल चित्र की बाह्य रूप-रेखा प्रस्तुत करती है। इसमें एक नितान्त सहज पारिवारिक दृश्य अंकित है। एक मंडप या वृत्ताकार बाड़े के भीतर दो स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। एक स्त्री की गोद में बालक है, दूसरी उसी से केश विन्यास करा रही है। पहली स्त्री एक हाथ से बालक को सँभाले है और दूसरे से जूड़ा बना रही है। दोनों के बैठने की मुद्रा समान है। पीछे विविध प्रकार के पात्रों में गृहस्थी का सामान रक्खा हुआ है। बायीं ओर एक हत्थेदार पात्र विचित्र प्रकार का दिखायी देता है। बायें किनारे की ओर विश्राम-मुद्रा में दोनों हाथ ऊपर किये संभवतः एक पुरुषाकृति भी चित्रित है। गॉर्डन द्वारा स्थान का ठीक निर्देश न किये जाने के कारण मूल को देखकर वास्तविकता का निश्चय नहीं किया जा सका।

फलक VI

इमलीखोह (पंचमढ़ी) में सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित एक महत्वपूर्ण पारिवारिक दृश्य जिसमें माता अपनी दो सन्तानों के साथ संभवतः पूजन-सामग्री लिये किसी पवित्र कार्य के लिये जा रही है। यह वस्त्राभूषण पहने है। उसके एक हाथ में मंगल-कलश है जिस पर तीन फल या पुष्प रक्खे हुए हैं तथा दूसरे में थैली जैसी एक विचित्र प्रकार की वस्तु है। उसके जूड़े के नीचे केश-बन्ध के ढंग का एक आकार और बना हुआ है। उत्तरीय, कटि-बन्ध और अधोवस्त्र सभी का रूप स्पष्टतया प्रदर्शित है। एक ही हाथ में दो कंकण चित्रित हैं। पीछे की बालिका अपनी माता को एक हाथ से थामे हुए है। उसका भी दूसरा हाथ ऊपर उठा हुआ है। किनारे की आक्षिप्त पुरुषाकृति जामुनी रंग में ऊपर से अंकित एक अन्य चित्र का अंग है। मू० अनु० प्र० प्र०।

1.

2.

1.

2.

3.

1.

2.

पा० दृ०, फलक–IV

1
2.

पा० दृ०, फलक—VI
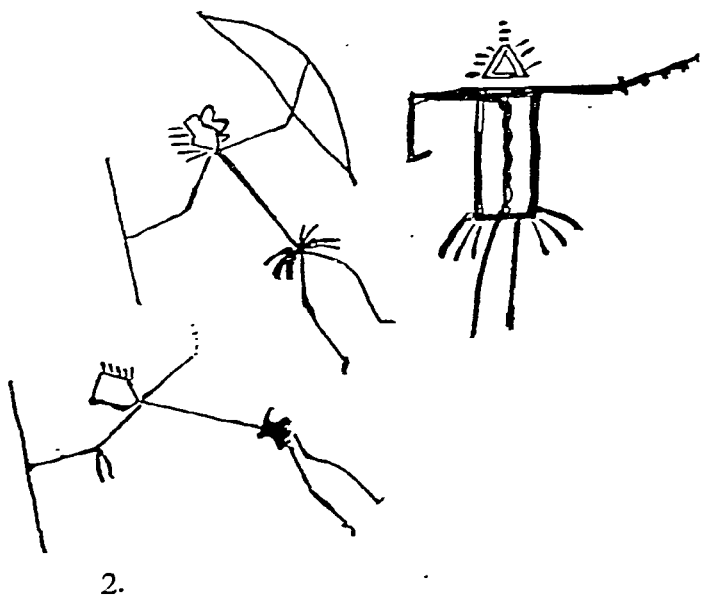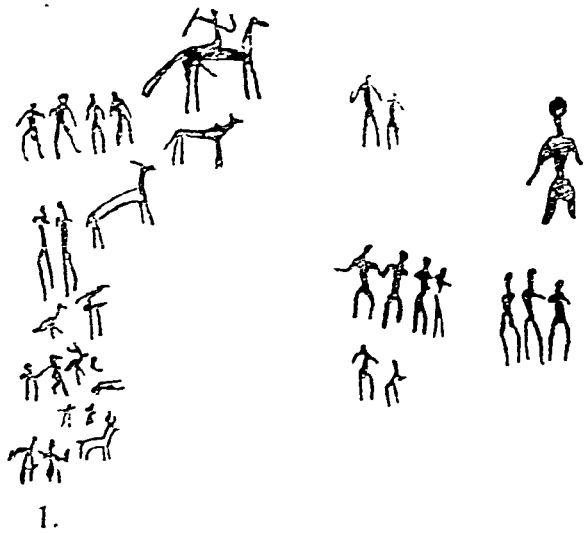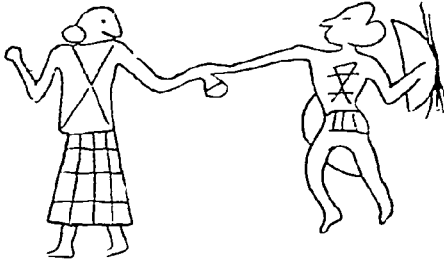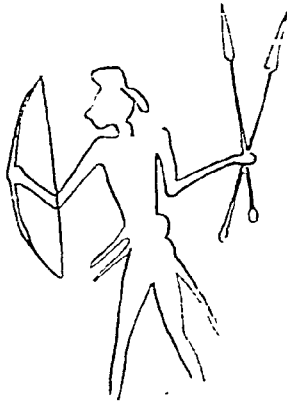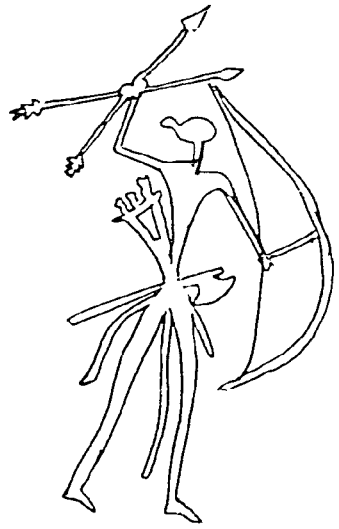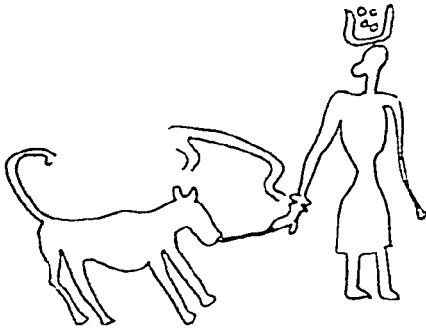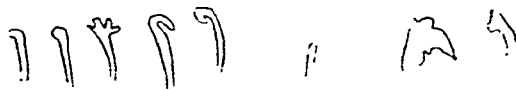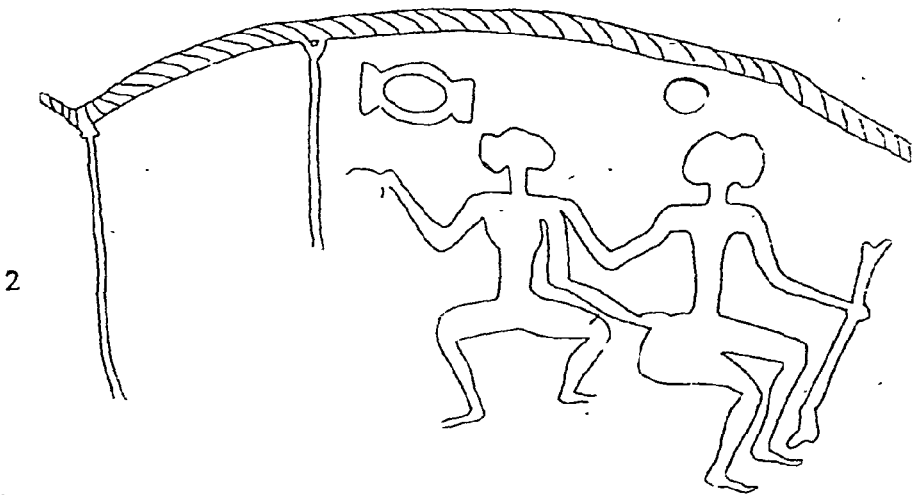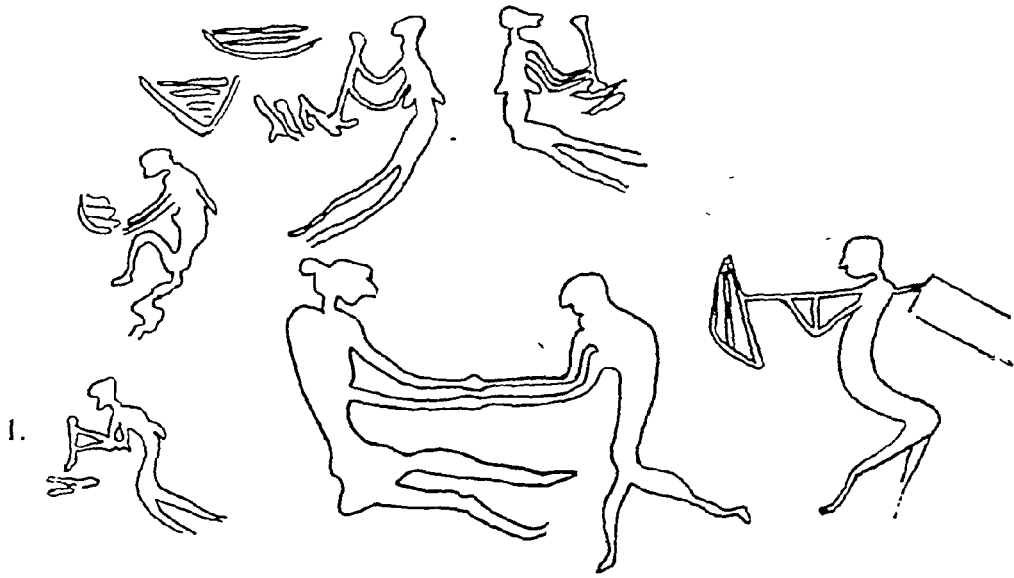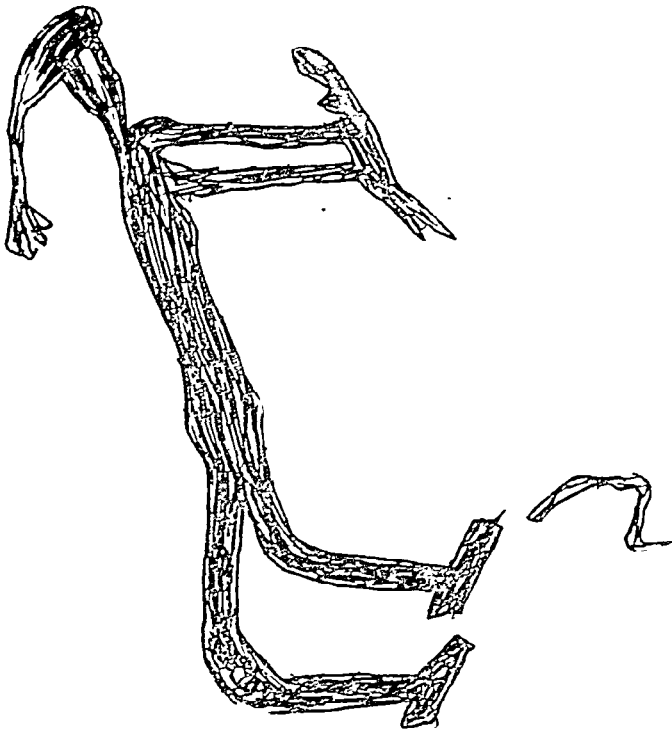
नृत्य-वाद्य

चित्र-खंड-८

पँचमढ़ी-क्षेत्र की गॉर्डन द्वारा खोजी गयी चित्रमय गुफा 'बी डैम केव' का एक चित्र जिसमें मृदंगवादक पूरे आवेग में प्रदर्शित है। प्रस्तुत बाह्य-रेखानुकृति इसके सा० क०, वॉ० नं० ७ में प्रकाशित रूप पर आधारित है।

प्रागैतिहासिक चित्रों में नृत्य-वाद्य से सम्बन्धित दृश्यों का अंकन इस बात को निर्भ्रान्त रूप से प्रमाणित करता है कि प्राचीनतम युग से ही मानव में कला-चेतना अनेकमुखी रूप में प्रस्फुटित होती रही है। नर्तन-वादन का चित्रण पुरातन काल से अन्य कलाओं के प्रति चित्रकार की उन्मुखता का प्रमाण है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि जिस समाज में चित्रकार जीवन-यापन करता था, वह सामूहिक रूप से कला की अन्य विधाओं के प्रति सक्रिय रुचि रखने वालों का समाज था। वन्य जीवन की उन्मुक्तताओं के बीच गति, लय तथा स्वरों का सामंजस्य भी सहज रूप में प्रकट होता रहता था, यह शिला-चित्रों से निर्विवाद सिद्ध है; किन्तु नृत्य-वाद्य की स्थिति की ऐसी सरल और मात्र इतनी ही व्याख्या अपर्याप्त लगती है। जैसे चित्रकला का सम्बन्ध अनेक प्रकार की आदिम यातुमूलक आस्थाओं तथा पूजा-अभिचारपरक कृत्यों से जोड़ा जाता है, वैसे ही संगीत के इन पुरातन रूपों को भी मानव-मन की जटिल मनस्थितियों तथा आधिदैविक प्रकार के अतिविश्वासों से सम्बद्ध किया जाता है। एच० जिम्मर ने अपनी पुस्तक में ऐसा ही लिखा है।[1] इनकी वास्तविक स्थिति क्या रही होगी, इसका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करना तो प्रायः असम्भव है परन्तु उपलब्ध अवशेषों तथा चित्रित रूपों पर आधारित एवं उनके अनुमानाश्रित पुनर्संगठन से उपजी धारणाओं से इनका जो भी रूप सामने आता है, उसे अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं है। प्रागैतिहासिक चित्रों के विशेषज्ञ बर्किट ने योरोप के शिला-चित्रों के आधार पर यह धारणा व्यक्त की है कि प्रागैतिहासिक मानव संभवतः उस समय भी, जब क्रीड़ा का अवसर स्वल्प और

---

१. Dancing is an ancient form of magic. The dancer becomes amplified into a being endowed with super normal powers. His personality is transformed. Like yoga, the dance induces trance, ecstacy, the experience of the devine, the realization of one's own secret nature and finally merges into devine essence.

—मिथ्स ऐण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट ऐण्ड सिविलाइजेशन, पृ० १५१

जीवन-संघर्ष अत्यन्त विषम हो गया था, उत्सवात्मक नृत्यों में प्रवृत्त होता था।[1] विषम से विषम स्थिति में नृत्य की कल्पना इस बात को सिद्ध करती है कि वे उत्सव ऐसे अभिचार-परक विश्वासों से युक्त होंगे जिनमें उन स्थितियों पर विजय पाने की भावना निहित रहती होगी तथा यह भी कि नर्तन आनन्द-उल्लास की सहज अभिव्यक्ति मात्र न होकर एक असाधारण उद्देश्य और महत्व का कर्म भी समझा जाता होगा। श्री वी० एस० वाकणकर के फ्रेंच में प्रकाशित लेख[2] के साथ मुद्रित मोड़ी के दो शिलाचित्र इस तथ्य को प्रमाणित करते है, विशेषत: पहला चित्र जिसमें एक ओर सात कटे हुए पशु-शीर्षों से सज्जित वेदिका चित्रित है, दूसरी ओर समूहनर्तन का दृश्य भी अंकित है। वादन और गायन की स्थिति उससे पृथक् नही लगती. यह दूसरी बात है कि चित्रण के द्वारा नर्तन और वादन की अभि-व्यक्ति जितनी सुगम है उतनी गायन की नही। चित्र की मर्यादा रूप तक ही है, स्वर उसकी सीमा में नही आता। उसकी अभिव्यक्ति किसी उपलक्षण से अथवा प्रतीकात्मक विधि से ही संभव है। होंठों की स्थिति से भी उसकी व्यञ्जना हो सकती है पर शिला-चित्रों में मानवाकृतियाँ अपवाद रूप में ही मुख के सूक्ष्म अवयवों से युक्त चित्रित मिलती है। उदा-हरणार्थ इस खण्ड के फलक X, चित्र सं० १ के तन्तुवादक तथा समीपवर्ती स्त्री के खुले हुए मुख से गायन का अनुमान किया जा सकता है। अन्ततः पूर्ण संगीत की परिकल्पना दृश्यरूप में प्रस्तुत नृत्य और वाद्य के आधार पर ही करनी पड़ती है।

गॉर्डन ने सा० क० में प्रकाशित लेखों में तो नहीं पर 'इण्डियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स' के दसवें अंक में प्रकाशित महादेव पर्वतमाला के शिला-चित्रों का जो विवरण दिया है उसमें अवश्य नृत्य-वाद्य सम्बन्धी कुछ चित्रों की अनुकृतियाँ समाविष्ट करते हुए नृत्य-मुद्राओं के सशक्त अंकन की सराहना की है। पंचमढ़ी क्षेत्र के चित्रों की रेखाओं की उस लयात्मकता पर भी उनकी दृष्टि गयी है जिससे उनके द्वारा उदाहृत नृत्य-चित्रों में गतिशीलता का सफल आलेखन किया गया है।[3]

प्रस्तुत खण्ड के नौ फलकों मे समाविष्ट चौबीस चित्रों में से लगभग चौदह चित्र पचमढ़ी क्षेत्र के ही है। अन्य क्षेत्रों में होशंगाबाद, भोपाल, सागर का एक भी चित्र नहीं है।

---

१. It is probable that prehistoric man also indulged in ceremonial dances when game was scarse and struggle for existence became acute.

—दि ओल्ड स्टोन एज, पृ० २१६

२. पेन्तर्स रुपेस्त्रे इन्दियाने (Peintures Rupestres Indiennes). १९६३

३. द्रष्टव्य. निर्दिष्ट ग्रन्थ. पृ० ३७।

रायगढ क्षेत्र में से केवल कबरा पहाड़ का एक चित्र है, सिघनपुर में कोई भी चित्र ऐसा नहीं है जिसे संदिग्ध रूप से भी संगीतपरक कहा जा सके। चम्बल घाटी क्षेत्र में से मोडी का ही एक चित्र प्रस्तुत किया जा सका है जबकि उस क्षेत्र में तथा उपर्युक्त अन्य अनेक क्षेत्रों में नृत्य-वाद्य विषयक और अधिक चित्रों की स्थिति सहज कल्पनीय हैं। पचमढी क्षेत्र की विपुल चित्र-सामग्री में इन विषयों के और भी चित्र उपलब्ध हो सकते है और हुए भी हैं परन्तु सबका प्रस्तुतीकरण असभव समझ कर केवल कुछ को ही स्थान दिया गया है। उनसे अन्य चित्रों की प्रकृति का पर्याप्त अनुमान किया जा सकता है।

ऊपर निर्दिष्ट चित्रो मे विषय की दृष्टि से जो वस्तु उल्लेखनीय है, वह यह कि नर्तन और वादन दोनों में ही वैविध्य और अनेकरूपता मिलती है। एकाकी नर्तन के दो उदाहरण मिलते है। (फलक I, चित्र सं० १ तथा फलक II, चित्र सं० २) जिनमें मुद्राएँ भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार सहनर्तन भी अनेक प्रकार का लक्षित होता है। स्त्री-पुरुष के युग्म-नर्तन के दो दृश्यों में से एक में हाथ में हाथ देकर नृत्य करने का चित्रण है तथा दूसरे में पुरुष वादक है और स्त्री निर्वसनानर्तन करती है। अफ्रीका के सहारा क्षेत्र में युग्म-नृत्य का एक शिलांकित दृश्य इस बात को सिद्ध करता है कि मानव इतिहास में ऐसे नृत्य की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन रही है।[1] जिनमें हाथ में हाथ देकर स्त्री-पुरुष पक्तिवद्ध होकर संयुक्त रूप से नृत्य करते हों ऐसे अनेक दृश्य विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक रीति से शिलाकित किये गये है। विदेशी शिलाचित्रों में भी ऐसे नर्तन-दृश्य अनेकशः प्राप्त होते है। सामूहिक नृत्य के आदिम रूपों में कदाचित् यह सबसे प्रचलित एव पुरातन रूप है। मुखाच्छादन युक्त युग्मों के सहनर्तन के भी दो दृश्य इस खण्ड में समाविष्ट है जिनमें एक को 'कपिनर्तन' तथा दूसरे को 'पशुमुखनर्तन' कहा जा सकता है। दक्षिणी अफ्रीका में छद्मवेशयुक्त नर्तन के प्रमाण बुशमैन चित्रों में बहुधा मिलते हैं।[2] ऐसे समूहनर्तन जिनमें केवल पुरुष भाग लेते हों, के अनेक दृश्य चम्बल घाटी में अकित मिलते है। (द्र० फ० IV, २) मोड़ी के एक नृत्य-चित्र में २८ व्यक्ति हाथ में हाथ दिये सहनर्तन करते हुए चित्रित है। ऐसे दृश्यों में पहला व्यक्ति विशालतर आकार और विशेष सज्जित शिरोभूषा वाला होता है। इस चित्र को प्रस्तुत खण्ड के फलक VI पर अवतरित कर दिया गया है। दो पुरुषों के बीच एक स्त्री के योग से विनिर्मित त्रयी का नृत्य भी अंकित किया गया है जिसमें एक पुरुष संभवतः गायन की मुद्रा में हाथ उठाये हुए है। यह विविधता इस बात को प्रमाणित करती है कि नृत्यपरक

---

१. द्रष्टव्य, प्रि० पे०, फलक ३

२. ,, प्रि० पे०, पृ० ३०

दृश्यों का अंकन उन स्वाभाविक स्थितियों से सम्बद्ध है जो किसी रूढ़ि या निश्चित परिपाटी में कसी हुई नहीं थीं। प्रागैतिहासिक कला में जो जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है वह अत्यन्त गतिमय और सक्रियतासूचक है। उस गतिमयता के भीतर ताल और लय की भी स्थिति थी यह तथ्य प्रस्तुत खण्ड के चित्रों से सर्वथा प्रमाणित हो जाता है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि उस गति का सूक्ष्म और संतुलित निदर्शन मुख्यतः ऐसे ही चित्रों में हुआ है। इनमें कहीं-कहीं आन्तरिक लयान्विति से पूरित आवेग के संकेतों पर मानव-शरीर वाद्य-यन्त्र की तरह संचलित होता हुआ दिखायी देता है। अन्य खंडों में भी कतिपय ऐसी मानवाकृतियाँ हैं जिनका अंग-संचालन इतना लयान्वित प्रतीत होता है कि नर्तन का आभास होने लगता है (द्रष्टव्य, खंड ४, फलक XI, चित्र सं० १, २ और फलक I तथा इनसे सम्बद्ध चित्र-परिचय)। कुछ अन्य चित्रों में भी नृत्य निहित हो सकता है। वैसे ज्ञात रूपों के आधार पर खोज करने की यह एक सीमा तो है ही कि ज्ञात की परिधि में न आने वाले अनेक वास्तविक रूप दृष्टि से ओझल बने रह जाते हैं। ऐसे नृत्य-रूपों के होने की पर्याप्त संभावना है जो अध्ययन और परिचय के क्षेत्र-विस्तार के साथ परिलक्षित हों।

वाद्य-यन्त्रों में मुख-वाद्यों के, न्यूनाधिक सरलता-वक्रता-परक भेद से, अनेक रूप दिखायी देते हैं जिनको प्रचलित नामों से व्यक्त करने पर प्रायः लगता है कि सही रूप की व्यंजना नहीं हो पा रही है। अन्य वाद्यों में ढोल कहीं मृदंग जैसा कुछ लम्बा और कहीं डमरू जैसा मध्यक्षीण मिलता है (द्रष्टव्य, फलक IX)। नर्तकों की तरह ढोलवादक भी एकाकी और युग्म दोनों रूपों में चित्रित मिलते हैं जिससे सहनर्तन की तरह सहवादन की कल्पना भी की जा सकती है। सभी अवस्थाओं में ढोल गले में लटकाकर उसे दोनों हाथों से बजाने की मुद्रा अंकित की गई है। तन्तु-वाद्य का स्वरूप प्रचलित रूपों से कुछ भिन्न है तथा उसमें ध्वनि-घोषक पात्र भी संलग्न चित्रित किया गया है। इसी प्रकार सितार के रूप में खूँटियों के अभाव के कारण कुछ विचित्रता-सी लगती है यद्यपि उसकी रूपरेखा अपरिचित नहीं है। सबसे अधिक विचित्र और अपरिचित वाद्य फलक I, चित्र सं० २ और फलक III, चित्र संख्या १ में चित्रित है जो अत्यधिक झुकी हुई कमानी की तरह है और जिसे संभवतः दोनों हाथों से थाम कर निचले सिरे टकराते हुए चिमटे की तरह बजाया जाता होगा। पँचमढ़ी और मिर्ज़ापुर दोनों क्षेत्रों में इसकी स्थिति का प्रमाण इसे और भी महत्वपूर्ण बना देता है। चित्र-परिचय में भी इस ओर संकेत कर दिया गया है।

नृत्य-वाद्य : चित्र-परिचय

फलक I

चित्र सं०—१

वोरी (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्र पर आधारित एक यष्टिकाय मानवाकृति जिसकी विचित्र अंग-भंगिमा आवर्तित गति युक्त-नर्तन का आभास देती है। एक उठा हुआ पैर तथा एक ही दिशा में लम्वायित हाथ और सुसज्जित केश नृत्य की मुद्रा से संगति रखते हैं। चित्र का रचना-विधान अत्यन्त सरल किन्तु व्यंजक है। सभंग योजना से अभंग रूप की प्रतीति करायी गयी है। देह-यष्टि हाथ के आरम्भ-विंदु से असम्पृक्त है और शिरोरेखा उससे अलग वनी है । कल्पना द्वारा ही तीनों को सम्वद्ध करके सम्पूर्ण मानव-शरीर का वोध होता है । यह विधि कतिपय अन्य चित्रों में भी उपलब्ध होती है ।

चित्र सं०—२

जम्वूद्वीप (पँचमढ़ी) के प्रमुख शिलाश्रय के दायीं ओर सफेद रँग से पूरक-शैली में अंकित एक वादक और नर्तकी के युग्मक सहनर्तन का मूल से ही अनुकृत आकर्षक दृश्य जिसकी ओर गॉर्डन की दृष्टि नहीं गयी । इसमें नर्तन और वादन दोनों की गतिमय स्थिति पारस्परिक संगति के साथ प्रदर्शित है। नर्तकी के दोनों हाथ आगे की ओर एक-सी तरंगायित मुद्रा में अंकित हैं। कोहनियों के कोण नर्तन की विशेष भंगिमा के कारण ही ऊपर की ओर चित्रित हैं। पीछे लहराती हुई वेणी, पैरों और ऊपरी देह-भाग का आगे को झुकाव तथा ग्रीवा की तदनुरूप उठान शरीर की लयान्वित सजीवता का परिचय देती है। पुरुष के रूप-विन्यास में पैरों का अतिशय लहरीलापन तथा देह को इधर-उधर आवर्तित करते और दोनों हाथों से वाद्य-यन्त्र वजाते हुए घूम कर देखना उसी प्रकार की अन्विति का वोध कराता है जो नर्तन में ताल और लय की संगति के साथ घटित होती रहती है । पुरुष की शिरोभूषा विचित्र है और वाद्य-यन्त्र भी अपरिचित प्रकार का है । इसी खंड के फलक III के चित्रों में अनेक व्यक्ति ऐसे ही वाद्ययन्त्र लिये हुए प्रदर्शित हैं। यहाँ. यह चित्र पहली वार प्रकाशित हो रहा है।

फलक II

चित्र सं०—१

पचमढ़ी से अनुकृत इस चित्र में एक आदिम युग्म प्रदर्शित है। चित्रित रूप से दोनों के मानव होने मात्र का बोध होता है स्त्री-पुरुष होने का नहीं। दोनों का ऊपरी देहभाग ही प्रदर्शित है अतः नृत्य का निश्चित अभिप्राय ग्रहण करना कठिन है परन्तु हाथ `हाथ में लिए होने के कारण तथा मुक्त हाथों की भी तद्वत् उन्नत और सन्तुलित स्थिति से सह-नर्तन का आभास अवश्य होता है। इधर-उधर बिकीर्ण केश भी गतिमत्ता का संकेत करते हैं।

चित्र सं०—२

पँचमढ़ी से ही अनुकृत इस बाह्यरेखानुकृति में एक स्त्री दोनों हाथ उठाये नर्तन की-सी मुद्रा में अंकित है। पैरों के कुछ मुड़े होने के कारण नर्तन का सीधा अभिप्राय ग्रहण करने में किंचित् बाधा पड़ती है परन्तु इधर-उधर लहराता कटिबन्ध आवर्तित गति का सूचक है जिससे नर्तन का अर्थ लेना ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

चित्र सं०—३

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ के एक चित्र की इस बाह्यरेखानुकृति में स्त्री-पुरुष के सह-नर्तन का अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट है। दोनों एक-दूसरे का हाथ थाम कर तीव्रता से नृत्य कर रहे हैं। उनके दोनों ओर फैले हुए हाथ, आगे पीछे होकर गति का संवहन करने की मुद्रा में अंकित पैर तथा उड़ते हुए कटिबन्ध पारस्परिक संगति रखते हैं।

इस फलक के तीनों चित्र गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित रेखानुकृतियों पर आधारित हैं।

फलक III

चित्र सं०—१

लिखनिया—२ (मिर्जापुर) की गुफा में दाहिनी ओर अंकित गैरिक वर्णी पूरक चित्र की इस अनुकृति में चार व्यक्ति एक ही दिशा में जाते हुए प्रदर्शित हैं जिनमें आगे के दो व्यक्ति पिछले दोनों के अस्त्रों से भिन्न प्रकार की वस्तु हाथों में लिये हुए हैं। यह अस्त्र न होकर कोई आदिम वाद्य है जिससे ध्वनि-उत्पादन या तो निचले सिरों को परस्पर टकरा कर किया जाता रहा होगा अथवा उसके लपकाने से ही कोई लयात्मक झंकार उत्पन्न होती रही होगी। इसे वाद्य मानने के पक्ष में प्रमाणस्वरूप इसी खंड के फलक I के चित्र सं० २ को प्रस्तुत किया जा सकता है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

कंडाकोट पहाड़ (मिर्ज़ापुर) की दिशा में वसौली ग्राम से लगभग मील भर दूरी पर स्थित ढोकवा महरानी के एक शिलाश्रय की भीतरी कोर पर अंकित चार व्यक्तियों का एक अन्य समूहांकन जिसमें वे एक ही दिशा में गतिशील प्रदर्शित किये गये हैं। मध्यवर्ती दोनों व्यक्तियों के हाथ में पूर्वोक्त प्रकार के वाद्य-यन्त्र प्रतीत होते हैं। उनके इधर-उधर की पहली और अन्तिम मानवाकृतियाँ नगाड़े जैसा कोई आदिम वाद्य गले से लटकाये हुए हैं। इससे भिन्न उनका कोई अन्य अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक IV

चित्र सं०—१

वनियावेरी (पँचमढ़ी) की गुफा-छत में मटमैले सफेद रंग से अंकित अर्धस्पष्ट नर्तन-दृश्य जिसमें पाँच नर्तक पंक्तिवद्ध होकर हाथ में हाथ दिये पैरों की पूर्ण गतिशीलता के साथ नृत्य कर रहे हैं। नर्तकों में दूसरी आकृति स्पष्टतः स्त्री की है। उसकी कटि अपेक्षाकृत क्षीण है और स्तन इधर-उधर लटकते चित्रित किये गये हैं। अंतिम को छोड़कर शेष तीन आकृतियों में भी शरीर भाग के इधर-उधर उभार हैं पर वे वस्त्र-बोधक प्रतीत होते हैं और उन्हें पुरुष मानना ही संगत लगता है। अन्तिम आकृति भी पुरुष की ही है पर उसे उस प्रकार वस्त्रयुक्त चित्रित नहीं किया गया है। हाथों के साथ हाथों की संलग्नता का अंकन कलात्मक संक्षेप के साथ हुआ है अथवा पंजे एक-दूसरे के कन्धे पर रखने की मुद्रा अनुमानित करनी होगी क्योंकि दो व्यक्तियों के मध्य में कोहनी के दो कोण प्रदर्शित न करके एक ही वनाया गया है। संलग्नता के कारण प्रत्येक के हाथ की पूर्णता आभासित होती है जबकि वस्तुतः एक ही हाथ का अंकन हुआ है। केवल स्त्री के एक पैर को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति का पैर दूसरे से सम्पृक्त अवस्था में चित्रित नहीं किया गया है और सम्पर्क भी परिप्रेक्ष्यजन्य लगता है, वास्तविक नहीं। सम्पूर्ण चित्र संपुंजन-व्यवस्था की दृष्टि से पर्याप्त व्यवस्थित और आकर्षक है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

मोड़ी नामक स्थान (मध्यप्रदेश) के एक शिलाश्रय से वाकणकर द्वारा अनुकृत एवं 'सामूहिक नृत्य' शीर्षक से धर्मयुग के १९ जून, १९५९ के अंक में प्रकाशित चित्र जिसके नीचे लघु रूप में उसी चित्र की उन्हीं के द्वारा की गई इं० ऑ० १९५९ में प्रकाशित अनुकृति भी दे दी गयी है। दोनों अनुकृतियों को एक साथ देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे एक ही चित्र की हैं केवल उनमें से एक ट्रेसिंग पेपर के उलट जाने से उल्टी हो गयी है। छोटी आकृति में

किनारे पर अंकित शिरोभूषा-युक्त एक नर्तक और अंकित है जो सम्भवतः बड़ी अनुकृति में आ नहीं सका। दूसरे किनारे पर बिंदु-पूरित आकृति तथा दोनों सिरों से पहले के नर्तकों के पैरों का मूल चित्र में अभाव दोनों की एकता का स्पष्ट प्रमाण है। बड़ी आकृति में अस्पष्ट पैरों को बिंदु-रेखा से प्रदर्शित किया गया है। मूलचित्र गेरुए लाल रंग में बनाया गया है। बिंदु-पूरित आकृति हलकी पड़ चुकी है। दोनों का रंगभेद प्रकट करने के लिए ही अनुकृति में यह अन्तर कर दिया गया है। यह नर्तन-दृश्य ऊपर वाले नर्तन-दृश्य से तुलनीय है। इसमें हाथों का अंकन भिन्न प्रकार से गुणक चिह्नवत् हुआ है और पैरों में भी उतनी गतिशीलता लक्षित नहीं होती।

फलक V

चित्र सं०—१

लिखनिया–२, (मिर्जापुर) की गुफा में गेरुए रंग से पूरक शैली में अंकित एक नर्तन-दृश्य जिसमें पाँच व्यक्ति हाथ में हाथ दिये नृत्य कर रहे हैं। पद-संचार एक समान न होते हुए भी नर्तन की स्थिति व्यक्त करता है, विशेषतः पहले और चौथे व्यक्ति का। दूसरी आकृति की शिरोभूषा अन्य सबसे भिन्न है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

कबरा पहाड़ (रायगढ़) के शिलाश्रय से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० १९३५ के अंक ५ में प्रकाशित अनुकृतियों पर आधारित प्रतिकृतियाँ जो हाथ में हाथ दिये समूह-नर्तन की ही द्योतक हैं। इसमें शैलीबद्धता के साथ-साथ ज्यामितिकता विशेष रूप से लक्षित होती है। त्रयी में मानवाकृतियों का बोध सर्वथा लुप्त हो गया है। बिना परम्परा-ज्ञान के उनमें नर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। चतुष्टय में पहली और तीसरी तथा दूसरी और चौथी आकृति की रूप-रचना समान है जिससे नर्तकों की स्थिति में क्रम-बद्धता की सूचना मिलती है। हाथों और पैरों की स्थिति विलोमतः समान रूप में चित्रित है जो ज्यामितिकता के कारण संभव हो सकी है। इस चित्र में पहले का एक हाथ और अन्तिम का शीश अप्रदर्शित है जो मूल में सम्भवतः अस्पष्ट हो गया होगा। एकाकी आकृति सबसे अलग और सबसे विचित्र है। पैरों के अभाव में उसे भी मानवाकृति के रूप में ग्रहण करना कठिन है पर वस्तुतः है वही। दोनों हाथ विभिन्न प्रकार से बने हैं। दूसरे हाथ में उँगलियों का विभाजन त्रिशूलवत् प्रदर्शित है। यह हाथ अन्तर्वर्ती पूर्ण रेखा से कलात्मक रीति से सम्बद्ध कर दिया गया है।

चित्र सं०—३

लिखनिया—१,(मिर्जापुर) में गरई नदी के इसी पार वाली एक शिला पर गैरिकवर्णी पूरक शैली में अंकित सहनर्तन का एक रोचक दृश्य जिसमें तीन व्यक्ति विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शित हैं। मध्यवर्ती आकृति स्त्री की हो सकती है। उसकी शिरोभूषा भी पृथक् ढंग की है। पहला व्यक्ति एक हाथ वेग के साथ ऊपर उठाये है जैसा गायक लोग आलाप लेते समय प्रायः करते हैं। उसका दूसरा हाथ कमर की ओर मुड़ा है जिससे गायन के स्थान पर नर्तन की ही प्रतीति होती है। अन्तिम व्यक्ति दोनों हाथ समान रूप से उठाये हुए है। तीनों के पैर प्रायः एक जैसी स्थिति में हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक VI

मोड़ी (चम्बल घाटी) का महत्वपूर्ण समूहनर्तन-दृश्य जिसमें दो नर्तक-समूह अंकित हैं। निचले अंश में अट्ठाईस व्यक्ति हाथ में हाथ दिये सह-नृत्य कर रहे हैं। इसमें पहला व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक विशाल आकार तथा विशेष सज्जित वेश-भूषा वाला चित्रित किया गया है। उसके एक हाथ में धनुष-बाण है तथा दूसरा समीपस्थ व्यक्ति के हाथ से संलग्न है। इनके ऊपर चित्र के मध्यभाग में दूसरा नर्तक-समूह केवल छः व्यक्तियों का है और इसमें विशालतर नर्तक की स्थिति निचले चित्र की तरह दायीं ओर न होकर बायीं ओर है जिससे ज्ञात होता है कि उसका मात्र किनारे पर होना ही नर्तन-क्रम में आवश्यक माना जाता होगा। किनारा कोई भी हो सकता है। इस दृश्य में उसका हाथ भी समीपस्थ व्यक्ति के हाथ से संलग्न नहीं है।

दोनों समूहों के ऊपरी भाग में पाँच पशुओं को डण्डे से भगाता हुआ एक मनुष्य बना है। यह अंश अपने में पूर्ण होने के कारण नर्तन-प्रसंगों से भिन्न लगता है।

निचले अंश के प्रमुख नर्तक की शिरोभूषा के ऊपर उल्टे पंखे जैसा एक आयताकार चिह्न अंकित है। यह भी नर्तन-दृश्य से असम्बद्ध एक स्वतन्त्र प्रतीक प्रतीत होता है।

प्रस्तुत चित्र वाकणकर के पत्रक 'पेण्टेड रॉक शेल्टर्स आफ इण्डिया' में प्रकाशित उन्हीं के द्वारा की गयी अनुकृति का प्रतिरूप है।

फलक VII

चित्र सं०—१

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय में सफेद रंग से पूरक शैली में अंकित एक नर्तक-युग्म जिसमें एक वानर-वेश में मुखाच्छादन युक्त है और उसके पूँछ भी लगी है।

इसे युद्ध-दृश्य नहीं माना जा सकता क्योंकि हाथों और पैरों की पारस्परिक रूप में संतुलित गतिशीलता तथा लयान्वित अंग-भंगिमा नृत्य का ही परिचय देती है। दोनों के कटि-पट आकारगत भिन्नता रखते हुए भी गति के संवहन में प्रायः समान दिखायी देते हैं। पहले नर्तक के नीचे झुके हुए हाथ की मुद्रा भारतीय नृत्य-परम्परा के शास्त्रीय रूप में अब भी सुरक्षित है। नर्तन की गति में निहित उग्रता अवश्य उसका आदिम रूप व्यक्त करती है। मूल चित्र में जो अंश अस्पष्ट थे उन्हें इस वाह्यरेखानुकृति में विंदु रेखा से प्रदर्शित कर दिया गया है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० II ३ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित एक नर्तक-युग्म जिसमें दोनों व्यक्ति मुखाच्छादन धारण किये है। पहले का आच्छादन शृंग-युक्त पशु-मुख का है और दूसरे का पूर्व चित्र जैसे वानर-मुख का, किन्तु इस चित्र में किसी के पूँछ नही बनायी गयी है। दोनों के हाथों की मुद्राएं भिन्न प्रकार की हैं किन्तु पैरों का स्वरूप और गति-विधि प्रायः समान है। दूसरा नर्तक हाथ में पाश जैसी कोई वस्तु लिये प्रतीत होता है। पहले नर्तक के हाथों के पंजे भी कृत्रिम लगते हैं।

फलक VIII

चित्र सं०—१

निम्बूभोज (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय पर सफेद चित्रों पर आक्षिप्त पूरक शैली का एक योद्धा-युग्म जो सुदीर्घ मुख-वाद्य बजाता जा रहा है। दोनों योद्धा सशस्त्र हैं और उनकी रूप-रचना ज्यामितिकता लिये हुए है। पहले के पैर अधिक गतिशील हैं और उसका कटि-बन्ध तदनुरूप पीछे की ओर लहरा रहा है। वह केवल ढाल लिये हुए है और इस नाते आगे वाले योद्धा का सेवक प्रतीत होता है। इसी शिलाश्रय पर सेवक सहित एक अश्वारोही के अंकन से इस अनुमान की पुष्टि होती है। अगला योद्धा कमर में लंबा खड्ग धारण किये है और उसके पीछे वाले हाथ में छोटे आकार का भाला है जिसकी मूठ विशेष आकर्षक है। इसके पैर असाधारण कोमलता लिये हुए हैं। संभव है उठी हुई नोक पादत्राण धारण की सूचक हो। उसका ऊपरी वेश भी अन्य योद्धा से भिन्न और विशेष है। शिरोभूषा की विशेषता पीछे लटकती चोटी से स्पष्ट है। मुख-वाद्य का आकार दोनों में समान है। केवल एक में आगे के गोलक के पास खूँटी जैसी उठान भी चित्रित है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

माड़ादेव (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० १, प्रथम समूह से गॉर्डन द्वारा अनुकृत-

प्रकाशित रेखानुकृति पर आधारित इस चित्र में एक सुसज्जित योद्धा मुख-वाद्य बजाता हुआ जा रहा है। वाद्य से संलग्न पट्टी का गुणक चिह्नवत् अलंकरण विशेषतः द्रष्टव्य है। यह चित्र लाल वाह्यरेखायुक्त श्वेतवर्णी शैली का है और अनुकर्ता ने इसे उत्तर चतुर्थ श्रेणी का माना है।

चित्र सं०—३

जम्वूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ५ से अनुकृत एवं उपर्युक्त चित्र के साथ ही प्रकाशित एक मुख-वाद्य-वादक धनुर्धर का चित्र जिसमें केश-बंध और तूणीर की स्थिति तो स्पष्ट है परन्तु वस्त्र-धारण का कोई संकेत नहीं मिलता।

चित्र सं०—४

पूर्वोक्त शिलाश्रय से ही अनुकृत सवस्त्र शृङ्गवादक जो प्रायः उसी मुद्रा में अंकित है।

चित्र सं०—५

जम्वूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ मे पूर्वोक्त स्रोत मे ही- उपलव्ध प्रस्तुत रेखानुकृति में मुख-वाद्य अलगोझे की तरह दोहरा और विशिष्ट प्रकार का है। यहाँ भी धनुर्धर की देह पर तूणीर प्रदर्शित नहीं है। कटि-बन्ध की विचित्रता और पैरों की विशेष गतिशीलता अतिरिक्त ध्यान आकर्षित करती है।

फलक IX

चित्र सं०—१

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के नवज्ञात शिलाश्रय पर लाल वाह्यरेखायुक्त श्वेतवर्णी पूरक शैली में अंकित चित्र की, मूल पर ही आधारित, इस अनुकृति में दो मृदंगवादक आवेग युक्त सह-वादन की मुद्रा में आलिखित हैं। हाथों की रूप-रेखा लयात्मक रीति से तीव्र थाप देने की सुशक्त और स्वाभाविक मुद्रा को व्यञ्जित करती है। दोनों आकृतियाँ इतनी सजीव हैं कि कल्पना मृदंगों से निकलते हुए स्वर तक को सुनने की ओर प्रवृत्त हो जाती है। पैरों की संचरण-विधि वादन क्रम से संगति रखती हुई चित्रित है। कटि-बन्ध के अतिरिक्त पीछे से लटकता हुआ पुच्छाकार वस्त्र दूसरी की अपेक्षा पहली आकृति में नितान्त स्पष्ट है। यह चित्र यहाँ प्रथम वार प्रकाशित हो रहा है।

चित्र सं०—२

'वी डैम केव' (पँचमढ़ी) नामक गुफा मे गॉर्डन द्वारा अनुकृत चित्र पर आधारित एक मृदंगवादक की वाह्यरेखानुकृति जो सा० क० के सातवें अंक में प्रकाशित हो चुकी है।

पैरों की गति से नर्तन का भी आभास मिलता है जैसा मृदंगवादन के साथ स्वभावतः घटित होता रहता है। पैरों के बीच लटकता हुआ पट्ट पुच्छाकार प्रदर्शित है। मुख पार्श्व-दृष्टि से अङ्कित है और नासिका के उभार को आलिखित करने की चेष्टा स्पष्ट है।

चित्र सं०—३

माड़ादेव (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ३ से अनुकृत मृदङ्गवादक का एक अन्य रेखा-चित्र जिसमें पुच्छाकार की विभिन्नता को छोड़कर शेष विशेषताएँ प्रायः पूर्वोक्त चित्र के समान हैं। पैरों की स्थिति और शिरोभूषा में भी कुछ अन्तर लक्षित होता है। मृदंग का आकार बीच में संकीर्णता लिये हुए है और उसके पीछे छिपी कटि की अंकन-रेखाएँ भी आलिखित हैं जो कल्पनागत पारदर्शिता प्रकट करती हैं।

फलक X

चित्र सं०—१

निम्बूभोज (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं अनेक स्थानों पर प्रकाशित तन्तुवाद्य-वादन का यह प्रमुख चित्र मूल रूप में चटक श्वेतवर्णी पूरक शैली में अंकित है और प्रस्तुत वाह्यरेखानुकृति का आधार है। मूल चित्र से इस अनुकृति की तुलना करने पर ज्ञात हुआ कि तन्तुवाद्य के निचले सिरे से संलग्न ध्वनि-घोषक पात्र (sound box) के ऊपर विंदुओं का भी अंकन है जो वस्तुमूलक न होकर अलंकरणमूलक प्रतीत होता है। चित्र की ऊपरी आकृति के अपूर्ण होने का कारण उस स्थान की शिला का सदोष होना है। शेष भाग सही रूप में अनुकृत है। इसमें एक आखेटक अपना धनुष-वाण और फरसा पीछे रखकर निश्चित भाव से पाँच तन्तुओं वाले अर्धचन्द्राकार वाद्य को बैठे हुए बजा रहा है। उसकी मुखाकृति मानव की अपेक्षा गर्दभ से साम्य रखती है। सम्भवतः वह कोई पशुमुखी आच्छादन धारण किये हुए चित्रित है। खुले हुए मुख से गायन की कल्पना भी की जा सकती है। उसके सामने पैरों के पास बैठी स्त्री का मुख भी कुछ-कुछ उसी प्रकार खुला हुआ है और वह समीपस्थ बालक की ओर वाला हाथ भी ऊपर उठाये हुए है। तदनन्तर एक निर्वस्त्र तरुणी दोनों हाथ उठाकर नर्तन करती हुई चित्रित है। हाथों में त्रिधा विभाजन सांकेतिक रूप में उँगलियों को प्रदर्शित करता है। नर्तकी का केश-पाश सुव्यवस्थित रीति से ऊपर उठा हुआ बनाया गया है। अपूर्ण आकृति का देह-भाग और हाथ-पैर अन्यों से भिन्न नितान्त यष्टिवत् बने हैं तथा पीछे की ओर उसी प्रकार की अनेक रेखाएँ आलिखित हैं जिनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। यह चित्र आखेटक के संगीतमय पारिवारिक वातावरण को पूरी अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

चित्र सं०—२

निम्बूभोज या बाजार केव (पँचमढ़ी) के बाहरी शिलाभाग पर सामने ही अंकित लाल बाह्यरेखाओं वाली श्वेतवर्णी पूरक शैली के चित्र से मूलतः की गयी इस रेखानुकृति द्वारा मूल चित्र के स्वरूप का आंशिक आभास ही प्राप्त होता है। इसमें एक वादक सितार जैसे वाद्य को गोद में रखकर स्वाभाविक मुद्रा में बजा रहा है। उसके ऊपरी सिरे को पकड़ने वाला हाथ मूल चित्र में अस्पष्ट होने के कारण अनुमानतः बिंदु-रेखा से प्रदर्शित कर दिया गया है। नुकीली दाढ़ी वाले वादक का शिरोभाग केश-जूट से युक्त है और उसका अंकन पूर्णतया पार्श्व दृष्टि से हुआ है जबकि शेष देह आंशिक पार्श्व दृष्टि से चित्रित है। जिस आसन्दी पर वह बैठा हुआ है वह काष्ठ या प्रस्तर की प्रतीत होती है। अधोवस्त्र जाँघिये जैसा है। चित्र की लाल रेखाएँ सशक्त और सधी हुई हैं तथा वादक के रूप को संतुलन के साथ व्यक्त करती हैं।

2.

नृ० वा०, फलक–II

1.

1.

2.

नृ० वा०, फलक–IV

1.

2.

3.

नृ० वा०, फलक–V

नृ० वा०, फलक–VI

1.

2.

नू० वा०, फलक–VIII

1.

2

3.

1.
2.

पुरा-प्रतीक
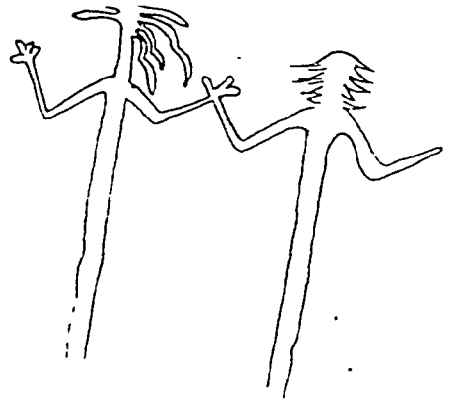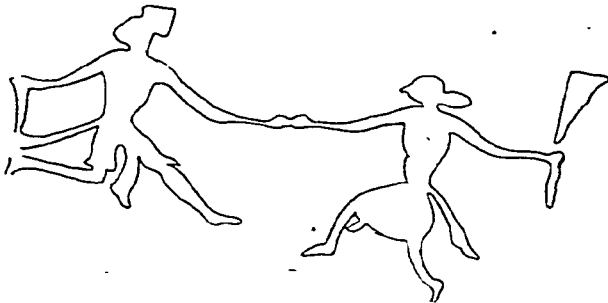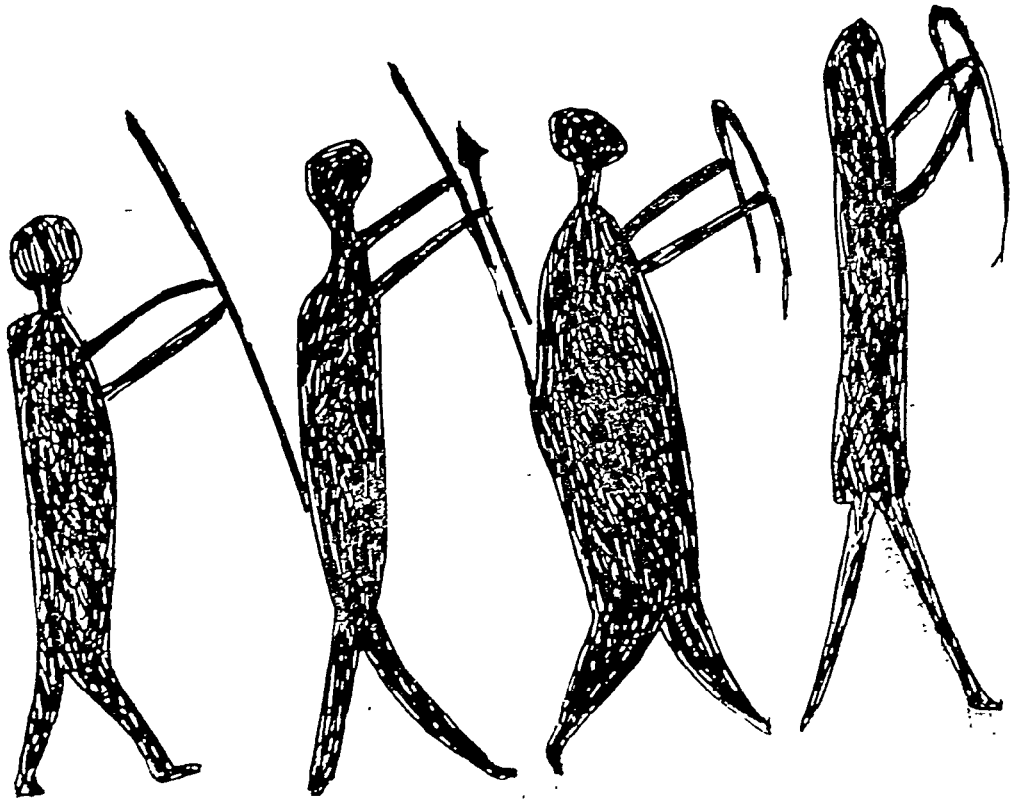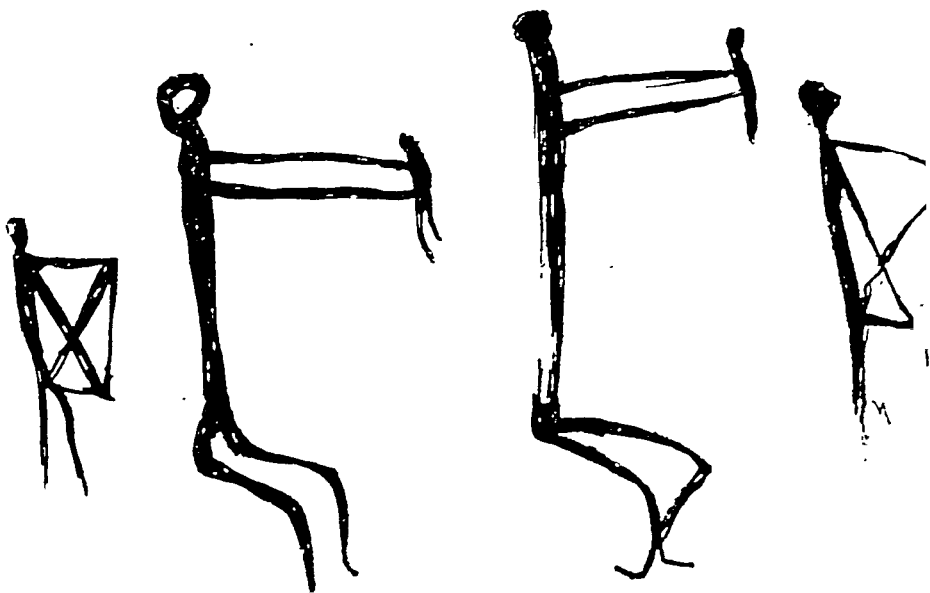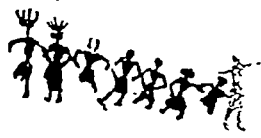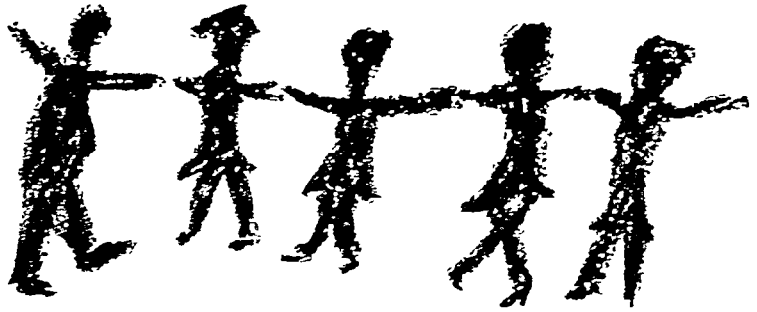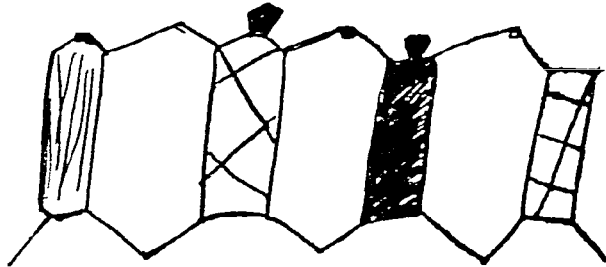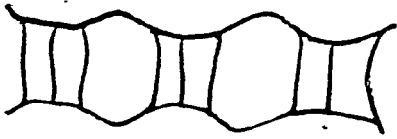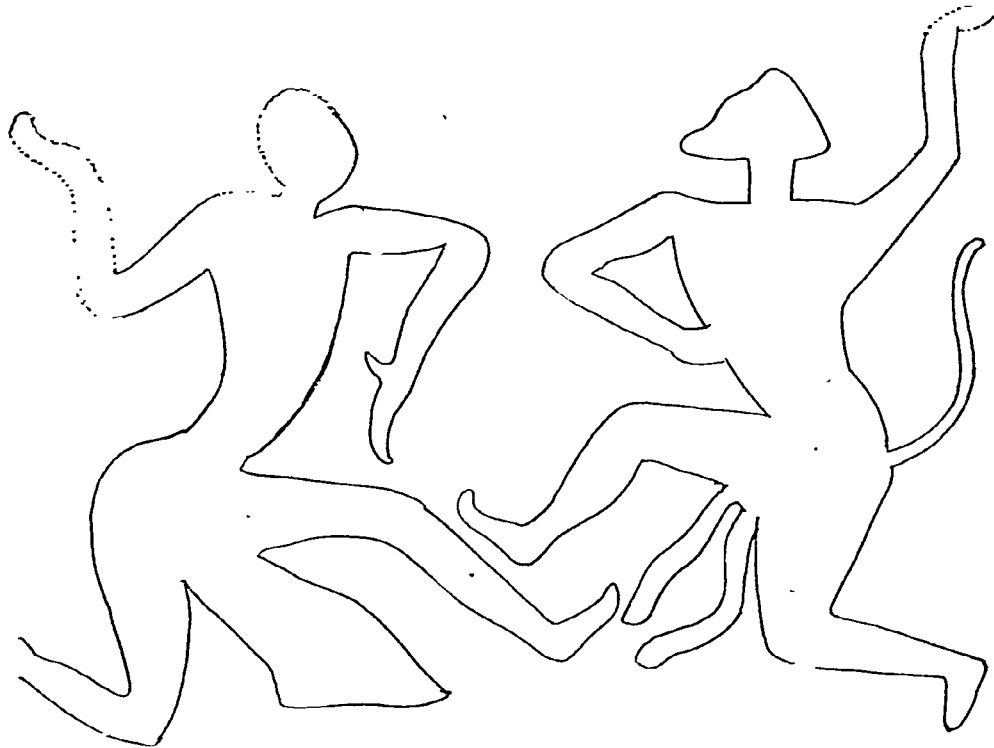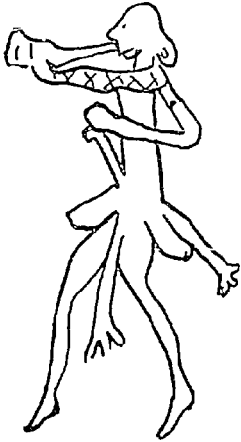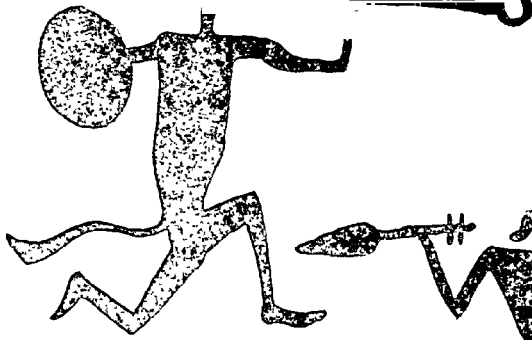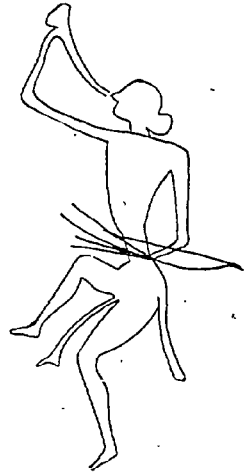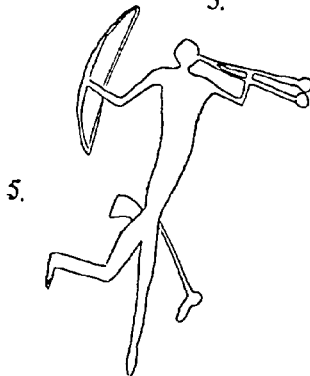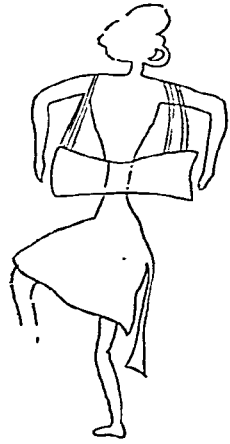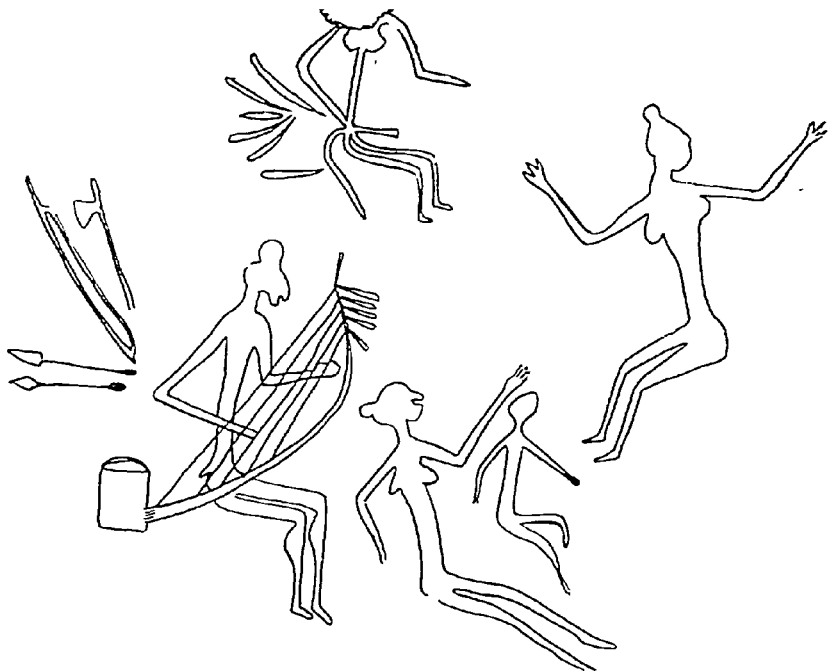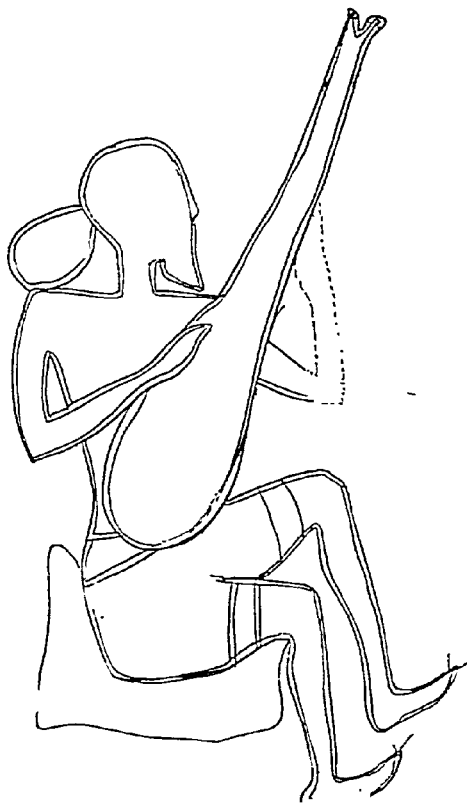
चित्र-खंड-९

चम्बल घाटी में स्थित मोड़ी के शिला-
श्रय पर अंकित एक. विचित्र एवं
अद्वितीय पूजा-प्रतीक जिसमें मध्यवर्ती
वेदिका के द्योतक वृत्तात्मक रेखांकन
के चारों ओर कटे हुए सात पशु-शीश
वृत्ताकार चित्रित किये गये हैं। जो
स्थान बायीं ओर रिक्त है उसमें दो सिर
और बने होंगे ऐसा अनुमान होता
है। इससे ताम्र-प्रस्तर युग में पशु-
बलि का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

पूजा-प्रतीक

मानव-संस्कृति के गंभीर अध्येताओं ने इस बात को अनेक प्रकार से लक्षित किया है कि धर्म, उपासना या पूजा-भाव की जड़ें इतिहास, आद्यैतिहास और प्रागितिहास तक की ज्ञात सीमाओं से भी अधिक व्यापक एवं गहरी हैं। उनका प्रसार कदाचित् मानव-अस्तित्व के प्राचीनतम प्रमाणों के उस पार की अज्ञात अंधकारमय कंदराओं तक जाता है।[1] आधुनिक विचारकों की दृष्टि में बाह्यत: ही संस्कृति धर्म से पृथक् और प्रतिमुख दिखायी देती है, मूलत: दोनों अभिन्न ही नहीं अविच्छिन्न भी कही जा सकती हैं क्योंकि उनका उद्भव अन्योन्याश्रित रूप में हुआ है तथा दोनों का सम्बन्ध-सूत्र चेतन जगत् से परे अवचेतन जगत् तक व्याप्त है।[2] मनोवैज्ञानिकों ने धार्मिक विश्वासों के उद्भव की समस्या को प्रेम और घृणा की शाश्वत मानवीय ध्रुवता, यौन-वृत्ति और वर्जनात्मक नैतिकता तथा इसके संघर्ष से विकसित होने वाली सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध किया है। साथ ही कला, काव्य, पुराण और धर्म के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले विविध कल्पनात्मक प्रतीकों एवं मिथकों अथवा कल्प-कथाओं (Myths) को किसी एक ही स्रोत से अनुप्राणित माना है जिसका अस्तित्व मानव चेतना में सार्वभौमिक स्तर पर निर्दिष्ट किया जा सकता है। लोक-मानस की अनेक-मुखी अभिव्यक्तियों के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि संसार के प्राय: सभी देशों में उपास्य वीरनायक, भयावह राक्षस और अलौकिक देवी-देवता अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियाँ किसी न किसी रूप में निरन्तर सत्ता बनाये रही हैं। फ्रायड और जुंग द्वारा प्रस्तुत व्याख्याएं ऐसे ही सैद्धान्तिक आधार को लेकर चली हैं। जुंग फ्रायड की यौनवादी विचार-धारा की अतियों के तत्त्वत: विरोधी हैं और उन्होंने धार्मिक चेतना को मानव-मनोविज्ञान के क्षेत्र में स्वतन्त्र स्थान दिया है तथा उसकी यथोचित महत्ता स्वीकार की है। उनके मत से जो इस तथ्य को नहीं देख पाते वे दृष्टिहीन हैं और जो उसकी अन्यथा व्याख्या करके

---

१. प्रिहिस्टॉरिक रेलीजन, पृ० १५

२. नोट्स टुवार्ड्स दि डेफिनिशन ऑफ कल्चर, पृ० १५, ६८

इसे टाल देना चाहते हैं उन्हें यथार्थ का कुछ भी बोध नहीं है।[1] प्रागैतिहासिक चित्र, चाहे वह योरोपीय हों चाहे भारतीय, जुंग की धारणा को बहुत दूर तक प्रमाणित करते हैं।

मनोविज्ञान द्वारा दी गयी व्याख्याओं की तुलना में धर्म, संस्कृति और कला की समाजशास्त्रीय व्याख्याएँ स्पष्टतर होते हुए भी कुछ उथली प्रतीत होती हैं। व्यावहारिक, सामाजिक आवश्यकताएँ तथा आर्थिक सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्मन और उसके कल्पना-व्यापार एवं अभिव्यक्ति-प्रक्रिया को कुछ ही दूर तक नियोजित करते हैं, इन सबका कारक तो उन्हें कदापि नहीं कहा जा सकता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति के आधुनिकतम विचारक जार्ज. ल्यूकाक्स (George Lukacs) ने गॉर्डन चाइल्ड आदि के मतों से लाभ उठाते हुए प्रागैतिहासिक और परवर्ती कला की, मार्क्स के सिद्धान्त—die Prioritat des Seins—अर्थात् भौतिक अस्तित्व ही चेतना का नियामक होता है, के अनुसार नये ढंग से व्याख्या की है किन्तु सौंदर्यबोध की रचनात्मक आन्तरिकता को बहिर्जगत् के प्रभावों के रूप में विश्लेषित करने में वह भी पूर्णतया सफल नहीं हुए। उनके तर्कों से यह भी सिद्ध होता है कि धर्म सौन्दर्य-बोध के सर्वथा विपरीत रहा है और कला मनुष्य के अन्तर्तम को उद्घाटित करने में धर्म के दावे की अपेक्षा अधिक मानवीय और मौलिक दावा कर सकती है।[2] वस्तुतः सौंदर्यबोधपरक संस्कृति की उच्चतम अभिव्यक्तियाँ जिन प्रेरणाओं एवं नियमों से परिचालित होती हैं उन्हें अर्थ-सम्बन्धों की एकांगी और स्थूल सीमा में पूर्णतया नहीं बाँधा जा सकता। भाषा कला की अपेक्षा देश, काल और समाज से अधिक निबद्ध दिखायी देती है। उसका अनुशीलन करके भी साम्यवादी आलोचक कुछ ऐसे ही परिणाम पर पहुँच रहे हैं।[3]

---

१. ...The fact that man has, everywhere and always, spontaneously developed religious forms of expression, and that human psyche from time immemorial has been shot through with religious feelings and ideas. Whoever cannot see this aspect of the human psyche is blind, and whoever chooses to explain it away, or to "enlighten" it away, has no sense of reality.

—माडर्न मैन इन सर्च ऑफ ए सोल, पृ० १४०

२. दि टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट, जून २५, १६६४, 'Art is a "mirroring" of objective realities, but there is in it a vital, irreducible subjective component. Beneath the epistemological arguments runs the assertion that religion......is fundamentally and necessarily anti-aesthetic. ...Art presents a radical humanistic alternative to the claims of revelation.

—पृ० ५४२

३. —डॉ० रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ० ४३०

कला भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक सार्वभौमिक, व्यक्तिचेतनापरक और अन्तर्मन के सूक्ष्म व्यापारों को प्रतिविम्बित करने वाली विधा है।

सौन्दर्य-शास्त्र प्रतीकों की व्याख्या को तीसरी दिशा प्रदान करता है जो कला की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। उसके अनुसार बाह्यजगत् के अनुभव की समग्रता से आकृतियों एवं रूपों का पृथक्करण प्रायः एक जैसे अनुभव की पुनरावृत्ति एवं निरन्तरता तथा तर्कना-शक्ति पर आश्रित रूपाकारों के स्वतन्त्र बोध की प्रक्रिया द्वारा घटित होता है। सरल अथवा मिश्रित रूपों वाले ऐसे प्रतीक सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के होते हैं। निरर्थक प्रतीकों की शक्ति उनमें सम्बद्ध यातुमूलक विश्वासों में निहित रहती है और सार्थक प्रतीक परम्परा द्वारा अपने मान्य अर्थ का प्रस्फुटन करते हैं।[1] सार्थ रूपों के अर्थगत महत्व से प्रतीकों में अतिरिक्त सौंदर्यात्मक मूल्य की सृष्टि होती है जिसकी ओर आदिम कला के विशेषज्ञ फ्रैंज़ बॉस (Franz Boas) ने सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के प्रतीकों की सत्ता स्वीकार करते हुए हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा यह भी कहा है कि ऐसे महत्वपूर्ण रूप मूर्त को ही नहीं अमूर्त को भी व्यक्त करते हैं।[2] कौन-से प्रतीक सार्थक हैं कौन-से निरर्थक, इसका निश्चय करना भी सरल कार्य नहीं है क्योंकि कभी-कभी प्रतीकार्थ प्रतीक के रूप-विधान से सर्वथा असम्बद्ध होता है अथवा उसका सम्बद्ध-सूत्र इतना क्षीण हो चुका होता है कि दोनों को आपस में जोड़ पाना विशेषज्ञों तक के लिए दुष्कर हो जाता है। जिस जाति द्वारा वे प्रतीक व्यवहृत या पूजित होते हैं उसी के लोग उनके वास्तविक अर्थ को समझ या समझा सकते हैं। कहीं-कहीं सजीव वस्तुओं को निर्जीव ज्यामितिक रूपों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जैसे अर्धवृत्तों के द्वारा मनुष्यों का और वृत्तावर्तकों (spirals) अथवा पूर्णवृत्तों के द्वारा पशुओं का प्रदर्शन आदि। इन तथ्यों की ओर पंचानन मित्र ने प्रागैतिहासिक भारत विषयक अपने अध्ययन में संकेत किया है किन्तु उनका आधार भारतीय शिला-चित्र न होकर आस्ट्रेलियन चित्र थे तथा यह अभिमत भी उनका अपना न होकर दुर्खेन

१. ऐस्थेटिक्स टु-डे, पृ० ३३०-३३१

२. We have seen that in the art of primitive people two elements may be distinguished; a purely formal one in which the form is filled with meaning. In the latter case the significance creates an enhanced aesthetic value, on account of the associative connections of the art product or of the artistic act. Since these forms are significant they must be representative, not necessarily representative of tangible objects, but sometimes of more or less abstract ideas.

—प्रिमिटिव आर्ट, पृ० ८८

(Durkheinn) का है।[१]

सी० डवल्यू० ऐण्डर्सन ने पंचानन मित्र से भी पूर्व भारतीय शिला-चित्रों के ही सन्दर्भ में प्रतीकवाद का विश्लेषण एवं विकास-क्रम दूसरी ही विधि से निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार हम यह मान सकते हैं कि प्रागैतिहासिक मानव-कला का विकास उसकी सक्रियता को परिचालित करने वाले तत्वों से ही हुआ है जिनमें एक है आहार-प्राप्ति की आकांक्षा और दूसरा है धर्म जिसमें अभिचार मूलक सारे कृत्य, टोने-टोटके तथा नृत्य आदि भी समाविष्ट हो जाते हैं। दोनों तत्वों का कुछ ऐसा सम्मिश्रण घटित हुआ कि उसकी परिणति उस प्रतीकवाद के विकास में होनी अनिवार्य हो गयी जो पहले संकेत-आलेखन तथा स्वामित्व-सूचक चिह्नों के रूप में आविर्भूत हुआ और वाद में उसी से एक ओर लिपि-चिह्नों तथा दूसरी ओर ज्यामितिक आकल्पनों का उदय हुआ।[२]

तर्कना-पूर्व मनस्थिति (prelogical mentality) की धारणा के आधार पर प्रागैतिहासिक और आदिम विश्वासों की व्याख्या वहुधा की जाती है पर विशेपज्ञों ने इसे भ्रामक वताया है। फ्रेंच विद्वान् लेवी ब्रू (Levy Bruhl) के मत से विपर्यय-सिद्धान्त (Law of Contradiction) तथा सहभागीकरण-सिद्धान्त (Law of Participation) के विषय में भ्रम होने से ही 'तर्कना-पूर्व मनःस्थिति' की पूर्वोक्त धारणा सार्थक प्रतीत होती है और उसे आदिम क्रियायों को समझने में उपादेय माना जाता है जवकि वस्तुस्थिति यह है कि आदिम और वहुत अंशों में प्रागैतिहासिक मस्तिष्क किन्हीं परोक्ष शक्तियों या शक्ति पर विश्वास रखने के कारण प्रत्यक्ष वस्तु-वोध का अतिक्रमण कर जाता है। उसके लिए वस्तुओं का स्थूल-विभाजन एवं व्यक्त स्वरूप निरर्थक हो जाता है। ई० ओ० जेम्स (E. O. James) ने इस मत का समर्थन करते हुए योरोपीय शिला-चित्रों में अंकित मुखाच्छादनों तथा पशु की खाल ओढ़कर नर्तन और आखेट करने वाली मानवाकृतियों को व्याख्यायित करने तथा उनके पीछे निहित सामाजिक-धार्मिक परम्परा को समझाने की चेष्टा की है।[३] जुंग ने भी

१. प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० १५६

२. The second head (b) was undoubtedly mixed up with (a) and the natural consequence of it, but in its turn would give birth to the development of symbolism as a medium for message writing and ownership marks from which of course we eventually got alphabetic signs and conventional decorative designs.

—JBORS 1918, Vol. IV, पृ० ३०३

३. प्रिहिस्टॉरिक रेलीजन, पृ० २३२-२३३

तर्कना-पूर्व मनःस्थिति की धारणा पर आपत्ति की है। उनका विचार कि आधुनिक मनुष्य और आदिम मनुष्य में अन्तर तर्कना-शक्ति के आविर्भाव और अभाव का नहीं है क्योंकि मानव मस्तिष्क में उसकी स्थिति के प्रमाण सांस्कृतिक विकास-क्रम में निरन्तर मिलते हैं। अन्तर वास्तव में आस्था के आधार और स्वरूप का है। आदिम मानव के विश्वास भिन्न प्रकार की सत्ताओं पर आधारित सिद्ध होते हैं इसलिये उसकी विचार-प्रणाली उसे जीवन को भिन्न प्रकार से प्रत्यक्ष करने और भिन्न परिणामों तक पहुँचने के लिये बाध्य करती है।[1] जो कुछ आदिम मनुष्य के लिये सत्य है वह सब कुछ प्रागैतिहासिक मानव पर तद्वत् लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि इस बात का पर्याप्त साक्ष्य मिलता है कि इतिहास-पूर्व युग में भी मानव-संस्कृति अनेक दिशाओं में अनेक बार आदिम अवस्था से ऊपर उठ चुकी है। समस्त पुरातन को आदिम मान लेना भी कम भ्रमात्मक नहीं है। मैक्स राफायल ने अपने ग्रंथ 'प्रि० के० पे०' की भूमिका के आरम्भ में विवेक के इस बिन्दु पर बहुत अधिक बल दिया है जो वास्तव में उचित ही है क्योंकि आदिम और पुरातन में अंतर न करने के कारण विज्ञ लोगों के लिये भी मूल्यांकन करना बहुधा कठिन हो जाता है। योरोपीय शिला-चित्रों के अध्ययन के आधार पर राफायल का निष्कर्ष है कि पाषाण-युगीन मानव किसी भी कर्म को यातुक शक्ति से रहित और किसी भी ऐसी शक्ति को कर्म-रहित रूप में देखना नहीं जानता था। सिद्धान्त और व्यवहार उसके लिये अविच्छिन्न थे। सामाजिक विकास जब आखेट से कृषि की अवस्था में पहुँचा तो विवश होकर यातुकर्मी को ऐसे कर्मो को मान्यता देनी पड़ी जो किसी मानव-समूह द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते थे। यातुकर्म इस स्थिति में अंधविश्वास में परिणत हो गया और धर्म ने उसे स्थानान्तरित कर दिया। धर्म-भावना के उद्भव से पूर्व की यातुमूलक चेतना एवं यथार्थ वस्तु-बोध को राफायल ने 'विज्ञान' कहा है क्योंकि उसमें समाज द्वारा उपलब्ध उपकरणों तथा अर्जित ज्ञान की उस सम्पूर्णता को आत्मसात किया जाता था जिसमें समाज को रूपान्तरित कर देने की क्षमता होती है। यातु-कर्म एकसाथ दो धारणाओं पर आश्रित होता है। पहली धारणा है यातु-कर्मी द्वारा कल्पित क्रिया पर उसके मनोकेन्द्रण और पशु के उस कल्पित क्रिया में भाग लेने

---

१. We call it prel-ogical because to us such an explanation seems absolutely illogical. But it only strikes us in this way because we start from assumptions wholly different from those of primitive man......As a matter of fact primitive man is no more logical or illogical than we are. His presuppositions are not the same as ours, and that is what distinguishes him from us.

—मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ सोल, पृ० १४५-१४६

की, और दूसरी है मानसिक तथा भावात्मक केन्द्रण के किसी पशु-विरोधी कर्म में वाह्यतः परिणत होने की।[1] राफायल की यातु और धर्म विषयक उक्त प्रतिपत्ति सारगर्भित एवं मननीय है किन्तु यातुमूलक चेतना को 'विज्ञान' कहना मूल तथ्य के ज्ञापन में सहायक होने की अपेक्षा कठिनाई उपस्थित करता है। विज्ञान में जिस कोटि की तटस्थ वस्तु बोधात्मक विश्लेपण-प्रवृत्ति अपेक्षित होती है वैसी पापाण-युग में सम्भव नहीं थी अतः केवल बीज-रूप में ही उसकी स्थिति मानी जा सकती है। योरोपीय पापाण-युगीन कला के सन्दर्भ में राफायल ने यातुमूलक चेतना को वहाँ के शिला-चित्रों की शक्ति-सम्पन्नता और प्रकृति की परिधि में रहकर प्रकृति से ऊपर उठ जाने की क्षमता का कारण माना है।[2]

पंचानन मित्र ने अपनी पूर्व-सन्दर्भित पुस्तक में ही पापाण-युगीन कला के उद्देश्यों पर विचार करते हुए योरोप के शिलाचित्रों के पीछे निहित किसी आदिम प्रकृति के विश्वास का अस्तित्व देखने वाले वेनर्ट (Wennert), कैपिटन (Capitan), ब्रूई (Breuil) आदि विशेपज्ञों के मतों का उल्लेख नहीं है।[3] कटी हुई उँगलियों वाले हाथों की छापें, धर्म-कृत्य की द्योतक मानी जाती हैं। अस्त्रों से आहत पशु-चित्र आखेट की सफलता के लिये किये गये टोने अथवा यातु-कर्म के प्रतीक समझे गये हैं। पशु की खाल ओढ़े अथवा पशुओं की आकृति वाले मुखाच्छादनों को धारण किये आकृतियों के चित्रण के पीछे छद्म के अतिरिक्त पशुओं से एकात्म होने का भाव निहित कहा जा सकता है। पशुओं को दिवंगत आत्माओं के रूप में परिकल्पित किया जाना भी सम्भव माना गया है। भारतीय सन्दर्भ में पशुपति और भूतनाथ की एकता भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है, ऐसी धारणा व्यक्त की गयी है। अतिरंजित वक्ष और विशाल मध्यभाग वाली अत्यन्त प्राचीन पापाण मूर्तियाँ मूर्तिपूजा का संकेत करती हैं। कुछ योरोपीय चित्रित गुफाएँ अत्यन्त दुर्गम तथा भयावह अन्धकार से युक्त हैं और उनमें मानव-निवास का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इससे निष्कर्प निकाला गया है कि बिना किसी अति-विश्वास एवं दृढ़ धार्मिक निष्ठा के ऐसा सम्भव नहीं है अतः वे गुफाएँ एक प्रकार के 'पूजा-गृह' के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं। इनके अँधेरे और रहस्यमय वातावरण के बीच कृत्रिम प्रकाश के द्वारा ही चित्रण सम्भव हो सका होगा। ऐसे प्रस्तर-खण्ड लास्को तथा पेरोनियन गुफाओं से प्राप्त हुए हैं जिनपर बीच में जलन के काले चिह्न मिलते हैं जिससे अनुमानित किया गया है कि चर्बी या कोई अन्य स्निग्ध पदार्थ जलाकर नितान्त कठिन स्थिति में चित्र अंकित किये गये हैं। चित्रकारों को, सीलन और झोंकों से दीपक बुझ जाने पर, उन्हें

---

१. प्रि० के० पे० पृ० ६-७

२. वही, पृ० ६

३. प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० १५५-१५६

तत्काल जला देने की विधि भी ज्ञात रही होगी ।[1] योरोपीय गुफाओं में पशुओं के सशक्त यथार्थ रूपांकन के अतिरिक्त अनेक शुद्ध ज्यामितिक आकार (Tactiforms) अंकित मिलते हैं जिन्हें कुटियों के रूप में ग्रहण करने का विचार व्यक्त किया गया है।[2] कुछ विद्वान् इन्हें उन्हीं पशुओं का अमूर्ततायुक्त ज्यामितिक आकार मानते हैं जिनका चित्रण उन आकारों के साथ उन्हीं गुफाओं में मिलता है । शिलाचित्रों के इतिहास में यह प्रतीक-चिह्न प्रतीकांकन की समस्या का कदाचित् सबसे प्राचीन रूप प्रस्तुत करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्यामितिक रूपांकन युक्त प्रतीक-शैली को किसी परवर्ती विकास के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता । उसका मूल उत्स वही है जो अन्य प्रकार के प्रागैतिहासिक चित्रों और चित्रशैलियों का है। अन्तर केवल कल्पना-विधि का ही माना जायेगा । सम्भव है मनःस्थिति और उद्देश्य में भी कुछ भेद रहा हो पर प्रतीकार्थ के निश्चित ज्ञान के बिना उसे समझना और प्रमाणित करना प्रायः असम्भव है । भय, उपासना, गुह्यता, रहस्य और अतिविश्वासमूलक धारणाएँ योरोपीय शिलाचित्रों के साथ अंकित ज्यामितिक तथा अन्य प्रकार के प्रतीकों के पीछे निहित रही होंगी,. ऐसा निष्कर्ष प्रामाणिक आधार पर निकाला गया है । कतिपय गुफाओं में प्रतीक-चिह्नों के अंकन की स्थिति और पृथकता पर विचार करते हुए ब्रूई ने उन्हें पूर्व-पुरुषों की आत्माओं के लिए चित्रित निवास-गृह के रूप में व्याख्यायित किया है।[3]

जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है चित्रित गुफाओं में 'चैत्य' और 'विहार' के रूप में पूजा-गृह और निवास-गृह का जैसा विभेद परवर्ती काल में बौद्ध-परम्परा में मिलता है वैसा कोई भेद, प्रागैतिहासिक चित्र-केन्द्रों में, योरोपीय गुफाओं की तरह लक्षित नहीं होता। प्रागैतिहासिक युग की ऐसी कोई चित्रमय गुफा अभी तक भारत में नहीं मिली है जिसे निश्चित रूप से मानव-निवास के सर्वथा अनुपयुक्त कहा जा सके और केवल पूजा-गृह के रूप में ग्रहण किया जा सके । संभव है, और अधिक खोज होने पर दुर्गम स्थानों में कुछ ऐसी गुफाएँ भी मिलें जिनका प्रयोग किसी अज्ञात धार्मिक भावना से प्रेरित होकर केवल चित्र-रचना के लिए ही होता रहा हो ।

---

१. फो० ह० से० के० आ०, पृ० ४५

२. वही, पृ० २४

३. '......usually the sings are massed in isolated and distant corners or in very narrow clefts. I am more inclined to see in them a way of fixing the residence of ancestral spirits in a narrow recess, away from the rest of the cave, where shelters or huts were painted for them.

—वही

जो पूजापरक एवं धार्मिक भावना से युक्त प्रतीकात्मक तथा आकल्पनात्मक चित्र भारतीय गुफाओं और शिलाश्रयों में प्राप्त होते हैं उन्हें शैली, वस्तु आदि के अनुसार कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। यहाँ इस प्रसंग में केवल इतना ही कहना यथेष्ट है कि जैसा शैली-भेद अन्य प्रकार के ग्रंथों में मिलता है वैसा ही इस खण्ड के चित्रों में भी दृष्टिगत होता है, विविधता अवश्य कुछ अधिक प्रतीत होती है, वह भी मुख्यतया ज्यामितिक प्रतीकांकन में। वस्तु पर आधारित विभाजन और उसके प्रत्येक वर्ग के प्रमुख प्रतीकों एवं आकृतियों के पीछे निहित सांस्कृतिक चेतना तथा परवर्ती परम्परा के परिप्रेक्ष्य में उनके महत्व का निदर्शन ही यहाँ अभीष्ट है। इस दृष्टि से प्रस्तुत खण्ड के चित्रों को निम्नलिखित तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है।

१. अतिमानवीय देवाकृतियों के चित्र

२. पूजा-भाव के प्रदर्शक चित्र

३. ज्यामितिक तथा अन्य प्रतीकों के चित्र

देवाकृतियाँ

प्रागैतिहासिक चित्रों में रायगढ़-क्षेत्र को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में ऐसी अति-मानवीय तथा अन्य प्रकार की काल्पनिकता से युक्त अनेक आकृतियाँ अंकित मिलती हैं जिन्हें उनके असाधारणत्व के कारण देवात्मक कहा जा सकता है यद्यपि परिचित प्रकार का वैदिक एवं पौराणिक देववाद उनमें लक्षित नहीं होता। पूजा-प्रतीक रायगढ़-क्षेत्र के सिंघन-पुर तथा कवरापहाड़ दोनों ही चित्र-स्थलों में मिलते हैं पर उनमें किसी देवाकृति का समा-वेश नहीं है। मिर्ज़ापुर और पँचमढ़ी-क्षेत्र इस दृष्टि से विशेष समृद्ध और उल्लेखनीय हैं। पँचमढ़ी-क्षेत्र में सबसे अधिक देवाकृतियाँ अंकित मिलती हैं परन्तु मिर्ज़ापुर क्षेत्र के देव-चित्रों की तुलना में वे अधिक विकसित मानसिक स्थिति का परिचय देते हैं। गॉर्डन ने इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन किया है और अपने लेखों में कई स्थलों पर शिलाचित्रों की प्रतिकृतियाँ प्रस्तुत करते हुए उनमें अंकित विविध प्रकार के पशुमुखी देवों अथवा दानवों के विषय में अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। अन्य प्रकार के चित्रों, युद्ध-आखेट आदि के दृश्यों की तुलना में ऐसे चित्र बहुत कम मात्रा में मिलते हैं, इस तथ्य की ओर गॉर्डन का ध्यान गया है और उन्होंने यह भी लिखा है कि उन चित्रों के आधार पर उनके निर्माता गुहावासियों की धार्मिक आस्था के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[१] एक दूसरे स्थल पर गॉर्डन ने लिखा है

१. Religious or iconographic paintings are in fact very rare and there is little to show what the beliefs of these cave-dwellers were.

—इण्डियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स, १९३९, वा० १०, पृ० ३९

कि न केवल उन चित्रों में हिन्दू धर्म की परिचित देवाकृतियों की कोई छाया नहीं मिलती है वरन् उनमें प्रेम या काम भाव का भी कोई अंकन नहीं प्राप्त होता।[१] एक अन्य प्रकाशित लेख जिसमें उन्होंने पशुओं के साथ दानवों (Demons) के चित्रों पर स्वतन्त्र रीति से विचार किया है और निष्कर्ष रूप में प्रायः वही धारणा व्यक्त की है जो 'इंडियन आर्ट एण्ड लेटर्स' के निम्नोद्धृत एवं पूर्वनिर्दिष्ट उद्धरण में प्रकट की है। जो पशुमुखी और शृंगोंवाली आकृतियाँ उन्हें देखने को मिलीं वे इतनी पर्याप्त नहीं थीं कि वे कोई निश्चित मत व्यक्त कर सकते या उनके रचयिताओं के धर्म-भाव पर कोई प्रभाव डाल पाते। वास्तव में गॉर्डन की दृष्टि से कोई भी दानवाकृति उनके शृङ्खला-क्रम में प्रारम्भिक तृतीय शृङ्खला से पूर्व की सिद्ध नहीं हुई अतः उन्होंने उनकी समस्या को अधिक महत्व नहीं दिया।[२]

जातिवीर : गिलगमेश

गॉर्डन ने माण्टेरोजा में अंकित एवं 'इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स' के दसवें खण्ड में प्रकाशित एक विशेष जाति-वीर के चित्र को (द्र० फलक V, चित्र १) जिसमें वह एक ओर सिंह और दूसरी ओर वृष को अपनी भुजाओं की अद्भुत शक्ति से हटाते हुए पशु-समूह को निर्विघ्न निकल जाने देता है, 'Gilgamesh figure subduing lion and bull' अर्थात् 'सिंह और वृष को पराभूत करते हुए गिलगमेश की आकृति' के रूप में व्याख्यायित किया है। इसका सादृश्य हड़प्पा की एक सील में अंकित आकृति से है, इस ओर भी उनका ध्यान गया है।[३] आगे उसी सील की रेखानुकृति दी जा रही है तथा गिलगमेश को प्रदर्शित करने वाली मेसो-पोटामिया की दो अन्य सीलों की रेखानुकृतियाँ भी प्रस्तुत की जा रही हैं जिससे तुलनात्मक रीति से पूरी स्थिति अवगत हो सके।

---

१. Not only is there no Hindu religious iconography. There ,is also not a single instance of an even vaguely erotic painting.

—प्रि० वैं० इं० क०, पृ० १०६

२. The horned and animal-headed Demon figures are not present in any great numbers. They are interesting however as being the only paintings which appear in any way to have a bearing on the beliefs of the people who executed them. They are mostly late rather than early.

—सा० क०, वा० ११, पृ० ६६७

३. प्रि० वैं० इं० क०, पृ० १०६

इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स, खंड १० में गॉर्डन द्वारा लेख के साथ प्रकाशित अनुकृति पर आधारित

सिन्धु घाटी-सभ्यता के अवशिष्ट चिह्नों के साथ प्राप्त एक सील जिसमें एक वीर पुरुष अपनी असाधारण शक्ति से दो चीतों को पराजित किये हुए उन दोनों के मध्य में चित्रित है। गॉर्डन ने मान्टेरोज़ा वाले शिलाचित्रों में अंकित जातिवीर की तुलना इससे करते हुए उसे गिलगमेश कहा है। इस नाम को सर्वप्रथम कदाचित् मोहेनजोदड़ो की कुछ सीलों पर अंकित चीते को पराभूत करते हुए ऐसे ही वीरों के सन्दर्भ में अर्नेस्ट मैके ने उल्लिखित किया है किन्तु उन्होंने उसे गिलगमेश के साथी एन्किदु का सम-रूप कहा है।
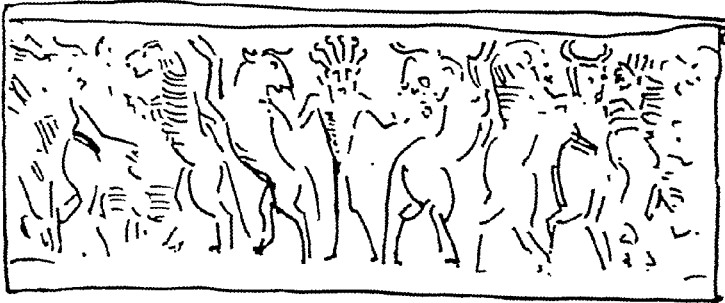
डान ऑफ सिविलाइज़ेशन के पृ० ७४ पर मुद्रित चित्र पर आधारित

मेसोपोटामिया से प्राप्त २८०० ई० पू० के एक पट पर अंकित दृश्य की रेखानुकृति जिसमें चित्रित शिरोभूषा और श्मश्रु से युक्त एक वीर (गिलगमेश) दो उद्धत वृषभों को

अपदस्थ किये हुए उनके मध्य में स्थित है तथा दोनों किनारों पर एक-एक वृष-मानव (एन्किदु) उसी प्रकार मध्य में खड़े होकर सिंहों को पराभूत कर रहा है। केन्द्रीय वीर गिल्गमेश ही है जो तत्कालीन लोक-प्रचलित कथा का नायक कहा जाता है।
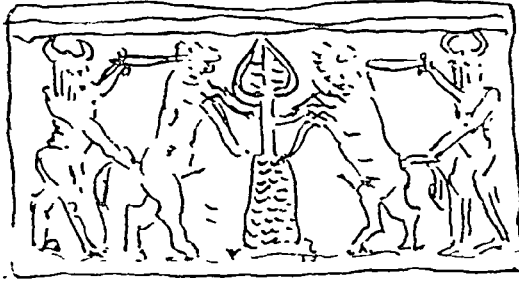
पूर्वस्थ चित्र नं० २ के साथ ही उसी पृष्ठ पर प्रकाशित

वृष-वीर और वृष-मानव एन्किदु दोनों ही एक हाथ से दो उद्धत वृषभों की पूँछ पकड़े दूसरे हाथ से उन्हें खड्ग द्वारा केन्द्रीय वेदिका, जिसमें पीपल जैसा वृक्ष आरोपित है, के दोनों ओर बलि देने में संलग्न हैं।

पूर्व-प्रस्तुत रेखानुकृतियों से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि भारत तथा उसके बाहर अन्यत्र भी गिल्गमेश और उसके साथी एन्किदु जैसे जाति-वीरों की अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न मानव अथवा मिश्रित पशु-मानव रूप में कल्पना विविध प्रकारों से की गयी है जिसमें वे पशुओं को विशेषतः वृष, महिष, सिंह अथवा चीतों को केन्द्रस्थ होकर पराभूत करते हुए चित्रित किये जाते हैं। गिल्गमेश से सम्बद्ध एक काव्य-कथा के जो अवशिष्ट अंश मिले हैं उनमें अवश्य उसके इस पशुजयी रूप का कोई सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता।[1] स्टुअर्ट पिगॉट अर्नेस्ट मैके द्वारा प्रथमतः संकेतित साम्य का आधार लेकर यह धारणा व्यक्त की है कि सम्भवतः ऐसे वीरों की रूप-कल्पना किसी समान परम्परा की हलकी छाया व्यक्त करती है अथवा धार्मिक क्षेत्र में हड़प्पा की सभ्यता पर सुमेरी सभ्यता का प्रभाव मानना पड़ेगा यद्यपि अन्य क्षेत्रों में उसकी स्थिति स्वतन्त्र दिखायी देती है।[2] इसके विपरीत एल० ए० वैडेल गिल्गमेश को मूलतः ऐतिहासिक व्यक्तित्व मानते हुए उसे प्रथम फोनीशी राजवंश के संस्थापक का पिता एवं हर्कुलीज़ नामक आर्य-सुमेरी राजा बताते हैं जिसका समय ३१५०

---

१. रेलीजन ऑफ बेबीलोनिया ऐण्ड असीरिया, वाल्यूम II, पृ० ४८८

२. प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० २०३

ई० पूर्व के लगभग था और जो लेखक के मत से भारतीय पुराणों तथा काव्यों में उल्लिखित हर्यश्व के पिता चक्षुप् से अभिन्न कहा जा सकता है।[१] हर्कुलीज, गिजावस या चक्षुप् तथा गिलगमेश की एकता प्रतिपादित करने के लिए अपने ग्रंथ के अन्तिम परिशिष्ट (V) में उनका पारस्परिक सादृश्य प्रदर्शित करने वाली विशेषताओं को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। उसमें कितना सार है, यह कहना मेरे लिये कठिन है किन्तु जहाँ तक सिंधुघाटी से उपलब्ध सीलों पर अंकित पशुजयी वीर की परम्परा का प्रश्न है, मैं उसे भारतीय मुख्यतया प्रागैतिहासिक चित्रों के स्रोत से सम्बद्ध करना अधिक युक्ति-युक्त समझता हूँ। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा संस्कृति की प्राप्त सामग्री से अभी तक यही सिद्ध होता है कि उसके निवासी सिंह से अपरिचित थे, उन्हें केवल चीते का ही ज्ञान था। अर्नेस्ट मैके की यह धारणा कि संभवतः सुमेरी परम्परा के सिंहजयी एन्किदु का रूपान्तर, सिंह के स्थान पर चीते का समावेश करके, सिंधुघाटी की सीलों के जाति-वीर या पशुदेवता के रूप में हो गया, उचित और विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। विशेषतः तब जब शिलाचित्रों में शृङ्ग-पुच्छ-धारी पशु-मानव मिश्र-रूप वाली अनेक आकृतियों का चित्रण मिलता हो तथा पशुओं को पराभूत करने की प्रवृत्ति अधिक आदिम रूप में प्रत्यक्षतः उपलब्ध होती हो।[२] ऐसी आकृतियाँ सर जॉन मार्शल

---

१. (i) Thus "Gilgamesh" the Sumerian "Hercules" and father of the founder of the First Phonician Dynasty is now disclosed to be the historical human original of "Eracles" or "Hercules" of the Phonicians, with fixed date as an Aryan Sumerian king of about 3150 B.C.

(ii) Now in the Indian Epics of the father of Haryaswa is called "Caxus" (or Chakshus) with the epithet of "Arka". This "Caxus" is now seen to be evidently the Indian form of spelling the sumerian "Gis'zax" when the writing was converted by Aryans into alphabetic characters,

—इंडो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड, पृ० १३२

२. These human figures have the hoofs, horns, and tail of a bison, and the left arm of each is raised above the head while the right hangs down by the side. Both these figures (भाग III में द्र० सील नं० २२७ तथा २३०) closely resemble Enkidu, the campanion of Gilgamesh whose head, shoulders and arms were human, but with the addition of a pair of bison's horn.

The same figure appears again on Seal 257 where he is struggling with a fabulous beast, the greater part of which is tiger-like. On seals and other object from Sumer, Enkidu is always shown struggling with a lion and his companion Gilgamesh with a bull, but it is possible that at Mohenjo-daro the tiger was subsituted for the lion, which animal never appears on the seals.

—मोहनजोदड़ो ऐण्ड दि इंडस सिविलाइज़ेशन, वाल्यूम II, पृ० ३८६

द्वारा सम्पादित ग्रंथ में समाविष्ट कई सीलों पर अंकित मिलती हैं जिनका उल्लेख उद्धृत पाद-टिप्पणी में हुआ है तथा स्वरूप का परिचय भी दिया गया है। सुमेरी सभ्यता और सिन्धुघाटी सभ्यता के बीच कोई जातिगत सम्बन्ध मानना कदापि सम्भव नहीं है, इस बात को तेईसवें अध्याय के लेखक एस० लैंग्डन ने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया है।[1] इस पृष्ठ-भूमि में सिंधुघाटी की सीलों पर अंकित विचित्र एवं रहस्यमय देवाकृतियों की व्याख्या के लिये प्रागैतिहासिक चित्रों के प्राचीनतर स्रोतों को जानना और भी अधिक आवश्यक, उपादेय और तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है। फलक VII, चित्र २ के अस्थिवंशी-वादक की आकृति का स्मरण मुझे मोहेनजोदड़ो की एक मानवाकृति को देखकर सहसा हो आया जिससे दोनों की रूप-कल्पना में कुछ समानता तो लगती ही है। यह आकृति ताम्र-पट पर बनी है।[2] यह सही है कि गॉर्डन द्वारा निर्दिष्ट सान्टेरोजा के गिलगमेश वाले चित्र में अंकित वीर की आकृति पूर्वोक्त सीलों की पशुमानव संयुक्त आकृतियों से सर्वथा भिन्न है तथा उसमें सिंह और वृष को एकसाथ पराभूत करने का दृश्य अंकित है। साथ ही उसकी वेशभूषा भी आदिम प्रकार की है परन्तु यह भी सत्य है कि शृङ्ग-पुच्छ युक्त ऐसी अनेक देवाकृतियाँ शिलाचित्रों में अंकित मिलती हैं जिनको, रूप-योजना और कल्पना-प्रकृति के आधार पर, उसी कोटि में रक्खा जा सकता है। दो सिंहों की पूँछ पकड़े उनके बीच स्थित एक अन्य देवता का चित्र (फ० V, चि० २) भी गिलगमेश जैसा ही है। ऐसी आकृतियाँ फलक III, IV, V और VII में समाविष्ट अनेक चित्रों में देखी जा सकती हैं। गिलगमेश के गले में प्रदर्शित छल्ला डोरोथी-डीप के रथारूढ़ वर्षा-देव (इन्द्र नहीं) के कंठ में भी चित्रित है। इसी प्रकार लतावृत्त के बीच अथवा यों ही चित्रित विविध मूषक-मुखी देवता जो पूर्वोक्त फलकों में विशेषतः लक्षित होता है तथा जिसका मालाधारी महामूषक रूप भी मिलता है, अपनी विशेष आकृति-प्रकृति के द्वारा इस बात को भी प्रमाणित करता है कि शिलाचित्रों की परम्परा का देववाद सिन्धुघाटी के देववाद से बहुत अंशों में स्वतन्त्र, अधिक वन्य और विशिष्ट है। उसके शृङ्ग-पुच्छ युक्त देवता स्वामी शङ्करानन्द द्वारा निर्दिष्ट वैदिक परम्परा के सशृङ्ग देवों से तो निश्चित रूप से विभिन्न दिखायी देते हैं। स्वामी जी ने भारतीय ही नहीं ग्रीस; इजिप्ट आदि भारतेतर अन्य देशों के शृङ्गदेवों को भी अपने आग्रहपूर्ण प्रतिपादन में बलात् अग्नि या सूर्य की परम्परा से सम्बद्ध कर दिया है। सिन्धु घाटी के सशृङ्ग देवों को तो वैदिक धारणा के अनुरूप सिद्ध करना उनके लिये अनिवार्य था क्योंकि वे समस्त सिन्धु

---

१. वही, पृ० ४२६

२. वही, वाल्यूम III, प्लेट CVXII, चित्र सं० १६

सभ्यता को आर्य-सभ्यता का ही एक रूप सिद्ध करने के लिये कटिबद्ध होकर ग्रंथ लिखने में संलग्न हुए ।[१] अन्याय विदेशियों की ही तरफ से हुआ हो यह बात नहीं है, भारतीयों की ओर से भी कम दुराग्रह प्रदर्शित नहीं किया गया है ।

यहाँ मैं मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के शिलाचित्रों में प्राप्त कुछ ऐसे देवताओं का उल्लेख करूँगा जिन्हें वैदिक और पौराणिक परम्परा अथवा सिन्धु-सभ्यता के ज्ञात देववाद के आधार पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता । उनका रूप नितान्त आदिम, वन्य और अपरिचित है। फलक I पर जो शिरोहीन विशाल मानव-देह माँसपेशियों के प्रत्यक्षीकृत रूप के कल्पनात्मक सशक्त संगठन से विनिर्मित है उसमें वरद मुद्रा में एक ओर ऊपर उठे दो हाथ प्रदर्शित हैं जिससे वह भयावह आकृति देवपरक प्रतीत होती है। 'कबन्ध' नामक राक्षस का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में राम के वनवास के प्रसंग में आता है परन्तु इसे किसी भी रूप से कबन्ध-देव कहना सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें आँख का प्रदर्शन किया ही नहीं, गया है जबकि कबन्ध के उदर में आँख की ही नहीं मुख की भी स्थिति मानी गयी है। यही नहीं वह बाहुहीन बताया गया है किन्तु इस चित्र में उसकी दोनों बलिष्ठ भुजाएँ पूरी तरह चित्रित की गयी हैं।[२] यह चित्र मेरी दृष्टि से उन्हीं लोगों की कल्पना से उपज सकता है जिन्होंने मनुष्य-शरीर की मांस-पेशियों का सूक्ष्मता से बहुत काल तक निरीक्षण किया हो। असंभव नहीं कि वे नरमांस-भक्षी और नर-बलि में विश्वास रखने वाले रहे हों । अथर्ववेद जो बहुत काल तक अपने आर्येतर परम्परा के यातुमूलक अंशों तथा विचित्र मन्त्र-तन्त्र परक आसुरी विश्वासों के कारण वेद-चतुष्ट्य से अलग और उपेक्षित रहा, वेद-त्रयी ही मान्य रही; उसमें गर्भ और कच्चा मांस खाने वाले लम्ब-केशी लोगों का उल्लेख मिलता है ।[३] उन्हें भारत के वन्य आदिवासियों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि शिलाचित्रों में बहुधा मानवाकृतियाँ उठे हुए केशों वाली प्रदर्शित की गयी हैं और कृषि-पूर्व जीवन में उनका आहार भी मुख्यतया मांस ही रहा होगा। यह भी केवल अनुमान ही कर रहा हूँ, निश्चयात्मकता ऐसी धारणाओं में तभी आ सकती है जब इस दिशा में सभी संभव प्रमाणों की खोज करके

---

१. The horns of the heads of the Indus deities therfore are either solar or fire symbols and the deities are related anyhow to the sun of fire.

—ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ दि प्रिहिस्टॉरिक इंडस, वाल्यूम I, अध्याय IV, पृ० १००

२. रामकथा, द्वितीय संस्करण, पृ० ४२६-३०

३ (i) य आम मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवाः तान् इतो नाशयामसि ।

—अथर्व, ८।३।२३

(ii) असुर इण्डिया, पृ० ५७

उनकी संगति स्थापित की जाय।

फलक II के चित्र में भी पूर्वोक्त चित्र जैसी वरद मुद्रा का प्रदर्शन, काली आकृति में उलटे पैरों का अंकन तथा उसे देखकर दर्शक में भय का संचार, यह सब आदिम भूत-प्रेत की कल्पना को प्रमाणित करते हैं जो आज भी लोक-परिचित है। संदर्भित चित्र इस दृष्टि से अद्वितीय महत्ता रखता है। वह उस मनःस्थिति को प्रत्यक्ष करता है जिसके जानने का कोई और साधन संभव नहीं है। पौराणिक साहित्य अतिरंजनाओं तथा कल्पना-रूढ़ियों से ग्रस्त होने के कारण ऐसी स्थिति को कदापि व्यक्त नहीं कर सकता।

वृक्ष-पूजा और वन-देवता

कला एवं संस्कृति के इतिहास में वृक्ष-पूजा की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है तथा वन-देवताओं की कल्पना भी अत्यन्त प्राचीन और आदिम स्रोतों से सम्बद्ध दिखायी देती है। यह अवश्य है कि इसके अधिक प्रमाण ऐतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक युगों की सामग्री से ही मिलते हैं, प्रागैतिहासिक युग के प्रमाण स्वल्प हैं। योरोपीय शिला-चित्रों से इसके अस्तित्व का साक्ष्य प्राप्त नहीं होता किन्तु भारतीय शिला-चित्रों में वृक्ष-पूजा के कई दृश्य अंकित मिलते हैं। दो दृश्य माण्टेरोज़ा में ही हैं (द्र० फलक X)। कुछ दृश्य आबचन्द में भी बताये जाते हैं किन्तु उनकी अनुकृति प्राप्त नहीं हो सकी। चम्बलघाटी में वृक्षोपासना के दृश्य तो संभवतः अंकित नहीं मिलते किन्तु आकल्पनात्मक रीति से वृक्षों का चित्रण अवश्य मिलता है जिसे कुछ दूर तक साँची, भरहुत और अमरावती आदि के स्तूपों में उत्कीर्ण तथा प्राचीन पंचमार्क एवं ताम्रमुद्राओं पर आक्षिप्त कल्पवृक्षों की परम्परा से सम्बद्ध करने की बात सोची जा सकती है। सीताखर्डी में वृक्ष के पास बनी चार मानवाकृतियों को उपासकों के रूप में ग्रहण करना कठिन दिखायी देता है।[1] एक वृक्ष की आकृति, जिसके शीर्ष स्थान पर ब्राह्मी अक्षर भी लिखे हैं, स्तूपों और मुद्राओं वाली वृक्षाकृतियों से बहुत साम्य रखती है।[2] होशंगाबाद में वनदेव का जो चित्र मिलता है वह पर्याप्त पुरातन और अप्रतिम है (द्र० फलक XI)। उसका कल्पना-विधान आदिम प्रकृति का है और वन-वैभव को मानवाकृति के साथ आलंकारिक रीति से विचित्र रूप में संयोजित किया गया है। देव-कल्पना का यह रूप सिन्धुघाटी की सीलों के विविध वृक्ष-देवों के रूप से सर्वथा भिन्न है। 'डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी' में (द्र० पृ० १६८ तथा सील

---

१. द्रष्टव्य, वाकणकर द्वारा प्रकाशित फ्रेंच पत्रक, अन्तिम पृ०, फि० २८

२. ,, ,, .. अंगरेज़ी लेख
—पेण्टेड राक शेल्टर्स आफ इण्डिया, पृ० २४८, फि० ७

फलक VII, चित्र २) बनर्जी ने मार्शल द्वारा प्रकाशित अश्वत्थ वृक्ष की देवी के स्वरूप पर विचार किया है। उसे वनदेवी कहा जा सकता है। विषय-वस्तु में यह सील मार्शल द्वारा वा० III, प्लेट CXVI तथा CXVIII पर प्रकाशित सील नं० १ तथा बी० ४२६ से मिलती-जुलती है। केवल क्रम ऊपर-नीचे हो गया है। उन सीलों में प्रायः पशुमुखी देवता या तो वृक्ष के नीचे दिखाया गया है या उसके ऊपर आसीन मिलता है। कहीं-कहीं कोई आकृति वृक्ष की डाल पकड़े हुए भी प्रदर्शित है। देवता के अतिरिक्त चीते जैसे एक विचित्र पशु का समावेश भी कई सीलों में हुआ है। शंकरानन्द ने अपनी पुस्तक में एक पूरा अध्याय वन-देवता (The Sylvan Deities) के विषय में दिया है जिसमें उक्त सीलों के अतिरिक्त एक ऐसी सील का भी उल्लेख किया है जिसमें स्त्री-योनि से निकलता हुआ वृक्ष चित्रित है और उसे मातृ-पूजा का द्योतक बताया है तथा सिन्धुघाटी की वृक्ष-पूजा-परम्परा का मूल वैदिक साहित्य में ही निहित माना है।[1] इसके प्रतिकूल मन्मथराय ने वृक्ष-पूजन का वैदिक धर्म में समावेश आर्येतर प्रभाव से माना है।[2] जान मार्शल ने वृक्षांकित बारह सीलों का विश्लेषण करते हुए निर्दिष्ट किया कि उनमें से केवल दो में वृक्ष केन्द्रीय अभिप्राय (central motif) के रूप में अंकित है जिसमें एक है पीपल।[3] डी० ए० मैकेंज़ी की 'दि माइग्रेशन आफ सिम्बल्स' नामक पुस्तक में (फि० ४६ ए० और बी०) दो चित्र वृक्ष-पूजा विषयक अध्याय के पृ० १७६ पर मुद्रित मिलते हैं जिनमें वृक्ष का केन्द्रीय संयोजन इधर-उधर बने बैबूनों के साथ हुआ है। वृक्ष का केन्द्रीय अंकन मान्टेरोज़ा के शिला-चित्रों में जिस रूप में हुआ है वह बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि वृक्ष-पूजा की देशी-विदेशी तमाम परम्पराओं में प्राप्त केन्द्रीय वृक्षांकन से समता रखते हुए भी वह कुछ आदिम और संयोजन की दृष्टि से विशेष दिखायी देता है। दोनों दृश्यों में वृक्ष पुष्पित हैं तथा एक में एक ओर अश्वमुखी मानव एवं दूसरी ओर अश्व की पूरी आकृति चित्रित है। जिस अश्वत्थ वृक्ष की महिमा सिंधुघाटी, वैदिक और बौद्ध तीनों परम्पराओं में स्वतन्त्र रीति से मिलती है, उसका चित्रण शिला-चित्रों में मुझे दिखायी नहीं दिया किन्तु मार्ण्टरोज़ा के अश्व-पूजित वृक्ष को देखकर 'अश्वत्थ' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने की प्रेरणा मन में अवश्य उत्पन्न होती है, यह जानते हुए भी कि ऐसे ऊपरी शब्द-साम्य पर आधारित व्युत्पत्तियाँ बहुधा भ्रामक सिद्ध होती हैं। 'मोनियर विलियम्स' में अश्वत्थ को 'अश्वस्थ' से व्युत्पन्न माना गया है, अर्थात् वह वृक्ष जिससे या जिसके नीचे

---

१. (क) ऋग्वेदिक कल्चर आफ प्रिहिस्टॉरिक इण्डस, पृ० १०५

(ख) 'The tree-cult of the Indus cities in other words in Vedic is origin.'
—वही, पृ० ११०

२. हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, पृ० १४५-४६, १५८

३. मोहनजोदड़ो ऐण्ड दि इण्डस सिविलाइज़ेशन, वॉ० II, पृ० ३९०

अश्व बाँधे जाते थे। इससे मेरा अनुमान सही सिद्ध होता है।

शिलाचित्रों में वृक्ष का दोनों ओर आकृतियों से युक्त केन्द्रीय अंकन मेरे विचार में सिंधुघाटी सभ्यता की पूर्वोक्त सीलों से भिन्न प्रकार का है, जिनमें अधिकतर उसे कोने में बनाया गया है। उनकी आंशिक समानता सुमेरी, मैक्सिकी तथा हत्ती सीलों या अन्य वैसी ही वस्तुओं पर अंकित दृश्यों से की जाय तो अनुचित न होगा। स्वामी शंकरानन्द ने सिंधुघाटी की वृक्षाकृतियों का साम्य सुमेरी और मैक्सिकी सीलों पर अंकित वृक्ष-रूप से प्रदर्शित किया है।[१] नीचे एक हत्ती सील की प्रतिकृति दी जा रही है जिसकी समता एक ओर सिंधुघाटी की एक सील (द्र० मार्शल, वॉ०, III, CXVIII, १०,C) पर अंकित बायीं ओर के दृश्य से की जा सकती है, दूसरी ओर जो वृक्ष के केन्द्रीय अंकन के कारण माण्टेरोजा के शिलाचित्रों, विशेषत: अश्व वाले चित्र के निकट लगती है। यद्यपि अधिक साम्य सिंधुघाटी की निर्दिष्ट सील से ही लगता है क्योंकि दोनों में पशु वृक्ष की पत्तियाँ खाते जैसी मुद्रा में अंकित है जबकि अश्ववाले शिलाचित्र में पूजा का भाव मिलता है और दोनों ओर की आकृतियों की मुद्राएँ भी ऐसी न होकर तदनुरूप ही चित्रित हैं।
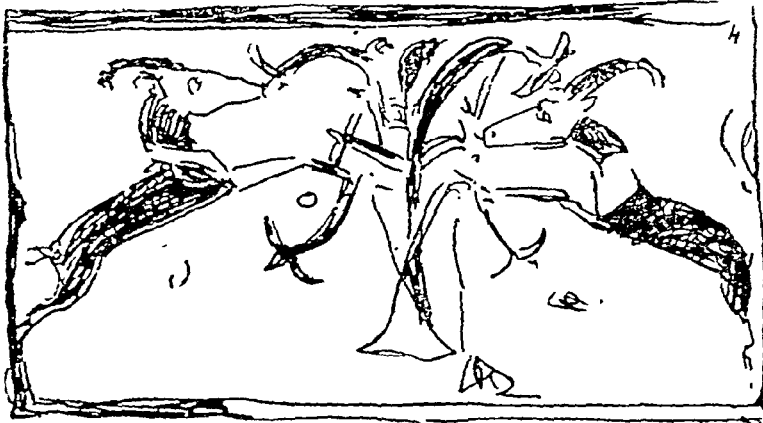
'दि डान आफ सिविलाइजेशन' के पृ० १८३ पर प्रकाशित, अनातोलिया से प्राप्त मिट्टी के चौकोर पट्ट पर अंकित एक प्रतीक-चित्र जिसमें एक केन्द्रीय वृक्ष के इधर-उधर दो बकरियां समान मुद्रा में संयोजित की गया हैं। अन्यत्र ऐसे दृश्यों में बहुधा मानवाकृतियों का संयोजन मिलता है। निर्दिष्ट ग्रंथ में और देशों की सीलें भी देखी जा सकती हैं।

१. The tree in the corner resembles the tree in the Sumerian seals with two sitting figures on the either sides with a similar seal from Maxico.

—ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ प्रिहिस्टॉरिक इण्डस, पृ० १०४

वृक्ष-पूजा संसार के बहुत-से भागों में अत्यन्त प्राचीन काल से आदिम विश्वासों के साथ प्रचलित रही है। शिशु-रूप में जन्म लेने वाली और देह से मुक्त होकर विचरने वाली दोनों प्रकार की आत्माओं का आवास वृक्षों को माना गया है। वृक्ष-देवता हर प्रकार की कामना पूरी करने की क्षमता रखते हैं, ऐसा विश्वास किसी समय विशेष आग्रह के साथ प्रदर्शित किया जाता था जिसके अवशेष विविध कलात्मक प्रतीकों के रूप में अब भी उपलब्ध होते हैं। सिंधुघाटी सभ्यता की वृक्षोपासना का मूल वेदों में निर्दिष्ट करते हुए शङ्करानन्द ने अथर्ववेद से प्राप्त दैवी वृक्ष की स्तुति का जो अंश उल्लिखित किया है उसी से प्रमाणित होता है कि वृक्ष-पूजा का मौलिक सम्बन्ध वैदिक देवताओं से न होकर राक्षस, यातुधान और यक्षों से था। स्तुति में कहा गया है कि दो शृङ्गों वाले दैवी वृक्ष के ऊपरी भाग पर राक्षसों का, मध्यभाग पर यक्षों का, तथा मूल पर यातुधानों का निवास रहता है।[1] इस कथन से तीनों जातियों की, वृक्ष के ही सन्दर्भ में पारस्परिक भिन्न स्थिति का संकेत तो मिलता ही है, साथ-साथ मूल से यातुधानों का सम्बन्ध इस बात की व्यंजना भी करता है कि संभवतः वृक्षोपासना का मूल यातुधानों के धार्मिक विश्वासों से विशेष सम्बद्ध था। पंचमढ़ी-क्षेत्र में प्राप्त होने वाले शिलाचित्रों के निर्माताओं का एक वर्ग यातुमूलक अभिचार-कृत्यों में विश्वास रखता था, ऐसा वहाँ के अनेक देवपरक शिला-चित्रों से प्रमाणित होता है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि शिला-चित्र वृक्षोपासना के उद्भव की खोज के लिए एक नयी दिशा प्रदान करते हैं।

वन के स्वामी या वनदेवता की धारणा 'वनस्पति' शब्द में समाविष्ट 'वन' और 'पति' शब्दों में ही निहित है, इसकी ओर भी शंकरानन्द ने निर्देश किया है तथा यह भी कहा है कि निघण्टु में वनस्पति से प्रकाश के स्वामी का अर्थ ग्रहण किया गया है। संभव है स्वयंप्रकाश वनस्पतियों की सत्ता इस दोहरे अर्थ का कारण रही हो। 'देव' और 'दिव्य' शब्द स्वयं मूलतः प्रकाश से सम्बद्ध हैं अतः वनदेवता के साथ प्रकाश की धारणा इस रूप में भी स्वाभाविक है। इससे केवल इसी तथ्य का बोध होता है कि वन-देवताओं की कल्पना वैदिक स्रोत से भी सम्बद्ध की जा सकती है पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि शिला-चित्र जिस सांस्कृतिक स्रोत का परिचय देते हैं वह वैदिक परम्परा से भिन्न और अधिक गहरा है। परवर्ती काल से लेकर वर्तमान समय तक भारतवर्ष में वृक्षोपासना जिस अखण्ड रूप से प्रचलित दिखायी देती है, उसके पीछे मुख्यतः यही गहराई और आदिम प्रकृति झलकती है। जातकों में कुण्डकपूव, पलास, वग्ध, पचिमन्द इत्यादि जातक वृक्ष-पूजा का रूप

---

१. ऋग्वेदिक कल्चर आफ प्रिहिस्टॉरिक इण्डस, पृ० ९८

प्रस्तुत करते हैं, उसकी प्रकृति भी कुछ अंशों में आदिम प्रतीत होती है।[1] 'हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव' नामक पुस्तक में पृ० १४६ पर मन्मथराय ने जातकों में वट-वृक्ष की पूजा के साथ बलि-प्रथा के सम्बद्ध होने का निर्देश किया है । बोधि-वृक्ष की उपासना तो बौद्ध-धर्म में अति प्रचलित रही है। उसके अतिरिक्त धातुगर्भो (दागोबों) तथा रुक्खचेतियों की पूजा भी की जाती थी। रुक्खचेतिय धातुगर्भों की तरह बुद्ध के महापरिनिर्वाण के प्रतीक नहीं होते थे वरन् उनका समादर यक्षों के आवास-गृह के रूप में विशेषत: किया जाता था।[2] उसके पीछे भय-शमन का भाव भी रहता होगा क्योंकि यक्ष नर-वाहन अपदेवता भी माने जाते थे। शिला-चित्रों से ऐसे किसी भाव की प्रतीति नहीं होती है और न नरवाहन यक्षों का ही कोई आभास उनमें मिलता है। फिर भी पूजा, समादर और एक प्रकार के अति विश्वास का स्पष्ट परिचय मिलता है। जे० फर्गुसन ने प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन करते हुए वृक्ष-पूजा और सर्प-पूजा को विशेष महत्त्वपूर्ण समझकर इनके विषय में 'ट्री ऐण्ड सर्पेण्ट वर्शिप इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक ही लिख डाली किन्तु प्रागैतिहासिक भारतीय शिला-चित्र वृक्ष-पूजा की परम्परा को तो प्रकट करते हैं, सर्प-पूजा का उनसे कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इस अभाव की ओर गॉर्डन का ध्यान भी गया है और उन्होंने स्थिति की विचित्रता पर आश्चर्य भी प्रकट किया है।[3] इससे साधारणत: यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वृक्ष-पूजा भारतवर्ष में सर्प-पूजा की तुलना में कहीं अधिक प्राचीन और आदिम स्रोतों से सम्बद्ध है जिसका साक्ष्य शिला-चित्रों से प्राप्त होता है।

स्वस्तिक-पूजा

वृक्ष-पूजा की तरह स्वस्तिक-पूजा भी प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों, सिंधु-घाटी की सीलों, जैन-बौद्ध तथा हिन्दू धर्म-प्रतीकों और लोक-कला के अभिप्रायों, सभी को एक बिन्दु पर लाकर मिलाती हुई प्रतीत होती है। उससे देश और काल दोनों की ही दृष्टि से एक अति व्यापक परम्परा का बोध होता है जो भारतीय संस्कृति के विविध स्रोतों में अपनी

---

१. जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १०६, २७२, ३०७, ३११

२. दि डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० ४

३. A strange omission is snake......it seems incredible that in this welter of paintings one should not be able to point to a single example which depicts unequivocally a snake.

—सा० क० वॉ० V, नं० ११, पृ० ६६२

विशिष्टता के साथ समाहित होते हुए भी उनके बीच स्थित किसी अन्तरंग एकता का आभास देती है।

पूर्ण या सबाहु स्वस्तिक (卐) का विकास मूलतः अबाहु स्वस्तिक (+) से हुआ है जो धन चिह्न और गुणन-चिह्न (+, ×) दोनों रूपों में अंकित किया जाता था। अंगरेजी मे दोनों रूपों के लिए 'क्रास' (Cross) शब्द प्रयुक्त होता है जिसके समानान्तर स्वस्तिक के अतिरिक्त और कोई भारतीय शब्द मुझे नहीं मिला। 'क्रास' कहने से भी स्वस्तिक का बोध नहीं होता है। उसके उक्त दोनों ही रूप पूजनीय माने जाते थे, इसका प्रमाण पँचमढ़ी क्षेत्र की बनियाबेरी नामक गुफा के भीतरी और बाहरी पूजा-दृश्यों से क्रमशः मिलता है। स्वस्तिक-पूजा की दृष्टि से यह गुफा अद्वितीय महत्व रखती है। पँचमढ़ी क्षेत्र ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी कदाचित् कहीं इस प्रकार की स्वस्तिक उपासना के दृश्य आलिखित नहीं मिलते। बाहरी दृश्य पूजा का अधिक आदिम और प्राचीनतर रूप व्यक्त करता है। उसमें उपासक स्वस्तिक के दोनों ओर सह-नर्तन की मुद्रा में प्रदर्शित हैं। भीतरी दृश्य में उपासक सभी ओर से अत्यन्त विनम्र भाव से छत्र चढ़ाते हुए चित्रित हैं। विशेष परिचय के लिये इस खण्ड का फलक IX द्रष्टव्य है तथा सम्बद्ध चित्र-परिचय भी। पूजा-प्रसंग से भिन्न स्वतन्त्र रीति से भी स्वस्तिक अनेक क्षेत्रों में शिलांकित मिलता है जैसे रौंप में अबाहु स्वस्तिक, (द्र० फ० XXI) और चम्बल घाटी क्षेत्र तथा सागर-भोपाल क्षेत्र में आकल्पनात्मक एवं सबाहु स्वस्तिक (द्र० फ० XVIII)। चम्बल घाटी में स्वस्तिक का रूप कल्प-वृक्ष की तरह आकल्पनात्मक एवं अलंकृत मिलता है जो परवर्ती लगता है।[१] पंचमार्क मुद्राओं तथा बुद्ध-चरणों में प्रतीक रूप से अबाहु-सबाहु दोनों प्रकार के स्वस्तिकों का अङ्कन मिलता है।[२] पात्रों पर भी स्वस्तिक अङ्कित मिलता है।[३] शाहीटम्प, नन्नदाटोली, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा में ऐसे पात्र मिलते हैं। इस सबसे इतना सिद्ध हो जाता है कि शिला-चित्रों में स्वस्तिक का जो अङ्कन अनेक रूपों में अनेक प्रसंगों में हुआ है वह एक सुविस्तृत परम्परा से

---

१. द्र० वाकणकर द्वारा प्रकाशित अंगरेजी पत्रक, 'पेण्टेड राक शेल्टर्स' आफ इण्डिया, पृ० २४८, फि० ७

२. (क) क्लासिफिकेशन ऐण्ड सिगनिफिकेन्स आफ दि सिम्बल्स ऑन दि सिल्वर पचमार्क्ड क्वाइन्स ऑफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया, प्ले० २९

(ख) भारतीय प्रतीक विद्या में द्र० चित्र-परिचय, चित्र-संख्या १५९-६०, पृ० ४६३ तथा चित्र, फलक ८३

३. प्रि० प्रो० इ० पा०, पृ० १८३

सम्बद्ध है, और भारतीय प्रतीकों में स्वस्तिक का स्थान विशिष्ट और महत्वपूर्ण है।

सिंधुघाटी की सीलों में स्वस्तिक के दक्षिणावर्त (卐) रूप के साथ वामावर्त रूप भी मिलता है, अबाहु और सबाहु रूप तो मिलते ही हैं।[1] एस० लैंग्डन (S. Langdon) के विचार से स्वस्तिकांकित सीलों से उसके अन्य रूपों के उपलब्ध होने की सम्भावना प्रकट होती है जिससे सिंधु-लिपि को समझने में सहायता मिल सकती है।[2] अर्नेस्ट मैके (Ernest Mackey) के अनुसार स्वस्तिक चिह्न प्राचीन काल में, संसार के इजिप्ट और बेबीलोनिया को छोड़कर जिनमें इसका प्रवेश बाद में हुआ, क्रीट, ट्रॉय, सूसा आदि बहुत-से भागों में सुपरिचित था और यह निश्चित करना कठिन है कि इसकी मूल उद्भावना का श्रेय किस देश को है। भारत में इसका महत्व अब तक मान्य है। मोहनजोदड़ो कालीन सभ्यता में तो इसके वामावर्त और दक्षिणावर्त दोनों रूप शुभ माने जाते थे यद्यपि बाद में दक्षिणावर्त रूप ही शुभ माना जाने लगा, वामावर्त अशुभ।[3]

वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार ने प्रागैतिहासिक दक्षिण भारत विषयक अपनी कृति में मैसूर से ब्रूस फूट द्वारा उपलब्ध एक अलंकृत स्वस्तिक के संदर्भ में मोहेनजोदड़ो-के स्वस्तिक चिह्नों और 'ग्रीक क्रास' की चर्चा की है तथा उनके पारस्परिक साम्य को प्रदर्शित करते हुए उन्हें सौभाग्यसूचक प्रतीक बताकर प्रकारान्तर से सूर्योपासना से सम्बद्ध किया है। उनकी धारणा है कि स्वस्तिक का उद्भव भारतवर्ष में हुआ और यहीं से वह काबुल, मिश्र तथा अन्य पश्चिमी देशों में पहुँचा।[4] मैकेंजी ने इस समस्या पर विशद रूप से विचार किया है। उन्होंने स्वस्तिक के उद्भव-क्षेत्रों के सीमा-निर्धारण के विविध प्रयत्नों के उल्लेख के साथ विविध देशों में उसकी स्वतन्त्र उद्भावना का मत देकर उसके अनेकानेक प्रतीकार्थों का भी निर्देश किया है जो रोचक और ज्ञानवर्धक है। उनके अनुसार इसे प्रजनन-प्रतीक, उर्वरता-प्रतीक, पुरातन व्यापारिक चिह्न, अलङ्करण-अभिप्राय, अग्नि, विद्युत्, वज्र, जल आदि का सांकेतिक रूप, ज्योतिषपरक प्रतीक, भारतीय चारों वर्णों का द्योतक आकार, उड़ते हुए पक्षी आदि बहुत से रूपों में व्याख्यायित किया गया है जो देशों की भिन्न-भिन्न परम्पराओं

---

१. मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इंडस सिविलाइज़ेशन, वा० III, प्लेट, CXIV, चित्र सं० ५०० से ५१५ तक तथा ६२० एवं ५२८ बी

२. वही, वॉ० II, पृ० ४२६

३. वही, पृ०, ३७४

४. प्रिहिस्टॉरिक साउथ इंडिया, पृ० १०६, १२०

को व्यक्त करता है।[1] भारतीय शिला-चित्रों में प्राथमिक अवस्था में केवल अबाहु स्वस्तिक चित्रित मिलता है जैसे सिंघनपुर में अथवा बनियाबेरी के पूजा-दृश्यों में, जिसपर उपर्युक्त बहुत-सी व्याख्याएँ घटित नहीं होतीं। उसको क्या मानकर पूजा जाता है यह कहना सम्भव नहीं है पर छत्र चढ़ाने की प्रक्रिया से उसके देवपरक अर्थ की पुष्टि होती है, जो आंशिक रूप में आज तक प्रचलित मिलता है। एक धारणा यह भी है कि स्वस्तिक न केवल ॐ की तरह पवित्र और पूज्य माना जाता है वरन् वह उसका मूल रूप भी है। वामावर्त स्वस्तिक किसी शिला-चित्र में अभी तक मेरे देखने में नहीं आया पर सिंधुघाटी में उसके प्रचलन से यह संभावना प्रतीत होती है कि कहीं वह भी शिलांकित मिल जाय। स्वस्तिक-पूजा के जो दृश्य मिले हैं उनमें भारतीय संस्कार स्पष्ट लक्षित होता है अतः उन्हें ईसाई धर्म के 'क्रास' या किसी अन्य विदेशी चिह्न से प्रभावित मानने का प्रश्न असंगत लगता है, वैसे ही जैसे सिंधु-घाटी के वामावर्त स्वस्तिक का जर्मन स्वस्तिक पर प्रभाव कल्पित करना। उद्भावना शक्ति किसी न किसी रूप में प्रत्येक देश की मूल संस्कृति में निहित होती है अतः प्रभावों का विचार उसके आकलन के बाद ही उचित होता है। क्या किसी भी स्तर पर स्वस्तिक-पूजा को नाग-पूजा से सम्बद्ध किया जा सकता है, यह प्रश्न भी उठता है। महाभारत के जरासंध-वध पर्वाध्याय में स्वस्तिक शब्द व्यक्तिवाची रूप में मणिनाग के साथ प्रयुक्त हुआ है, यथा—स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः। इसको आधार मानकर राजगिरि के समीप मनियार मठ की खोज हुई और महाभारत में नाग-पूजा का एक निश्चित प्रमाण पुरातत्वज्ञों को उपलब्ध हुआ।[2] इस स्वस्तिक को स्वस्तिक-पूजा से जोड़ना दुरूह कल्पना होगी परन्तु लोक-कला में सथिए के साथ नागों का अंकन मिलता है। बनियाबेरी के भीतरी स्वस्तिक

---

१. Various theories have been advanced from time to time to explain the swastic as a pagan symbol and archaeologists and other have devoted attention to the problem of discovering its area of origin. while some incline to view that it appeared spontaneously in different parts of the world. It has been referred to us a phallic symbol, a symbol of the female principle, a symbol of conception and birth, on ancient trade mark, a mere ornament, a symbol of fire. a symbol of lightening, a thunderbolt. a symbol of water, an astonomical symbol. a symbol of four Castes of India......a bird in flight. Teutonic Compound meaning "many-footed" etc.

—माइग्रेशन ऑफ सिम्बॅल्स, पृ० २

२. डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी, पृ० १४३

की वायीं भुजा में कुछ लहरदार विशेष ग्राकृतियाँ वनी हैं जिनका रूप स्पष्ट नहीं होता। चूंकि शिला-चित्रों में ग्रन्यत्र नाग-पूजा का कोई उदाहरण देखने में नहीं ग्राया ग्रतः उन ग्राकृतियों को सर्प-रूप में ग्रहण करना ग्रसंगत लगता है। सिंधुघाटी की सीलों में नाग ग्रौर स्वस्तिक दोनों का ग्रंकन मिलता है, पर किसी जगह स्वस्तिक के साथ नाग ग्रंकित हो ऐसा मुझे स्मरण नहीं ग्राता। सम्भव है ग्रागे की खोज इस प्रश्न पर प्रकाश डाले।

त्रिशूल

स्वस्तिक के वाद, ग्रौर उसके साथ भी, जैसा कि सिंघनपुर के चिह्नों के ग्रध्ययन से ज्ञात होता है जो प्रतीक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, उनमें त्रिशूल ग्रौर चक्र विशेष उल्लेखनीय हैं। 'माइग्रेशन ग्रॉफ सिम्वल्स' के लेखक ने स्वस्तिक के जो विविध रूप उदाहृत किये हैं, उनमें से कुछ को देखकर लगता है कि त्रिशूल ग्रवाहु स्वस्तिक का ही एक परिवर्तित रूप हो सकता है, ऐसी धारणा लेखक के मन में ग्रवश्य रही होगी। ग्रादिम प्रतीकों के विकास-क्रम पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कभी-कभी कोई प्रतीक परिवर्तन-क्रम में ऐसा विचित्र रूप ग्रहण कर लेता है कि उससे उसके मूल रूप तक पहुँचना या उसकी कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। स्वस्तिक ग्रौर त्रिशूल का साम्य तो साधारण रीति से ही लक्षित हो जाता है परन्तु, जहाँ तक भारतीय शिला-चित्रों का प्रश्न है, ऐसा नहीं लगता कि त्रिशूल का विकास स्वस्तिक से हुग्रा हो क्योंकि सिंघनपुर में, जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, दोनों स्वतन्त्र चिह्नों के रूप में प्रायः ग्रादिम ग्रवस्था में चित्रित मिलते हैं। फलक XIV का चित्र नं० १ द्रष्टव्य है। यह ग्रवश्य है कि परवर्ती चित्रों में त्रिशूल स्वस्तिक की ग्रपेक्षा ग्रौर वैसे भी कम चित्रित हुग्रा है तथा ज्ञात सामग्री में उसकी पूजा का कोई दृश्य ग्रंकित नहीं हुग्रा है। विंढम के ग्राखेट दृश्य में वह ग्रस्त्र रूप में रथवाही ग्राखेटक के हाथ में ग्रलक्ष्य चित्रित है पर उसे प्रतीक के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। ग्रमरनाथ दत्त ने ग्रपनी पुस्तक में सिंघनपुर के एक ग्रन्य त्रिशूलाकृत प्रतीक की तुलना ग्रपने सहज उन्मुक्त भाव से पुरातन भारतीय मुद्राग्रों पर ग्रंकित त्रिशूल चिह्न से की है तथा क्रीट द्वीप की प्रागैतिहासिक त्रिशूलाकृति से भी उसका साम्य निर्दिष्ट किया है।[1] यह सत्य है कि स्वस्तिक

---

१. *प्रि० रे० रॉ० सि०, प्लेट नं० IV, २ तथा सम्वद्ध परिचय*

......The three pronged sign found on a class of pre-historic Indian coins respectively, *also bear comparison with the Trident sign at Singanpur and of prehistoric Crete.*

—पृ० iv.

की तरह त्रिशूल भी सिंधुघाटी-सभ्यता में सम्मानित हुआ, एक लिपि-चिह्न के रूप में भी व्यवहृत हुआ तथा प्राचीन मुद्राओं पर भी अंकित मिलता है और इस प्रकार एक व्यापक अखण्ड परम्परा का द्योतन करता है परन्तु पवित्रता की दृष्टि से उसे उतना महत्व नहीं मिला जितना स्वस्तिक को प्राप्त हुआ। शिलाचित्र भी इस तथ्य का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। शैव परम्परा से सम्बद्ध होकर वह मुख्य रूप से शक्ति का प्रतीक बन गया। बौद्धों और जैनों द्वारा भी वह स्वस्तिक जैसा पूज्य नहीं माना गया। त्रिरत्न में त्रिशूल के समावेश की धारणा मुझे उपयुक्त नहीं लगती यद्यपि आंशिक रूप-साम्य के आधार पर प्रतीक-विद्या के एक विशेषज्ञ ने उसकी व्याख्या में ऐसा ही मत व्यक्त किया है।[1]

चक्र

'चक्र' शब्द मूलतः ज्यामितिक वृत्त का द्योतक होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से बौद्ध और वैष्णव मत में धार्मिक प्रतीक के रूप में विशेष सम्मान पाता रहा है तथा शाक्त मत में भी भैरवी-चक्र आदि रूपों में रहस्यमयता के साथ स्वीकृत हुआ।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रतीक भी भारतीय कला और संस्कृति में स्वतन्त्र महत्ता रखता रहा है तथा इसके मूल उद्भव की खोज के लिए प्रागैतिहासिक चित्रों की ओर दृष्टिपात किया जा सकता है। योरोपीय शिला-चित्रों के साथ जो 'टैक्टीफॉर्म' कहे जाने वाले ज्यामितिक प्रतीक अंकित मिलते हैं, उनमें समाविष्ट वृत्तों और अर्ध-वृत्तों के विषय में यह धारणा व्यक्त की गयी है कि सम्भवतः वे नेत्रों के प्रभाव को व्यक्त करने वाले यातुमूलक चिह्न रहे होंगे।[3] भारतीय शिला-चित्रों में इसका अंकन मुख्यतः निम्नलिखित रूपों में मिलता है—

१. बाहर की ओर विकीर्ण होती हुई रेखाओं से युक्त वृत्त (वृत्त-खंड) सिंघनपुर, (द्र० फ० XV, चि० सं० २)।

इसकी व्याख्या अतिशय ऊहापोह के साथ अमरनाथ दत्त द्वारा सप्त-रश्मि सूर्य के

---

१. भारतीय प्रतीक विद्या, लेखक : डॉ० जनार्दन मिश्र,
द्र० चित्र सं० १५७ एवं १५८ के शीर्षक तथा सम्बद्ध परिचय पृ० ४६२-४६३

२. चक्र, विष्णुचक्र और धर्मचक्र है और बीजपूर से बोध होता है कि यह भैरवीचक्र भी है।
—भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० २५३

३. The conjecture that some of the signs relate to the magic of the eye is perhaps strengthened by the fact that circles or semi-circles are inscribed in the signs.
—प्रिहिस्टॉरिक केव पेन्टिंग्स, पृ० १५

रूप में की गयी है।[1] सूर्य की छः किरणें स्पष्ट और एक अस्पष्ट मानी गयी है।[2] कवरा पहाड़ में भी अरा-युक्त चक्र अंकित मिलता है पर उसमें तीस से अधिक अराएँ संयोजित हैं, (द्र०, फ० XVII तीसरी पंक्ति का तीसरा चित्र) । ऐसा चक्र परवर्ती कला में सूर्य का रूप व्यक्त करता है। कदाचित् इसीलिए ऐसी व्याख्या संभव हुई है अन्यथा सिंघनपुर के उक्त चित्र का वास्तविक तात्पर्य समझने के लिये और कोई साधन उपलब्ध नहीं है। यहाँ मुझे मैक्स राफ़ायल का यह कथन स्मरण आता है कि प्राचीन प्रस्तर युग का हमारा ज्ञान सदा ही आंशिक एवं खण्डित बना रहेगा।[3] आकल्पनात्मक योजना में बाहरी अराएं त्रिकोणों के रूप में भी परिणत हो जाती हैं जैसे फलक XVIII के चित्र सं० ४ में। इसी फलक के पहले चित्र में ऐसे वृत्तों के भीतर एक-दूसरे को काटती रेखाएँ भी चित्रित हैं। वृत्त को आपूरित करने में बाह्य परिधि के समानान्तर अन्य वृत्तों का संयोजन भी मिलता है जैसा पूर्वोक्त चित्र सं० ४ में देखा जा सकता है।

२. मध्यवर्ती केन्द्र-बिन्दु या लघु वृत्त से युक्त बृहत् वृत्त

शिला-चित्रों में इसके भी अनेक रूप मिलते हैं। फलक XVIII के चित्र सं० १ में एक साथ तीन-चार रूप अंकित मिल जाते हैं जो परस्पर भिन्न हैं। एक में मध्यस्थ लघु वृत्त और बृहत् वृत्त की परिधियों के बीच का स्थान बिंदुओं से आपूरित कर दिया गया है, दूसरे में समानान्तर रेखाओं द्वारा लघु वृत्त और बृहत् वृत्त की परिधियों को जोड़कर धन-चिह्नात्मक अबाहु-स्वस्तिक का भी समावेश कर लिया गया है। एक अन्य में इस सबके साथ एक और परिधि बना दी गई है। एक में स्वस्तिक न बनाकर लघु वृत्त को परिधि से जोड़ दिया गया है। रौंप में तथा अन्यत्र भी ब्राह्मी के साथ 'थ' अक्षर की तरह केवल केन्द्र-बिन्दु से युक्त वृत्त अंकित मिलता है और यह चक्र का बहुप्रचलित, सहज और अति संक्षिप्त रूप है, (द्र० फलक XXI चित्र सं० १)।

यह असंभव नहीं है कि शिला-चित्रों में आगे चलकर कुछ ऐसे चक्रात्मक प्रतीक भी उपलब्ध हों जिनमें उपर्युक्त दोनों प्रकार एक में मिले हुए हों। दक्षिणी अफ्रीका में ऐसे कुछ

---

१. प्रि० रे० रॉ० सि, पृ० XV-XIX.

२. Picture No. 3 in Plate No. X., is most probably a solar symbol. It is represented by an arch of a circle with six lines diverging from it. The diagram is fragmentary and it seems that originally there were seven lines and not merely six.
वही, पृ० XV

३. Our knowledge of paleolithic civilization will always remain fragmentary—
—प्रिहिस्टॉरिक केव पेन्टिंग्स, पृ० १३

चक्र शिलाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं जिनमें एक ओर वृत्त के बाहर विकीर्ण रेखाएँ अंकित हैं, दूसरी ओर बृहत् वृत्त के भीतर अनेक लघु वृत्त भी प्रदर्शित हैं।[१] आवश्यक नहीं कि भारतवर्ष में, ऐसे प्रतीक वही अर्थ रखते हों जो इन्हें इतर देशों में परम्परा से प्राप्त हुआ है परन्तु यह अवश्य है कि उनकी आदिम प्रकृति बहुत कुछ मिलती-जुलती दिखायी देती है और आकल्पनात्मक रूप-रचना में भी पर्याप्त साम्य मिलता है। योरोपीय प्रतीकांकनों (Tectiforms) के अर्थ-निर्धारण के विषय में कम मतभेद नहीं है।[२] किसी ने उन्हें वास्तविक घरों के रूप में, किसी ने आत्मा के आवास-गृहों के रूप में और किसी ने पशुओं को फँसाने के उद्देश्य से बनाये गये गड्ढों के रूप में ग्रहण किया है। भारतीय अर्थ-निर्धारण में उसके ज्ञान से लाभ उठाया जा सकता है।

अन्य प्रतीक

अन्य प्रकार के प्रतीकों में भी अनेक ऐसे हैं जिन्हें विशेषतः उल्लेखनीय एवं पृथक्तः विचारणीय कहा जा सकता है। यथा--

१. हाथ की छापें
२. लताभास रेखा-जाल
३. मानव-पंक्ति
४. पशु-पंक्ति
५. चौक या वेदिका
६. ज्यामितिक आकल्पन
७. लिपि-चिह्न या लिपिवत्-चिह्न
८. अस्पष्ट अभिप्राय

इन गौण प्रतीकों पर नीचे क्रमशः विचार किया गया है।

१. क्षेपांकन (*Stencil*) विधि द्वारा अंकित हाथ की छापें, जहाँ तक मुझे ज्ञात है अभी मिर्जापुर-क्षेत्र में ही उपलब्ध हुई हैं। सोरहोघाट तथा कोहबर में मैंने स्वयं इनके शिलाङ्कित रूप को देखा-परखा है। यद्यपि इस अंकन-विधि का प्रयोग रायगढ़-क्षेत्र में भी मिलता है परन्तु वहाँ कोई हाथ की छाप अभी तक निर्दिष्ट नहीं हुई है। चम्बलघाटी-क्षेत्र

---

१. आर्ट ऐण्ड सोसायटी, फलक १९, पृ० ५२

२. These tectiforms are thought by some investigators to represent constructions—either real "houses" or "soul-houses" for the dead. Others have thought them to be traps in the forms of pits in the ground, lightly covered and concealed by boughs, into which the desired animals might fall or be driven. At Bolao, as we have seen, they were perhaps connected with the available supply of good water.

—एम० सी० बर्किट, दि ओल्ड स्टोन एज, पृ० २०७

में वाकणकर द्वारा जो हाथ की छापें लक्षित की गयी है उनकी विधि भिन्न और लोक-प्रचलित विधि के समान है। डॉ० राधाकान्त वर्मा ने मिर्ज़ापुर की पाषाण-युगीन संस्कृतियों पर प्रस्तुत अपने शोध-प्रवन्ध के नवें अध्याय में इन छापों से भिन्नता रखती हुई एक आकृति की चर्चा की है। इस आकृति में दोनों हाथ रेखाओं से विचित्र प्रकार से जुड़े हुए है। प्रतीकात्मकता की दृष्टि से हाथों की सभी छापें एवं आकृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। वे यह प्रकट करती हैं कि भारतवर्ष में भी योरोप की तरह हाथ को यातुमूलक अथवा अन्य किसी पूजा-परक भाव से विशेष महत्व देते हुए शिलांकित किया गया है, भले ही उनमें उँगलियाँ कटे रूप में चित्रित न हों। इस सम्बन्ध में फलक VIII का परिचय द्रष्टव्य है। लोक में दीवार पर पीठे या रँग से थापें लगाने की प्रथा अब भी प्रचलित है जिसके पीछे मांगलिकता की भावना निहित मिलती है। असम्भव नहीं कि वह किसी आदिम परम्परा का सजीव अवशेष हो। उसकी विधि अवश्य क्षेपांकन-विधि नहीं है जिसमें हाथ के चारों ओर रँग लगाने या मुँह से फूँककर छितराने से बीच में उँगलियों सहित हथेली का आकार खाली छूट जाता है। स्पेन और फ्रांस की गुफाओं में इसी विधि से अङ्कित हाथ की छापें अनेकशः मिलती हैं जो सहस्रों वर्ष प्राचीन मानी जाती हैं।

२. ऐसे रेखा-जाल जो लता का आभास देते हैं, कई जगह अंकित मिलते हैं। कहीं-कहीं तो वृक्ष का रूप सरलता से प्रकट हो जाता है पर कतिपय ऐसे भी रेखांकन दिखायी देते हैं जिनमें लता या वृक्ष का दर्शन क्लिप्ट कल्पना ही प्रतीत होता है। भोपाल-क्षेत्र तथा चम्वलघाटी-क्षेत्र के लता-जाल दुर्बोध नहीं हैं। कँवला और सीताखर्डी में तो कल्पवृक्ष आदि परवर्ती प्रतीक बहुत स्वाभाविक लगते हैं किन्तु सिंघनपुर के कुछ चिह्न जो निश्चय ही उनसे पूर्ववर्ती हैं, सरलता से लता या वृक्ष नहीं कहे जा सकते (द्र० फलक XVIII, XIX तथा XIV); अमरनाथ दत्त ने यद्यपि उन्हें वैसा मानकर वहुत ऊहापोह किया है। सिंघनपुर के परिचय में उसका समुचित निर्देश कर दिया गया है। डोरोथीडीप में वृक्ष-परक रेखा-जाल के साथ छत्ते का आकार बनाकर मधुमक्खियों को बिन्दियों से चित्रित कर दिया गया है, (द्र० फ० XX)।

३. मानव-पंक्तियों का आलेखन किसी न किसी रूप में प्रायः सभी क्षेत्रों में लक्षित होता है किन्तु जहाँ वे ज्यामितिक रूप में मिलती हैं वहाँ उनसे प्रतीकात्मकता का आभास होने लगता है। नर्तन-दृश्यों में मानव-पंक्ति (द्र० खंड VII) का अंकन ज्यामितिक होने पर भी कदाचित् प्रतीकात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके साथ एक विशेष सन्दर्भ स्पष्ट रीति से प्रकट है किन्तु खण्ड III की मानवाकृतियों में फलक X, XI और XII में जो मानव-पंक्तियाँ समाविष्ट हैं तथा इस खण्ड के फलक XIII और XIV में उनका जिस रूप में चित्रण

हुआ है, विशेषतः वहाँ जहाँ उन्हें आयताकार वाह्यरेखा से घेर दिया गया है, उनकी प्रतीकात्मक महत्ता असंदिग्ध लगती है यद्यपि उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। अनुमानतः उसे मांगलिकता से ही सम्वद्ध किया जा सकता है, जैसा लोक-कला में पूरी जाने वाली 'चौक' में होता है, परन्तु यह भी असम्भव नहीं है कि इस प्रकार वाह्यरेखा से आकृतियों को घेरना पहले किसी अभिचारपरक अथवा यातुमूलक अर्थ से सम्वद्ध रहा हो । सामान्य मानव-पंक्तियाँ शुद्ध अलंकरण, शक्ति एवं सहयोग की जातीय भावना के प्रतीकात्मक प्रदर्शन, सुरक्षा की प्रतीति के कलात्मक निरूपण, नृत्य एवं आखेट आदि के समय घटित होने वाले सहचरण की स्मृति-जन्य अनुकृति तथा मांगलिक उपकरण आदि किसी भी रूप में ग्रहण की जा सकती हैं और उनमें उक्त अनेक वातों के न्यूनाधिक मिश्रण की भी कल्पना की जा सकती है परन्तु इस तरह की कोई धारणा प्रामाणिक तभी मानी जा सकेगी जब व्यापक स्तर पर मानव-पंक्तियों के अंकन का उनकी स्थिति एवं समवर्ती चित्रों की प्रकृति आदि के साथ सम्वन्ध निर्देशित करते हुए स्वतन्त्र रीति से विचार किया जाय ।

४. पशु-पंक्तियों की स्थिति रचना-विधान, उद्देश्य, प्रेरणा, परिवेश और परम्परा की दृष्टि से मानव-पंक्तियों के समान ही प्रतीत होती है । यह सम्भव नहीं कि वह ऐतिहासिक क्रम में कहीं-कहीं मानव-पँक्तियों से प्राचीनतर और उसकी प्रेरणा का मूल आधार सिद्ध हों । ऐसी गुफाएँ हैं जहाँ मानव पंक्तियाँ तो नहीं मिलतीं किन्तु उसके विविध प्रसंगों में चित्रण के साथ प्रायः अलंकार के रूप में सुदीर्घ पशु-पंक्तियाँ आलिखित हैं । वनियावेरी (पँचमढ़ी) की गुफा इसी प्रकार की है। उसमें सगर्भा गाय और स्वस्तिक-पूजा के दृश्य के नीचे गायों की एक वहुत लम्वी क़तार वनी हुई है, (द्र०, क्षे० प० फलक IX, छायाचित्र १४)। मध्यकालीन भारतीय शिल्प में गज, अश्व, हरिण, हंस आदि की पंक्तियों के चित्रण एवं उत्कीर्णन की व्यापक परम्परा का मूल-स्रोत शिला-चित्रों को माना जा सकता है, यह इस संदर्भ में और भी स्पष्ट हो जाता है। उतना वैविध्य न होते हुए भी रचनात्मक प्रकृति एक जैसी दिखायी देती है ।

५. चौक पूरने की मांगलिक क्रिया और उसके आलंकारिक उपयोग की वर्तमान परम्परा शिला-चित्रों में प्राप्त होने वाले वहुविध आयताकार अलंकरण से जुड़ती दिखायी देती है। चम्वलघाटी में सीताखर्डी से तथा मिर्ज़ापुर में रौंप से ऐसे अनेक ज्यामितिक शिलांकनों का प्रमाण मिलता है जो चौक के लोक-परिचित रूप से पर्याप्त साम्य रखते हैं। रौंप में तो एक स्थान पर वेदिका का भी यथार्थ जैसा रूपांकन मिलता है (द्र० फ० XVI, चि० १)। अन्य स्थानों के शिलाश्रयों में भी अनेक आयत-वृत्त मिश्रित आकृतियाँ, चौकोर और गोल पूजापरक आलेखनों जैसी लगती हैं । कुछ में मानवाकृतियाँ भी समाविष्ट मिलती हैं

(द्र० फ० XIII) । आज भी चौक के कुछ रूपों में शैलीवद्ध ज्यामितिक मानव रूप स्फुट तथा पंक्ति-वद्ध दोनों प्रकार से अंतर्योजित किये जाते हैं तथा परम्परागत सम्वन्ध यहाँ भी लक्षित किया जा सकता है।

६. ऐसे भी अनेक ज्यामितिक आकल्पन शिलाओं पर चित्रित मिलते हैं जिन्हें न तो किसी जीवाकृति का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप कहा जा सकता है और न चौक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उनका उद्देश्य वैसा ही अस्पष्ट है जैसा योरोपीय शिला-चित्रों में वने टेक्टीफॉर्मों का (द्र० दि ओल्ड स्टोन एज, पृ० २०६); यद्यपि उन जैसी प्राचीनता इनमें नहीं है। आयतों और वृत्तों की आवृत्ति के अतिरिक्त त्रिकोणों एवं सरल रेखाओं के क्रमिक संयोजन से अधिकांश आकल्पन विनिर्मित हुए हैं। कुछ में रेखाएँ वर्तुल और लयात्मक मिलती हैं। कहीं रेखाएँ चौड़ी और कहीं महीन वनायी गयी हैं जिससे वैविध्य उत्पन्न हो गया है। विन्दुओं का उपयोग भी अनेक जगह किया गया है। वाकणकर ने अपने अँगरेज़ी पत्रक में अनेक स्थलों पर मोड़ी आदि के शिलाश्रयों में अंकित विविध प्रकार के ज्यामितिक प्रतीकों का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ अत्यन्त प्राचीन हैं क्योंकि उनपर अन्य चित्र आक्षिप्त हैं। मोड़ी और सिंघनपुर के चित्रों पर तो हल्की सफेदी (Patination) की पर्त-सी झलकती है जो सहस्रों वर्ष वाद पैदा होती है। यह आकल्पन अधिकतर अलंकृत आपूरणों से भिन्न विधि से वनाये गये हैं और उनके रूप-विधान में भी अन्तर है। कहीं-कहीं रेखाएँ अमूर्तन की ओर भी प्रवृत्त हुई हैं जो इस वात को सिद्ध करता है कि आकल्पन मूलतः वस्तु-प्रधान न होकर व्यवस्था-प्रधान ही होते हैं।

७. प्रस्तुत खंड के फलक XIX, XX और XXI पर प्रकाशित अनेक चित्रों में ऐसे कई परिचित-अपरिचित चिह्न अंकित हैं जिन्हें शंख लिपि और ब्राह्मी लिपि के चिह्नों के रूप में ग्रहण किया गया है। शंख लिपि के अक्षर भोपाल तथा मध्यप्रदेश के कुछ अन्य क्षेत्रों में वाकणकर द्वारा लक्षित किये गये और मैंने भी मनवाँ भान की टेकरी में उन्हें देखा और अनुकृत किया है। इनकी आकृति लयात्मक एवं वृत्तमूलक मिलती है तथा लता-पत्र के अलंकरण जैसी लगती है। मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में कनिंघम ने रावर्टसगंज के समीप शंख-लिपि के एक-एक फुट लम्वे अक्षर देखे जिनका विवरण उन्होंने ऑ० सो० की रिपोर्ट (वॉ० I, पृ० ६०-६६) पर दिया है तथा उन्हें सातवीं-आठवीं शती ईस्वी का माना है। वाकणकर का मत भी इन्हें गुप्त लिपि के वाद मानने के पक्ष में है। ब्राह्मी लिपि के चिह्न या उनसे मिलती-जुलती आकृतियाँ अवश्य इससे पहले की कही जा सकती हैं। यह चिह्न जहाँ अनेक चित्रों की

प्रागतिहासिकता को इतिहास की सीमा में ले आते हैं वहाँ उनको अति अर्वाचीन मानने के विपरीत भी दिखायी देते हैं। इनके द्वारा कोई ऐसा अर्थ व्यक्त नहीं हुआ है जिससे सम्बद्ध चित्रों के अन्य पक्षों पर कोई सुनिश्चित प्रकाश पड़ सके। किसी न किसी प्रकार की प्रतीकात्मकता और पूजा-भावना लिपि-चिह्नों के साथ भी संलग्न प्रतीत होती है क्योंकि उनका प्रयोग बहुधा व्यावहारिक लिपि-बोध से विच्छिन्न स्वतन्त्र रीति से भी किया गया है। शंख लिपि तो तान्त्रिक साधना से सम्बद्ध मानी गयी है। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने उनके अभिप्राय की खोज की है (1884, PASB, पृ० १४२-४३)।

८. बहुत-से शिलांकित चिह्न एवं आकृतियाँ रूप-रचना में विचित्र तथा ज्ञात परम्परा के प्रतीकों के भिन्न प्रकृति की मिलती हैं। उनका आदिम संस्कारों से सम्बन्धित होना इस वैचित्र्य का एक प्रमुख कारण कहा जा सकता है। मनुष्य की सृजनशीलता, उद्देश्य और उपयोग की सीमा पार करके ऐसी अनेक दिशाओं में प्रवृत्त होती रही है जो कला-चेतना के मूल स्रोत से सम्बद्ध कही जा सकती हैं। अस्पष्ट अर्थ वाले अभिप्राय (motif) इसी स्थिति के द्योतक कहे जा सकते हैं। उनमें ऐसे भी अभिप्राय हो सकते हैं जो मूलतः अर्थ-पूर्ण हों और उनका वह खोया निहित अर्थ कालान्तर में शोध के द्वारा उद्‌घाटित हो जाय क्योंकि ऐसा अन्यत्र हो चुका है। बहुत-से निरर्थक प्रतीक सार्थक सिद्ध हुए हैं। वर्तमान स्थिति में जब भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों को गम्भीर रूप में लेना आरम्भ ही हुआ है, निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। उन अभिप्रायों में रूप-संगठन एवं वस्तुविन्यासपरक कला-तत्व मिलता है, अभी केवल इतना ही कहा जा सकता है। सिंघनपुर आदि के अनेक प्रतीक चिह्न इसके उदाहरण हैं।

कबरापहाड़ के विषय में गॉर्डन ने जो लेख लिखा है, उसमें उन्होंने वहाँ पर अंकित प्रतीक चिह्नों की भी चर्चा की है। फलक XVII पर वे सभी चित्र प्रतिकृत करके समाविष्ट कर लिये गये हैं। गॉर्डन की स्पष्ट धारणा है कि उन्हें प्रयत्नपूर्वक किसी अर्थ से जोड़ना मूर्खतापूर्ण बात होगी। अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हुए उनके द्वारा अफ्रीका के निसिबिडी समाज के लोगों द्वारा प्रयुक्त गुह्य प्रतीकों का उल्लेख किया गया जिनका बाह्य रूप अभिप्रेत अर्थ से बिलकुल मेल नहीं खाता। जो प्रतीक सूर्य का दिखायी देता है वह उनके घर का द्योतक है। कंघे जैसी आकृति लट्ठे पर मनुष्यों का अर्थ देती है और धारीदार लम्बी आकृति चटाई का प्रतीक मानी जाती है। इसीके साथ उन्होंने एफ० ई० विलियम्स के लेख का भी सन्दर्भ दिया है जिसमें पापुआ जाति के अंकनों के सन्दर्भ में आदिम जातियों

द्वारा शिलाओं पर बनाये गये कुछ अमूर्त प्रतीकों को, जिनके विषय में नृतत्वशास्त्रियों का मत उन्हें कर्मकाण्डमूलक मानने का है, खाली समय में किये गये निरर्थक रेखांकन का परिणाम माना गया है। गॉर्डन के अनुसार यह मत बहुत गंभीरता पूर्वक विचार करने योग्य है।[१]

---

१. There are, as is shown in Pl. 3, a number of signs and symbols to which it would be foolish to attempt to assign a meaning. The dangers are well illustrated in the secret symbols of the African Nisibidi Society in which obvious solar symbols of the type illustrated in fig. h, pl. 3. indicate the Nisibidi house, a comb sign means men on a log, and a barred oblong means a mat. Without definite knowledge such interpretations, could have never been given to these signs. Mr. F. E. Williams in his article on Papuan Petrographs, (J. R. A. I., Vol. LXI. 1931) has some pertinent remarks to make on the subject of "symbolic" abstractions drawn on rocks by Primitive peoples, and his suggestion that some of the designs invested by anthr opologists with ritual significance are the result of idle scribblings is worthy of very serious consideration.

—प्रा० क० वॉ० V, नं० ५, पृ० २६६

पूजा-प्रतीक चित्र-परिचय

फलक I

लिखनिया---२ (मिर्ज़ापुर) की गुफा में दायीं ओर, भीतरी दीवार पर गहरे लाल मिश्रित गेरुए रँग से अंकित एक अद्भुत और अद्वितीय देवाकृति जिसकी कल्पना नरभक्षी आदिम प्रकृति से सम्बद्ध प्रतीत होती है। मानव-कबंध को मांस-पेशियों से युक्त कंकाल के रूप में प्रदर्शित किया गया है। जिसमें रीढ़ के कुछ अंश को छोड़ कर अस्थियाँ खुली हुई नहीं दिखायी गयी हैं। पैरों की रचना सुगठित उभारों से युक्त सशक्त और संतुलित है। पस-लियों का चित्रण भी खाल उतरी हुई मानव-देह के अनुभवपूर्ण आन्तरिक निरीक्षण का परिचय देता है। स्कन्ध रहित हाथों को पैरों जैसा स्वाभाविक रूप न देकर प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे देवत्व का आभास मिलता है। निकटवर्ती भूभाग में ही शिलांकित अगले फलक के चित्र में भी हाथ प्रायः इसी आंशिक विधि से वरद मुद्रा में एक ही ओर आलिखित हैं। आँतों का प्रदर्शन न करके उदर-भाग रिक्त छोड़ दिया गया है जिससे आकृति की भयानकता और बढ़ गयी है। काँटों की तरह छोटी-छोटी रेखाएँ उभार कर कटि-प्रदेश के इधर-उधर अलंकरण की चेष्टा की गयी है जो एक ओर अंशतः अस्पष्ट हो गयी है। यह चित्र शैली की दृष्टि से भी विशिष्ट है क्योंकि इसे पूरक-अर्धपूरक आदि किसी ज्ञात वर्ग में नहीं रक्खा जा सकता। इसमें चित्रकार ने रँग के उतार-चढ़ाव से यथार्थ आकार को रूपायित करने की चेष्टा की है। साथ-साथ समग्र रूप का संगठन कल्पनाजन्य और प्रातिभ है। संभवतः यह देवता मृत्यु से सम्बद्ध कोई अपदेवता है जिसकी आकृति किन्हीं अज्ञात विश्वासों से प्रेरित होकर पूजा-भाव से बनायी गयी होगी। लिखनिया गुफा के प्रथम शोधक कॉकबर्न का ध्यान इस चित्र की ओर नहीं गया और न किसी परवर्ती अन्वेषी ने ही इसकी चर्चा की। मूल चित्र इस अनुकृति से कहीं अधिक सशक्त, विशाल और आकर्षक है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक II

कंडाकोट पहाड़ (मिर्ज़ापुर) से कुछ पूर्व स्थित बसौली ग्राम के निकटवर्ती 'ढोकवा

महरानी' नामक स्थान के, ज़मीन से कुछ ही ऊपर उभरे सँकरे शिलाश्रय के भीतरी भाग में अंकित वहुवर्णी पूरक चित्र भी अपने ढंग का एक ही है। इसमें दोनों मानवाकृतियाँ विचित्र और रहस्यमय भाव में प्रदर्शित हैं। काली आकृति के पैर उल्टी दिशा में अंकित हैं तथा हाथ, फलक I के चित्र की तरह, वरद मुद्रा में वने हैं। पीछे की ओर चौड़ी बुहारी जैसी पूँछ निकली हुई है और ज्यामितिक शरीर के अनुरूप अंशतः आयताकार शीश के ऊपर एक शिखा-सी उभरी हुई है। अन्य आकृति में भी उसकी स्थति स्पष्ट है किन्तु ऊपरी भाग मिट गया है। इसकी मुद्रा, पीछे को झुके हुए शरीर के कारण, भय की प्रतीत होती है। उठे हुए हाथ वने वरद मुद्रा में ही हैं पर उनसे भी भय का भाव प्रकट होता है। लोक-प्रचलित विश्वास के अनुरूप यदि उल्टे पैरों वाली काली आकृति को भूत की आकृति मान लिया जाय तो उससे भयभीत होने की भाव-संगति सिद्ध हो जाती है किन्तु चित्र की रहस्यमयता का पूरा उद्‌घाटन फिर भी नहीं होता। लगता है कि यह भी किसी आदिम विश्वास से अनुप्रेरित है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक III

चित्र सं० १

जम्वूद्वीप (पँचमढ़ी) शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित रेखानुकृति पर आधारित इस चित्र में शृंग-पुच्छ युक्त एक पशुमुखी देवता लता-जाल के घेरे के भीतर प्रदर्शित किया गया है जिससे उसके विशेष महत्व एवं पूजा-भाव की प्रतीति होती है। वह उसे दोनों हाथों से थामे भी है। केवल अलंकरण की प्रवृत्ति से इस स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती। किसी देवता को मंदिर के गर्भ-गृह में प्रतिष्ठित करने के पीछे जैसी भावना होती है लगभग वैसी ही लता-वृत के अन्तर्गत पशु-देव के इस अंकन में निहित लगती है। पुच्छ के नीचे लटकता हुआ कटि-बंध सदृश अन्य आकार का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार नाक के ऊपर की रेखाएँ भी विचित्र लगती हैं। लता-जाल और मुख दोनों से सम्बद्ध होने के कारण वे किसी का भी अंश मानी जा सकती हैं। उनसे कोई सर्वथा निश्चित अर्थ नहीं निकलता। देवाकृति सवस्त्र चित्रित है और उसके दाहिने हाथ में कोई लघु आयुध लक्षित होता है। यह चित्र भी अप्रतिम और पर्याप्त रोचक है। संभव यह है कि वह कोई जाति-देवता हो परन्तु ऐसी दशा में उसका अंकन अनेक स्थलों पर प्रायः इसी रूप में मिलना चाहिए था जो अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यह चित्र लाल वाह्य-रेखाओं वाली श्वेतवर्णी शैली में आलिखित है और समवर्ती अन्य चित्रों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

चित्र सं०—२

निम्बूखड्ड या 'बाज़ार केव' (पँचमढ़ी) में, पूर्व चित्र की ही शैली की यह पशु-मुखी अथवा मुखाच्छादनधारी मानवाकृति यातुक प्रभाव की एक विशेष मुद्रा में अंकित है। इसका एक हाथ प्रभाव-विकीर्ण करने के भाव से आगे की ओर उठा हुआ है तथा दूसरा हाथ झोली लिये उसी प्रकार पीछे प्रदर्शित है। मुख अश्व की आकृति का है किन्तु हाथ-पैर और शरीर मनुष्य सदृश ही है। जाँघिये जैसे अधोवस्त्र के अतिरिक्त लटकता हुआ कटि-बंध भी चित्रित है। रेखांकन सूक्ष्म और संतुलन-युक्त हुआ है। अस्पष्ट अंश बिंदु-रेखा से निर्दिष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत चित्र मूल से ही अनुकृत है।

चित्र सं०—३

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय में प्रसिद्ध मूषकमुखी चित्र के सामने सम्भवतः उसी से सम्बद्ध एक अश्वमुखी मानवाकृति जिसके पंजे भी मानवाकार चित्रित नहीं हैं। हाथों में उँगलियों का प्रदर्शन नहीं है, पैरों में है पर वे मनुष्य के पैर न लगकर पक्षियों जैसे लगते हैं। घोड़े के एकशफ पैरों से तो उनकी तनिक भी संगति नहीं है। एक हाथ कमर पर और एक उठा होने से नर्तन की सुपरिचित मुद्रा का आभास होता है किन्तु पैरों में गतिशीलता का नितान्त अभाव होने से नर्तन की कल्पना वास्तविक प्रतीत नहीं होती। प्रस्तुत अनुकृति भी मूल पर ही आधारित है।

चित्र सं०—४

भिन्यपुरा (भोपाल) के शिलाश्रय से वाकणकर द्वारा अनुकृत एवं इ० आॅ० के० १९५९-६० के अंक में पृ० ७१ पर मुद्रित रेखा-चित्र पर आधारित प्रस्तुत प्रतिकृति में शृङ्ग युक्त एक मानवाकृति प्रदर्शित है। पैरों में उँगलियों के स्थान पर केवल नख जैसी गोलाकृतियाँ बनी हैं। हाथ अस्पष्ट होने के कारण अनुकृत नहीं किये गये। कण्ठ में दोहरी रेखाओं से मालाकार दोहरा अलंकरण किया गया है। आँखों का भी निर्देश चित्रकार ने किया है जो शिलाचित्रों में कम ही मिलता है। दोनों शृङ्ग मुखाच्छादन के अंग न होकर चित्रणगत पशु-मुख की कल्पना में ही समाविष्ट प्रतीत होते हैं।

फलक IV

चित्र सं०—१

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर सफेद रँग से लाल बाह्यरेखायुक्त पूरक शैली में शिलांकित चित्र की यह प्रतिकृति गॉर्डन द्वारा की गयी प्रकाशित अनुकृति पर आधारित है। पँचमढ़ी के शिलाचित्रों में इसकी विशेष

प्रसिद्धि है। इसके ऊपर एक विशाल पशु और नीचे अलंकृत वृक्ष चित्रित है किन्तु उनका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह उनसे प्राचीनतर भी है। गॉर्डन ने इसे दैवी शक्तिसम्पन्न आकाश-यान (Magical Sky Chariot) के रूप में व्याख्यायित किया है। रथारूढ़ व्यक्ति के फैले हुए हाथ से विकीर्ण होने वाली नदी-जल जैसी लहराती समानान्तर रेखाएं यातुक प्रभाव को व्यक्त करती हैं। उन्हें वर्षा का प्रतीक भी माना जा सकता है। उनके ऊपर टूटी रेखाओं से बना घेरा टूटे हुए अचित्रित भाग का द्योतक है। मानवाकृति के शीश और स्कन्ध से पत्तीदार पतली दोहरी टहनियाँ संलग्न हैं जो विशेष अलंकरण के रूप में प्रदर्शित होते हुए भी उर्वरता की प्रतीक मानी जा सकती हैं। रथारोही के दूसरे हाथ के ऊपर-नीचे एक-दूसरे के आमने-सामने दो कोण-पंक्तियाँ किसी वज्र जैसे अद्‌भुत अस्त्र, काँटेदार तीर अथवा अन्य प्रकार के यातुक विकीर्णन का द्योतन करती हैं। पार्श्व-दृष्टि के कारण रथ का एक ही चक्र अंकित किया गया है और उसमें दोहरी रेखा से बाहरी वृत्त के भीतर एक छोटा भीतरी वृत्त भी बनाया गया है। रथ में अश्व आदि किसी चालक पशु का अंकन न होने से उसकी रहस्यमयता बढ़ गयी है। चक्र से संलग्न निचले दण्ड में एक खूँटी टेक के रूप में चित्रित है तथा दण्ड के आगे के सिरे पर एक अर्धवृत्त बना है जो संभवतः रथ को पकड़ने या बाँधने की उपयोगिता व्यक्त करता है परन्तु दूसरे दण्ड में वह अप्रदर्शित है और अपने में भी अपूर्ण लगता है अतः उसका निश्चित अभिप्राय विदित नहीं होता। चक्र के ऊपर और नीचे नुकीले आकार उसे कलात्मक समृद्धि प्रदान करते हैं। उनका भी वस्तुमूलक अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। रथ के कुछ अन्य चित्र भी प्राप्त हुए हैं जो अन्तिम खण्ड 'विविध' के फलक V तथा VI में समाविष्ट हैं परन्तु उनमें इस रथ जैसा दैवी-तत्व लक्षित नहीं होता।

चित्र सं०—२

दौरी (पँचमढ़ी) की गुफा से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित चित्र पर आधारित रेखानुकृति जिसमें एक महाकाय पुरुष चीते को रस्सी से बाँधकर ले जा रहा है। चित्र में प्रदर्शित निचले देह-भाग से लगता है कि वह पुरुष अन्य समवर्ती मानवाकृतियों की सापेक्षता में बड़े आकार का है अतएव उसे देवता या दैवी शक्ति-सम्पन्न पुरुष के रूप में ग्रहण करना अधिक संगत लगता है यद्यपि एक विचार से वह पिल्ले को ले जाते हुए एक सामान्य व्यक्ति का द्योतक भी हो सकता है। मूल चित्र सफेद रँग का है और पूरक शैली में बना है। उसके नीचे प्रारम्भिक चतुर्थ शृङ्खला के योद्धा अंकित हैं। प्रतिकृति सन्तोषजनक न होते हुए भी चित्रित आकृतियों की गतिशीलता स्पष्ट है।

चित्र सं०—३

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) में इसी फलक के चित्र सं० १ के समीप श्वेत पूरक शैली

में शिलांकित चित्र जिसे गॉर्डन ने किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध मूषक-मुख देवता के रूप में व्याख्यायित किया है किन्तु मूल चित्र में इस देवता के पीछे चित्रित पशु के पंजे देखने से उसके सिंह होने की सम्भावना प्रतीत होती है। घूमी हुई पूँछ, बड़ा आकार और अंगों की गठन भी चूहे की अपेक्षा सिंह के रूप में अधिक संगत लगती हैं। कान अवश्य मूषकवत् बने हैं। मुँह के इधर-उधर बाल प्रदर्शित हैं जिनकी संगति सिंह और मूषक दोनों से हो सकती है। मुँह का आकार और नुकीला थूथन सिंह की कल्पना के विरुद्ध दिखाई देता है। ऐसी दशा में किसी निश्चित पशु का अर्थ लेना कठिन प्रतीत होता है। देवता के मुख और पीछे के पशु में कुछ दूर तक रूप-साम्य लक्षित होता है। देवता की पूँछ भी प्रायः वैसी ही घूमी हुई है। उसका पिछला हाथ पशु के मुख से संलग्न है और अगले में अनेक काँटों वाले दो तीर हैं। कमर में छुरी और शीश पर शृङ्गवत् एक बड़ा काँटा उभरा हुआ है। पैरों की स्थिति आश्वस्त और निर्भीक गति की सूचना देती है।

फलक V

चित्र सं०—१

माण्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित बाह्यरेखानुकृति पर आधारित इस प्रतिकृति में एक आदिम और अद्भुत शक्ति-सम्पन्न देवता या वीर पुरुष द्वारा दोनों हाथों से एक सिंह और वृषभ के वशीभूत करने का दृश्य अंकित है। इस पराक्रमी पुरुष के संरक्षण में पशु-समूह निर्भीक होकर सामने से निकलता जा रहा है। एक पशु पूर्ण और शेष दो अंशानुकृत हैं। सिंह और वृषभ का भी अगला अंग मुख सहित मिट चुका है। अनुकर्ता ने विनष्ट भाग को भी बाह्यरेखा से घेर दिया है। पुरुष की वेष-भूषा उसके गौरव के अनुकूल विशिष्ट रूप से प्रदर्शित है। ऊपर उठा हुआ संभवतः पंखविभूषित केश-विन्यास, कंठ में विचित्र प्रकार का वेगोच्छलित हार जैसा घेरा, पीछे ताड़-पत्र की तरह फैला अर्धवृत्ताकार परिधान तथा पैरों के इधर-उधर लटकते हुए कटि-बन्ध उस विशिष्टता को व्यक्त करते हैं। गॉर्डन ने इस देवता में प्राचीन असीरी-बाबुली कथाओं के 'गिलगमेश' का पशुजयी रूप लक्षित करते हुए इसे वही नाम दिया है। माण्टेरोज़ा के शिलाश्रयों में गॉर्डन द्वारा अनुकृत अन्य चित्रों के मूल रूप तो मिल गये पर इसका मूल चित्र यत्न करने भी कहीं दृष्टिगत नहीं हुआ। संभव है धुँधला पड़ गया हो या किसी ऐसे शिलाभाग पर अंकित हो जो झाड़-झंखाड़ की ओट में आ गया हो। यह चित्र सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण और अद्वितीय है। वाकणकर ने भी इसे देखा है।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ७ से अनुकृत एवं पूर्वोक्त स्रोत से ही उपलब्ध इस प्रतिकृति में दो चीते विचित्र आकल्पन-रीति से पीछे से संयुक्त करके प्रस्तुत किये गये हैं। फलतः बीच में चार के स्थान पर केवल दो पैर बना कर श्लेष पद्धति से प्रत्येक चीते के चार पैरों का आभास उत्पन्न किया गया है। यही नहीं, दोनों की घूमी हुई पूँछों के बीच पशु-मुखी मानवाकृति का ऊर्ध्वभाग अंकित करके उन पैरों को उस देवता के अधोभाग के रूप में भी ग्रहण कर लिया गया है। शिला-चित्रों में कल्पना-वैचित्र्य का ऐसा उदाहरण बहुत ही कम मिलता है। चीतों के मुख का भीतरी भाग, दाँत और जीभ, प्रदर्शित करके उनकी भयानकता के बोध को अद्भुत् रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह चित्रकार की कल्पना-शीलता को और भी असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करता है। यथार्थता का आग्रह भी कम नहीं है। रेखा-जाल द्वारा चीतों के शरीर की काली पट्टियाँ, मुँह के बाल तथा पंजों के नाखून तक चित्रित करने का आग्रह उसे स्पष्टतया व्यक्त करता है।

फलक VI

सागर-क्षेत्र का यह चित्र श्यामकुमार पाँडे द्वारा लिये गये मूल के छाया-चित्र पर आधारित है। इसमें गैरिकवर्णी पूरक शैली की दोनों मानवाकृतियाँ किसी विशेष सन्दर्भ में प्रदर्शित हैं जिसकी वास्तविकता अज्ञात है। शीर्पासन लगाये पहली आकृति सिर को छोड़कर अन्य अवयवों की दृष्टि से मानव ही प्रतीत होती है। सिर भी एक ओर से तो गोलाकृत ही है परन्तु दूसरी ओर उसका रूप पान की तरह नुकीला है और उसके बीच अपूरित स्थान छोड़ दिया गया है जिससे उसकी विचित्रता बढ़ गयी है। इस उल्टे व्यक्ति के एक हाथ में गोलक और दूसरे में दण्ड है तथा दोनों पैर नीचे की ओर मुड़े हुए हैं। उसकी ओर आता हुआ दूसरा व्यक्ति हाथ में एक चौखटा लिये हुए है। उसके कटि-बन्ध का एक सिरा ऊपर और दूसरा नीचे झुका हुआ चित्रित है। टखनों के पास से वस्त्र या खाल की नोकें निकली हुई हैं। सिर पर केश अराओं की तरह उगे हुए लगते हैं पर संभवतः यह किसी आदिम केश-विन्यास का रूप है। हाथों में उँगलियाँ नहीं बनी हैं परन्तु उनकी मुद्रा स्वाभाविक है। पैरों का अंकन गतिशीलता युक्त है। शरीर कुछ पृथुलता लिये है जिसकी तुलना में अवयव क्षीण लगते हैं। सम्पूर्ण काया लम्बी है और वर्तुल उभारों के साथ स्वतन्त्र विधि से चित्रित की गयी है। प्रस्तुत रूप में यह चित्र इससे पूर्व प्रकाशित नहीं हुआ है। इसका संदर्भ या तो शुद्ध क्रीड़ामूलक है अथवा उसे यातुमूलक भी माना जा सकता है। सामान्यतया लगता है कि दो नट अपनी कला प्रदर्शित कर रहे हैं परन्तु आवश्यक नहीं कि यह स्थूल अर्थ

वस्तु सत्य को व्यक्त ही करता हो। ऐसी दशा में इस चित्र के वास्तविक अभिप्राय को अनिश्चित ही मानना पड़ेगा।

फलक VII

इस फलक के चारों चित्र गॉर्डन द्वारा सा० क०, अं० ११, पृ० ६६२ पर गुफा-चित्रों मे पशु और देवता विषयक लेख के साथ प्रकाशित अनुकृतियों पर आधारित हैं।

चित्र सं०—१

वोरी (पँचमढ़ी) में 'क्रीम' रंग से शिलाङ्कित एक आदिम सश्रृङ्ग देवता (Hornd demon) की विचित्र आकृति जो उस काल के प्रचलित लोक-विश्वास का परिचय देती है। वाकणकर के फ्रेंच भाषा में प्रकाशित पत्रक में यह चित्र 'फिगर २३' के स्थान पर पूरे परिवेश के साथ छपा है पर ग़लती से इसे चम्वल घाटी के मोड़ी नामक स्थान का लिख दिया गया है। अनुकृति भी सदोष लगती है क्योंकि उसमें श्मश्रु प्रदर्शित नहीं है। गॉर्डन ने इस चित्र की कोई व्याख्या नहीं की है। यह सत्य है कि इस देवाकृति में पुच्छ-विषाण का स्पष्ट चित्रण किया गया है पर मुख का रूप मूपक जैसा लम्वा और श्मश्रुयुक्त ही वनाया गया है। पँचमढ़ी के अनेक चित्र मूपक-मुख देवताओं के हैं और श्रृङ्ग वाले देवताओं का भी कई चित्रों में अंकन हुआ है। इस चित्र की पहली विशेपता इस बात में है कि इसकी कल्पना में मूपक-मुख को भी सश्रृंग प्रदर्शित किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें सम्भवतः मधुमक्खियों के अगणित छत्तों पर उसका आधिपत्य दिखाया गया है। वाकणकर प्रचलित लोकज्ञान के आधार पर इसकी सर्वथा भिन्न व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार अब भी इस तरह सामग्री ले जायी जाती है। यदि विंदुयुक्त गोलाकृतियों को, दोनों ओर लटकती मालाओं का पूर्वोक्त अर्थ स्वीकार किया जाय तो इसे 'मधु-देवता' की संज्ञा दी जा सकती है। देवता के दोनों हाथों में दो वाण एक-दूसरे की ओर समान रूप से झुके हुए वने हैं। कन्धे पर रक्खी हुई दण्डिका से लटकते हुए गोलाकार छत्तों की नौ मालाएँ संलग्न हैं, चार एक ओर, पाँच एक ओर। पहली माला में छः छत्ते हैं जवकि वाकी सवमें निरपवाद पाँच छत्ते ही समाविष्ट हैं। गोलाकृत और विंदुमय होने के कारण ये छत्ते मुण्डमालाओं का आभास देते हैं। कटि-वस्त्र पीछे की ओर प्रदर्शित है; साथ ही कटि के इधर-उधर दोनों ओर लहराती हुई चार-पाँच रेखाएँ आकृति को विशेष कलात्मक समृद्धि और सन्तुलन प्रदान करती हैं। इसके परिचय में केवल 'Late' शब्द ही छपा है (द्रष्टव्य, प्लेट V, जी) पर लेख में व्यक्त विचारों से उसका तात्पर्य उत्तर तृतीय श्रृङ्खला से प्रतीत होता है। यह चित्र आकृति, प्रकृति और महत्त्व में सर्वथा अद्वितीय है। समीपस्थ अङ्कित अन्य आकृतियों, जिनमें

धनुर्धर और ढाल-खड्गधारी योद्धा प्रमुख हैं, की तुलना में इस चित्र का आकार कई गुना बड़ा है। यह तथ्य इसके देवत्व से संगति रखता है।

चित्र सं०—२

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के ऊपरी शिलाश्रय में उत्तर तृतीय श्रेणी की शैली में मटमैले सफेद रंग से अङ्कित, एक हाथ में वाद्य लिये हुए 'महाकपि' का सशक्त चित्र जिसका हाथ गॉर्डन ने अपनी अनुकृति में अलग से प्रदर्शित किया है जिससे वाद्य का रूप स्पष्ट हो सके। यह वाद्य अस्थि के आकार का है। तान्त्रिक साधनाओं में अस्थि-वंशियों का प्रचलन मध्यकाल तक रहा है अतः यह कल्पना असम्भव नहीं है। वंशी के इधर-उधर सूत्र-बन्धन चित्रित हैं। कपि-देवता का दूसरा हाथ सिर के ऊपर तक उठा हुआ-उल्लास की मुद्रा व्यक्त कर रहा है। खुला हुआ भयावह मुख नाद के लिए उद्यत है। उभरे वक्ष और पुष्ट जंघा में लहराते हुए केशों का प्रदर्शन तथा उन्नत पुच्छ आदि तत्व उसी सजीव मुद्रा से संगति रखते हैं। हाथों-पैरों का आकार मानववत् है अतः चित्र में महाकपि रूपी मानवाकृति की भी स्थिति मानी जा सकती है।

चित्र सं०—३

माड़ादेव (पँचमढ़ी) के प्रथम शिलाश्रय-समूह के द्वितीय शिलाश्रय पर सफेद रंग से अंकित एक 'अश्व मुखी' (Horse headed) देवता की आकृति जिसका अधोभाग प्रायः मानवाकृत है। पीछे निकली हुई पूँछ का रूप घोड़े की पूँछ जैसा नहीं लगता। मुख में अश्व-रूप की कल्पना गॉर्डन ने ही की है पर श्मश्रु-केशों की इतनी अधिकता सन्देह उत्पन्न करती है। कानों का आकार, गर्दन की उठान और अंशतः मुखाकृति भी अश्व के अनुरूप कही जा सकती है परन्तु पूर्वोक्त कठिनाई फिर भी बनी रहती है। सम्भव है प्रचलित मूषक-मुख की कल्पना के सम्मिश्रण से इसमें इतने श्मश्रु-केश बना दिये गये हों अथवा किसी अज्ञात पशु के चित्रण का भाव रहा हो। दोनों हाथ मुड़कर देह भाग पर टिके हुए हैं इसी से पंजों का अंकन नहीं हुआ है। केवल वाह्यरेखा के उभार से उनकी स्थिति द्योतित होती है। पैरों का भाग अनुकृति में ही नहीं था।

चित्र सं०—४

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ४ पर बैंगनी रंग मे अङ्कित प्रारम्भिक तृतीय श्रेणी का एक उछलते हुए पशुमुखी देवता का चित्र, जिसमें हाथ-पैर मानवाकृत हैं तथा पुरुष प्रजननेन्द्रिय भी प्रदर्शित है। देवाकृति एक हाथ में दण्ड लिए हुए है जिसका दूसरा सिरा पुच्छवत् पीछे निकला हुआ है। दूसरा हाथ सामने ऊपर उठा हुआ है। कुछ खुला हुआ मुख शशक के समान है पर कान उतने लम्बे न होकर परस्पर मिले हुए शैलीबद्ध रूप में चित्रित

हैं। दण्ड वाले हाथ को छोड़ कर शेष सभी पंजों में तीन-तीन उंगलियाँ स्पष्ट रूप से अङ्कित हैं, उसमें पाँचों उँगलियों का निर्देश मानवाकृति की धारणा का कल्पनात्मक मिश्रण प्रतीत होता है। पैरों के पंजे आगे को विशेष झुके हुए हैं और उछलने की मुद्रा की स्वाभाविकता व्यक्त करते हैं।

फलक VIII

चित्र सं०—१

वनियावेरी (पँचमढ़ी) के गुफा-द्वार से संलग्न दाहिनी ओर फैली शिलाभित्ति पर गहरे गेरुए रंग से अङ्कित स्वस्तिक-पूजा का एक अद्वितीय दृश्य जिसमें गुणन-चिह्न जैसे अबाहु-स्वस्तिक को लघु त्रिकोणों के पंक्ति-बद्ध प्रतिमुखी संपुंजन द्वारा विचित्र प्रकार की अलंकृत शैली में प्रस्तुत किया गया है। दोहरी त्रिकोण-पंक्ति के बीच छूटे स्थान से सरल-रेखा का बोध कराया गया है जैसा क्षेपाङ्कनों में वहुधा दिखायी देता है। सम्भव है उसी पद्धति का प्रत्यक्ष अथवा काल्पनिक अनुसरण किया गया हो। स्वस्तिक की वायीं ओर आदिम शिरोभूषा वाली तीन मानवाकृतियाँ हाथ में हाथ दिये पूजापरक नर्तन की मुद्रा में चित्रित प्रतीत होती हैं। बीच वाली कुछ भिन्न वर्ण की है। उनके ऊपर तीन मेहराव बनाकर सम्पुंजन में संगति और समृद्धि उत्पन्न की गयी है। मेहरावों को तथा कुछ अन्य गैरिक रेखाओं को श्वेतवर्णी रेखाओं से घेर दिया गया है जो वाद का प्रयास है। दायीं ओर भी अनेक आकृतियाँ थीं जिनमें से एक अनुकृत की गयी जो आकार में नर्तित मानवाकृतियों से वड़ी होकर भी प्रकार में समानता रखती है किन्तु उसके ऊपर मेहराब का चित्रण नहीं है। अन्य प्रकार की अनिश्चित अर्थ वाली रेखाएँ अवश्य बनी हुई हैं। उनके ऊपर खूँटों की तरह पंक्तिवद्ध खड़ी रेखाएँ मटमैले सफेद रंग में परवर्ती काल में बनायी गयी प्रतीत होती हैं और स्वस्तिक के ऊपर की पशु-पंक्ति भी उसी काल की रचना लगती है। दोनों के बीच का धनुर्धर अवश्य प्राचीन है और उसको स्वतन्त्र रीति से खंड IV, फलक II, चित्र १ के रूप में प्रस्तुत किया जा चुका है। वनियावेरी की इसी गुफा के भीतरी भाग में स्वस्तिक-पूजा का एक अन्य दृश्य अङ्कित है जिसको अगले फलक में देखा जा सकता है। उसकी तुलना में यह दृश्य पर्याप्त प्राचीनतर और आदिम प्रकृति का है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

सिंघनपुर (रायगढ़) के कुछ गैरिकवर्णी प्रतीक-चिह्न जो ऐण्डर्सन की अनुकृतियों पर आधारित हैं। वाद में मूल से तुलना करके व्यक्तिगत रूप से भी इनकी प्रामाणिकता का परीक्षण कर लिया गया है। सभी चिह्न मूलतः मानवाकृतियों से ही विकसित लगते हैं।

पहले को छोड़कर शेष चिह्नों में एकरूपता है और परवर्ती युगों की कला में भी उनका प्रचलन मिलता है। सम्भवतः यह मानव का सार्वभौमिक स्तर पर स्वीकृत सबसे अधिक सरलीकृत लोक-ग्राह्य प्रतीक-रूप है। यहाँ उनकी पंक्ति-बद्धता और संख्या का कोई विशेष अभिप्राय भी हो सकता है, जो स्फुट नहीं होता। अधिकतर ऐसा संपुजन पूजापरक नर्तन-पंक्ति का परिचायक होता है पर प्रतीक-रूप में वह पूजनीय देव-पंक्ति का भी बोधक हो सकता है।

चित्र सं०—३

कोहबर (मिर्ज़ापुर) की गुफा-छत में तथा कंडाकोट पहाड़ के समीपवर्ती मार्ग में स्थित अनेक शिलाश्रयों पर क्षेपाङ्कन (Stencil) विधि से अङ्कित गेरुए रंग के ऐसे अनेक हस्त-चिह्न प्राप्त हुए हैं। कहीं अकेले एक हाथ की छाप मिलती है, कहीं दोनों की। वाकणकर को भोपाल-क्षेत्र की कुछ गुफाओं में भी यह चिह्न मिले हैं। योरोप की कास्तिलो (Castillo) आदि अनेक गुफाओं में ऐसे चिह्नों का अङ्कन इनकी एक विश्वव्यापी परम्परा का प्रमाण प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत चित्र मूल-चित्र देखने के बहुत बाद स्मृति से बनाया गया है अतः उसका सामान्य आभास मात्र देता है। इसे सही अर्थ में अनुकृति नहीं कहा जा सकता। चित्रित चिह्नों में हथेली के नीचे की ओर भी रंग लगा मिलता है।

फलक IX

वनियावेरी (पँचमढ़ी) गुफा के भीतर प्रवेश करते ही बायीं ओर की शिलाभित्ति पर पूर्वोक्त फलक के चित्र सं० १ के स्वस्तिक-पूजा-दृश्य से भिन्न और परवर्ती शैली का यह विशाल दृश्य भी स्वस्तिक-पूजा को ही व्यक्त करता है। इसका अङ्कन मटमैले सफेद रंग से एक ऐसी शैलीबद्धता के साथ हुआ है जिसे ऐतिहासिक काल की अजन्ता आदि गुफाओं की चित्रकला की पर्याप्त विकसित शास्त्रीय रूप-योजना के मूल से सम्बद्ध करने की बात उठायी जा सकती है, यह जानते हुए भी कि दोनों का वातावरण और सन्दर्भ सर्वथा पृथक् है। इस दृश्य में न केवल पूजकों द्वारा छत्र चढ़ाने का दृश्य अङ्कित है वरन् उनकी भङ्गिमाओं में पूजा-भाव का भी समावेश हुआ है और वह भी इतनी मात्रा में कि यह चित्र अन्य शिलाचित्रों को सामान्य परम्परा से बहुत आगे और विशिष्ट प्रतीत होता है। अङ्कन-विधि पूर्ववर्ती परम्परा की सरल पूरक शैली और आदिम रूप-योजना से विच्छिन्न नहीं हुई है परन्तु उसमें बाह्यरेखाओं के अतिरिक्त भीतरी भाग में भी रेखाओं का सम्यक् अर्थ-युक्त आलेखन कलात्मक विकास की सुनिश्चित स्थिति और दिशा का द्योतक है अतएव उसे महत्त्वपूर्ण कहना ही उचित है।

चित्र की समग्र रूप-रेखा और विस्तार शिला-भित्ति के प्रसार के अनुरूप प्रतीत होता है। स्वस्तिक को केन्द्र में रखकर उसके चतुर्दिक्, मुख्यतया इधर-उधर दूर तक उपासकों की आकृतियाँ विविध मुद्राओं में गतिशीलता और भावशीलता के साथ प्रदर्शित हैं। चार के हाथ में छत्र है, शेष तीन में से एक के हाथ के पास फल या पुष्प जैसी लघु गोलाकृत वस्तु बनी है तथा अन्य दो विनत होकर एक हाथ कटि पर रक्खे दूसरे हाथ से अभिवन्दन कर रहे हैं। सभी अनेक प्रकार के वस्त्र-विन्यास से युक्त पुरुष लगते हैं यद्यपि सबके केश जूड़े के रूप में बंधे हुए हैं। तीन छत्र प्रायः एक जैसे बने हैं, केवल एक में वृक्ष की जड़ की तरह दण्ड के निचले सिरे पर त्रिधा-विभाजन का अङ्कन है। चौथे छत्र का दण्ड बहुत बड़ा और मुड़ा हुआ बनाया गया है तथा उसके ऊपरी भाग में अतिरिक्त रेखा-जाल रचने की चेष्टा भी की गयी है। कटि-बन्ध कुछ आकृतियों में पुच्छवत् प्रतीत होते हैं पर वे हैं पट ही। दाहिनी ओर अन्तिम आकृति के नीचे एक पट और पैर का अंशावशेष यह सूचित करता है कि संभवतः वहाँ एक और पूजक की आकृति चित्रित रही होगी। बायीं ओर निचला छत्र-धारी संभवतः कटि-बन्ध युक्त नहीं बना है पर उसके कण्ठ में हार की स्थिति रेखा द्वारा संकेतित अवश्य है। हाथों के पास से उसकी कटि तक वस्त्रानुबन्ध विशेष द्रष्टव्य है। स्वस्तिक गुणक-चिह्न के समान अंकित न होकर धन-चिह्नवत् बनाया गया है और उसे भी समानान्तर रेखाओं द्वारा आपूरित किया गया है। बाह्यरेखा भी दोहरी है। बायीं ओर के भागों में समानान्तर रेखाओं के स्थान पर दो उलटे, लहरीले त्रिशूलों जैसे विचित्र चिह्न अङ्कित हैं जो देव-युग्म के परिचायक हो सकते हैं। पूजा-भाव स्वस्तिक पर तो केन्द्रित है ही किन्तु उसके भीतर यह असाधारण आकृतियाँ उसका और भी विशेष केन्द्र प्रतीत होती हैं। प्रस्तुत चित्र मूल से की गयी समाकार रेखानुकृति का लघु रूप है। क्षेत्र-परिचय में इसका छायाचित्र भी द्रष्टव्य है।

फलक X

चित्र सं०—१

माण्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० १ में बायीं ओर जहाँ अन्य वृक्ष-चित्र अङ्कित हैं, वहीं यह अद्वितीय वृक्ष-पूजा का दृश्य भी सफेद रंग से पूरक शैली में अंकित मिला है। गॉर्डन का ध्यान इस चित्र की ओर नहीं गया क्योंकि अपने विवेचन में कहीं भी उन्होंने इसके अस्तित्व का संकेत नहीं किया है। इस चित्र की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें केन्द्र-वर्ती पुष्पित वृक्ष के पार्श्व में पूरा अश्व एक सुनिश्चित व्यवस्था के साथ आलिखित है और प्रति पार्श्व में दूसरी ओर एक विचित्र आकृति अंकित है जिसका मुख और अयालयुक्त ग्रीवा तो अश्व-रूप है किन्तु अगला हाथ, और पैर भी, मानवाकार लगता है। पिछला अंश अस्पष्ट हो

गया है जिससे आकृति के सम्पूर्ण आकार-प्रकार का बोध नहीं हो पाता। इसके सम्बन्ध में पहली सम्भावना यही लगती है कि यह आकृति किसी पशु-देवता की है जिस में अश्व और मानव के रूप का किन्नरवत् मिश्रण हुआ है। दूसरी सम्भावना अश्व की खाल ओढ़कर वृक्ष-पूजा करते हुए मानव की मानी जा सकती है जो शिला-चित्रों के क्षेत्र में अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। योरोप में ऐसी अनेक मानवाकृतियाँ चित्रित मिली हैं जिनका यही तात्पर्य ग्रहण किया गया है। फ्राँस की त्रॉय-फ्रे (Trois-Freres) नामक गुफा ऐसी आकृतियों के लिए प्रसिद्ध है। तीसरी सम्भावना, अस्पष्ट भाग की विविध रूप से कल्पना करते हुए अनेक प्रकार से व्यक्त की जा सकती है। कलात्मक दृष्टि से वृक्ष के दूसरे पार्श्व की दीर्घता एवं विस्तार पहले पार्श्व के समान ही सङ्गत प्रतीत होता है। वस्तुस्थिति को देखते हुए दूसरी सम्भावना ही अधिक समुचित लगती है क्योंकि अश्व और अश्वमुखी मानवाकृति में रूपगत सन्तुलन तो है पर आकारगत सङ्गति का प्रत्यक्ष अभाव लगता है। पैरों की तुलना से यह बात सर्वथा सिद्ध हो जाती है। चित्रण में सन्तुलन और संगति का भाव भी रहा, जैसे वृक्ष के दोनों ओर की शाखाओं और पुष्प-त्रयी में, परन्तु ऐसा नहीं है कि दूसरी ओर मानवाकृति की कल्पना तक न की जा सके और उधर भी समाकार पशु-चित्र ही सम्भव माना जाय। इस रचनागत ऊहापोह से अलग हटकर देखने पर प्रस्तुत रूप में ही यह चित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित होता है क्योंकि इसमें पशु, वृक्ष और मानव तीनों प्रतीकों की ऐसी एकात्मता मिलती है जिसे पूजा-भाव से सम्बद्ध करना कठिन नहीं है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०——२

माण्टेरोज़ा (पँचमढ़ी) के इसी शिलाश्रय पर अंकित एक अन्य आकृति जो मुझे पुष्पित वृक्ष की प्रतीत होती है किन्तु गॉर्डन ने इसे सशृङ्ग असुर (Grotesque horned demon) के विचित्र रूप में व्याख्यायित किया है : द्र०, सा० क० V, २; पृ० ६६७, प्लेट ५, चित्र 'ई') इस व्याख्याभेद का कारण सम्भवत: मूल-रूप के निरीक्षण एवं अनुकृति की वाह्यरेखा का अंतर है जिसके कारण कल्पना की गति भिन्न दिशा में हो जाती है। प्रस्तुत चित्र मूल से ट्रेस या अनुरेखन पद्धति से प्रतिकृत किया गया है अत: अधिक प्रामाणिक कहा जा सकता है। वाह्यरेखा की सूक्ष्म भंगिमाओं में अवश्य विभेद हो सकता है परन्तु इसका सामान्य आकार अनुमानत: सच्चा और विश्वसनीय है। इसमें शृङ्ग स्फुट नहीं हैं और न मुख और चंचु वैसी है जैसी गॉर्डन की अनुकृति में। मध्यवर्ती शाखा से सूत्र-सम्बद्ध गुच्छ गॉर्डन की अनुकृति में दाहिने हाथ से एकरूप हो गया है और वह शाखा वहुत नीचे वना दी गयी है। वायें हाथ में अवश्य गॉर्डन ने अधिक स्फुट रूप अंकित किया है पर वह भी मूल में उतना स्पष्ट नहीं है। नीचे के अंश को पैर मानने की अपेक्षा वृक्ष की जड़ मानना अधिक उपयुक्त

लगता है और इसी तरह समस्त आकृति की कल्पना में विभेद आ जाता है । वृक्ष के विरुद्ध यही तर्क सबसे अधिक विचारणीय लगता है कि यदि हाथ वाली रेखाएँ शाखाएँ हैं तो उनका झुकाव नीचे न होकर ऊपर की ओर होना चाहिये था। इस कठिनाई के रहते हुए भी मुझे इस आकृति में किसी असुर अथवा मानव-रूप का अर्थग्रहण संतोषप्रद नहीं लगता। चित्र का अंकन हल्का बैंगनीपन लिये हुए सफेद रंग से पूरक शैली में हुआ है। -

चित्र सं०—३

माण्टेरोजा (पँचमढ़ी) के उसी शिलाश्रय पर मटमैले सफेद रंग से पूर्वांकित चित्रों की ही भाँति पूरक शैली में अंकित वृक्ष-पूजा का एक दृश्य, जिसकी अनुकृति तथा व्याख्या में गॉर्डन ने चित्र सं० २ जैसी ही भूल की है और इस दृश्य की मानवाकृतियों को वन्दरों के रूप में ग्रहण किया है (द्र०, सा० क० वॉ० V, २, पृ० ६६६, प्लेट ४, चित्र 'डी')। वास्तव में वे पूजक हैं जो एक पैर आगे और एक पीछे मोड़कर बैठे हैं। पिछले पैर को अतिशय पतले रूप में अनुकृत कर लेने के कारण गॉर्डन ने उसे भ्रमवश पूँछ समझ लिया। चित्रण को वृक्ष पर क्रीड़ा करते हुए वानरों के रूप में ग्रहण कर लिया। क्रीड़ित वानरों के ऐसे दृश्य पँचमढ़ी के कतिपय शिलाश्रयों पर मिलते भी हैं पर यह चित्र मूल को ध्यान से देखने पर वैसा सिद्ध नहीं होता। वृक्ष को ज्यामिति संयोजन से युक्त एक आकल्पन के रूप में बनाया गया है जिसमें दोनों ओर समान रूप से पुष्पित वृंत चित्रित हैं और चारों मानवाकृतियाँ उन्हीं के समीप किंचित् विनय की मुद्रा में बैठी हुई प्रदर्शित हैं। सम-रूप आकल्पन और इस मुद्रा विशेष की संगति वृक्ष पर बैठे वन्दरों से सर्वथा सन्तोषप्रद नहीं लगती। वृक्ष-पूजा का विषय पूर्ववर्ती चित्र में इसी शिलाश्रय पर अङ्कित होने से वही अर्थ ग्रहण करना अधिक उपयुक्त लगता है। प्रस्तुत चित्र अनुरेखन पद्धति से मूल से ही प्रतिकृत किया गया है।

फलक XI

चित्र सं०—१

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं० ४ पर कुछ हलके गेरुए रंग से अङ्कित एक क्षीण किन्तु प्रमुख आकृति जिसे 'वनदेवी' जैसी कोई संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि उसके ऊर्ध्व भाग के चारों ओर वनस्पति-गुच्छ और ठीक शिरोभाग के ऊपर दोहरी शिखर-पंक्ति चित्रित की गयी है। मूल आकृति इस सघन आलंकारिक चित्रण से घिरी होने पर भी सशक्त ज्यामितिक रेखाओं के कारण स्पष्ट उभर कर सामने आती है। शिरोरेखा वृत्ताकार है किन्तु मस्तक के स्थान पर टोपी की तरह चौड़ी और उभरी हुई है। कानों को रेखावृत्त से फूटने वाली सपल्लव शाखाओं द्वारा संकेतित किया गया है। ग्रीवा अनिर्दिष्ट है। शरीर

एक आयत के रूप में बनाया गया है जो शिरोवृत्त से सर्वथा संलग्न है और उसके ऊपरी कोनों से, आदिम शैली में, कोणाकृत्त हाथ चित्रित हैं। दाहिने हाथ में त्रिकोणात्मक भाला है और बायें में पर्वताकार गोलक-पुंज जो वन्य समृद्धि का द्योतक हो सकता है। शरीर वाला आयत एक मध्य रेखा से दो वर्गों में विभाजित कर दिया गया है तथा शिरोवृत्त और इन दोनों वर्गों के भीतर मध्यवर्ती बिन्दु सहित तीन समान रेखा-वृत्त बनाये गये हैं जो कलात्मक दृष्टि से रिक्तता के पूरक अलङ्करण-चिह्न जान पड़ते हैं पर यह भी सम्भव है कि उनका कोई विशेष अभिप्राय रहा हो। पैर आयत के निचले कोणों से निकलते हुए बने हैं। एक सीधा और स्थिर तथा दूसरा कुछ झुकाव के साथ उठा हुआ गतिशील दिखायी देता है। सम्पूर्ण आकृति प्रभावशाली, अद्वितीय तथा किसी आदिम देवी की प्रतीत होती है। इसके नीचे विशालकाय मयूर भी अंकित है पर वह देवी का वाहन न होकर स्वतन्त्र प्रतीत होता है। अधिक गहरे रंग और शैली-भेद के कारण भी उसे प्रस्तुत चित्र से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता (द्र० खंड II, अन्तिम फलक)। ऊपर शिखर-पंक्ति के इधर-उधर भिन्न शैली में दो परवर्ती काल के अश्वारोही भी अंकित हैं जो प्रस्तुत चित्र से मूलतः असम्बद्ध हैं। प्रस्तुत रेखानुकृति मूल पर आधारित है परन्तु उससे मूल-चित्र की विशालता का बोध नहीं होता।

चित्र सं०—२

गुफा-मन्दिर (भोपाल) में गहरे कत्थई रंग से शिलाङ्कित दो लयात्मक मानवाकृतियाँ जो अपने रूप-विन्यास के द्वारा हेनरी मूर की कला का स्मरण दिलाती हैं। कलात्मक दृष्टि से चौड़ी रेखाओं वाली छोटी आकृति और भी आकर्षक और विशिष्ट है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XII

चित्र सं०—१

रायगढ़-क्षेत्र में स्थित सिंघनपुर के शिलाश्रयों पर गेरुए रंग में अंकित विविध प्रकार की प्रतीकात्मक एवं अन्य आकृतियाँ जिन्हें अनुकृत कराकर मनोरंजन घोष ने अपने 'मोनोग्राफ' में प्रकाशित किया। यह छायाचित्र उन्हीं की प्रतिकृतियों पर आधारित हैं। इनका परिचय निम्नलिखित प्रकार से दिया जा सकता है। पहली-दूसरी अस्पष्ट प्रतीक। तीसरी आकृति बहु-चर्चित सूर्य-चित्र, जिसमें निकलती रेखाओं से किरणें प्रदर्शित की गयी हैं। अमरनाथ दत्त ने छै किरणें स्पष्ट और एक अस्पष्ट, इस प्रकार सात की संख्या पूरी मानकर सूर्य की सप्ताश्वमयी वैदिक कल्पना तक का स्मरण इस प्रसंग में कर डाला है।

ऐण्डर्सन ने इसको वैसा मधु-पात्र माना है जैसा सीलोन में चित्रित किया जाता है। घोष ने अपना मत किरणों सहित अधउगे सूर्य के ही पक्ष में दिया है। वस्तुतः इसका अभिप्राय अस्पष्ट ही है। चौथी-पाँचवीं पुनः स्पष्टता-रहित रेखा-जाल मात्र लगती हैं। सम्भव है यह नष्टप्राय चित्रों के अवशेषांश मात्र हों। छठी घोष की दृष्टि में अनगढ़ मानवाकृति है। सातवीं में भी उन्होंने दो मानवाकृतियाँ अनुमानित की हैं। यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होते हैं। आठवीं आकृति भी इसी प्रकार की अनुमानित की जा सकती है परन्तु निश्चय-पूर्वक प्रायः इन सभी के विषय में कुछ कहना कठिन है।

चित्र सं०—२

रायगढ़-क्षेत्र में स्थित सिंघनपुर के शिलाश्रयों पर गेरुए रंग में अङ्कित विविध प्रकार की प्रतीकात्मक एवं अन्य आकृतियाँ। मनोरञ्जन घोष ने इनकी जो प्रतिकृतियाँ करायीं, प्रस्तुत छायाचित्र उन्हीं पर आधारित है। इनका परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है। पहली त्रिशूलवत् किन्तु अनिश्चित चिह्न, दूसरी अस्पष्ट, तीसरी-चौथी के विषय में अमरनाथ दत्त की धारणा है कि यह चित्रलिपि-मूलक (hieroglyphic) हैं। तीसरी आकृति की कई अनुकृतियाँ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित की गयी हैं जिनमें परस्पर अन्तर है और अनुकर्ताओं ने अपनी धारणाएँ अपनी-अपनी अनुकृति के अनुरूप ही व्यक्त की हैं। किसी ने पक्षी के सिर का आभास पाया है, किसी ने मानवाकृति का। चौथी आकृति में पहला चिह्न स्पष्टतः गुणक (cross) है और दूसरा चिह्न पक्षी या नरकुल (reed) जैसा है जिसे दत्त ने चित्रलिपि-मूलक मानकर हड़प्पा और सुमेरी लिपि-चिह्नों के समक्ष प्रस्तुत किया है। ऐण्डर्सन ने सिंघनपुर के ही एक ग्रामवासी से इसका भाव पूछा तो उसने उत्तर दिया कि यह एक चीता है जो आदमी को पकड़े लिये जा रहा है। प्रश्नकर्ता ने ग्रामीण की सूक्ष्म दृष्टि की सराहना भी की है। पर वह किस अर्थ का द्योतक रहा होगा यह नहीं कहा जा सकता। पाँचवीं से निश्चित रूप में और छठी से अंशतः मानवाकृति का बोध होता है। मनोरञ्जन घोष ने छठी आकृति के दोनों अंशों को अज्ञात प्रतीक बताया है। सिंघनपुर के शिलाश्रयों पर और भी अनेक रहस्यात्मक प्रतीक-चिह्न अंकित हैं जिनका अर्थ संदिग्ध किन्तु प्राचीनता असंदिग्ध है।

फलक XIII

महड़रिया (मिर्जापुर) के शिलाश्रय पर स्त्री-पुरुष युग्म तथा अन्य सहगामी मानवाकृति के समीप एक चौकोर घेरे में अङ्कित चार मानवाकृतियाँ। आयत झालरदार विन्यास से युक्त हैं जिसमें अर्धवृत्तों का क्रम कई स्थानों पर खंडित है। यह अपूर्णता रचना-प्रक्रिया

से ही सम्वद्ध है। आयत-वद्ध चारों आकृतियाँ समान शैली की हैं और उनके वक्ष-त्रिकोण को तीनों केन्द्रस्थ लम्व रेखाओं से युक्त करके अलंकृत किया गया है। पहली आकृति को छोड़कर शेष सव में निचले के त्रिकोण की आधार-रेखा प्रदर्शित है। हाथों में उँगलियों का निदर्शन भी द्रष्टव्य है। जिस रूप में चारों को आयत में संपुंजित करके प्रस्तुत किया गया है उससे लगता है कि सम्पूर्ण आलेखन किसी विशेष विश्वास अथवा पूजा-भाव से सम्वद्ध और प्रतीकात्मक है।

प्रस्तुत छाया-चित्र मनोरञ्जन घोष द्वारा करायी गयी मूलचित्र की वाह्यानुकृति पर आधारित है तथा इसका उपयोग उनके मोनोग्राफ में हो चुका है।

फलक XIV

चित्र सं०—१

सिंघनपुर (रायगढ़) के प्रतीक चित्र जो ऐण्डर्सन की प्रतिकृतियों पर आधारित हैं। इनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इनमें से नीचे दाहिनी ओर के दोनों प्रतीक पूर्ववर्ती फलक XII, चित्र सं० २ के अन्तर्गत चौथे स्थान पर समाहित हैं और उनका परिचय उसी क्रम में दिया जा चुका है। इन चिह्नों के वायीं ओर सवसे वड़ी आकृति पाँच समानान्तर चौड़ी रेखाओं के मध्य भाग को लम्व रूप में सम्वद्ध करती हुई उन्हीं जैसी चौड़ी रेखा से युक्त है। इसे वृक्ष की ज्यामितिक कल्पना के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है और एक शुद्ध प्रतीक के रूप में भी। ऐण्डर्सन ने ऐसा ही किया है। उन्होंने इसे वृक्ष की प्राचीनतम धारणा (earliest conception of a tree) कहा है। साथ ही उसके अभिचारपरक (totemistic) होने की सम्भावना भी व्यक्त की है। समानान्तर रेखाओं के वीच के स्थान की पारस्परिक समता तथा लम्व की मध्यवर्ती स्थिति रूपात्मक सन्तुलन की सुनिश्चित चेतना को व्यक्त करती है जो इस चित्र के अन्य प्रतीक-चिह्नों में कम उपलव्ध होती है। त्रिशूलाकृति को छोड़कर शेष में रूप-रचनागत ज्यामितिकता का आभास तो मिलता है पर समग्र स्वरूप स्फुट नहीं होता। शृङ्खलित आकल्पन की पूर्ण छाया इसमें अवश्य देखी जा सकती है। त्रिशूल का मूल रूप इतना सुनिर्धारित नहीं है। लगता है कि एण्डर्सन ने चिह्नों को अनुकृत करते समय उन्हें परिष्कृत कर दिया और प्रस्तुत रूपों में भी वही परिष्कार आकार भाव से आ गया है। फलक XII, चित्र सं० २ की प्रथम आकृति में जो त्रिशूल वना है वह मूल से अधिक निकट है। अनुकर्ता ने एस्कीमो जाति द्वारा अंकित चिह्नों से उसकी तुलना की है।

चित्र सं०—२

पूर्ववत् अनुकृत सिंघनपुर की ही एक अन्य प्रतीकात्मक आकृति जिसका वास्तविक

अर्थ अज्ञात है। परिवर्धित रूप में वही है जो फलक XII, चित्र सं० २ के अंतर्गत सबसे अंत में आती है। दोनों की तुलना में यहाँ भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐण्डर्सन ने कितनी मात्रा में परिष्कार करते हुए अनुकृतियाँ की। अमरनाथ दत्त की पुस्तक में इसकी प्रतिकृति प्रस्तुत नहीं की गयी है। बड़ा चिह्न शीश रहित मानवाकृति है। उसके पास वाला 'एच' जैसा आकार मानव-सादृश्य से रहित है अतएव दोनों को प्रतीक-चिह्न के रूप में ग्रहण करना ही अधिक संगत दिखायी देता है।

ऐण्डर्सन ने तुलनात्मक पद्धति को सबसे अधिक सुरक्षित मार्ग समझकर विविध देशों के प्राचीन प्रतीकों से सिंघनपुर के प्रतीकों की तुलना की है। बड़े चिह्न को एक विशेष प्रकार की मानवाकृतियों के समक्ष रक्खा है जो एरिज़ोना (Arizona) नामक स्थान से प्राप्त चित्रों में मिलती है।

फलक XV

इस फलक पर भी सिंघनपुर (रायगढ़) की ही, पूर्व फलक के चित्रों की तरह प्राप्त, कुछ अन्य आकृतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। सभी ऐण्डर्सन की परिष्कृत अनुकृतियों पर आधारित है। मूल में इनका रूप इतना सुथरा और सुथरा नहीं है। सब हलके गहरे गेरुए रंग में बनी हुई हैं।

चित्र सं०—१

इस चित्र में दो आकृतियाँ समाविष्ट है। पहली एक निश्चित ज्यामितिक व्यवस्था से युक्त रेखा-जाल है। दत्त ने इसे अपनी पुस्तक में प्लेट नं० IX पर जिस रूप में मुद्रित कराया है वह ऐण्डर्सन द्वारा प्रस्तुत इस रूप का ठीक उल्टा है, ऊपरी भाग नीचे और निचला भाग ऊपर। दोनों अनुकृतियों के आवयविक रूप और रेखा-विधान में कोई अंतर नहीं लगता क्योंकि दोनों एक ही मूल पर आश्रित और समान रूप से परिष्कृत हैं। दत्त के मत से यह घेरे या 'रेलिंग' की आकृति का है जिसकी भारतवर्ष में एक व्यापक और सुदीर्घ परम्परा मिलती है। वेदिका बनाने की वैदिक प्रणाली तथा जन्मकुण्डली बनाने की बंगाली-विधि का भी स्मरण उन्होंने रूप-सादृश्य के आधार पर इसी के प्रसङ्ग में किया है पर अपनी मुक्त कल्पना की कोई तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। इस आकृति के निम्न भाग की ज्यामितिक योजना अखण्ड और प्राय: एकानुरूप है परन्तु ऊपरी भाग में रेखाओं का संधान सर्वत्र एक जैसा नहीं है। पहले तीन लम्बायित षट्कोणों की ऊपरी भुजाएँ एक-दूसरे को काटती हुई बनी हैं, इसी क्रम में आने वाले चौथे कोण की एक भुजा बनाने से रह गयी है। अन्तिम दोनों कोण सच्चे बने हैं। उनमें भुजाएँ बिना एक-दूसरे को काटे हुए कोण पर सीधे

मिल जाती है और उनके ऊपर एक शिरोरेखा भी बनी हुई है जो मूल-कल्पना में सम्भवतः सभी कोणों के शीर्ष-स्पर्श के भाव से समाहित हुई होगी। सारे षट्कोण एक-दूसरे से संग्रथित उसी आधार के नीचे की ओर लटके प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण चित्रण वस्तुमूलक न होकर प्रतीकात्मक आकल्पन ही प्रतीत होता है और अद्वितीय कहा जा सकता है। ऐण्डर्सन ने भी इसमें सम्मात्रा (symmetry) का आंशिक अभाव लक्षित किया कि उन्हें फिर भी यह पर्याप्त मानसिक विकास का प्रमाण लगी।

दूसरी आकृति स्पष्टतः एक पशु की है। उसका पिछला भाग अपूर्ण दिखायी देता है पर वास्तव में वह मूलचित्र के ही अनुरूप बना है। दोष उसी में आ गया है क्योंकि पत्थर की चिप्पी उखड़ जाने से वह हिस्सा सर्वथा अदृश्य हो गया है। यह अवश्य है कि अवशेष भाग से पिछले पैरों की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। दत्त ने इसे श्वान के रूप में व्याख्यायित करते हुए तद्विषयक अनेक विश्वासों की चर्चा की है। शरीर का चितकबरापन भी भ्रामक है क्योंकि चित्रण अन्य चित्रों की तरह गैरिकवर्णी पूरकशैली में ही हुआ है। गॉर्डन ने इसे कबरापहाड़ वाले लेख के साथ प्रस्तुत करते हुए सिंघनपुर का छोटा अश्व बनाया है (द्र० सा० क० V, ५, पृ० २७८, प्लेट ४)। सम्भव है यह आदिम अश्व की ही आकृति हो।

चित्र सं०—२

सिंघनपुर का यह चित्र भी ऐण्डर्सन की आकृति पर आधारित है। मूल चित्र की निकटतम छाया इसी खण्ड के फलक XII, चित्र सं० १ की तीसरी आकृति के रूप में देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विविध मतों का उल्लेख उक्त आकृति के परिचय में ही दे दिया गया है। यदि इसे सूर्य के रूप में ही ग्रहण किया जाय जैसा कि अधिक स्वाभाविक लगता है तो भी किरणों की संख्या सात मान कर सप्ताश्व सूर्य की पौराणिक धारणा से उसे जोड़ना संगत नहीं लगता क्योंकि यहाँ सूर्य-बिम्ब खण्डशः चित्रित है जिसमें पूर्ण बिम्ब के साथ अधिक किरणों की कल्पना सहज ही की जा सकती है। भारतीय शिला-चित्रों के क्षेत्र में ऐसे सूर्य-चित्रण का कोई दूसरा उदाहरण अभी तक दृष्टिगत नहीं हुआ है। अतः इसे बाद की परम्परागत धारणा से मिला कर देखने की अपेक्षा स्वतन्त्र ज्यामितिक प्रतीक के रूप में स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा।

चित्र सं०—३

पूर्वोक्त-स्रोत से अनुकृत सिंघनपुर का ही एक अन्य प्रतीक चिह्न है जिसका मूल रूप फलक XII, चित्र सं० १ की चौथी-पाँचवीं आकृति से सादृश्य रखता है। उनमें पूरा आकार-साम्य लक्षित नहीं होता पर मूल रूप का आभास अवश्य मिल जाता है। ऐण्डर्सन ने अपने

लेख में इसे उन आकृतियों के वर्ग में रक्खा है जिनका मूल-स्रोत किसी अभिचारपरक धारणा में रहा होगा (द्रष्टव्य ज० बि० उ० रि० सो०, पृ० ३०४)।

फलक XVI

चित्र सं०—१-२

रौप (मिर्ज़ापुर) से पंचमुख महादेव के ठीक पीछे के शिलाश्रयों में अंकित दो गैरिकवर्णी चित्र जिनमें प्रदर्शित प्रतीकात्मक वस्तुओं का सही अभिप्राय विदित नहीं होता।

पहले चित्र में केन्द्रीय आकृति में एक बड़े आयत पर दूसरा आयत तथा मध्यवर्ती उन्नयन वेदिका जैसा लगता है और उसके दाहिनी ओर गज-तुण्ड की तरह घूमी हुई आकृति बनी है तथा बायीं ओर और ऊपर भी कुछ विचित्र आकार बने हैं। समग्र चित्र कोई निश्चित अर्थ नहीं देता। आकृतियाँ मानव-निर्मित होते हुए भी बहुत आदिम प्रकृति की नहीं लगतीं। मू० अनु० प्र० प्र०।

दूसरे चित्र में अवश्य केन्द्रीय आकृति मानव की है जो एक हाथ कन्धे की सीध में ऊपर उठाये है तथा दूसरे में एक सर्पाकार सुदीर्घ लकुट जैसी वस्तु पकड़े हुए है। इसकी मुखाकृति सर्प की अपेक्षा पशु से मिलती है। मुख के सामने और मनुष्य की अर्धस्पष्ट जाँघ से पहले एक बड़े खूँटे जैसा आकार बना है। मानवाकृति के अधोभाग के उस ओर एक पक्षी की अर्धस्पष्ट आकृति दिखायी देती है। उसकी पूँछ ऊपर उठी हुई है और पैर अप्रदर्शित हैं। इस चित्र में अवश्य कोई अभिचारपरक या यातुमूलक गूढ़ अभिप्राय निहित है। सम्भवतः यह किसी शक्तिमान् जातीय व्यक्ति अथवा आदिम देवपुरुष की धारणा को व्यक्त करता है जिसका प्रभाव जीव-जन्तुओं पर विशेष माना जाता रहा हो। शिरोभूषा भी कुछ विशेष रही होगी, इसका क्षीण आभास मूल चित्र से मिलता है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XVII

इस फलक के सभी चित्र सा० क० के नं० ५ में गॉर्डन के कबरापहाड़ (रायगढ़) विषयक लेख के साथ तीसरी 'प्लेट' में यथाक्रम समाविष्ट हैं। ऊपर की **प्रथम पंक्ति** के सभी चिह्न सोनभद्र (पँचमढ़ी) के हैं जो लेखक के अनुसार प्रकृत्या सिंधुघाटी लिपि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। दत्त को लक्षित करके यह बात व्यंग्य के रूप में कही गयी है क्योंकि गॉर्डन ने उसी जगह स्पष्ट रूप से लिखा है कि इन चिह्नों में किसी प्रकार का अर्थ खोजना मूर्खता होगी। पहले पाँच चिह्न शुद्ध ज्यामितिक प्रतीक हैं परन्तु

अन्तिम में दो मनुष्यों की आकृति ही नहीं मुद्रा भी स्पष्ट है। एक त्वरा से भाग रहा है और दूसरा दौड़ते हुए हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ने की चेष्टा कर रहा है। **दूसरी पंक्ति** कबरा पहाड़ से सम्बद्ध चिह्नों की है जो शिलाश्रय पर यत्र-तत्र स्फुट रूप से अंकित हैं। इनमें से पहले दो मालाकार हैं और उनमें एक सूत्र रेखा से निबद्ध अनेक वर्तुल या कोणात्मक रूपों की योजना मिलती है। अन्य दो प्रथम पंक्ति के प्रारम्भिक चिह्नों से सादृश्य रखते हैं। अंतिम चिह्न सबसे विशिष्ट और दोहरा बना है। ऊपरी आयताकार भाग में कुछ गोलाकृतियाँ पात्रों जैसी लगती हैं तथा निचले आयत के भीतर पूरक शैली में एक मानवाकृति बनी है जो लेटी हुई मुद्रा में है। यद्यपि गॉर्डन ने अर्थ लगाने की चेष्टा से वारित किया है तथापि इसे देखकर कोई चाहे तो आदिम शव-समाधि की कल्पना मन में ला सकता है और इस प्रतीक को मृत्यु से सम्बद्ध मान सकता है। स्पष्ट है कि यह विचार दत्त की मुक्त ऊहाओं जैसा ही है जिस पर बिना किसी सुनिश्चित आधार के आग्रह नहीं किया जा सकता। **तीसरी पंक्ति** के तीन चिह्न भी कबरा पहाड़ के ही हैं। पहला पंजे जैसा, दूसरा त्रिकोणात्मक और तीसरा अरायुक्त पहिये जैसा है। परिधि-रेखा मिलायी नहीं गयी है वह अराओं की शिरोरेखा से व्यंजित भर है। इस पंक्ति के अंतिम दो आयताकार चिह्न तथा **चौथी पंक्ति** का पहला चिह्न गॉर्डन के निर्देशानुसार सिंघनपुर के हैं। आयताकार चिह्नों का मूलरूप कदाचित् फलक XII, चित्र १ के दो प्रारम्भिक चिह्नों द्वारा अनुमानित किया जा सकता है। चौथी पंक्ति की अंतिम आकृति तामिया (पँचमढ़ी) की है जिसे गॉर्डन के मत से सिंघनपुर की सदृश आकृतियों से मिलाकर देखा जा सकता है। इसमें भी रेखा-जाल कुछ-कुछ उसी प्रकार लम्बायित रूप में ऊपरी रेखा का आधार लेकर अंकित किया गया है (द्र०, फलक XIII-XIV)।

फलक XVIII

चित्र सं०—१

सीताखर्डी (चम्बलघाटी) के शिलाश्रय समूह से अनुकृत ज्यामितिक आकल्पन तथा प्रतीक जो इ० आ० १९५७-५८ के पृ० २७ पर प्रथम बार प्रकाशित हुए। प्रस्तुत रेखानुकृतियाँ उन्हीं प्रकाशित रूपों पर आधारित हैं। पहला आकल्पन सम्मात्रायुक्त विचित्र किन्तु व्यवस्थित रूप-योजना से विनिर्मित है। रेखाएँ दोहरी बनी नहीं हैं पर योजना-वैचित्र्य के कारण दोहरी प्रतिभासित होती हैं। लघु बिन्दुओं के प्रयोग ने वैशिष्ट्य को बढ़ा दिया है। इसी के समीप दाहिनी ओर बिन्दुओं से युक्त तथा अराओं से अलंकृत पहियों जैसे चार वृत्त प्रदर्शित हैं। इनमें भी निश्चित रूप-योजना लक्षित होती है। नीचे के दोनों रेखाकृति-

पुञ्ज स्वच्छन्दता का अनुसरण करते हुए बनाये गये हैं पर उनमें भी पर्याप्त ज्यामितिक योजना दृष्टिगत होती है।

चित्र सं०—२

मनवाँ भान की टेकरी (भोपाल) में एक स्थान पर गेरुए रंग से शिलाङ्कित एक प्रतीकात्मक आकृति की वाह्यरेखानुकृति जिसके मूर्तरूप में अमूर्त तत्व समाहित प्रतीत होता है। दो असमान खड़ी समानान्तर रेखाओं को दो अन्य वैसी ही आड़ी रेखाओं से जोड़ कर मुख्य ढाँचा खड़ा किया गया है। खड़ी रेखाओं के निचले सिरों पर दो भूमिस्पर्शी रेखाएँ देकर आधार या टेक जैसा रूप प्रदर्शित किया गया है। पूरी आकृति मध्यवर्ती रेखा के कारण दो भागों में विभाजित हो जाती है जिनमें एक-एक बड़ा बिन्दु देकर रिक्तता को कलात्मक रीति से सपूरित किया गया है। ऊपर की ओर ढाँचे से बाहर बनी रेखाएँ उससे अलग तो है ही, मूलतः भी असम्बद्ध लगती हैं। आकृति में सन्तुलन और संयोजन जितना स्पष्ट है, उसका अभिप्राय उतना ही अस्पष्ट दिखायी देता है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—३

गुफा-मन्दिर (भोपाल) के सबसे ऊपर के शिलाश्रय में गेरुए रंग से ही अंकित एक विचित्र रेखा-जाल जिसमें धनुर्धर धनुष और बाण जैसे अनेक आकार प्रतिभासित होते हैं परन्तु उनकी संगति ऐसी नहीं है कि किसी निश्चित अर्थ तक पहुँचा जा सके। रेखाएं कहीं पतली कहीं चौड़ी हैं पर वे समग्र रूप से अकलात्मक नहीं लगतीं।

चित्र सं०—४

रौंप (मिर्जापुर) में पँचमुखी महादेव के दक्षिण पार्श्ववर्ती सबसे बड़े शिलाश्रय पर गेरुए रंग से अंकित छः अलंकृत आकृतियाँ जो रौंप के अन्य चित्रों की अपेक्षा कम प्राचीन प्रतीत होती हैं क्योंकि उनमें अलंकरण पर्याप्त विकसित अवस्था में मिलता है। पहली-दूसरी आकृतियाँ अल्पना या चौक की तरह विधिवत् पूरी गयी हैं। उनमें मध्यवर्ती वृत्तों के चारों ओर समान रूप-विधान आयोजित किया गया है जो परस्पर भिन्न प्रकृति का है। तीसरी आकृति में मानव-रूप स्पष्ट लक्षित होता है। शेष तीनों दोहरे-तेहरे रेखा-जाल का मालाकार विस्तार लगती हैं। अंतिम में पक्षी की आकृति और पैरों जैसे वर्तुल आकार को रेखाजाल से विचित्र रूप में सम्बद्ध कर दिया गया है। इन अनुकृतियों की तुलना में मूल आकृतियाँ कहीं अधिक बड़ी और सघन हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XIX

चित्र सं०—१, २, ३

मनवाँ भान की टेकरी (भोपाल) में सबसे ऊँचे तथा निर्वसित शिलाश्रय के पीछे

झाड़ियो से घिरे अनेक शिलाश्रयों पर शृङ्खलित रूप से बनी आकृतियो मे से कुछ का अंकन इन तीनों चित्रों में हुआ है। यह सभी आकृतियाँ कुछ वर्तुल रूप लिए लता-पत्र आदि वनस्पति-रूपों से मिलती प्रतीत होती है। तीसरे चित्र मे आकृतियाँ सहसा लिपि परक लगती है पर वह भी सम्भवत. अन्य दोनो की प्रकृति मे भिन्न नही है। ऐसे चिह्नों को शङ्ख लिपि से सम्बद्ध करने की चेष्टा भी की जाती है। यह सभी पूरक शैली मे बनी है, जैसा तीसरे चित्र से स्पष्ट है। पहले दो चित्र वाह्यरेखाओ मे ही आकृतियो को प्रस्तुत करते है। सभी गेरुए रंग से बनी है जो कही गहरा कही हलका हो गया है। मू० अनु प्र० प्र०।

चित्र सं०—४

गुफा-मन्दिर (भोपाल) के ऊपरी शिलाश्रय की छत मे अंकित एक विशाल अलंकृत पादपाकृति जिसमें दोहरी-तेहरी गैरिक रेखाओ का प्रयोग हुआ है। गमले जैसा आधार कल्पना को अर्वाचीनता के निकट ले आता है पर आकार की सुदीर्घता और अलङ्करण-विधि से प्राचीनता का आभास मिलता है। मूल आकृति इस अनुकृति की तुलना मे कही अधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—५

गुफा-मन्दिर में ही एक स्थान पर गहरे कत्थई रग से अंकित एक ज्यामितिक रेखाओं से विनिर्मित वृक्ष का कलात्मक आकल्पन।

फलक XX

ऊपरी डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) की गुफा के प्रवेश-स्थल पर ही गहरी सफेद पूरक रेखाओं में किंचित् अलंकृत शैली में अंकित वृक्ष और मधुमक्खियों का छत्ता। मानव आकृति के अभाव में यह चित्र शुद्ध प्रकृति-चित्रणपरक सिद्ध होता है। कलाकार ने छत्ते के वृन्त-लग्न होने की स्थिति को वस्तु रूप में चित्रित न करके सम्भवत: दोनों की समीपता के द्वारा व्यक्त किया है। वृन्तों की मूल रेखाएँ अलङ्करण मूलक व्यवस्था का अनुसरण नही करती है। केवल उनमें निर्दिष्ट पत्तियों के रूप और क्रम से उसका आभास मिलता है। छत्ते का रूप तो काल्पनिक है पर इस रूप में उसका चित्रण तत्कालीन प्रचलित शैली के अनुरूप है। वनिया-वेरी, इमलीखोह आदि पँचमढ़ी क्षेत्र की अनेक गुफाओं में वृक्ष में लगे छत्तों का अंकन इसी शैली में हुआ है और उड़ती हुई मधुमक्खियों को इसी तरह विन्दु रूप में चित्रित किया जाता था। वृन्त-रचना इसकी अवश्य विशिष्ट और आकर्षक है। नीचे की पतली रेखा शिला के खण्डित होने की सूचना देती है। यद्यपि सामान्यतया यह कहना ठीक है कि वह चित्र-रचना से पूर्व ही ऐसी थी या वाद में खंडित हुई किन्तु सभी वृन्तों के खंडन-रेखा-स्पर्श से यही

अनुमान होता है कि शिला चित्र-रचना के बाद टूटी।

फलक XXI

चित्र सं०—१

रौंप (मिर्ज़ापुर) में पँचमुखी महादेव के पीछे वाले शिलाश्रयों में अंकित गैरिकवर्णी विविध मानवाकृतियाँ तथा अनेक प्रकार के ज्यामितिक प्रतीक चिह्न। मानवाकृतियाँ छोटे-बड़े सभी आकारों की हैं। उनके सम्पुंजित रूप में पारिवारिक दृश्य भी समझा जा सकता है और स्वतन्त्र भी माना जा सकता है। बड़ी आकृतियाँ पूजापरक एवं विशेष महत्व की भी हो सकती हैं। पैरों के पास बनी छोटी आकृतियाँ शिशुओं के स्थान पर ऐसी दशा में पूजकों की मानी जायेंगी। ऊपर दाहिने किनारे की लम्बी आकृति छल में अंकित है। प्रतीक-चिह्नों में आदिम अनगढ़ रूप के स्थान पर परिष्कार और संतुलन लक्षित होता है। स्वस्तिक को आयत-बद्ध कर दिया गया है। दोहरी रेखाओं से बने एक मूल स्वस्तिक के बीच में बिन्दु बना दिया गया है जैसे समीपवर्ती वृत्त के भीतर बना है। शेष चिह्न प्रायः वृत्तों और रेखाओं के सीधे एवं वक्रतापूर्ण योग से बने हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

सिंघनपुर (रायगढ़) के यह दोनों प्रतीकचिह्न अमरनाथ दत्त द्वारा प्रकाशित अनुकृतियों पर आधारित हैं। उन्होंने इसकी व्याख्या वसुधाराओं अथवा जल-प्रतीकों के रूप में की है। उनके अनुसार इनकी परम्परा बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण में अब भी मिलती है तथा पहली आकृति में सात लहरीली रेखाओं की स्थिति वसुधाराओं की चित्रण-परम्परा से विशेष सङ्गति रखती है। इस विचार को अनुमान मात्र माना जा सकता है, इससे अधिक महत्व देना सम्भव नहीं है। दूसरी आकृति अधिक ज्यामितिक है। कुछ पूर्ण त्रिकोण, कुछ अपूर्ण; कुछ सम्बद्ध, कुछ बिखरे हुए। बीच में एक लम्बी रेखा तथा एक वर्गाकार बिन्दु भी अंकित है। लगता है कि जैसे किसी ने अभ्यासवश कुछ रेखाङ्कन कर दिया हो। सिंघनपुर में और भी अनेक ज्यामितिक प्रतीक-चिह्न मिलते हैं अतः इस रेखापुंज को उन्हीं के साथ रखकर व्याख्यायित करने की चेष्टा उचित प्रतीत होती है।

चित्र सं—३

मनवाँ भान की टेकरी (भोपाल) में किनारे के एक शिलाश्रय की कोर पर गहरे स्पष्ट गेरुए रंग से अंकित एक लयात्मक रेखाङ्कन जिसमें एक मुक्त-केशी मानवाकृति भी समाविष्ट है। वर्तुल रेखा से अन्य वैसी रेखाएँ पत्रावली की वृन्त-योजना की भाँति चित्रित हैं किन्तु उनका अभिप्राय अलङ्करण से भिन्न प्रतीत नहीं होता। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XXII

चित्र सं०——१

(अक्षरांकन युक्त तीन चित्र)

भल्डरिया (मिर्जापुर) के तट पर स्थित वावा जी की दरी नाम से विख्यात नव-ज्ञात शिलाश्रयों में से सर्वप्रमुख शिलाश्रय पर गैरिक वर्ण मे अंकित ढाल और खड्गधारी योद्धाओं की चार आकृतियाँ तथा कुछ ब्राह्मी अक्षर जो चित्र-रचना-काल के ही प्रतीत होते हैं। अक्षरों को पढ़ने पर उनसे कोई अर्थ स्फुट नहीं होता। 'व', 'क', 'ण', 'ठ' और 'ल' अक्षर विविध मात्राओं से युक्त हैं तथा 'र' अमात्रिक।

चित्र सं——२

बैरागढ़ (भोपाल) के निकटवर्ती एक शिलाश्रय से वाकणकर द्वारा अनुकृत एवं इं० आॅ० १९५६-५७ के पृ० ८० पर प्रकाशित रूप पर आधारित प्रस्तुत प्रतिकृति में तीन मानवाकृतियों के समीप तथा पार्श्व में अंकित लिपि मूलक चिह्न जिन्हें 'शङ्खलिपि' (shell character) के रूप में ग्रहण किया गया है। अभिलेख का तात्पर्य अज्ञात ही है।

चित्र सं०——३

उपर्युक्त चित्र २ के साथ ही प्रकाशित तथा उसी प्रकार प्राप्त ग्वालियर के पर्वतीय भाग के समीप तथा कटनी से दो मील पश्चिम की ओर स्थित शिलाश्रय पर सफेद रंग से चित्रित एक संपुंजन जिसमें एक ओर वृक्षाकार अलंकरण के समीप कुछ ब्राह्मी अक्षर लिखे हैं तथा दूसरी ओर एक दण्डधारी व्यक्ति दो बैलों को हाँक रहा है।
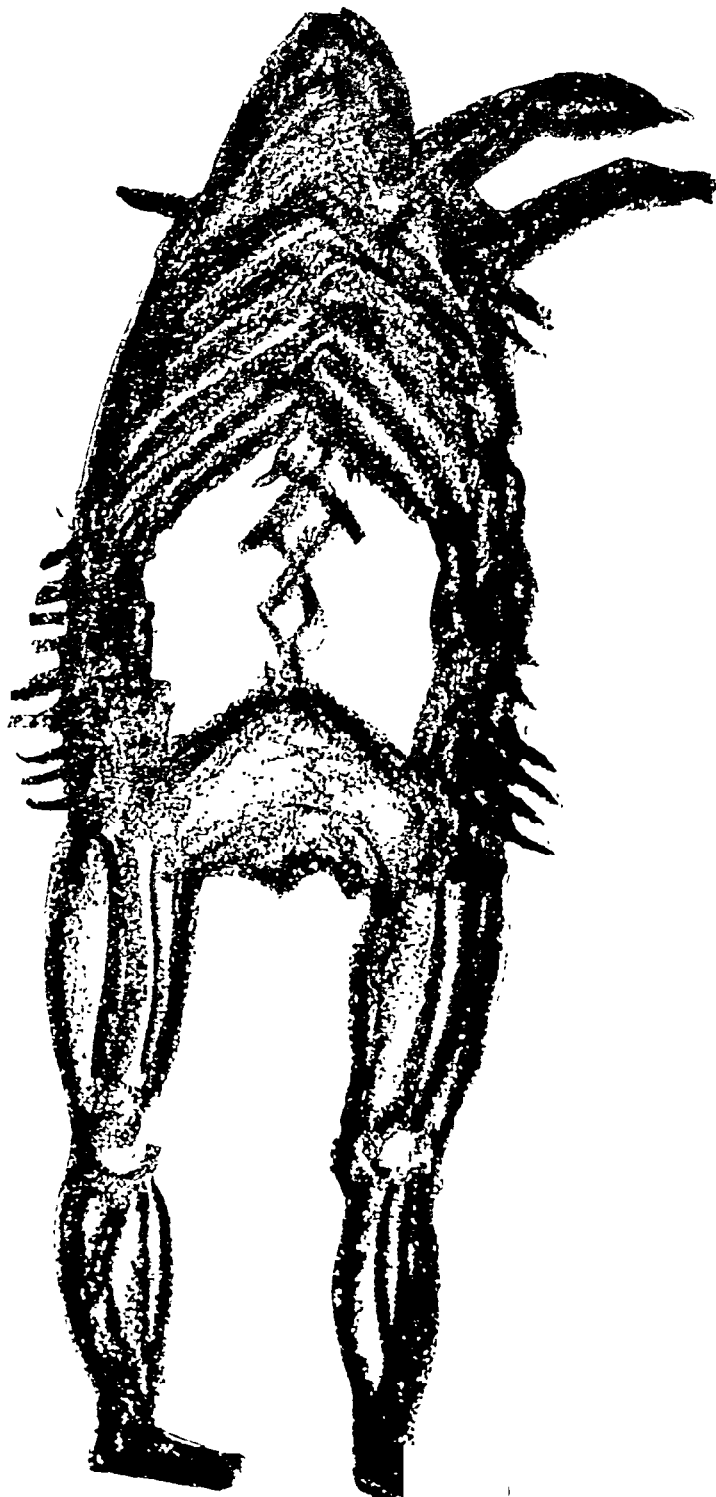
पु० प्र०, फलक–I
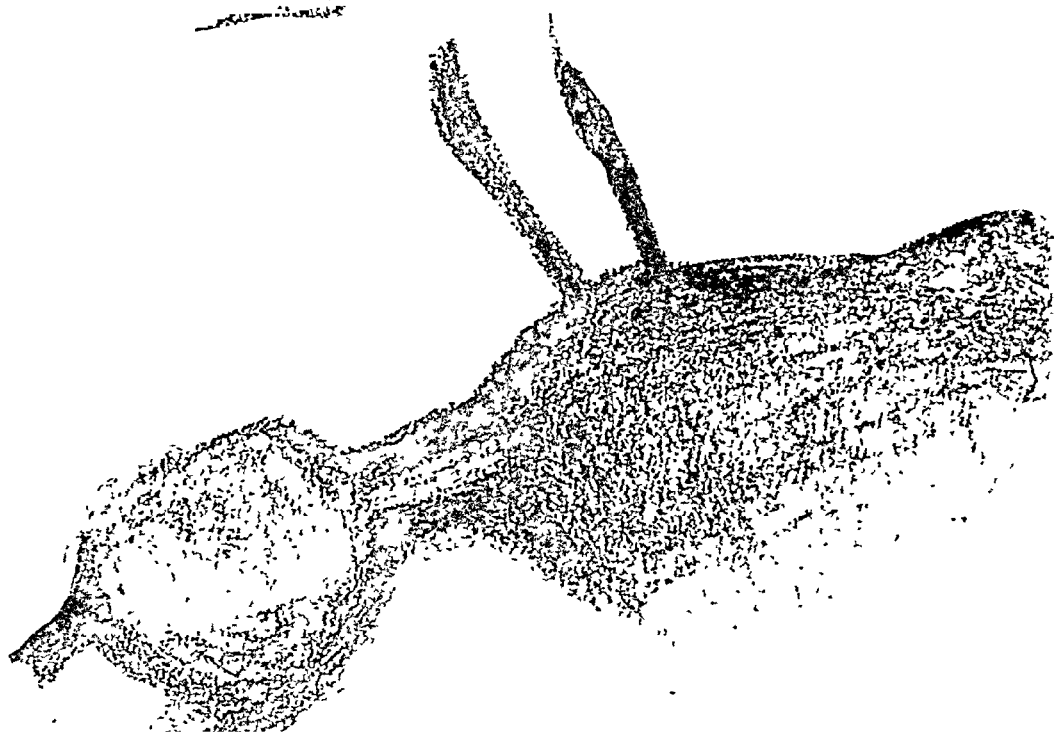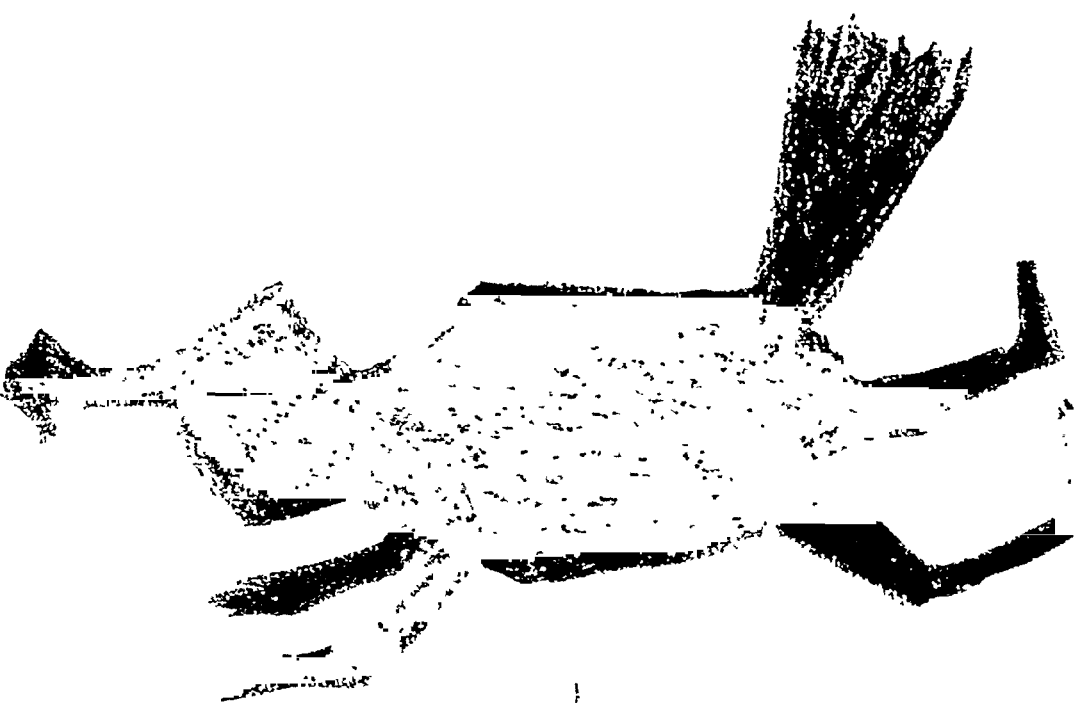
1.

2.

3.

1.

2.

3.

पू० प्र०, फलक–IV

1.

2.

पु० प्र०, फलक–V

पू० प्र०, फलक–VI

1.

2

3.

4.

० प्र०, फलक–VII

1.

3.

पु० प्र०, फलक–IX

1.

2.

3.

पू० प्र०, फलक–X

1.

2.

2

पू० प्र०, फलक–XII

पु० प्र०, फलक–XIII

1.

2.

पू० प्र०, फलक—XIV

1.

2.

3

1

2.

पू० प्र०, फलक–XVII

पू० प्र०, फलक–XVIII

1.

2.

3

4.

5

पू० प्र०, फलक–XX

1.

2.

3.

पू० प्र०, फलक—XXI

2.

3.

पू० प्र०, फलक—XXII
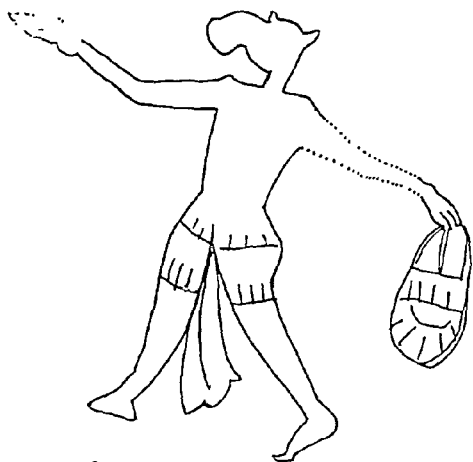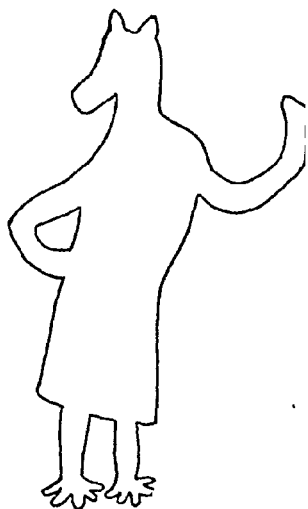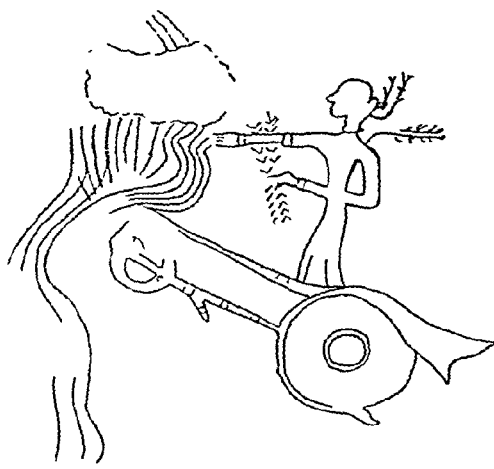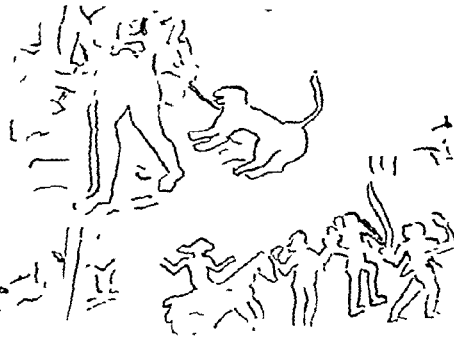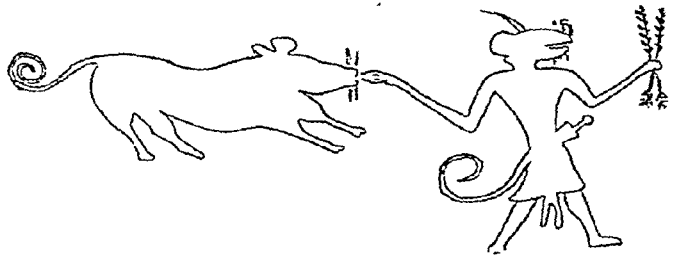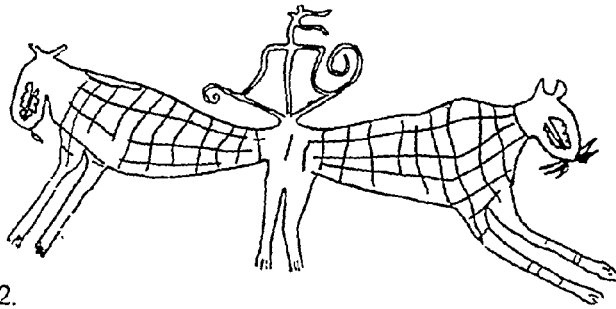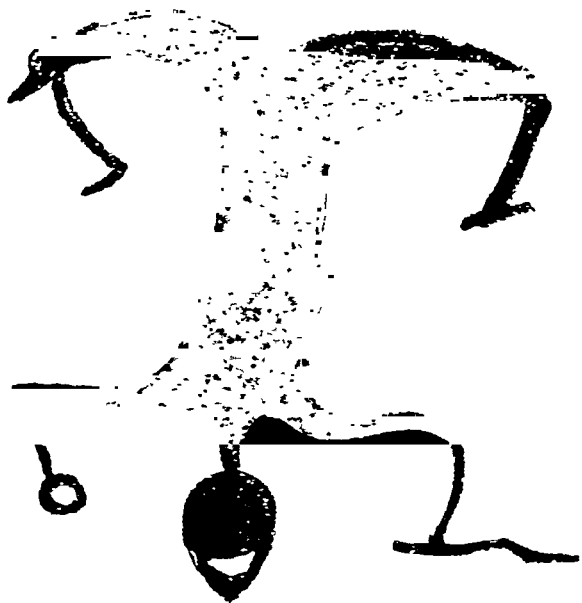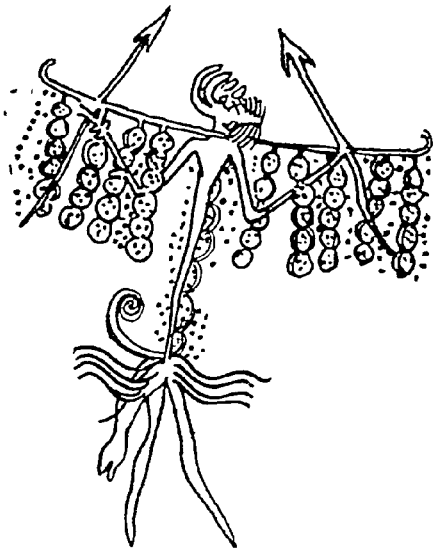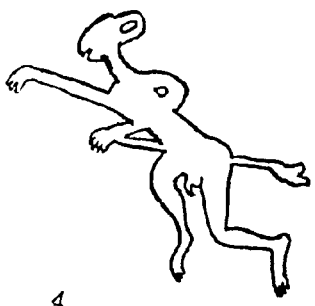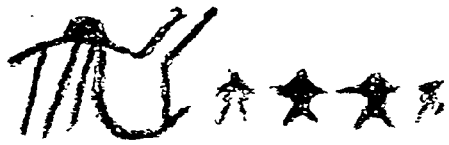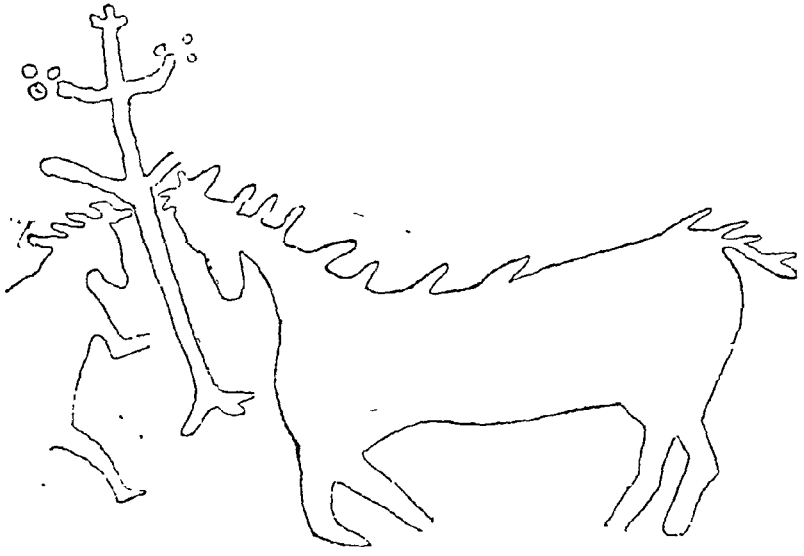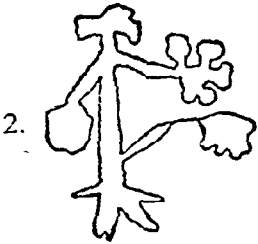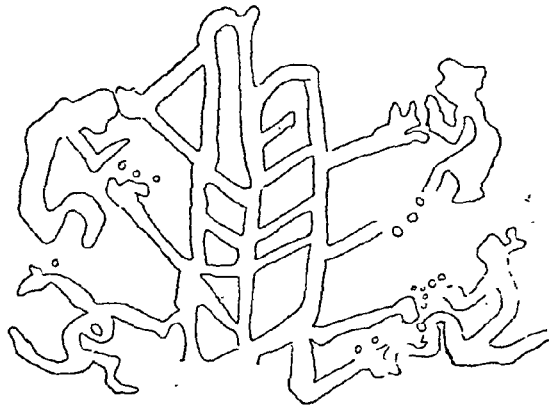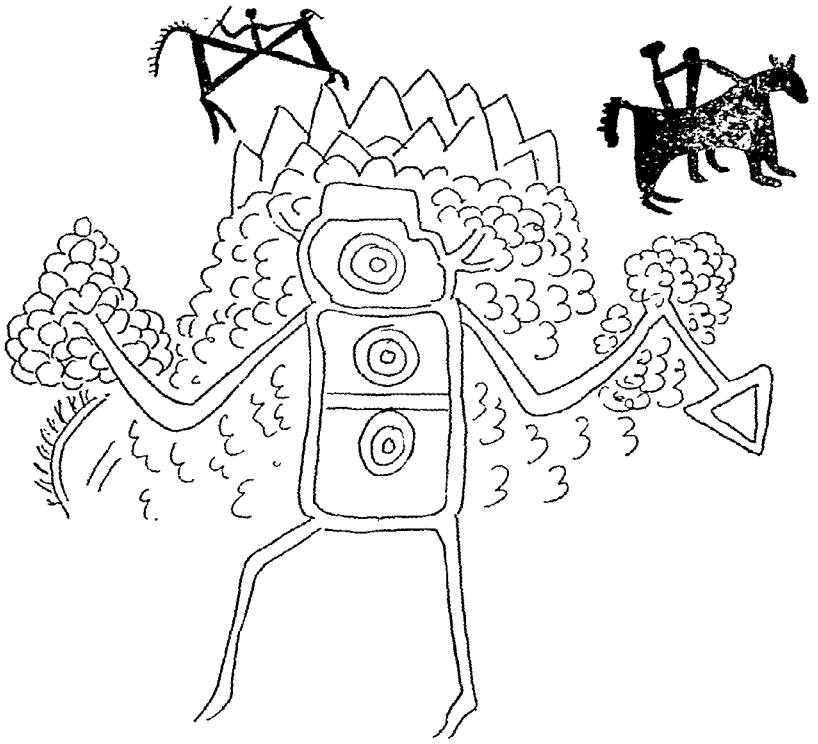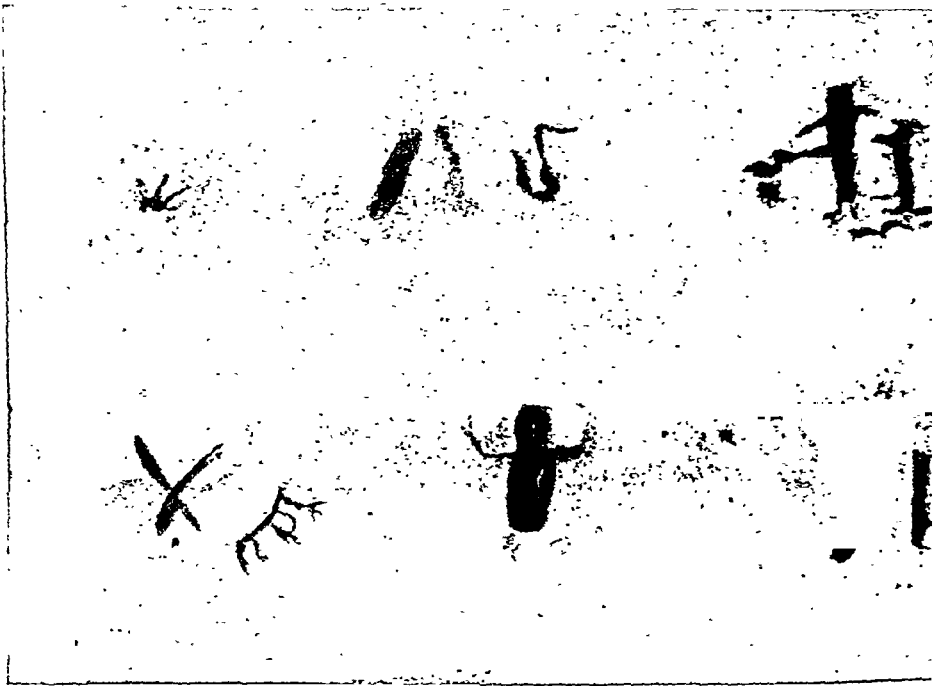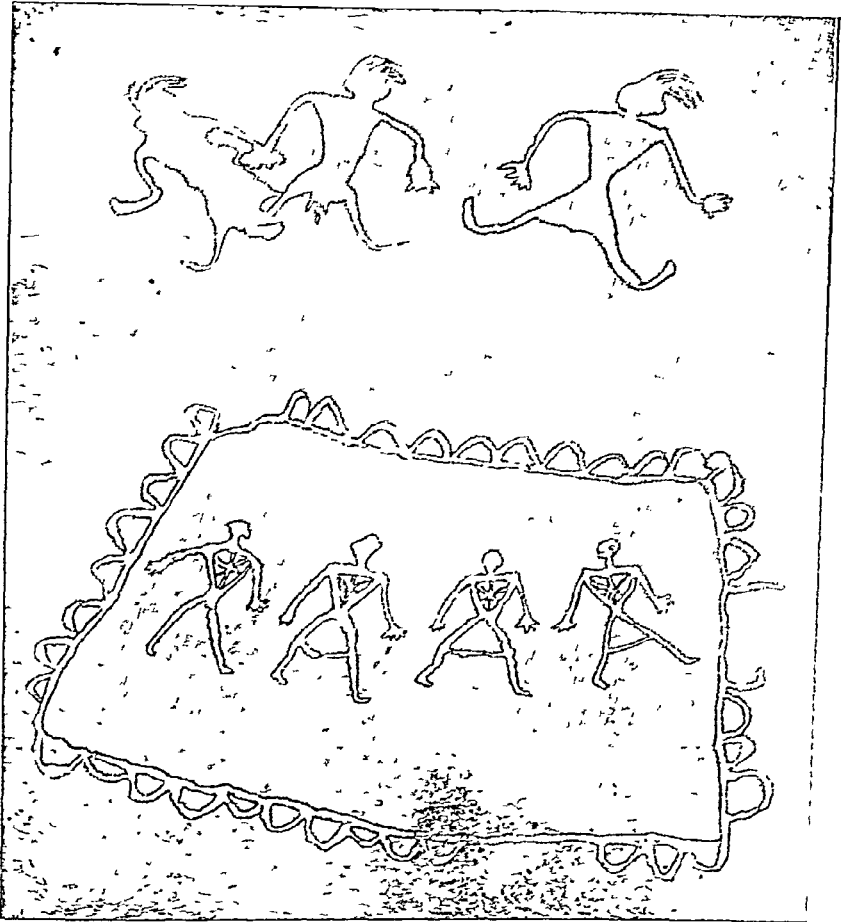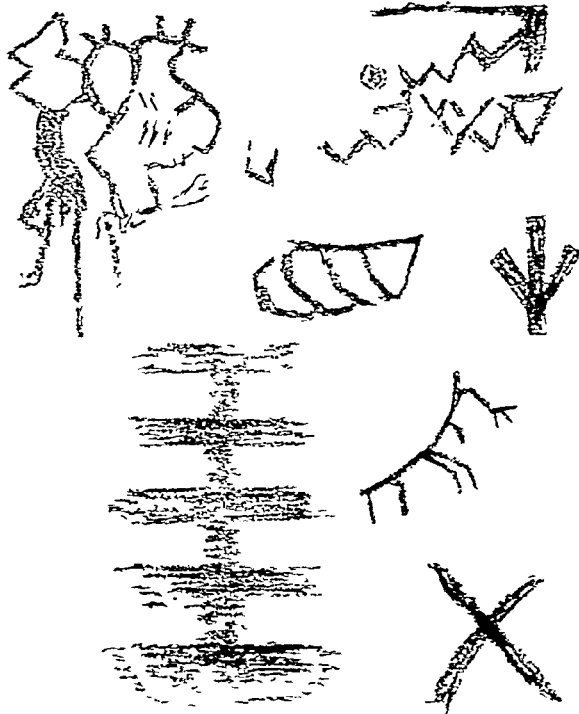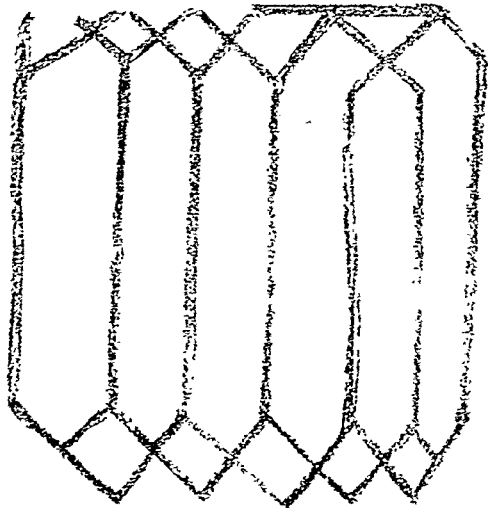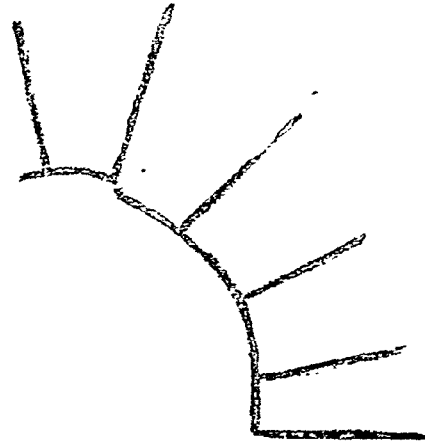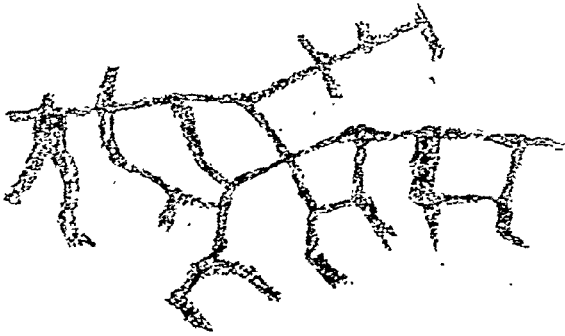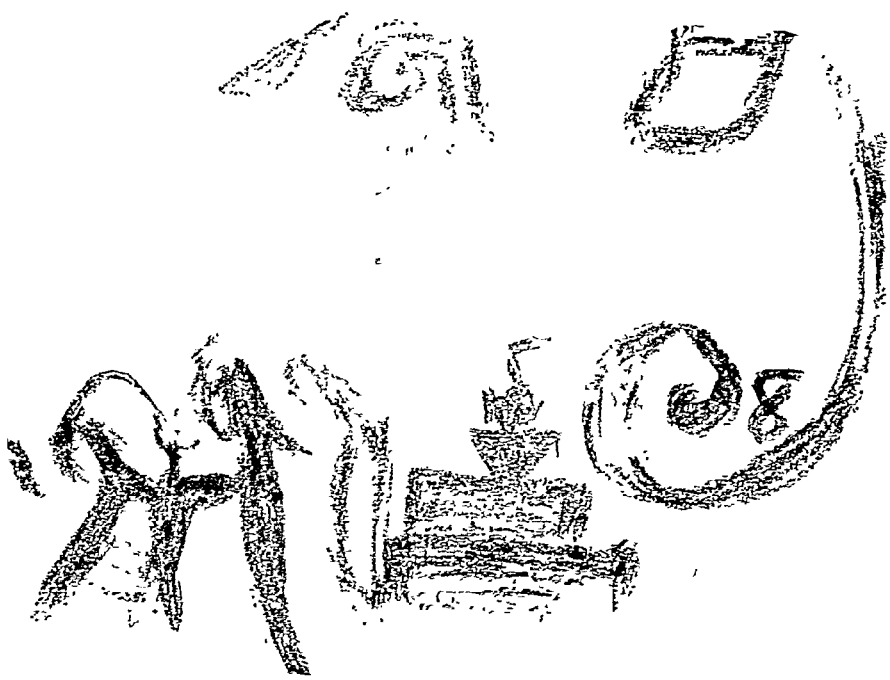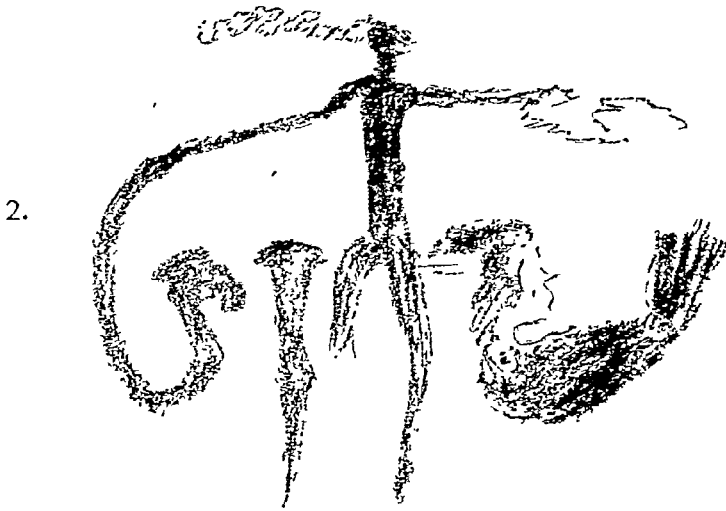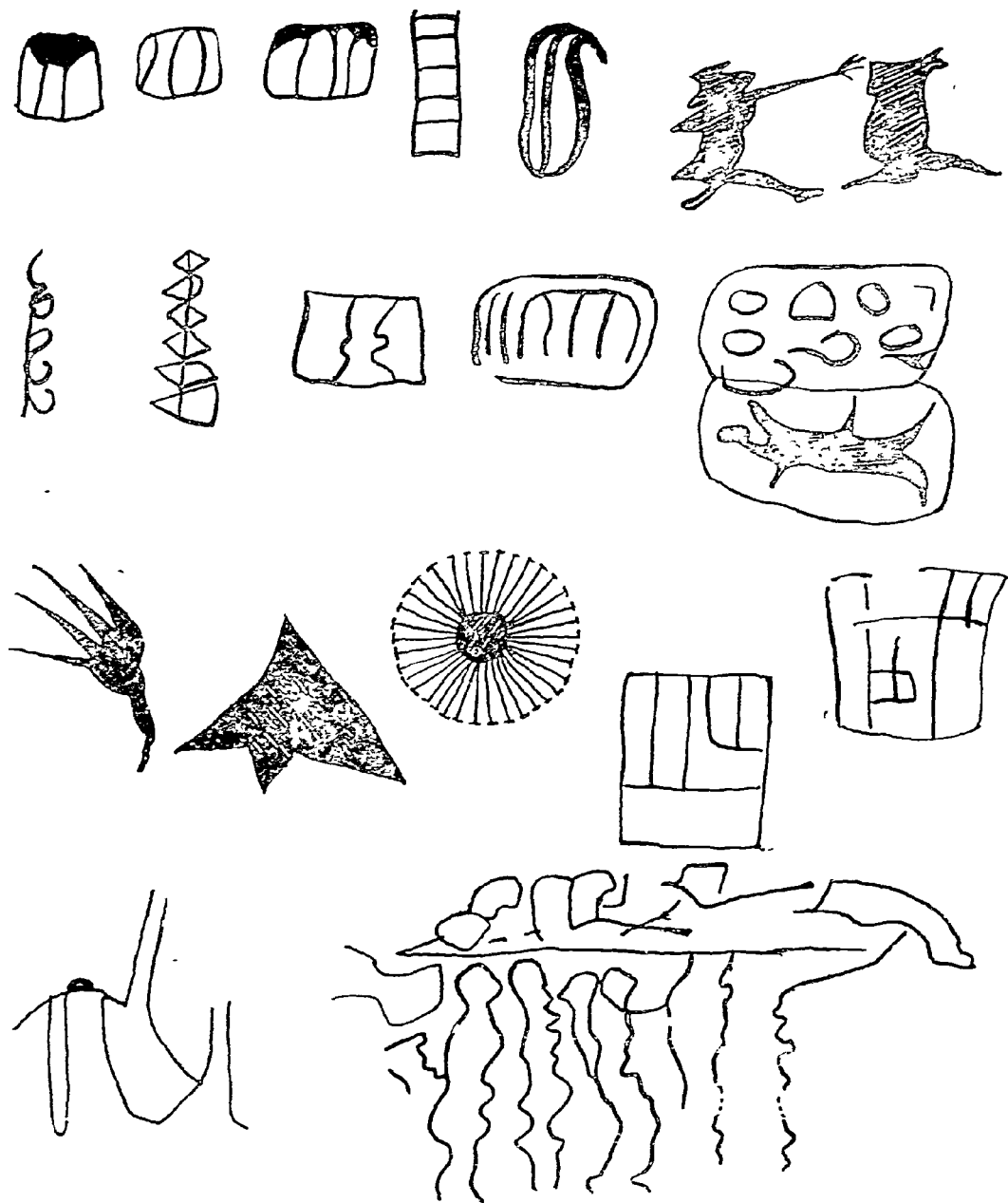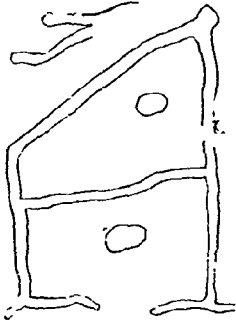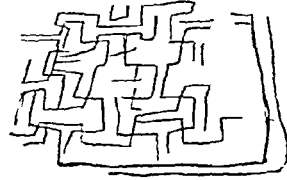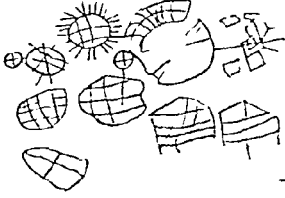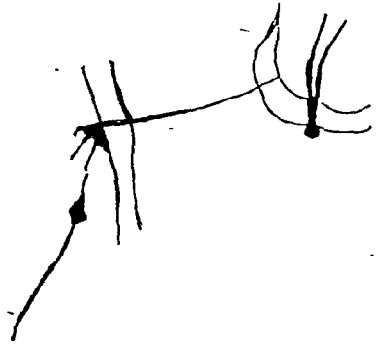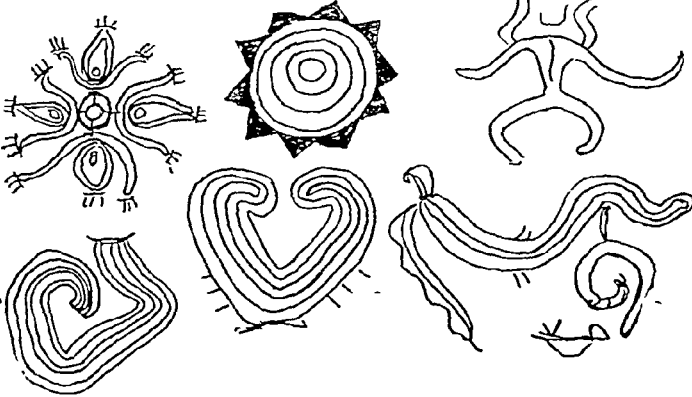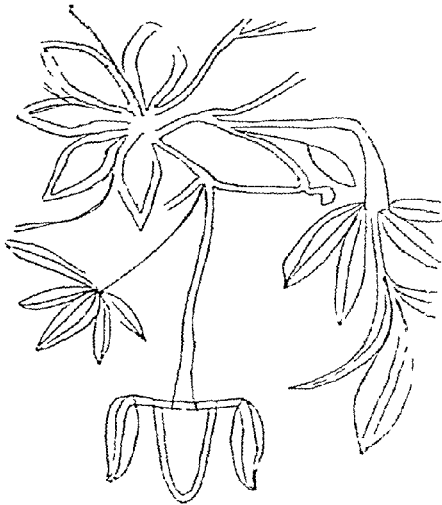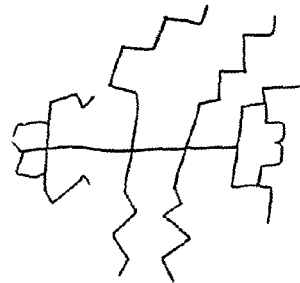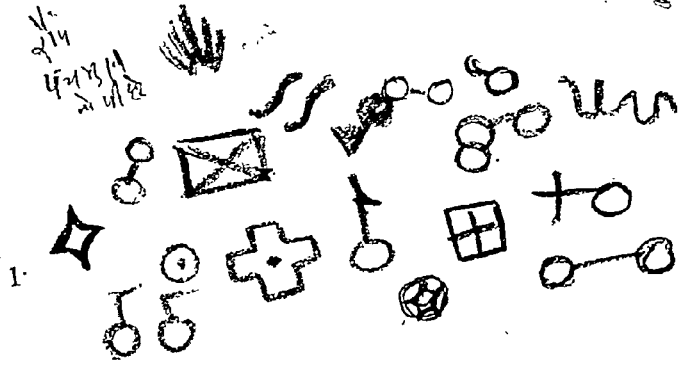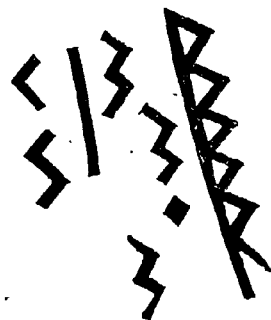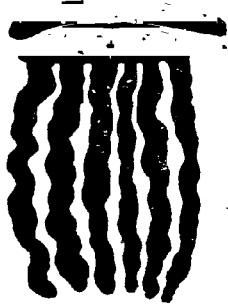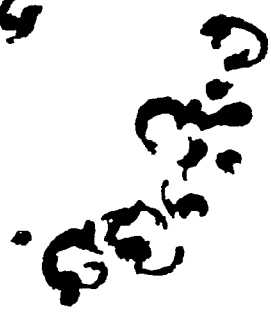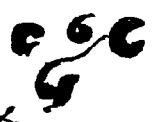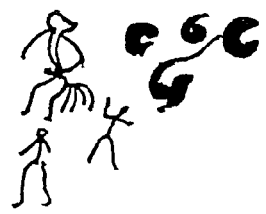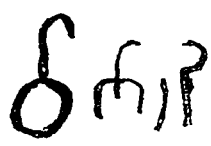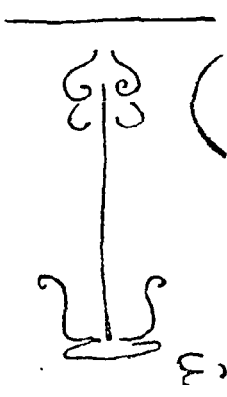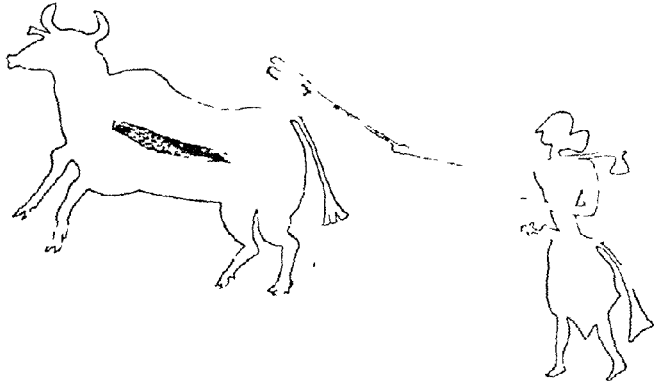
चित्र-खंड-१०

महादेव गुफा (पँचमढ़ी) में अंकित एवं गॉर्डन द्वारा प्रकाशित बाह्यरेखानुकृति का लघु रूप जिसमें एक सशस्त्र चरवाहा बैल को लकड़ी से खदेड़ रहा है। यह चित्र कृषि-जीवन की विकसित अवस्था से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

विविध

पिछले नौ खडों मे इस खड की सामग्री का सयोजन इस दृष्टि मे भिन्न कहा जा सकता है कि यह प्रकीर्णक है और किसी एक विषय से सम्बद्ध नही है। इसके अतिरिक्त सामान्य रूप से यह भी सत्य है कि विविधता मे युक्त यह सारी सामग्री प्रागैतिहासिक युग और ऐतिहासिक युग के सधि-सक्रमण की अवस्था का द्योतन करती है। जैसे युद्ध-दृश्यों में प्रयुक्त अथवा योद्धाओं द्वारा धारण किये गये अनेक अस्त्र ऐतिहासिक युग के प्रतीत होते है वैसे ही इस खंड में समाविष्ट चित्रों में प्रदर्शित पात्र, बैलगाड़ी, सीढ़ी, कामर और नाव इत्यादि एक ऐसा वातावरण सामने लाते है जो ऐतिहासिक युग के वातावरण से कुछ-कुछ मिलता-जुलता दिखायी देता है। कृषि-कर्म का स्पष्ट चित्रण तो शिलाचित्रों में उपलब्ध नही हुआ है परन्तु पशु-पालन और यान-चालन को प्रदर्शित करने वाले चित्र, पारिवारिक दृश्यों वाले खंड VII के कतिपय गृहस्थ-जीवन-परक चित्रों के साथ मिलकर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते है जिससे यह अनुमान होने लगता है कि चित्राकित मानव-सभ्यता कृषि-युग की ओर गतिशील होने लगी थी। नव-पाषाणकालीन संस्कृतियों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि उसके अन्त तक "मानव-सभ्यता के लगभग सभी आधार-स्तम्भों का निर्माण हो चुका था। अग्नि, आवश्यक हथियार और औजार, मृद्भाण्ड, कृषि, पशुपालन, वस्त्र और मकान इत्यादि सभी वस्तुएँ जो आज भी मनुष्य के लिए अपरिहार्य है, अस्तित्व में आ चुकी थी।"[1] प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था और उसमें स्थायित्व के लक्षण भी प्रकट होने लगे थे। भ्रमणशीलता उत्तरोत्तर स्थिर निवास की प्रवृत्ति में परिणत होने लगी थी और गृहस्थी तथा वंश-परम्परा का विस्तार होने लगा था। शिला-चित्र इन बातों को कुछ दूर तक स्वतन्त्र रूप से प्रमाणित भी करते है और समर्थित भी। उनके द्वारा उस काल का जीवन सम्यक् रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है जो अन्य विधि से संभव नही है। पाषाणास्त्र चाहे बड़े हों चाहे छोटे, मनुष्य के विषय में उतना कुछ नही कह पाते जितना शिलाचित्रों के द्वारा कह दिया जाता है। इस खंड के चित्र इस व्यापक तथ्य को

---

१. प्रागैतिहासिक मानव सस्कृतियाँ, पृ० ८४

और अधिक शक्ति के साथ प्रकट करते हैं। उनमें न केवल वाह्य स्थितियों, साधनों एवं उनके उपयोग आदि का चित्रण हुआ है वरन् मनोभावों और आन्तरिक प्रवृत्तियों की भी अभिव्यक्ति मिलती है। चित्रण में व्यंगात्मकता का समावेश होना भिन्न एवं विकसित मानसिक अवस्था की सूचना देता है। आगे महत्त्वपूर्ण वस्तु-चित्रण का परिचय पृथक्-पृथक् संदर्भ को लेकर दिया गया है।

अग्नि-प्रयोग

मानव के सांस्कृतिक विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अग्नि-प्रयोग उसे प्रारम्भिक पूर्व-पाषाणकाल में ही ज्ञात हो गया था। ऐसा माना जाता है कि पीकिंग-मानव आग के प्रयोग से उस काल में परिचित था जब उसके समकालीन अन्य मानव-समूह उससे अपरिचित थे। अफ्रीका में मनुष्य द्वारा अग्नि के प्रयोग का प्राचीनतम प्रमाण अचूलियन युग के अन्त में प्राप्त होता है।[1] इस युग की उत्तरसीमा पचास हज़ार वर्ष के लगभग मानी जाती है। व्यापक रूप से अग्नि पर आधिपत्य नियण्डर्थल मानव के द्वारा संभव हुआ, जिसका कारण चतुर्थ हिमयुग के शीत से आत्मरक्षा कहा जाता है। यह भी मान्यता है कि मनुष्य इसी अवस्था में गुहावास की ओर प्रवृत्त हुआ, जहाँ हिंसक पशुओं से आत्मरक्षा की समस्या सामने आयी और उसका भी निदान अग्नि-प्रज्ज्वलन के द्वारा संभव हो सका। योरोप में तीस-चालीस हज़ार वर्ष पूर्व, गहन अंधकार से पूर्ण गुफाओं में चित्रण इसलिए किया जा सका कि मनुष्य ने किसी न किसी प्रकार के पाषाण-प्रदीपों का आविष्कार कर लिया था जिनमें पशुओं की चर्बी जलायी जाती थी। जलन के चिह्नों से युक्त पत्थर उन गुफाओं में उपलब्ध हुए हैं। जहाँ तक भारतवर्ष का संबन्ध है किसी अति प्राचीन मानव-अस्थि-अवशेष के अभाव में प्रमाणिक रीति से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सका है। सोहन-मानव पीकिंग-मानव की तरह अग्नि से परिचित रहा होगा ऐसा अनुमान डॉ० संकालिया ने किया है।[2] शिला-चित्रों मे अग्नि-प्रयोग के प्रमाण बहुत कम उपलब्ध होते हैं। भारतीय शिला-चित्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। आखेट-दृश्यों वाले खंड I के फलक XI, चि० सं० ३ में चीते के निकट एक व्यक्ति हाथ में जलती मशाल लिए चित्रित दिखायी देता है। इसी तरह प्रस्तुत खंड के फलक I, चित्र सं० १ में भी एक व्यक्ति कंधे पर जलती हुई

---

१. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ, पृ० ३६, ४०-४१

२. Who was this Sohan man racially ?...... If so, he might have known fire, for the Peking man knew fire. —प्रि० प्रो० इ० पा०, पृ० ७०

मशाल रखे हुए प्रदर्शित है । पहला चित्र पँचमढ़ी-क्षेत्र का है, दूसरा सागर-क्षेत्र का। मिर्ज़ापुर, रायगढ़ आदि क्षेत्रों से ऐसा कोई चित्र अभी तक नहीं मिला जिसमें अग्नि का स्पष्ट चित्रण हो। वेदिका के चित्रों से उसका अनुमान लगाया जा सकता है पर वे चित्र बहुत प्राचीन नहीं लगते। पूर्वोक्त दोनों चित्रों में लगता यही है कि मशालें जलती हुई बनी हैं पर अकाट्य रूप से उन्हें वैसा सिद्ध करना सहज नहीं है । फिर भी यह चित्र भारत में मानव-प्रज्ज्वलित अग्नि के अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण प्रमाणों के रूप में विचारणीय अवश्य कहे जायेंगे। यों सहस्रों वर्ष पूर्व अग्नि मानव द्वारा यहाँ पूज्य मानी जाती थी, यह यज्ञ-मूलक वैदिक साहित्य से प्रमाणित है। ऋग्वेद का तो आरम्भ ही 'अग्नि' शब्द से होता है। ताम्र-युग के धातु-विनिर्मित अस्त्रों से भी अग्नि के व्यावहारिक प्रयोग का प्रमाण मिलता है। सिन्धु-घाटी की विकसित सभ्यता तो इससे सुपरिचित थी ही। समस्या पाषाणयुग में अग्नि-प्रयोग के आरम्भ को भारतीय संदर्भ में जानने की है।

पात्र-निर्माण

भारत के अधिकांश शिला-चित्र या तो पात्र-निर्माण-कला के ज्ञान से पूर्व की अवस्था के मानव द्वारा विनिर्मित हैं अथवा उनमें ऐसे प्रसंगों का चित्रण हुआ है, जिनमें पात्र-चित्रण की आवश्यकता ही नहीं हुई। पात्रों का चित्रण न होने पर भी, पात्रांकन से युक्त चित्रों से शैली-साम्य के आधार पर तथा उनमें अभिव्यक्त विकसित सांस्कृतिक अवस्था के वातावरण अस्त्र-शस्त्र, वेश-विन्यास और वस्त्रादि के रूप को देखकर यह निर्धारित करना असंभव नहीं है कि कौन-से चित्र पात्र-निर्माण-कला के ज्ञाता मनुष्य की कृति हो सकते हैं, कौन-से नहीं। अनुपात में ऐसे चित्र बहुत अधिक नहीं होंगे, ऐसा मेरा अनुमान है। प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों में आदमगढ़ में एक टोंटीदार पात्र का स्वतन्त्र रीति से अंकन मिलता है, एक अन्य चित्र संदिग्ध लगता है, शेष दो पँचमढ़ी क्षेत्र के चित्र हैं जिनमें पात्र-धारिणी स्त्रियां चित्रित हैं (द्र० फलक VII चित्र सं० ३, ४)। फलक II चि० सं० १ में मधुसंचय के प्रसंग में मधुपात्र चित्रित है और फलक X चि० सं० ३ में भी पतली गर्दन का एक सुडौल घड़ा बना है जो मदिरा-पात्र बताया गया है । खंड VII के कई पारिवारिक दृश्यों में पात्र चित्रित हुए हैं (द्र० फलक IV, V, VI)। इन पात्रों पर कोई अलंकरण प्रदर्शित नहीं है। इनकी गोलाकृति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुम्हार के चाक का आविर्भाव हो जाने के बाद की अवस्था के मनुष्यों ने इन्हें बनाया होगा । यों शिला-चित्रों में पात्र का आलेखन अपवाद रूप में ही मिलता है। फलतः उसकी अनुपस्थिति ही अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है। पात्र-चित्रण की परम्परा पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि

प्रारम्भिक काल में उस पर पशु-पक्षियों तथा प्रतीकात्मक ज्यामितिक आकृतियों का ही अंकन होता था जिसकी प्रकृति पर्याप्त समय तक आदिम रही है। ऐसे पात्रों का शिला-चित्रों में सर्वथा अभाव है। यद्यपि स्वतन्त्र रीति से पशु-पक्षियों और ज्यामितिक प्रतीकों का ऐसा चित्रण मिलता है जो चित्रित पात्रों पर बनी आकृतियों से कुछ शैलीगत साम्य रखता है।

नौका-नयन

भारतीय शिला-चित्रों में अभी तक कोई ऐसा चित्र प्राप्त नहीं हुआ है जिसमें नाव खेते हुए मनुष्य चित्रित हों यद्यपि अधिकांश शिलाश्रय नदियों और जलाशयों के तट पर स्थित मिलते हैं। विदेशों में अवश्य ऐसे चित्र शिलांकित हुए हैं। ब्रॉड्रिक ने प्रि० पें० के फलक ४७ पर बुगमन नौकारोही मछुआरों का एक चित्र मुद्रित किया है किन्तु वह बहुत परवर्ती काल की रचना बतायी गयी है। इस खंड के फलक VII के पहले चित्र में जो आकृति बनी है वह अनगढ़ नाव की ही दिखायी देती है किन्तु पतवार, कर्णधार तथा जल आदि के अंकन के अभाव में उसे नाव सिद्ध करना दुष्कर है। विशेषतः तब जब भारतीय शिला-चित्रों में अन्यत्र कहीं भी नाव का अंकन न मिलता हो। और अधिक चित्रों का अन्वेषण एवं अध्ययन ही इस समस्या पर आगे प्रकाश डालेगा।

मधु-संचय

प्राचीन वनवासी मनुष्य मधु-सेवी रहा होगा। आदिम वन्य एवं पर्वतीय जातियों में मधु-संचय की साहसिक विधियाँ आज भी प्रचलित हैं। इस खंड के फलक II और III में समाहित चारों चित्र मधु-संचय से ही सम्बद्ध दिखायी देते हैं यद्यपि पूरे उपकरण पहले ही चित्र में प्रदर्शित हैं या रस्सी की सीढ़ियों, मधु-पात्र, मधुमक्खियों को उड़ाने की लम्बी छड़ी, छत्ता और संचयकर्त्ता युग्म। दूसरे चित्र में पात्र और छत्ते का अभाव है। केवल मधुमक्खियाँ चित्रित हैं। तीसरे चित्र में पात्र और सीढ़ी दोनों नहीं हैं, चौथे में मधुमक्खियाँ भी अप्रदर्शित हैं यद्यपि संदर्भ सीढ़ी आदि से मधु-संचय का ही लगता है। यह सभी चित्र पँचमढ़ी क्षेत्र के हैं।

पशु-पालन और कृषि-कर्म

अनेक पशुओं को वशीभूत करके उन्हें मनुष्य ने नव-पाषाण युग में पूरी तरह पालतू बना लिया था, ऐसा सामान्य रीति से माना जाता है किन्तु यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि पहले पशु-पालन का आरम्भ हुआ अथवा कृषि का? अधिकतर दोनों को प्रायः साथ

ही उद्भूत माना गया है। गॉर्डन चाइल्ड कृषि-कर्म को पशु-पालन से पूर्व रखने के पक्ष में है।[1] भारतीय शिला-चित्रों में कुछ उपकरणों के अतिरिक्त कृषि-कर्म का कोई क्रियात्मक प्रत्यक्ष चित्रण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है परन्तु पशु-पालन प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। अश्वारोहियों और गजारोहियों वाले खंड V के चित्र, पारिवारिक दृश्य वाले खंड VII के चित्र और प्रस्तुत खंड के फलक IV, V और VI के चित्र इस बात के साक्षी हैं कि अश्व आदि कुछ विशेष वन्य जीव पाश-बद्ध करके पालित किये जाते थे और उन्हें स्वतन्त्र रूप से और गाड़ी में जोत कर सवारी और भारवहन के दैनिन्दिन उपयोग में लाया जाता था। खम्भे से बँधे हुए पशु का चित्रण और वह भी झोंपड़ी के भीतर अथवा राह चलते हाथ में रस्सी लिये हुए (द्र० खंड VII, फ० III चि. सं० १-२), निर्भ्रान्ति रीति से विकसित और स्थिरीभूत पशु-पालन की अवस्था का द्योतक कहा जायेगा। झोंपड़ी वाले दृश्य में अंकित हल, जो स्तंभ रूप में प्रयुक्त है, यदि वास्तव में वही है तो उसे कृषि-कार्य का प्रत्यक्ष द्योतक माना जा सकता है। उसके साथ यदि प्रस्तुत खंड के पूर्वोक्त फलक IV चि० सं० १ में बनी बैल की जोड़ी को पीछे से हाँकते हुए मनुष्य की आकृति के संदर्भ में देखा जाय तो हलवाहे का पूरा रूप सामने आ जाता है। इससे यही अनुमानित किया जा सकता है कि पशु-पालन की अवस्था कृषि-कर्म के साथ वैसा ही सह-अस्तित्व बनाये हुए थी जैसा आज भारत के बहुसंख्यक अविकसित ग्रामों में दिखायी देता है। कई अन्य चित्र भी इसको प्रमाणित करते हैं।

पहियाहीन और पहियेदार गाड़ियाँ

पहिये का निर्माण और प्रयोग-विधि धनुष-बाण के आविष्कार के बाद कदाचित् मानव-सभ्यता की सबसे अधिक क्रान्तिकारी उपलब्धि है जिसे विभिन्न भूखण्डों के निवासी मनुष्यों ने पृथक्-पृथक् रीति से स्वत: उपलब्ध किया। गॉर्डन चाइल्ड ने जिन १६ वस्तुओं की उद्भावना का श्रेय ताम्र-प्रस्तर काल को दिया है, उन्हीं में पहियेदार गाड़ी की भी गणना की है।[2] पिगॉट ने आर्य रथवाहों के प्रसंग में १५वीं से १३वीं शती ई० पू० के लगभग मिश्र देश में प्रयुक्त गाड़ियों के अनेक अलंकृत रूपों को प्रस्तुत किया है।[3] पिगॉट की दृष्टि प्रागैतिहासिक शिलाचित्रों में अंकित गाड़ियों की ओर नहीं गयी जिनके द्वारा शिलाचित्रों

१. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ, पृ० ७२

२. वही, पृ० ८७

३. प्रिहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० २७५

उनके वास्तविक विकास-क्रम को भारतीय संदर्भ में अधिक व्यवस्थित रीति से समझा जा सकता है तथा आर्य संस्कृति और सिंधु-घाटी सभ्यता दोनों से भिन्न एक नये स्रोत पर प्रकाश पड़ता है। ग्रैहम क्लार्क ने पुरातत्त्व और समाज विषयक अपनी महत्त्वपूर्ण कृति में विश्वव्यापी स्तर पर पहियेदार गाड़ी के प्रयोग और उससे होने वाले सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार पहियेहीन गाड़ियाँ, अराहीन चक्के और कोरी हुई नावें आदि ताम्र युग से पूर्व भी रही होंगी पर अरायुक्त पहिए, चिरे हुए काठ की नावें ताम्र और कांस्य युग से पहले कल्पित नहीं की जा सकतीं।[१]

भारतीय शिलाचित्रों का अध्ययन करने से अनेक प्रकार की गाड़ियों का परिचय मिलता है जिनमें बाँदा-क्षेत्र की पहिया रहित स्लेज जैसी गाड़ी सबसे अधिक उल्लेखनीय और प्राचीन है। उसकी विशेषताओं की चर्चा सम्बद्ध चित्र-परिचय में द्रष्टव्य है (फलक VI चि० सं० १)। इसी फलक पर धरमपुरी और छिवड़ा नाला की गाड़ियाँ भी मुद्रित हैं जिनके रूप-विन्यास का तुलनात्मक अध्ययन चित्रणगत विशेषताओं को जानने के लिए आवश्यक है। इस प्रसंग में फलक V पर विढम की गाड़ी का चित्र भी अवलोकनीय है क्योंकि उसमें गाड़ी की आकृति-प्रकृति, पहियों की योजना तथा जुते हुए पशु, जो सामान्यता चित्रित बैलों से भिन्न और अज्ञात जाति के हैं, विशेष रोचक और आकर्षक प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के परिशिष्ट भाग में समाविष्ट कर्षण-चित्रों में पश्चिमोत्तर भारत में अंकित गाड़ी का एक द्वितीय चित्र भी है जिसे पहली बार गॉर्डन ने अनुकृत और प्रकाशित किया था तथा जो रूप-कल्पना की दृष्टि से गाड़ियों के उक्त सभी चित्रों से विशिष्ट है। राजस्थान ललित-कला अकादमी के मुख-पत्र 'सृजन' के एक वार्षिक विशेषांक में मैंने प्रागैतिहासिक चित्रों में प्राप्त 'शकट-चित्रण' की महत्ता पर लिखित लेख में विशेष रूप से दृष्टिपात किया है। वाकणकर के अंग्रेज़ी पत्रक में चम्बल घाटी क्षेत्र की एक गाड़ी बिना बैलों के प्रदर्शित है, (पृ० २४८, फि० ७) जबकि प्रस्तुत खंड की सभी गाड़ियों में पशु, अधिकतर बैल, जुते हैं।

काँवर या बहेंगी

फलक VIII के तीनों चित्रों में कंधे पर बहंगी या काँवर रक्खे हुए एकाकी मानवाकृतियों का चित्रण मिलता है। भार-वहन की यह विधि लोक में आज तक प्रचलित है परन्तु

---

१. Flint and Stone-tools wer sufficient for dug-out or skin-boats, sledges, skis and vehicles with solid disc wheels, but spoked wheels and sawn plank boats, for example, had to wait for copper or bronze.

—आर्कियालॉजी ऐण्ड सोसायटी, पृ० २१२

इसका उद्‌भव कब हुआ यह ज्ञात नही था। इन चित्रों से उसकी पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है। पारिवारिक दृश्यों और पूजा-प्रतीक वाले खंडों में एक-एक चित्र ऐसा और है जिसमें कंधे पर भारवहन का यही रूप चित्रित है जिससे यह सिद्ध होता है कि यह चित्र पर्याप्त विकसित सांस्कृतिक अवस्था मे सम्बद्ध है। वाकणकर के मत मे पॅचमढ़ी का वह देव-चित्र विशालकाय होते हुए भी बहुत बाद का प्रतीत होता है क्योंकि जो कुछ उसमें चित्रित है वह स्थानीय आदिम जातियों में अभी तक प्रचलित है। यद्यपि चित्रित वस्तु का वर्तमान सजीव अवशेष मिलना वस्तु की प्राचीनता के विरुद्ध कोई अन्तिम प्रमाण नहीं है, वह परम्परा की दीर्घता और अखण्डता का द्योतक भी हो सकता है, किन्तु उससे अर्वाचीनता की संभावना अवश्य उत्पन्न हो जाती है। भारवहन की यह विधि धातु-आश्रित न होने के कारण नव-पाषाण काल से प्रचलित मानी जा सकती है। उससे पूर्व की अवस्था के द्योतक चित्रों में इसका सर्वथा अभाव मिलता है।

अन्य चित्र

इस खंड में बौद्धिक विकास को सूचित करने वाले और भी चित्र हैं, जिनमें एक ओर शस्त्र, परशु, पाश, चक्र, मुखाच्छादन आदि का प्रदर्शन मिलता है, तथा दूसरी ओर व्यंग्यात्मकता, मद्यपान, जलूस अथवा हाथी-घोड़ों सहित समूहबद्ध अभियान का अंकन हुआ है। (द्र० फलक X, XI)। वनमुर्गों से डरते हुए छड़ीधारी व्यक्ति की दशा को चित्रित करने की इच्छा इस बात का प्रमाण है कि चित्रकार परम्परागत विषयवस्तु की सीमा को तोड़ कर चित्रों में जीवन की विविधता को, तटस्थता से युक्त अनुभव के रूप में, ग्रहण करने लगा था। इस बिन्दु पर आकर प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला परवर्ती विकास-भूमियों में संक्रमित होने लगती है और नये रूप में परम्परा की अखंडता और विस्तार दोनों का बोध होने लगता है।

विविध : चित्र-परिचय

फलक I

चित्र सं०--१, २

नरयावली (सागर) के समीप स्थित सिद्धबाबा की गुफा के लाल गैरिकवर्णी दो चित्रों के श्यामकुमार पाण्डे द्वारा खींचे गये छायाचित्रों, जिनमें रेखाजालमय विचित्र शैली में ऐसी मानवाकृतियाँ अंकित हैं जिनके हाथ में अपरिचित प्रकार का दंडायुध या दंड-दीप बना हुआ है। पहले चित्र का व्यक्ति उसे कंधे पर रखकर दोनों हाथों से पकड़े हुए है। एक हाथ दंड के अगले सिरे के पास, घेरे जैसे हत्थे से संलग्न है। यह घेरा दूसरे चित्र में भी प्रदर्शित है। चित्र नं० १ में दंड के एक सिरे पर प्रज्वलन-रेखाएँ उसके मशाल की तरह जलते होने का आभास देती हैं। चित्र नं० २ में प्रज्वलन प्रदर्शित नहीं है, केवल दो समानान्तर वृत्तों द्वारा उस सिरे पर वस्त्र जैसा कुछ लिपटा होने का बोध कराया गया है। दोनों दंडधारियों के शीश भी, संभवत: वस्त्र-वेष्टित होने के कारण ही, स्वच्छन्द घुमावदार लहरीली रेखाओं के वृत्तात्मक जाल के रूप में चित्रित किये गये हैं जो चित्रण-शैली की दृष्टि में विशेष महत्ता रखते हैं और अद्वितीय भी कहे जा सकते हैं। इतनी उन्मुक्त रेखा-विधि आधुनिक युग से पूर्व दुर्लभ और अकल्पनीय लगती है परन्तु इन चित्रों में वह प्रत्यक्ष है। दोनों चित्रों में रेखा-जाल से ही कानों का आकार संकेतित किया गया है। प्रथम चित्र में दाहिने कान से चोटी जैसी एक लम्बी रेखा निकली हुई है जिसका अभिप्राय पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। संभव है वह किसी अन्य वस्तु का प्रदर्शन हो। शरीर-भाग ज्यामितिकता लिए हुए कर्ण-युक्त आयत और त्रिकोणों में सन्निविष्ट है। हाथ भी त्रिकोणात्मक ही बनाये गये हैं। पैर कोण-हीन हैं किन्तु गतिशीलता लिए हुए हैं। द्वितीय चित्र में दंडधारी एक हाथ में रस्सी या पाश लिये हुए है। पैर अनगढ़ और प्राय: गति-रहित हैं। उसके आगे पूरक शैली में एक अन्य मानवाकृति बनी है जिसके एक हाथ में थैली और दूसरे में बड़े त्रिकोणात्मक फलक वाले बाण जैसा कोई शस्त्र है। यह चित्र मधुसंचयकर्ता आखेटकों के माने जा सकते हैं।

फलक II

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय नं० ७ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं अनेक स्थलों पर प्रकाशित वाह्य रेखानुकृति पर आधारित प्रतिकृति जिसमें मधुमक्खियों को हटाकर मधु-संचय करने का दृश्य अंकित है। मधु के छत्ते पहाड़ी स्थलों में प्राय: ऐसी ऊँची जगहों में होते हैं जहाँ तक बिना किसी सहारे के पहुँच पाना दुष्कर या असंभव होता है। इसके लिए रस्सी की सीढ़ियों का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत चित्र में दो व्यक्ति दो पृथक सीढ़ियों के सहारे मधु-संचय कर रहे हैं। एक व्यक्ति लम्बी टहनी के द्वारा ममाखियों को उड़ा रहा है तथा दूसरा व्यक्ति मधु-पात्र लटकाये उसमें मधु भरने की चेष्टा कर रहा है। दोनों की मुद्रा सजीव और स्वाभाविक है। संभव है मधु-संचयकर्ताओं का युग्म दम्पति हो क्योंकि पात्र-वाली आकृति जूड़े और उन्नत वक्ष के कारण स्त्री की मानी जा सकती है। यह अवश्य है कि उसके शरीर पर वस्त्र का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है जबकि दूसरी आकृति में कटि-बंध स्पष्टत: अंकित है। चित्र में एक जटिल स्थिति को सुथरे और कलात्मक संपुंजन के साथ आलिखित किया गया है। शिलाश्रय के अधिकांश चित्रों की तरह यह भी सफेद रंग में ही बना है।

चित्र—२

सोनभद्र (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा ही अनुकृत एवं सा० क० के अंक ६ में प्रकाशित रूप पर आधारित रेखाचित्र जो मधु-संचय से ही संबद्ध है। इसमें भी एक युग्म सीढ़ी का प्रयोग करके मधुमक्खियों को उड़ा रहा है किन्तु पात्र और छत्ते का अंकन नहीं हुआ है। दोनों व्यक्तियों की शिरोभूषा इसमें भी विभिन्न प्रकार की है परन्तु दोनों के दम्पति होने का आभास नहीं होता। ऊपर वाला व्यक्ति मुखाच्छादन धारण किये अथवा मुँह पर वस्त्र लपेटे प्रतीत होता है। उसके कटि-बंध का सिरा पुच्छवत् निकला हुआ है। दोनों मानवाकृतियों का एक-एक पैर अपूर्ण है। इस चित्र का अंकन मटमैले सफ़ेद रँग में हुआ है, जिसे गॉर्डन ने 'क्रीम कलर' कहा है।

फलक III

चित्र सं०—१

इमलीखोह (पँचमढ़ी) से मूलत: अनुकृत मधु-संचय का एक दृश्य जिसमें एक विचित्र शिरोभूषा वाली मानवाकृति, संभवत: स्त्री, मधुमक्खियों को उड़ा रही है। सफेद रँग में अंकित एवं प्रथम बार प्रकाशित।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय पर पत्थर की एक उभरी हुई कोर पर अंकित दृश्य जिसमें एक व्यक्ति सीढ़ी पर चढ़ कर नुकीले शस्त्र का प्रयोग कर रहा है। उसकी नासिका में संलग्न रेखा और ऊपरी त्रिकोण से लटकती वस्तु का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। मधुमक्खियों का अंकन न होने से इसे मधु-संचय से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता यद्यपि मुद्रा और शेप वातावरण लगभग वैसा ही है। यह रेखाचित्र गॉर्डन द्वारा की गयी अनुकृति पर आधारित है।

फलक IV

चित्र सं०—१

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के मुख्य शिलाश्रय पर लाल वाह्यरेखायुक्त मटमैले सफेद रँग से पूरक शैली में बायें किनारे के पास अंकित पशु-पालन और कृषि-कार्य की निश्चित भूमिका प्रदर्शित करने वाला दृश्य जिसमें एक सवस्त्र व्यक्ति दो बैलों के मुँह में बँधी रस्सियाँ थामे उनके पीछे चलता हुआ दिखाया गया है। उसके एक हाथ में अनेक काँटे वाली गदा की तरह कोई वस्तु है जो बैलों को हाँकने या कृषि सम्बन्धी किसी कार्य के लिए प्रयुक्त की जाती होगी। दोनों बैल अगल-बगल साथ-साथ चलने के अभ्यस्त प्रतीत होते हैं और उनका चालक भी रस्सियों के संकेत से उन्हें चलाने में कुशल लगता है। यह अवस्था पर्याप्त विकास और सुस्थिर जीवन की द्योतक है। दोनों बैलों को पार्श्व-दृष्टि से एक के ऊपर एक करके आलिखित करना विकसित मनोदशा और चित्रण-विधि की परिवर्धित कुशलता का परिचायक है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

वनियावेरी (पँचमढ़ी) गुफा के प्रवेश-द्वार के समीप दाहिने पार्श्व पर बाहर सामने स्वस्तिक पूजा वाले दृश्य के नीचे पूरक शैली में सफेद रँग से अंकित चित्र जिसमें पशु को रस्सी से बाँध कर बलपूर्वक खींचते हुए ले जाने का चित्रण है। दोनों आकृतियाँ ज्यामितिकता लिये हुए आलिखित हैं। पशु की अपेक्षा मानवाकृति अधिक स्वाभाविक भंगिमा और गतिशीलता से युक्त है। प्रस्तुत अनुकृति में पशु का पिछला भाग अप्रदर्शित है परन्तु मूल में वह अपूर्ण नहीं है। सींगों और गर्दन के आकार से पशु साँभर हिरन लगता है, पर पैर पतले नहीं हैं। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—३

महादेव गुफा (पँचमढ़ी) से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित वाह्यरेखानुकृति

पर आधारित पूरक शैली के इस चित्र में एक सशस्त्र चरवाहा (armed pastoralist) बैल को लकड़ी लेकर भगा रहा है। बैल के बायें सींग के पास निकली हुई वस्तु संभवतः उस पर प्रहारित कोई शस्त्र है जो चुभ गया है या कोई अन्य वस्तु अटकी हुई है। कान का आलेखन उसे कदापि नहीं कहा जा सकता। पैरों में खुरों का विभाजन तथा खुरियों का प्रदर्शन अंकन की सूक्ष्मता और यथार्थता का द्योतक है।

फलक V

विढम (मिर्ज़ापुर) के नवज्ञात शिलाश्रय से अनुकृत गहरे गैरिक वर्ण में बने पूरक शैली के इस चित्र में एक त्रिशूलधारी आखेटक गाड़ी पर चढ़कर जा रहा है। गाड़ी में जुते हुए पशु वही हैं जिनके आखेट का दृश्य इसी शिलाश्रय पर अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि यह चित्र सभ्यता की पर्याप्त विकसित अवस्था का है जब पशु-पालन और यान-निर्माण आदि कार्य होने लगे थे। गाड़ी काष्ठ-निर्मित प्रतीत होती है जिसमें टेक भी प्रदर्शित है। दोनों पहिए परिप्रेक्ष्य के रचनात्मक वैचित्र्य के साथ आगे-पीछे बनाये गये हैं। उनमें अराएँ भी चित्रित हैं। पशुओं को संकेत-चालित करने वाली रस्सियों का अंकन नहीं है। चालक निर्भीक और ओजस्वी भाव से उस पर खड़ा है। उसकी चोटी लयात्मक रीति से पीछे निकली हुई है। पशुओं के अयाल और पुच्छ केशों का क्रम-बद्ध चित्रण चित्र को विशेष आकर्षण प्रदान करता है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक VI.

चित्र सं०—१

सरहट (बाँदा) नामक स्थान के समीपवर्ती शिलाश्रय से सिल्वेराड द्वारा अनुकृत एवं प्रो० ए० सो० बं० में प्रकाशित रेखाचित्र की प्रतिकृति जिसमें बिना पहिए की 'स्लेज' जैसी गाड़ी अंकित है। चित्र में निहित तल-रेखा, जिस पर सभी आकृतियाँ स्थित हैं, के विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहियों की कल्पना ही चित्रकार के मन में नहीं थी अतः ऐसा सोचना भ्रामक होगा कि वे मूल चित्र में आलिखित थे और अनुकृति में समाविष्ट नहीं हैं। वास्तव में यह गाड़ी का नितान्त आदिम रूप प्रतीत होता है जब पहिए का आविष्कार ही नहीं हुआ होगा। वाहक रूप में दो के स्थान पर केवल एक ही बैल चित्रित है पर जुए के ऊपर उठे हुए सिरे से यह अनुमान किया जा सकता है कि दो बैलों वाली कल्पना रचयिता के मन में हो सकती है। केवल चित्रण में एक ही को प्रस्तुत करना संभव हुआ होगा। इसमें टेक नहीं बनी है किन्तु पिछला भाग जो बैठने का स्थान है, कुछ फलक V

से मिलता हुआ लगता है ।

चालक के रूप में गाड़ी पर कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति बैठा है जिसके ऊपर उसके दो सेवक पीछे बैठकर छत्र ताने हुए हैं । गाड़ी के पीछे दो अन्य सेवक रक्षार्थ पैदल चल रहे हैं जिनमें एक दंडधारी है और दूसरा धनुप-बाण लिये हुए है । उनका अधोवस्त्र विशेष ध्यान आकर्षित करता है । मूल चित्र गेरुए रँग से पूरक शैली में विनिर्मित है और संपुंजन की दृष्टि मे पर्याप्त संतुलित और व्यवस्थित है । बैल में गतिशीलता और शक्ति का समावेश नहीं है, केवल उसे रूपायित भर कर दिया गया है । चालक की आगे को झुकी हुई मुद्रा और हाथ में लकड़ी लेकर बैल को हाँकने की विधि अवश्य स्वाभाविक रूप से चित्रित हुई है । गाड़ी के आदिम चक्रहीन रूप के कारण इस चित्र का असाधारण महत्व का है ।

चित्र सं०—२

धरमपुरी (भोपाल) से प्राप्त की गयी इस रेखानुकृति में दो पशुओं द्वारा चालित गाड़ी का पर्याप्त आदिम रूप अंकित है । दोनों पहिए समान रूप से आलिखित नहीं हैं । एक में परिधि दोहरी है और अराएँ उसके भीतर ही चित्रित हैं किन्तु दूसरे में वे इकहरी परिधि के बाहर तक विकीर्ण हैं । दोनों पशु संभवतः वृषभ हैं जो पूरित-अर्धपूरित अलंकृत शैली में परस्पर विभिन्न रूप में अंकित हैं । दोनों का मध्यवर्ती अलंकरण अलग-अलग प्रकार का है । जिन रेखाओं से दोनों धुरे से सन्नद्ध किये गये हैं वे काष्ठ-दंडों की अपेक्षा रस्सियों की द्योतक अधिक प्रतीत होती हैं । चालक भी दोनों हाथों से धुरे को पकड़े हुए है और एक अन्य आकृति भी उससे संलग्न है जिसे निश्चित रूप से मानव कहना कठिन है । धुरे और पहियों के अतिरिक्त गाड़ी में बैठने योग्य कोई आधार प्रदर्शित नहीं है । मूल चित्र गहरे कत्थई रंग में बना है ।

चित्र सं०—३

चीबर नाला (चम्बल घाटी) के एक शिलाश्रय से अनुकृत एवं इ० ऑ० (१९५७-५८) के पृष्ठ २८ पर प्रकाशित (Fig 15) रेखा-चित्र की तदाकार अनुकृति जिसमें गाड़ी का अंकन एक विशेष संघर्षपूर्ण वातावरण के बीच हुआ है । दो आक्रामक व्यक्तियों ने अकस्मात् चालक को त्रस्त कर दिया है । एक दोनों हाथ उठाकर तथा दूसरा धनुप पर बाण चढ़ा कर उसको पराभूत करने में संलग्न है और वह गाड़ी छोड़ कर अत्यन्त त्वरा के साथ भाग रहा है । चित्रकार ने बहुत कम रेखाओं में उसकी गतिशील मुद्रा सजीवता के साथ चित्रित कर दी है । धुरे से सम्बद्ध गाड़ी के दोनों अरायुक्त पहिए तथा जुते हुए पशु पार्श्व-दृष्टि से आलिखित हैं किन्तु उनको सम्बद्ध करने वाली एवं गाड़ी के मध्यभाग की द्योतक रेखाएँ ऊर्ध्व-दृष्टि का परिचय देती हैं । उधर वाले पशु का पिछला भाग उन रेखाओं से

संलग्न होकर अस्पष्ट हो गया है। सम्पूर्ण दृश्य रहस्यमय और आकर्षक है। इस लघु आकार में भी इसका वस्तुगत अर्थ-विस्तार पर्याप्त महत्ता रखता है।

फलक VII

चित्र सं—१

जम्बूद्वीप (पंचमढ़ी) के प्रमुख शिलाश्रय पर गेरुए रँग की चौड़ी रेखाओं से अंकित एक आकृति जो नाव प्रतीत होती है। इस प्रकार की कोई अन्य आकृति अथवा नौकारोहण का कोई दृश्य भारतीय शिलाचित्रों में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। ऐसी दशा में इसे अद्वितीय कहा जा सकता है। जिस स्थल से यह सम्बद्ध है वह जल-प्रवाह के निकट का है। अतः नाव का अभिप्राय ग्रहण करना असंगत नहीं है तथापि निश्चित रूप से उस पर आग्रह नहीं किया जा सकता।

चित्र सं०—२

आदमगढ़ (होशंगाबाद) के एक शिलाश्रय से अनुकृत एक टोंटीदार मृत्पात्र (गड़ुआ) जिससे सिद्ध होता है कि शिलाचित्र पात्र-निर्माण के विकास-काल तक बनते रहे।

चित्र सं—३

माड़ादेव (पँचमढ़ी) के प्रथम समूह के शिलाश्रय नं० ३ से गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं सा० क० के सातवें अंक में प्रकाशित बाह्यरेखानुकृति पर आधारित रेखाचित्र जिसमें एक पात्र-वाहिनी स्त्री प्रदर्शित है। वक्ष और कटि के बीच पेट के ऊपर भी कोई पात्र जैसी वस्तु ही चित्रित प्रतीत होती है। भार से झुकी हुई देह, शीश पर के पात्र का भीतरी अलंकरण तथा उठे हुए हाथ की मुद्रा आकर्षक है। अधोवस्त्र इसमें पर्याप्त नीचे तक दिखाया गया है।

चित्र सं०—४

मांड़ादेव (पँचमढ़ी) से उसी रूप में उपलब्ध और वस्तु की दृष्टि से चित्र सं० ३ से मिलता-जुलता, पात्र-वाहिनी स्त्री का एक अन्य चित्र जिसमें पात्र अलंकृत तो नहीं है किन्तु आड़ी रेखाओं द्वारा उसके जलमय होने का आभास प्रस्तुत किया गया है जो महत्त्व-पूर्ण है।

फलक VIII

चित्र सं०—१

इमलीखोह (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय पर सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित एक कामरवाही गतिशील मानवाकृति। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

बोरी (पँचमढ़ी) में प्राप्त, लाठी पर झोली लटकाये उसे कंधे पर रक्खे तथा लाठी का एक सिरा दोनों हाथों से पकड़े हुए एक गतिशील मानवाकृति जिसकी कमर के समीप पाश भी प्रदर्शित है। गॉर्डन की अनुकृति पर आधारित।

चित्र सं०—३

डोरोथीडीप (पँचमढ़ी) के शिलाश्रय से की गयी श्वेतवर्णी चित्र की बाह्यरेखानुकृति जिसमें इसी फलक के चित्र सं० १ की तरह एक कामरधारी व्यक्ति चित्रित है। कामर के दोनों वृत्ताकार पल्ले ऊर्ध्व दृष्टि से अंकित किये गये हैं जब कि शेष चित्र में सम्मुख और पार्श्व की दृष्टि का आधार लिया गया है। पल्लों में लकड़ी या पत्थर के टुकड़े रक्खे हुए हैं। उन्हें किसी भी लम्बी भारी वस्तु के रूप में ग्रहण किया जा सकता है पर उनका आकार वृत्त से छोटा ही चित्रित है। वाहक की काया पर्याप्त लम्बी और भंगिमायुक्त है। कटि के समीप शस्त्र का सिरा निकला हुआ है। दोनों हाथ कामर को स्वभाविक रूप में सम्भाले हैं। ग्रीवा का आगे को झुकाव तथा पिछले पैर की एड़ी की उठान गति की कल्पना का सम्यक रूप प्रस्तुत करती है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक IX

चित्र सं०—१

बनियाबेरी (पँचमढ़ी) की गुफा के भीतर उभरे हुए एक विशालकाय पत्थर की कोर पर मटमैले सफेद रँग से पूरक शैली में अंकित एक चित्र की बाह्य रेखानुकृति जिसमें दो योद्धा विभिन्न स्थितियों में प्रदर्शित हैं। पहला मेष का छद्ममुख धारण किये हुए है और ढाल, दंड, तूणीर आदि उतार कर एक हाथ गर्दन में लगाये विश्राम की स्वाभाविक मुद्रा में चित्रित है। दूसरा भी कटिबंध और परशु आदि खोल चुका है किन्तु एक हाथ में गोफनी लिये हुए है और दूसरे में भी रस्सी जैसा कुछ थामे हुए है। साधारणतया उसकी मुद्रा गतिशील व्यक्ति की लगती है परन्तु विश्रमित सहयोगी के साहचर्य से लगता है कि वह भी विश्राम की ही स्थिति में अंकित है। गति का आभास संभवतः इसलिये होता है कि एकदम सीध में आलिखित है और उसके पैर नीचे की ओर हैं। गोफनी के समीप ऊपर दो पत्थर भी अंकित हैं जो उपर्युक्त संभाव्य स्थिति को ही प्रमाणित करते हैं। पहले योद्धा के समीप धनुष का अंकन नहीं है। ढाल का रूप सम्मुख दृष्टि से चित्रित होने के कारण एक दम अरायुक्त पहिए जैसा लगता है। असंभव नहीं है कि वह चक्र जैसा कोई भिन्न शस्त्र हो। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—२

जम्बूद्वीप (पँचमढ़ी) के प्रमुख शिलाश्रय पर सफेद मटमैले रँगे से शिथिल पूरक शैली में अंकित अनगढ़ आकृति की बाह्यरेखानुकृति इस। चित्र में एक व्यक्ति हाथ में बड़ी-सी गोफनी लिये हुए है। इस गोफनी का रूपाकार और पकड़ने की विधि कुछ-कुछ पूर्व चित्र से मिलती-जुलती है। मू० अनु० प्र० प्र०।

चित्र सं०—३

बनियाबेरी (पँचमढ़ी) की गुफा-छत में पूर्वोक्त शैली में ही अंकित कुल्हाड़ी लिये हुए एक लकड़हारा और उसके समीप ही कटी हुई डालियों वाला एक सूखा वृक्ष भी प्रदर्शित है। दोनों का सान्निध्य चित्र की मूल कल्पना को आवयविक और दृश्यात्मक सिद्ध करता है। लकड़हारे की आकृति में किंचित् ज्यामितिकता लक्षित होती है। कुल्हाड़ी को कंधे से संलग्न नहीं किया गया है पर भाव कंधे पर रख कर चलने का ही है। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक X

चित्र सं०—१

महादेव की एक पहाड़ी में प्राप्त स्त्री और वानरयुग्म का सम्मिलित दृश्य जिसमें सहनर्तन का-सा भाव प्रतीत होता है। संभव है वानर का छद्मरूप धारण करके मनुष्य ही नर्तन कर रहे हों पर आकार अपेक्षाकृत छोटा और बंदर जैसा ही है। चित्र गतियुक्त और रोचक है।

चित्र सं०—२

काजरीघाट की गुफा का चित्र जो उस विकसित अवस्था का लगता है जब पात्र-निर्माण आरंभ हो चुका था। इसमें एक मद्यप मधु-पात्र लिये हुए बैठा है। उसके पीछे-ऊपर नली से संलग्न वस्तु का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। संभव है वह कोई उपकरण हो। गॉर्डन ने इस चित्र का कोई शीर्षक नहीं दिया है। यदि चित्र का यही अर्थ माना जाय तो इसे मद्य-पान का प्रारम्भिक निरूपण कहा जा सकता है।

चित्र सं०—३

जम्बूद्वीप के शिलाश्रय नं० ४ पर अंकित दृश्य जिसमें एक पक्षी से आतंकित व्यक्ति भय की मुद्रा में प्रदर्शित है। गॉर्डन ने पक्षी को हंस (goose) कहा है पर वह वन-मुर्गी अधिक प्रतीत होती है। पक्षी और पुरुष दोनों की मुद्राएँ सजीव और स्वाभाविक हैं। पुरुष के हाथ में दंड भी है तथापि वह भयातुर है इससे दृश्य की रोचकता बढ़ जाती है और वह एक व्यंग्य-चित्र जैसा लगने लगता है। यदि यह माना जा सके कि सीधे स्वानुभव के स्थान

पर व्यंग्य की भावना से चित्रकार ने ऐसा अंकन किया तो कहा जा सकता है कि भारतीय व्यंग्य-चित्रों की परम्परा का सूत्रपात इससे या इसी प्रकार के अन्य ज्ञात-अज्ञात चित्रों से हुआ होगा।

फलक XI

कोहवर (मिर्ज़ापुर) की गुफा के भीतरी भाग में सामने की दीवार पर दाहिनी ओर अंकित एक समूहांकन जो धुआँ लगने से निरन्तर अस्पष्ट होता जा रहा है। यह चित्र गहरे रँग की गेरुई रेखाओं द्वारा विरचित है। सबसे नीचे प्राय: एक ही प्रकार की ज्यामितिक रूप-गठन वाली छ: मानवाकृतियाँ पंक्तिबद्ध चित्रित हैं। तुलना करने पर उनमें सूक्ष्म अन्तर भी लक्षित होते हैं परन्तु सामान्य प्रभाव एकरूपता का ही पड़ता है। उनके ऊपर विचित्र विधि से रूपायित दो हाथी और उनके आगे एक घोड़ा भी बनाया गया है। दोनों हाथियों की रूप-रचना भिन्न है। पिछले वाले की आकृति देखकर लिखिनिया—१ के गजाखेट वाले प्रसिद्ध दृश्य में अंकित हाथी स्मरण आते हैं किन्तु बीचवाले की आकृति मूलत: वैसी होती हुई भी रेखाओं में सरलीकृत करके अद्‌भुत ढंग से संयोजित की गयी है। घोड़ा पिछले हाथी की तरह पूरक शैली का ही है। उसकी मुखाकृति सर्वथा अश्ववत् प्रतीत नहीं होती। उसके आगे एक सेवक प्राय: उसी प्रकार चल रहा है जैसे पिछले हाथी के आगे। मध्यवर्ती हाथी और घोड़े के ऊपर खड़ी मुद्रा में दो दंडधारी सवार आलिखित हैं। संभवत: पिछले हाथी के ऊपर भी सवार अंकित किया गया होगा। किसी महोत्सव में जैसे सवारियाँ निकलती हैं, प्रस्तुत चित्र कुछ वैसी ही स्थिति का निरूपण है। ऊपर अर्थात् पशु-पंक्ति की दूसरी ओर चार मानवाकृतियाँ अधिक सजीव और उल्लसित भाव के साथ बनायी गयी हैं। उनमें सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि पहली और तीसरी आकृति के अधोवस्त्र-द्योतक त्रिकोण के निम्न-बिंदु से दायीं ओर वाली आकृति के अधोभाग की ओर एक एक वाण-रेखा इंगित करती हुई बनी है। दूसरी आकृति से भी ऐसी ही वाण-रेखा तीसरी की ओर बनी है पर वह अधोवस्त्र की ओर गतिशील न होकर ऊपर की ओर उन्मुख है। वाण-रेखाओं का ऐसा रहस्यमय अंकन अद्वितीय गुह्यता का संकेत करता है। उसका सही अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। संभव है वह कोई कामपरक अर्थ रखता हो। ऊपर वाली मानवाकृतियों में बायीं ओर से तीसरी आकृति की शिरोभूषा सबसे पृथक, आदिम और आकर्षक है। उसके हाथों की उँगलियाँ भी अधिक अतिरंजित हैं। सारा का सारा दृश्य गुफावासी चित्रकारों की कल्पना के माध्यम से उनके सामूहिक जीवन की एक अलभ्य झाँकी प्रस्तुत करता है। मूल-चित्र इससे कहीं अधिक बड़ा और प्रभावपूर्ण है। अनुकृति बड़ी

जल्दी में की गयी है अत: उससे शिलाचित्र की वास्तविक रूप-योजना का आभास ही प्राप्त होता है, उसकी पूर्ण-शक्ति लक्षित नहीं होती। मू० अनु० प्र० प्र०।

फलक XII

महादेव गुफा (पँचमढ़ी) में शिलांकित तथा गॉर्डन द्वारा अनुकृत एवं प्रकाशित (सा० क०, वॉ० V, नं० ११, प्लेट ४, चित्र सं० 'जी') चित्र की प्रतिकृति जिसमें एक स्वच्छन्द घोड़े के पीछे दो स्त्रियाँ शीश पर टोकरियों या पात्रों में फल लिये मुक्त भाव से जाती हुई प्रदर्शित हैं। एक स्त्री हाथ से घोड़े की पूँछ पकड़े है तथा दूसरी उसका हाथ। दोनों के वस्त्र उड़ते हुए दिखाये गये हैं। मध्यवर्ती आकृति पुरुष की भी हो सकती है यद्यपि वेश के सादृश्य से उसके स्त्री होने का ही बोध पहले होता है। घोड़े की खुरियाँ काफी लम्बी चित्रित की गयी हैं जिसे असाधारण ही नहीं अप्रतिम भी कहा जा सकता है। गॉर्डन ने इसे उत्तर-तृतीय श्रेणी का बताया है।

1.

2.

चि०, फलक–II

1.
2.

1.
2.
3.

०, फलक—V

1.

2.

3.

वि०, फलक—VI

वे०, फलक–VII

वि०, फलक–VIII

चि०, फलक–IX

वि०, फलक–X

वि०, फलक–XI

चि०, फलक–XII
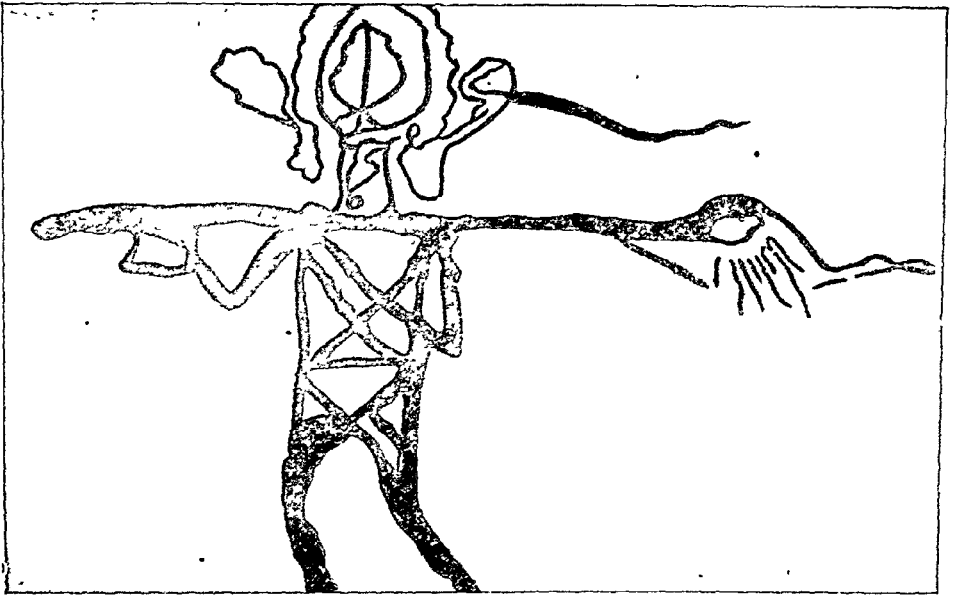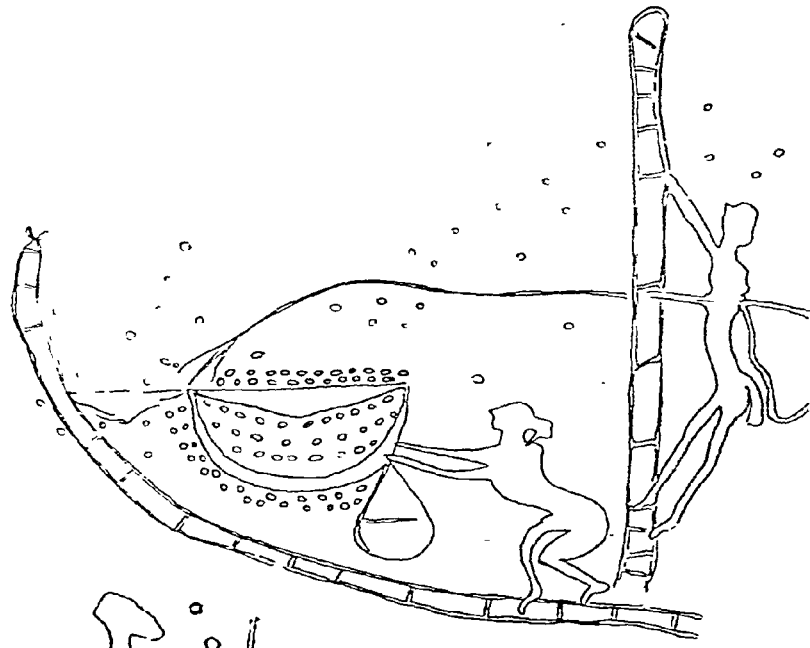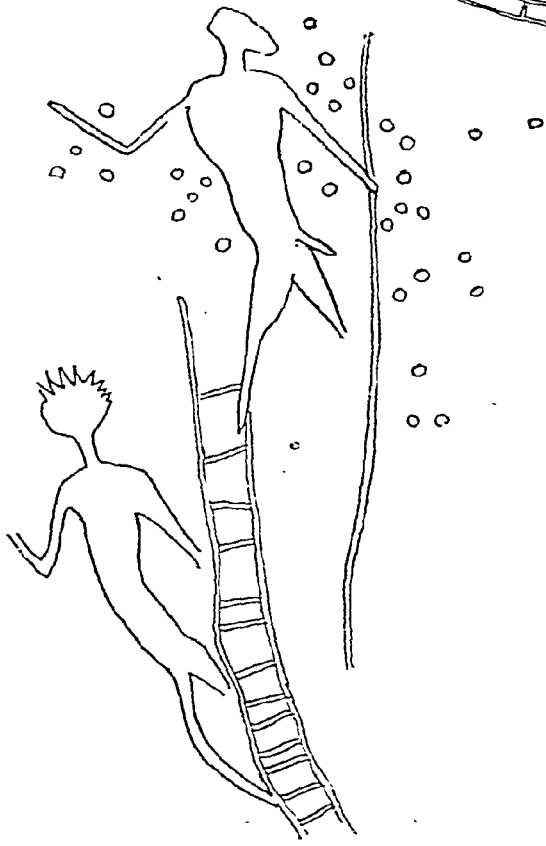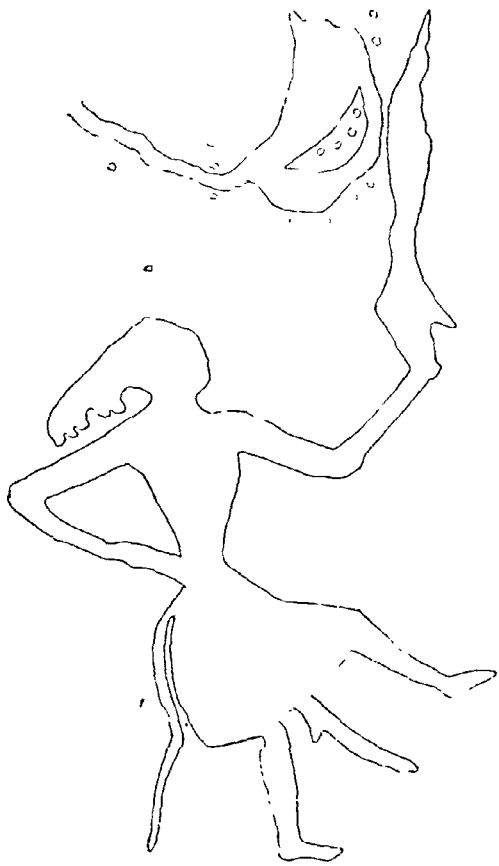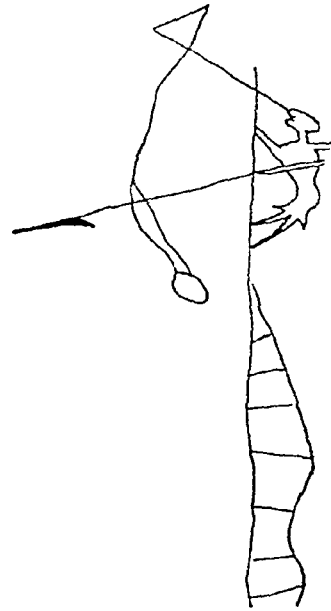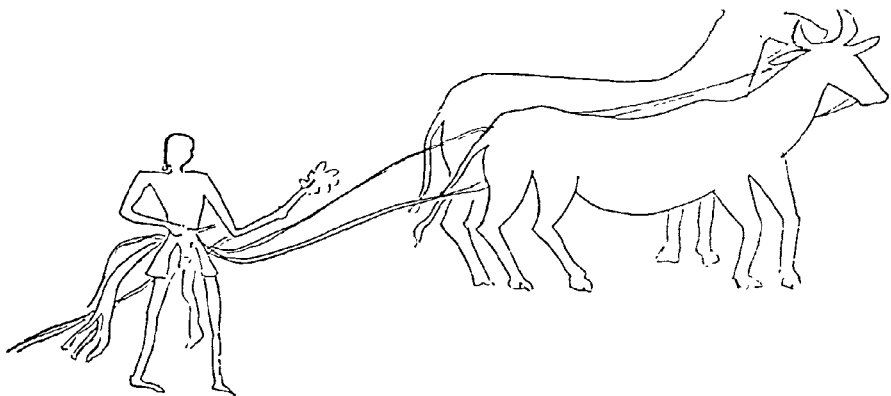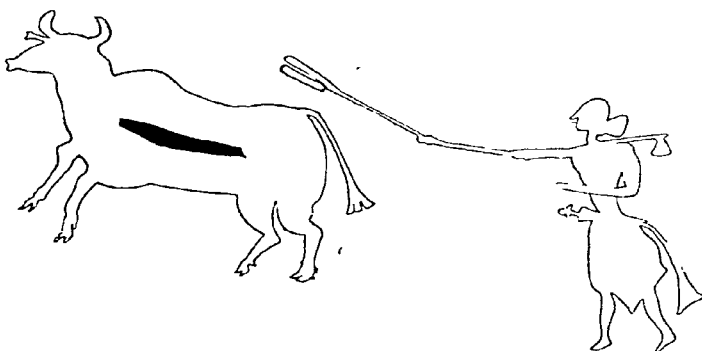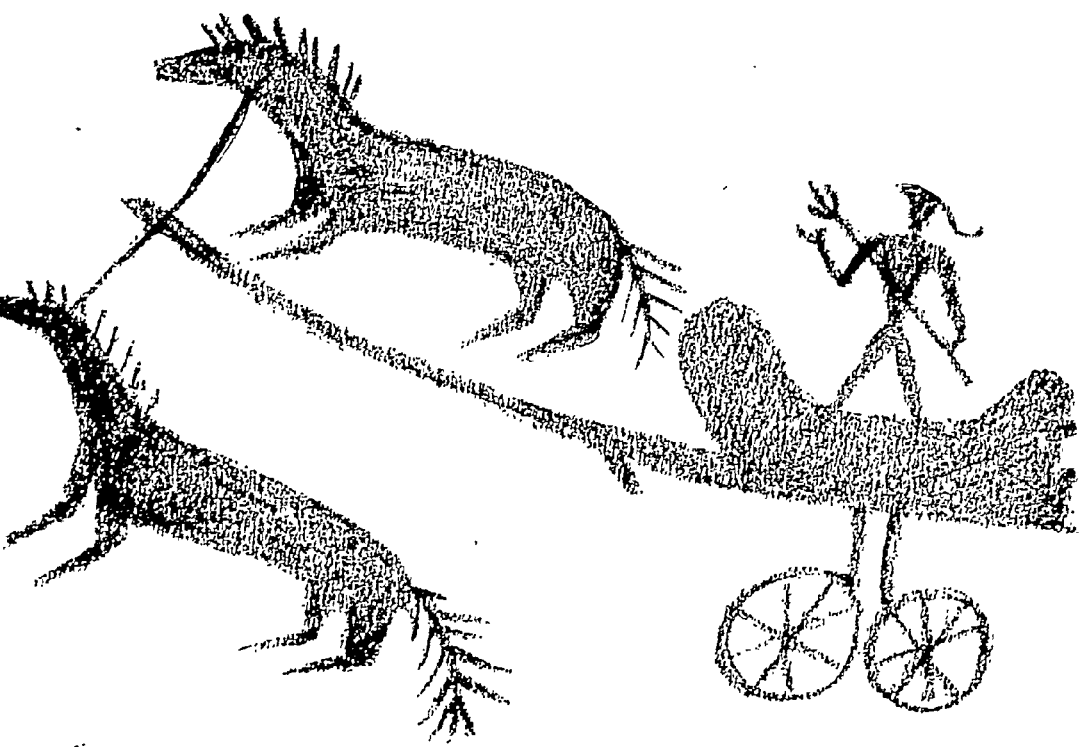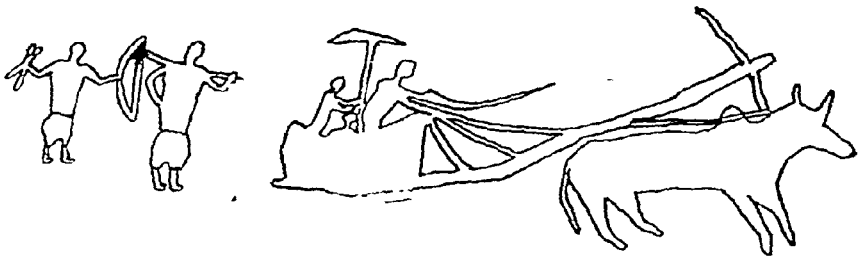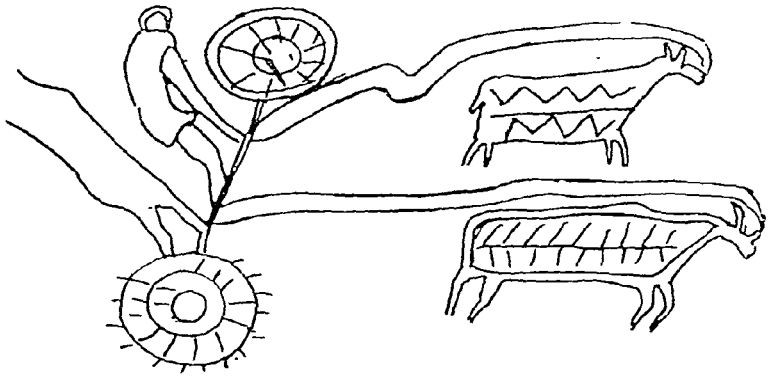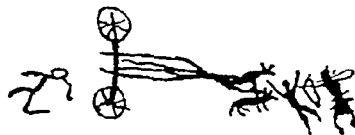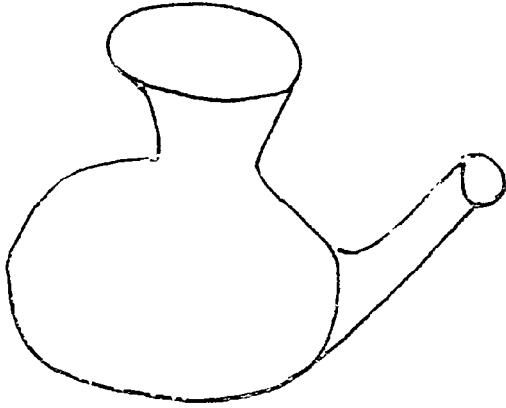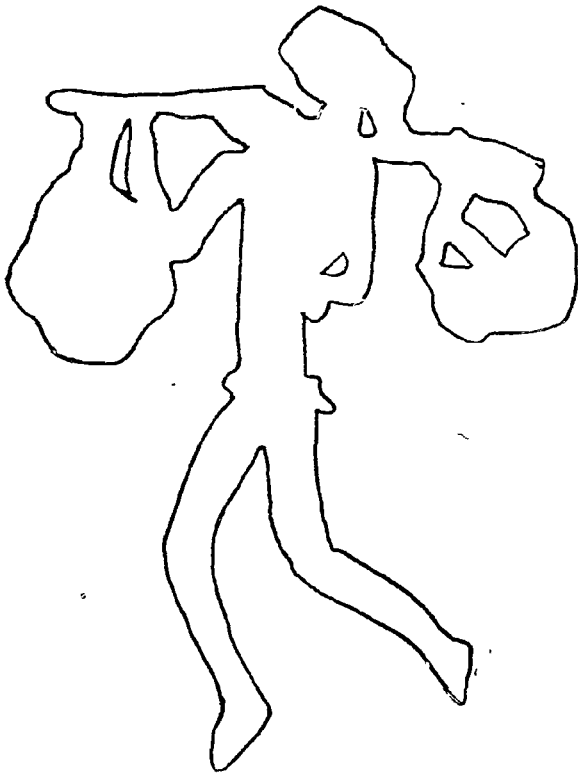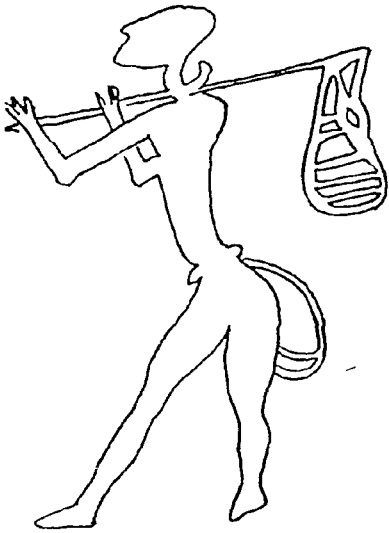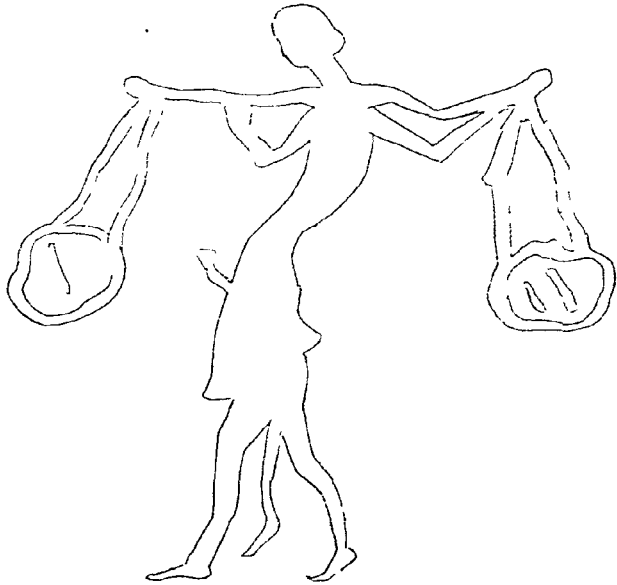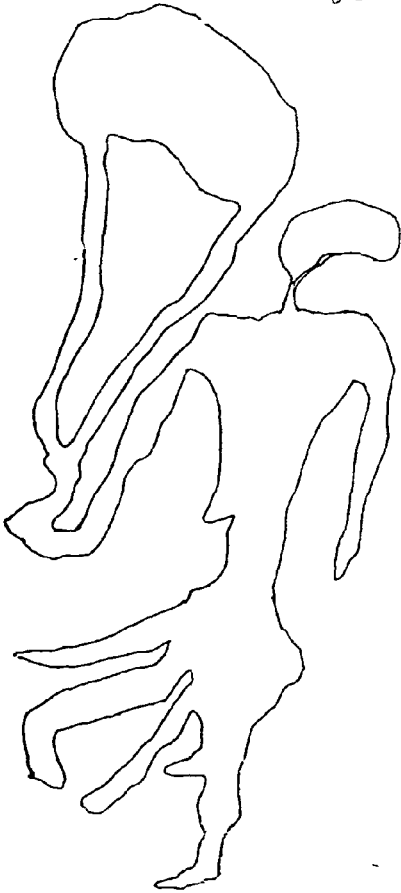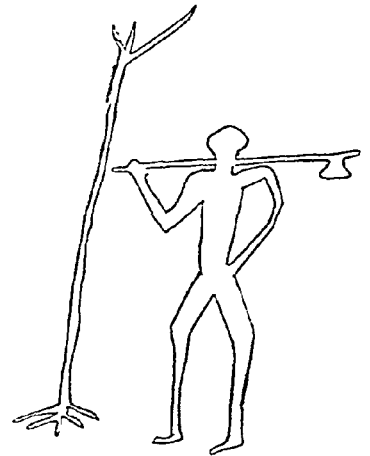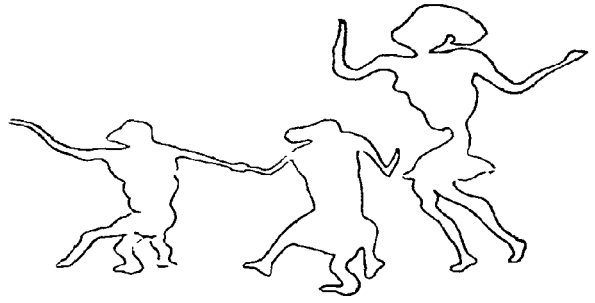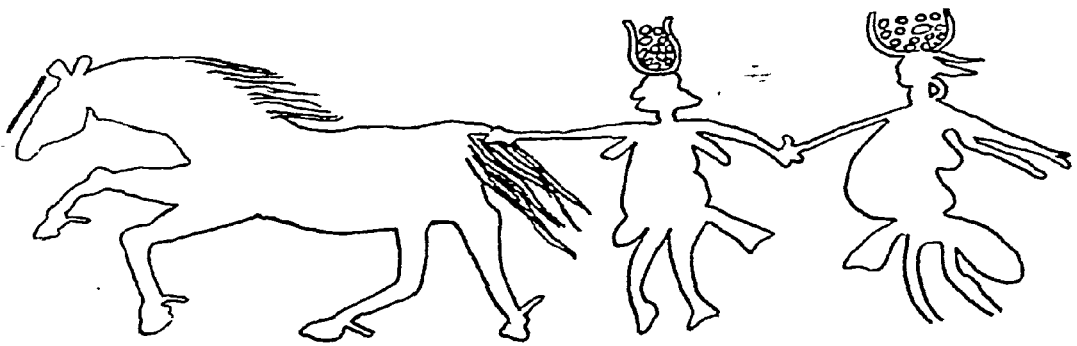
शिला-चित्र : काल-निर्णय की समस्या

संसार के अधिकांश शिला-चित्रों का निर्माण लिपि के उद्भव और काल-गणना के आविर्भाव से पूर्व हुआ है। न उनमें चित्रकारों का नामांकन मिलता है और न रचना-तिथि का निर्देश। ऐसी दशा में उनके रचना-काल का निश्चय, उस अर्थ में जिसमें ऐतिहासिक युग की कृतियों का रचना-काल निर्दिष्ट किया जाता है, कदापि संभव नहीं है। ऐण्डर्सन ने लिखा ही है कि प्रागैतिहासिक चित्रों का अध्ययन न तो निश्चित विज्ञान है और न कभी हो सकता है।[1] एच० ब्रूई ने भी गुफा-चित्रों के काल-निर्णय पर आग्रह करने वाले व्यक्तियों को इस क्षेत्र की कठिनाइयों से अपरिचित और अनभ्यस्त कहा है।[2] परन्तु यह भी सत्य है कि जिन वस्तुओं के बारे में कभी विशेषज्ञों तक ने पराजय मान ली थी, विज्ञान के प्रयोगों तथा नयी सामग्री की उपलब्धि और ज्ञान की विविध दिशाओं में संगति स्थापित करते हुए उन्हीं के समाधान की विवेकपूर्ण, एकनिष्ठ, गंभीर चेष्टा ने सफल होने का गौरव प्रदान किया है। मानव-संस्कृति और उसके विकास का अनुक्रमित इतिहास जिस रूप में आज हमारे सामने है, सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। काल-निर्धारण की जो नयी विधियाँ इधर आविष्कृत हुई हैं और होती जा रही हैं, उनके द्वारा अज्ञान का बहुत-सा अंधकार छँट गया है। घड़ी-पल का निश्चय चाहे न किया जा सके परन्तु वर्षों, शताब्दियों और सहस्राब्दियों की संख्याएँ विकास के अनुक्रम के साथ अनेक पुरातन सामग्री-संदर्भों में निर्दिष्ट की जा चुकी हैं और उनमें अधिक निश्चयात्मकता लाने के उद्देश्य से फेर-बदल भी होता रहा है। तिथि-निर्धारण और विकास-क्रम का निर्देशन धीरे-धीरे अध्ययन का एक स्वतन्त्र विषय बनता जा रहा है। जोइनर का ग्रंथ

---

१. The study of prehistoric drawings is not, and never can be, an exact science.

—ज० वि० उ० रि० सो०, १६१८. वॉ V, पृ० ३००

२. What is the exact date of the painted caves is the question asked by persons who are not adept in pre-history and ignorant of the difficulties specialists have to face to give a satisfactory answer.

—फो० हू० से० के० आ०, पृ० ३२

'डेटिंग दि पास्ट' (१९५८) इसका अन्यतम उदाहरण है। जोइनर ने मनुष्य और उसके कृतित्व से आगे जाकर पृथ्वी की स्तरीय रचना तथा उसके उन पर्वतों, नदियों और वनों की क्षेत्रीय स्थिति-विकास और विलयन के काल-क्रम पर विचार किया है जो मानव के उद्भव और आवास के केन्द्र बने। मनुष्य के अस्तित्व और विकास के विषय में अनेक नृतत्वशास्त्री विद्वानों ने शोध-कार्य किया है और आज बहुत-सी बातें पर्याप्त निश्चयात्मकता के साथ सामने आ चुकी हैं।

कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी के विख्यात पुरातत्ववेत्ता प्रोफेसर ग्रेहम क्लार्क ने 'पुरातत्व और समाज' विषयक अपनी पुस्तक के नवीनतम संस्करण में बहुत विवेकपूर्ण रीति से काल-क्रम-निर्धारण की समस्या को, उसके अनेक पक्षों पर प्रकाश डालते हुए, सामने रक्खा है। यही नहीं, उन्होंने काल-ज्ञान की सीमा और सार्थकता पर भी दृष्टिपात किया है। उनके अनुसार वर्ष, मास, दिवस की गणनामूलक निश्चयात्मक जीवन-प्रणाली से अतिशय अभ्यस्त हो जाने के कारण हम अतीत की व्याख्या में इन्हें वहाँ भी साग्रह खोजने लगे हैं जहाँ इनका कोई विशेष अर्थ नहीं था।[1] उनका यह कथन कि प्रागैतिहासिक काल के अध्येता की दृष्टि किसी घटना या व्यक्ति पर न होकर प्रवृत्तियों, गतिविधियों और जातियों पर टिकी रहती है, उस काल का मनुष्य भी कदाचित् विशेष की अपेक्षा सामान्य को आकलित करने में अधिक सक्षम था। शिला-चित्रों का अध्ययन एक सीमा तक हमें सामान्य से विशेष की ओर ले जाता है परन्तु यह निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है कि उनमें किसी विशेष घटना या व्यक्ति का चित्रण हुआ है। जहाँ कहीं ऐसा प्रतीत भी होता है वहाँ चित्रण से अधिक शक्तिशाली कोई अन्य माध्यम सुलभ होता नहीं है जिससे धारणा की पुष्टि की जा सके या उसका परीक्षण ही संभव हो। कुछ मूर्तियाँ अवश्य मिलती हैं पर उनका काल भी उतना ही अनिश्चित अथवा निश्चित है जितना चित्रों का। पाषाणास्त्र मनुष्य के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ ही दिखायी देते हैं। उनसे केवल यही प्रमाणित होता है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही रचनाशील प्राणी रहा है। काल-निर्धारण जहाँ एक ओर वस्तु-

१. Obviously by using dates of years, months and days it is possible to define events far more closely in time than when one has to rely upon the cruder scale afforded by changes in fashion or technology. But the fitness of the scale should have reference to what is proposed to measure. ...We are concerned as prehistorians above all with communities rather than with individuals and as a rule with processes and trends rather than events,

—आर्कियालॉजी एण्ड सोसायटी, अध्याय ५, पृ० १३२

विशेष के प्राकृतिक तत्वों के रासायनिक विश्लेषण से सम्बद्ध है वहीं दूसरी ओर वह मानव कृतित्व में प्रतिफलित होने वाले रूप और शैली-साम्य तथा विकास-बोध से भी सम्बन्ध रखता है। चित्रों ही नहीं, पाषाणास्त्रों के काल-क्रम-निर्धारण में भी यह दोहरी संगति बराबर अध्ययन का आधार बनी है। भारतीय पुरातत्वज्ञों में डॉ० बी० बी० लाल ने इस समस्या पर विशेष विचार किया है तथा उन सभी विद्याओं और विज्ञानों को निर्दिष्ट किया है जिनके योग से अज्ञात काल के इतिहास का पुनर्गठन किया जाता है। उनके अनुसार प्राथमिक पद्धति सह-सम्बन्ध या साहचर्य (association) पर आधारित होती है और लक्षण-विज्ञान (Typology) कहलाती है। उसमें वस्तु के रूप, आकार, रंग, रचना-शैली, अलंकरण-विधि इत्यादि को महत्ता दी जाती है और इसमें तुलनात्मक रीति से ज्ञात से अज्ञात का काल निर्णीत किया जाता है। इस पद्धति का रूप टेढ़ा (Indirect) है और जहाँ यह असफल होती है वहाँ काल निर्धारण की सीधी पद्धति (Direct dating) प्रयोग में लायी जाती है और इसे सदैव वरेण्य एवं श्रेयस्कर भी माना जाता है।[1] इधर नूतन वैज्ञानिक प्राविधिकता से युक्त कतिपय विचित्र काल-निर्धारण पद्धतियाँ आविष्कृत हुई है जिनकी सहायता से इस दिशा में अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं और आगे के लिए सम्भावनाओं का द्वार खुल गया है किन्तु शिला-चित्रों के काल-निर्धारण की समस्या उनके द्वारा भी पूरी तरह हल नहीं हो सकी है क्योंकि सीधी विधियाँ भी उनपर सीधे प्रयुक्त नहीं की जा सकी हैं।

'रेडियो कार्बन डेटिंग' तथा अन्य आधुनिक विधियाँ

'रेडियो कार्बन डेटिंग' अथवा 'कार्बन-१४ विधि' के आविष्कार का श्रेय विलार्ड एफ० लिबी (Willard F. Libby) को है जिन्होंने अपने दो मित्रों की सहायता से इस कार्य में सफलता पायी और सन १९५२ में शिकागो और कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस से इसी विषय पर एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित की जिसका काल-निर्धारण के क्षेत्र पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। इस विधि से ७०००० वर्ष तक की प्राचीनता जाँची जा सकती है पर इसका प्रयोग कोयले और हड्डी जैसी उन्हीं वस्तुओं पर आधारित है जिनमें 'कार्बन-१४' मिलता हो। इसके सैद्धान्तिक आधार को डॉ० संकालिया ने अपनी एक पुस्तक में सचित्र स्पष्ट किया है।[2]

---

१. This is precise dating on internal evidence and is any time preferable to dating based on typology.

—कल्चरल फोरम, दिसम्बर १९६१, पृ० ७५

२. इंडियन आर्कियालॉजी टु-डे, पृ० १९ तथा फि० ३

योरोपीय शिला-चित्रों के विशेषज्ञ एच० ब्रूई की धारणा है कि इतिहास-युग की सामग्री के विषय में यह विधि जितनी कारगर साबित हुई है उतनी प्रागैतिहासिक युग के लिए भी होगी इसमें सन्देह है क्योंकि मौस्टेरियन युग के कार्बन परीक्षण से बेतुके परिणाम निकले हैं और उनके तथा एम० एस० ब्लैंक द्वारा लास्को से एकत्र किये गये कोयले से भी कुछ अच्छा नतीजा नहीं निकला है। इंगलैण्ड के उत्तर हिम-युग के मेसोलिथिक काल की स्थिति उससे भिन्न नहीं रही। ब्रूई के अनुसार इस विधि की सीमाओं को लक्षित करने के लिए अभी प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है। यह विधि १५ या ३० हजार वर्ष पुरानी सामग्री तक की जाँच तो ठीक से करती है परन्तु उससे अधिक की प्राचीनता निर्दिष्ट करने में असमर्थ हो जाती है या पूरी तरह समर्थ नहीं होती। लास्को के जो उत्खनित स्तर बहुत संभव है, पेरिगॉर्डियन युग के हों उनके लिए केवल १५ हजार वर्षों की संख्या ही परीक्षण विधि से प्राप्त हुई। यह काल तो प्राचीन मैगडालेनियन के लिए भी उपयुक्त नहीं है।[1]

स्पष्ट है कि ब्रूई ने योरोपीय गुफा-चित्रों का जो सुदीर्घ निर्माण-काल ३० हजार से ४० हजार वर्ष, निर्धारित किया और जिसे बहुत उदार सामान्य गणना (Very moderate average estimate) बताया, उसका आधार रेडियो कार्बन डेटिंग के अतिरिक्त कुछ और है। मैग्डालेनियन, सोल्यूट्रियन, आरिग्नेशियन और पेरिगॉर्डियन नामक युगों को क्रमशः अधिक प्राचीन मानते हुए उन्होंने प्राकृतिक एवं भौतिक परिवर्तनों के साथ चित्रित अलम्य पशुओं, अस्थि-अवशेषों और पाषाणास्त्रों आदि की संगति स्थापित की तथा चित्रों पर जमी हुई ओप (Oxidation) को विशेष महत्व दिया। यदि आगे कार्बन १२ और १४ के

---

१. This process......have given good results, when applied to historic ages, but it does not seem to me that we can as yet apply it to material of a far greater antiquity.

Absurd results have been obtained from carbon of Mousterian age, and the attempted analysis of the English Post-glacial Mesolithic has not yielded anything much better, nor has the charcoal collected at Lascaux by M. S. Blanc and myself.

We must still wait until we learn the limits of this technique which seems accurate when the material is more than 15,000 or 20,000 years old. That explains why, for the level in which we worked in Lascaux, very probably of final Perigordian age, a figure of only 15,000 was obtained, a date notoriously insufficient even for Old Magdalenian.

—फो० हु० से० के० आ०, पृ० ३३

भेद की तरह पत्थर की सतह और उसके चित्रित भाग के ऊपर पड़ने वाले वाह्य प्रभाव का काल-भेद और किसी वैज्ञानिक विधि से आँका जा सका या चित्रों में प्रयुक्त रंगों की रासायनिक परीक्षा से काल-सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण परिणाम निकाला जा सका तभी वास्तव में समस्या का समाधान सम्भव हो सकेगा।

जहाँ तक भारतीय शिला-चित्रों का प्रश्न है, अभी तक कार्बन-१४ विधि द्वारा शिलाश्रयों और गुफाओं में प्राप्त अवशेष एवं तलवर्ती जमाव का परीक्षण करके किसी पुरातत्वज्ञ ने दोनों की कालगत संगति स्थापित करने का प्रयास नहीं किया है। वाकणकर इस दिशा में अवश्य प्रयत्नशील हैं क्योंकि योरोप की शोध-प्रणाली से उन्हें प्रत्यक्ष प्रेरणा मिल चुकी है। किन्तु अभी तक वे भी इस वैज्ञानिक विधि के सफल प्रयोग द्वारा किसी ऐसे परिणाम तक नहीं पहुँच सके हैं जो विचारणीय हो।

अन्य आधुनिक विधियों में पुरा-चुम्बकीयता (Archaeo Magnetism) की सीमा उन वस्तुओं तक है जिनमें लोहे का अंश (Oxide of Iron) निहित रहता है। इसके अतिरिक्त प्रदाह-परक विधि (Thermoluminiscence) की दोनों प्रणालियाँ भी, जो मिट्टी के वर्तनों के पकेपन और लावे के काँच से बने पदार्थों के भीतरी स्तरों की नमी की परीक्षा से सम्बद्ध हैं, शिलाचित्रों से सीधे सम्बन्धित नहीं की जा सकतीं। यदि उन्हें प्रकारान्तर से सम्बन्धित मान लिया जाय तो भी लोहे और पात्रों के प्रयोग से पूर्व के मानवीय कृतित्व का सम्बन्ध उनसे जोड़ना संगत नहीं है क्योंकि अधिकांश शिला-चित्र इनके ज्ञान से पूर्व की अवस्था के हैं या हो सकते हैं। फिर यह विधियाँ लागू भी वहीं हो सकती हैं जहाँ चित्रों के निकटतम स्थान पर तल से धातु और पात्र-खंडों की उपलब्धि हो। कुछ चित्र जिनकी रचना अपरिष्कृत लोहे के खनिज रूप से बने रंग 'धातु-राग' द्वारा हुई हो, जैसा कुछ विद्वान् मानते हैं और यदि उसकी रासायनिक परीक्षा संभव हो तो उसके लिए विज्ञान की सहायता ली जा सकती है परन्तु जहाँ तक ज्ञात है, अभी ऐसा नहीं हुआ है। शिला-चित्रों की समस्या सुलझाने के लिए किसी स्वतन्त्र वैज्ञानिक विधि के आविष्कार की आवश्यकता प्रतीत होती है। डॉ० वी० वी० लाल ने रासायनिक परीक्षण तथा काल-निर्धारण की जिन अनेकानेक अन्य विधियों का सम्यक् विवरण दिया है उनमें प्रवाहित मिट्टी के स्तरों (Glacial Varves), वृक्षों के भीतर बनने वाले विकास वृत्तों (Tree rings) तथा प्राचीन अस्थियों में ध्वनि-प्रवाह की गति (Ultrasonics) आदि का संदर्भ लिया गया है। गुफा-चित्रों या उनके चित्रण-स्तरों का नहीं।[1] कदाचित् इस अभाव की प्रतीति के कारण ही एक

१. कल्चरल फोरम, 'लेख साइंस इन आर्कियालॉजी', पृ० ७६-८१

अवसर पर उन्होंने चित्रित भित्तियों या उनसे टूट कर गिरे चित्रित खंडों के उत्खनित होने को शिला-चित्रों के काल-ज्ञान के लिए अत्यावश्यक बताया था ।

विदेशियों द्वारा भारतीय शिला-चित्रों के काल-निर्धारण के प्रयत्न

भारत में प्राप्त होने वाले शिला-चित्रों के रचना-काल के विषय में प्रायः सभी शोधक प्रारम्भ से ही चिन्तित रहे हैं। इस ग्रन्थ के आरम्भ में उनकी खोज का जो इतिहास प्रस्तुत किया गया है उसमें इसका सँकेत कहीं-कहीं पर किया जा चुका है परन्तु यहाँ इस पर पृथक रीति से दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। बीसवीं शती के प्रारंभ से पूर्व इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ, केवल कॉकबर्न द्वारा शिला-चित्रों की पहली खोज के साथ व्यक्त किये गये विचार ही उल्लेखनीय हैं ।

चित्रों में गैंडे के आलेखन ने कॉकबर्न को सबसे अधिक चमत्कृत किया और उन्होंने सब पक्षों पर सजगतापूर्वक विचार करके गंभीर निष्कर्ष निकाला कि कैमूर पहाड़ियों के इन चित्रों को विशेष पुरातन मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे अधिक से अधिक ३०० वर्ष या उससे कम ही पुराने होंगे । उनके साथ जो अस्थियाँ और उपकरण मिले उन्हें भी कॉकबर्न ने किसी सुदूर काल से सम्बद्ध नहीं किया और न अति प्राचीनता की संभावना ही स्वीकार की क्योंकि उनके विचार से कैमूर के निवासी कुछ ही समय पूर्व पाषाण-युग से बाहर आये हैं और यह समय निष्कर्पतः १०वीं शती ई० है।[१] कॉकबर्न का यह मत अपनी दृष्टि से काफी सतर्कता और प्रामाणिकता के साथ व्यक्त किया गया है। इससे अधिक की आशा शायद उन्नीसवीं शती में की भी नहीं जा सकती थी। अपने एक अन्य लेख में कॉकबर्न ने अलभ्य पशुओं के चित्रण, हथियारों के रूप और प्रयोग विधि की अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था तथा न पढ़े जाने वाले अभिलेखों की उपस्थिति, इन तीन कारणों को शिला-चित्रों के काल-निर्धारण का आधार बताया है तथा प्रयुक्त रंगों की अवस्था और

---

१. Carefully weighing the facts I came to the conclusion that these remains were not necessarily very ancient, and the split bones and shell and chest implements were evidence to my mind that the animal had been killed and cut up by savage men, at no remote period......but it appears to me that they need not be more than 300 years old, if not less. ...We find ourselves face to face with the astounding conclusion that the "stone age" has but recently passed away among the aborigines of the Kymores...as late as 10th century A. D.

—ज० ए० सो० बं०, वॉ० LII, खंड II, पृ० ५७-५८

प्रकृति पर भी ध्यान दिया है।[1] सन् १८९९ वाले अन्य लेख में पहली बार आस्ट्रेलिया के चित्रों से साम्य बताते हुए तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया और पत्थर या ताँबे की पुरातन वस्तुओं से इन्हें प्राचीनतर घोषित किया। लेखक ने अपने मत के प्रति प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ द्वारा व्यक्त संदेह को भी टिप्पणी-रूप में प्रस्तुत कर दिया है।[2]

बीसवीं शती के प्रथम दशक में बाँदा-क्षेत्र के चित्रों की खोज करने वाले सी० ए० सिल्वेराड ने उनके रचना-काल के विषय में स्वयं कोई मत व्यक्त न करके उनको अति प्राचीन मानने वाले लोक मत का ही उल्लेख किया है। कॉकबर्न द्वारा खोजे गये चित्रों से उनके सादृश्य का विश्वासपूर्ण संकेत अवश्य अपनी ओर से कर दिया है जिससे उनके निजी मत का अनुमान लगाया जा सकता है।[3]

इसी के बाद मिर्जापुर के गजेटियर में डी० एल० ड्रेक ब्रॉकमैन द्वारा उस क्षेत्र की चित्रों से युक्त गुफाओं को सर्व प्राचीन मानव-निवास-स्थल बताया गया और 'भर' जाति को चेरो, सेवरी तथा खरवर आदि की तुलना में सबसे प्राचीन जाति कहा गया है। कर्नल रिवेट तथा कॉकबर्न को मिर्जापुर क्षेत्र में गड़े हुए मुर्दों के साथ जो पाषाणास्त्र और मृत्पात्र आदि सामग्री मिली, उसे नवपाषाणकाल का माना जाता है, ऐसा लेखक ने उल्लेख किया है और अपनी ओर से यह संभावना व्यक्त की है कि वे तथाकथित छोटे पाषाणास्त्र (Pygmy flints) प्राचीन प्रस्तर युग के अवशिष्ट दासत्व-प्राप्त मनुष्यों के रचे होंगे।[4]

इस गजेटियर में केवल कॉकबर्न के लेख का सहारा लेकर ही विवरण प्रस्तुत नहीं किया गया है वरन दो वर्ष पूर्व १९०९ में प्रकाशित इंपीरियल गजेटियर में दिये हुए कार्लाइल के विचारों से भी लाभ उठाया गया है। कार्लाइल का मत अवश्य कॉकबर्न के मत से पर्याप्त भिन्न रहा होगा, तभी जिन चित्रों के लिए उन्होंने ३०० वर्ष का समय अधिक समझा उनके लिए इसमें ३००० वर्ष भी कम कहा गया है।[5] मिर्जापुर के गजेटियर में अनेक शिला-चित्र तलवर्ती जमाव से ढके हुए बताये गये हैं जिसे सम्हाल कर हटाने से

---

१. प्रो० ए० सो० बं०, १८८४, पृ० १४१-४३

२. ज० रा० ए० सो०, पृ० ९१

३. ज० ऐण्ड प्रो० ए० सो० बं०, वॉ० VIII, १९०७, पृ० ५९८

४. मिर्जापुर—ए गजेटियर, १९११, वॉ० XXVII, पृ० १९८

५. It is possible that some of the rock drawings of the Kymores are 3,000 years old or even more, but some, as has been seen noted are more recent.

—वही, पृ० २००

उनके निकल आने की पूर्ण संभावना व्यक्त की गयी है।[१] मुझे यहाँ डॉ० वी० वी० लाल का पूर्वोक्त सुझाव स्मरण आ रहा है जिसके अनुसार प्राचीनता के प्रमाणिक निश्चय के लिए चित्रों के उत्खनित किये जाने की आवश्यकता है। ऊपर से यह बात असंभव लगती है पर वास्तव में है वैसी नहीं। कार्लाइल ने अपनी कोई स्वतन्त्र प्रतिक्रिया प्रकाशित नहीं की किन्तु लगता है कि उन्होंने प्राचीन शिला-चित्रों के रंग की स्थिरता को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया। इंपीरियल गज़ेटियर में भी रंग के ही आधार पर तीन हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीनता परिकल्पित की गयी है।[२] मिर्ज़ापुर क्षेत्र के चित्रों के काल-निर्णय की दृष्टि से दोनों ही गज़ेटियर महत्वपूर्ण दिखायी देते हैं।

ऐण्डर्सन ने सिंघनपुर के चित्रों की आदिम प्रकृति को लक्षित किया और उन्हें पर्याप्त प्राचीन माना तथा सूर्यवाले वृत्त-खंड के टूटे हुए भाग को किसी सुदूर अतीत में क्षति-ग्रस्त हुआ बताया। सन् १६१४ में वहाँ की अनुकृतियों को प्रोफेसर सौल्लाज़ के पास उनका मत प्राप्त करने के लिए भेजा परन्तु १६१८ में प्रकाशित अपने लेख में कोई निश्चित धारणा व्यक्त नहीं की। यह अवश्य है कि प्राचीनता सिद्ध करने के उद्देश्य से तथा भारतीय शिला-चित्रों की मूल-प्रकृति को परखने के लिए उन्होंने कदाचित पहली बार सचित्र तुलनात्मक पद्धति अपनायी।[३] सौल्लाज़ का मत ऐण्डर्सन के द्वारा तो नहीं पर आगे चलकर १६३१ ई० में अमरनाथ दत्त के द्वारा अवश्य पुस्तक के आरंभ में ही उद्धृत कर दिया गया। उद्धरण में सिंघनपुर के नाम का उल्लेख तो नहीं हुआ है परन्तु एक ऐसी अछूती गुफा का संदर्भ अवश्य मिलता है जिसे पुरातन आखेटकों ने लगभग २०,००० वर्ष पहले छोड़ दिया था और जिसमें मानव कृतित्व के प्रमाण मिलते हैं।[४] संभव है यह बात सिंघन-

---

१. ......while others are covered with a deposit of carbonate of lime, the satisfactory removal of which may yet display older pictures.

—वही

२. On sheltered surfaces the stain produced by ruddle may last for an indefinite number of centuries, and it is quite possible that the drawings in the Kymore caves may be 3,000 years old or even more.

—दि इंपीरियल गज़ेटियर ऑफ-इंडिया, वॉ० II, पृ० ६४

३. —ज० वि० उ० रि० सो०, वॉ० IV, पृ० ३०४

४. "Works in a virgin cave abondoned by the ancient hunters some twenty thousand years ago."

—प्रि० रे० रॉ० सिं०, पृ० १

पुर के चित्रों के लिए ही कही गयी हो अन्यथा इसे इतना महत्त्व क्यों दिया गया, यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है।

पर्सी ब्राउन, जिन्होंने भारतीय चित्रकला के अपने इतिहास में शिला-चित्रों को पहली वार गौरव के साथ प्रतिष्ठित किया, उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने ऐण्डर्सन के साथ स्वयं सिंघनपुर के चित्र देखे और उनकी अत्यन्त प्राचीनता को मान्यता प्रदान की। प्रागैतिहासिक भारत विषयक पंचानन मित्र की पुस्तक में प्रथम परिशिष्ट के रूप में उनकी जो धारणा सन् १९२३ में प्रकाशित हुई उसके अनुसार यह चित्र उस काल से सम्बन्ध रखते हैं जो देश की ऐतिहासिक काल-सीमा से बहुत दूर पड़ता है। वे नितान्त आदिम अवस्था के मनुष्य की कला-चेष्टाओं से सम्बन्ध रखते हैं।[1] ब्राउन ने तलवर्ती जमाव की मिट्टी तथा पाषाणास्त्रों आदि की परीक्षा भी डॉ० हाइडेन से करायी और उन्हें चित्रों की प्राचीनता का पोषक पाया। उन्होंने अपने इतिहास में भारतीय शिला-चित्रों को प्रागैतिहासिक ही नहीं प्राचीन प्रस्तर युग की कला के रूप में ग्रहण किया है तथा उनका गहन साम्य कोगुल (स्पेन) के चित्रों से लक्षित किया है। ऐतिहासिक चित्रकला तथा मिर्ज़ापुर और रायगढ़ क्षेत्रों की इस अज्ञातकालीन चित्रकला के बीच उनके अनुसार सहस्रों वर्षों का अन्तर प्रतीत होता है।[2]

सन् १९२५ में प्रकाश में आने वाली, पाषाणयुगीन भारत से सम्बद्ध, एक कृति में जे० कॉगिन ब्रॉउन की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं जिनमें कैमूर के चित्रों को नव पाषाण-काल का माना गया है तथा इसीके साथ रायगढ़ के चित्रों की खोज का भी उल्लेख किया गया है। 'दि स्टोन एज इन इंडिया' नामक इस कृति के लेखक पी० टी० श्रीनिवास

---

१. But the paintings that are the subject of this note will prabably prove to belong to an age that lies far outside the historic period of the country, and are believed to be the artistic period of the artistic efforts of primeval man himself.

—प्रिहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० २४५

२. It may be observed, however, that Palaeolithic Art is mainly a phenomenon, remote and isolated, and this specially applies to Indian painting. There is a hiatus of probably thousands of years between these apparently dateless specimens of the early cultures of India and the first actual historic record of the art.

—इंडियन पेंटिंग, पृ० १६-१७

आयंगर ने भारत में स्पेन और फ्रांस जैसे शिला-चित्रों का अभाव माना है। उन्होंने ब्रूस फूट का जो मत उद्धृत किया है उसमें चित्रों की प्राचीनता मानी गयी है। पर उनके नष्ट एवं अप्राप्य हो जाने की बात कहते हुए श्री अमरनाथ दत्त ने सिंघनपुर के शिला-चित्रों को अतिशय प्राचीन सिद्ध करने के क्रम में जिनके मत उद्धृत किये हैं उनमें ब्रूस फूट का यह मत भी है कि भारतवर्ष में प्राचीन और नवीन पाषाण-काल के बीच अकथ शताब्दियों का विस्तृत व्यवधान मिलता है।[१] यह मत यही मानकर उद्धृत किया गया है कि सिंघनपुर के चित्र प्राचीन पाषाणकाल के हैं पर कदाचित स्वयं ब्रूस फूट ने ऐसी कोई स्पष्ट धारणा व्यक्त नहीं की अन्यथा उसी को सामने लाया जाता।

ब्रॉड्रिक ने भारतीय शिला-चित्रों का साम्य कॉकबर्न की तरह, या उन्हीं के आधार पर, आस्ट्रेलिया के वैसे ही चित्रों से लक्षित किया है किन्तु योरोपीय चित्रों से उनकी समानता का निषेध आवश्यक समझा है फिर भी उन्होंने विश्व की प्रागैतिहासिक चित्रकला के संदर्भ में योरोप और अफ्रीका से बाहर के क्षेत्र में सिंघनपुर, मिर्ज़ापुर और आदमगढ़ के चित्रों को उल्लेखनीय माना और स्वयं उन्हें प्रकाशित भी किया। मध्यप्रदेश के गुहा-चित्रों के लिए प्रागैतिहासिक काल (Prehistoric date) का स्पष्ट निर्देश उनकी पुस्तक में मिलता है परन्तु किसी विशेष काल-सीमा का निर्धारण उन्होंने नहीं किया है।[२] ब्रूई की इस धारणा को भी वे स्वीकार नहीं करते हैं कि योरोप के शिला-चित्र ३०,००० वर्ष पुराने हैं। वे इसे आत्यन्तिक संख्या समझते हैं।[३]

गॉर्डन का मत

भारतीय शिला-चित्रों के काल-निर्णय के सम्बन्ध में गॉर्डन द्वारा व्यक्त किये गये विचार कई दृष्टियों से अद्वितीय महत्व रखते हैं। भले ही उनसे मेरा मतभेद हो, परन्तु महत्ता के विषय में ऐसा कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है। गॉर्डन ने अपने से पूर्व के विविध अन्वेषकों द्वारा निर्धारित काल-सीमाओं को अत्यन्त सतर्कता और दृढ़ता से खंडित किया तथा ३०० से ३०,००० वर्ष तक के बीच फैले हुए ऊहापोह को सप्रमाण काट-छाँट कर ईसवी सन् के पहले और बाद की दस-पन्द्रह शताब्दियों की एक ऐसी सीमा बनाने की चेष्टा की जिसमें कल्पना के मुक्त विहार के लिए कोई अवकाश बाकी न बचे। जो प्रमाण और तर्क उन्होंने दिये यदि उन्हें ज्यों का त्यों मान लिया जाय तो उससे निकलने वाले परिणाम

---

१. प्रि० रे० रॉ० सिं०, पृ० ४ की अन्तिम पादटिप्पणी
२. प्रि० पे०, पृ० ३५-३६
३. वही, पृ० २०

को स्वीकार करना ही होगा किन्तु उनकी भी कुछ अपनी सीमाएँ थीं जिनसे ऊपर उठना उस काल में उनके लिए संभव नहीं था। अपनी ओर से जो मध्य मार्ग निकालने का यत्न उन्होंने किया आज वह मध्य में स्थित न होकर अर्वाचीनता की ओर खिंचा प्रतीत होता है क्योंकि नये अन्वेषकों ने कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में ला दिये हैं जो गॉर्डन के समय में अज्ञात थे। फलतः जो दृढ़ता और आग्रह उनके मत में मिलता है अब वह पूर्वाग्रह युक्त दिखायी देता है और कुछ अंशों में कदाचित् उस समय भी था जब उन्होंने अपना मत पहली बार व्यक्त किया था। यह दूसरी बात है कि वह पूर्वाग्रह स्वयं कतिपय अन्य पूर्वाग्रहों का प्रतिफल था जिन्हें लक्षित करना आज कठिन नहीं है। उचित यह होगा कि उनके मत को सम्यक् रीति से प्रस्तुत करने के बाद उसकी आलोचना की जाय। गॉर्डन ने काल-निर्धारण की समस्या को अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से उठाया है। जहाँ-जहाँ भारतीय शिला-चित्रों के विषय में उन्होंने कुछ लिखा, उनकी निजी धारणा प्रकट-अप्रकट रीति से उसमें प्रतिबिम्बित अवश्य हुई है।

'साइन्स-ऐण्ड कल्चर' में प्रकाशित पहले ही लेख में गॉर्डन ने जो चार निष्कर्ष सूचीबद्ध किये हैं वे इस प्रकार हैं :—

१. जो साक्ष्य अभी तक उपलब्ध हुआ है वह सिंघनपुर के चित्रों के लिए ६०० ई० पूर्व से २०० ई० पूर्व के आस-पास की तिथि का निर्देश करता है।

२. लघुपाषाणास्त्र यद्यपि चित्रों के समकालीन हो सकते हैं परन्तु अनिवार्यतः ऐसा ही नहीं है क्योंकि वे भारत के मध्यवर्ती भाग में दूर-दूर तक फैले मिलते हैं और पँचमढ़ी के ऐसे शिलाश्रयों में भी प्राप्त होते हैं जिनमें चित्र अंकित नहीं हैं। लघुपाषाणास्त्र तो अजन्ता के घाटों में भी मिलते हैं जहाँ सामान्यतया शिला-चित्रों से उनका कोई सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया जाता।

३. महादेव पर्वत-मालाओं से जो साक्ष्य प्राप्त हुआ है उससे यह संभाव्य नहीं लगता कि यह लघुपाषाणास्त्र या कि चित्र योरोपीय प्राचीन प्रस्तर युग के हों।

४. वास्तविकता के अधिक गद्यात्मक वातावरण में मैमथों, ग्लिप्टोडनों तथा प्रोटो-इंडस लिपियों के विचित्र कल्पना-लोक का कोई स्थान नहीं है।[1]

पाद-टिप्पणी में गॉर्डन ने पर्सी ब्राउन द्वारा सिंघनपुर के चित्रों के विषय में कही गयी उन बातों को, जिन्हें अमरनाथ दत्त ने उद्धृत किया है, सर्वथा अविश्वसनीय घोषित किया है। उनके अनुसार ऐसा कोई चित्र वहाँ है ही नहीं जिसमें आदमी रीछ के द्वारा भेंटा जा रहा

---

१. सा० क०, वॉ० V, नं० ३, पृ० १४७

हो तथा किसी भी चित्र का कोगुल के चित्रों से तनिक भी साम्य नहीं है, सिवा उनके जो श्री मित्र की प्रागैतिहासिक भारत सम्बन्धी पुस्तक में छपे हैं और कोगुल के ही हैं। सबसे मुख्य बात यह है कि मैमथ तो क्या हाथी भी सिंघनपुर के चित्रों में अंकित नहीं हैं।[1]

उक्त निष्कर्षों में से पहले तीन का खंडन मनोरंजन घोष के मोनोग्राफ में व्यक्त इस मत से हो जाता है कि सिंघनपुर के पशु-चित्र और आखेट-दृश्य जो पहले की रचना हैं प्राचीन प्रस्तर-युग से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ विद्वानों के अनुसार भारतीय पाषाणास्त्र योरोपीय शस्त्रों से प्राचीनतर हैं।[2] सिंघनपुर के चित्रों की प्राचीनता का निश्चय करने में महादेव पहाड़ियों (पँचमढ़ी) के लघुपाषाणास्त्रों या चित्रों का साक्ष्य सामने रखना और इस बात पर ध्यान न देना कि पँचमढ़ी में सर्वत्र धनुषबाण का अंकन मिलता है, किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। सिंघनपुर ही क्या पूरे रायगढ़-क्षेत्र के चित्रों में कहीं भी धनुष-बाण प्रदर्शित नहीं है, इस विशेष तथ्य की ओर अमरनाथ दत्त ने बलपूर्वक ध्यान आकर्षित किया है।[3] परन्तु गॉर्डन ने उसकी सर्वथा उपेक्षा करके केवल उनकी कल्पना-शीलता पर ही व्यंग्य किया है। चौथे निष्कर्ष के रूप में समाहित यह कटाक्ष भी पूर्णतया साधार नहीं है क्योंकि दत्त ने अपनी पुस्तक में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि सिंघनपुर में मैमथ चित्रित मिलता है। सहानुभूति की कमी, तज्जन्य उपेक्षा भाव और विदेशी संस्कारों से अनुप्रेरित होकर ही गॉर्डन ने इन महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा की है।

एक अन्य लेख में गॉर्डन ने महादेव पहाड़ियों के चित्रों को १०वीं शती ई० तक खींच लाने का यत्न किया और प्रमाणस्वरूप एक इसी काल की प्रस्तरमूर्ति में उत्कीर्ण अस्त्रों का रूप-साम्य शिला-चित्रों में अंकित अस्त्रों से प्रदर्शित किया तथा अजन्ता के एक चित्र में अंकित पट्टीदार वक्ष-बंधन से एक शिला-चित्र में बने वस्त्र की समरूपता भी लक्षित की। ११ वीं-१२वीं शती के दो अभिलेखों के आधार पर उन्होंने उत्तर चतुर्थ शृंखला

---

१. The observations of Mr. Percy Brown on the Singhanpur paintings, as quoted by Mr. Amar Nath Dutta, are quite unreliable. There is no scene that in the least resembles a man being hugged by a bear, none of the paintings bear the very slightest resemblance to those at Cogul, except those in Mr. Mittra's book on prehistoric India which come from Cogul, and above all there are no mammoths or even elephants to be found among the paintings at Singhanpur.

—वही

२. मोनोग्राफ, पृ० २४

३. प्रि० रे० रॉ०, पृ० ४

पँचमढ़ी के दो अभिलेख

सा० क० वॉ० VII में प्रकाशित डोरोथी डीप नामक गुफा में प्राप्त अभिलेख, गॉर्डन द्वारा अनुकृत, कुछ अंश अस्पष्ट।

पँचमढ़ी की गुफा में उत्कीर्ण लेख—'उत्कीर्ण भगवकेण'

के चित्रों का रचना-काल ५वीं से १०वीं शती ई० के लगभग निर्धारित किया तथा प्रथम चित्र-शृंखला से अन्तिम तक के सम्पूर्ण विकास काल को १५०० वर्षों का माना।[1] लेख की समाप्ति उन्होंने दो बातें और लिख कर की है। पहली बात यह है कि बिना किसी वास्तविक अति प्राचीनतापरक प्रमाण के सामने आये यह निष्कर्ष बदले नहीं जा सकते और दूसरी यह कि अतिशय प्राचीनता का दावा करने या योरोपीय चित्रों की समकक्षता प्राप्त करने की लालसा के पीछे देश-प्रेम की भावना निहित दिखायी देती है जिसे आत्मगत पूर्वाधिकारमूलक पक्षपात से प्रेरित सिद्धान्तों द्वारा अन्वेषकों के कार्य में बाधक नहीं बनना चाहिए।

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, यदि गॉर्डन ने कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों की स्वयं उपेक्षा न की होती तो उनकी यह नेक सलाह तटस्थता की द्योतक मानी जाती परन्तु वैसा होने के कारण मैं नहीं समझता कि गॉर्डन अपनी तटस्थता बनाये रख सके हैं। वे वास्तव में दूसरे छोर की तरफ झुके दिखायी देते हैं। दो वस्तुओं का, विशेषतः कला-कृतियों का, रूप-साम्य ही इस बात का अकाट्य प्रमाण नहीं हो सकता कि दोनों एक ही समय की रचना हैं। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वे किसी एक परम्परा से सम्बद्ध हैं। यदि पँचमढ़ी में १०वीं-११वीं शती तक शिला-चित्र बनते रहते तो इससे पूर्व काल में कोर कर बनायी गयी पाण्डव गुफाओं में भी वे कहीं न कहीं बने मिलते।[2] पर ऐसा है नहीं, अतः गॉर्डन की काल-विषयक धारणा सर झुकाकर या आँख मूँद कर मान लेने योग्य नहीं है। बिना नये प्रमाण की प्राप्ति के ही उसका तर्क से निराकरण संभव है।

फिर आक्षेपण-क्रम को लेकर उन्होंने जितनी चित्र-श्रेणियाँ मानी हैं उनमें एक स्तर से दूसरे स्तर तक पहुँचने के बीच कितना काल बीता होगा इसके निश्चय में केवल अनुमान का सहारा लिया गया है। पहली श्रेणी से लेकर अन्तिम तक समस्त चित्रण स्तर १५०० वर्षों में विकसित हो सकते हैं इस धारणा पर निकटवर्ती आदमगढ़ के चित्रण स्तरों की सापेक्षता में सहज ही प्रश्न अंकित किया जा सकता है। मुझे नहीं लगता कि यह सारा विकास केवल डेढ़ सहस्राब्दी में संभव हो सका होगा; क्योंकि प्राचीन काल में परिवर्तनों

---

१. We are convinced that the evidence indicates a dating from the 5th to the 1[illegible]th centuries for the bulk of the paintings and that an allowance of 1500 years for the development of this Art from the earliest 1st series down to its close in the 10th or 11th centuries is ample.

—सा० क०, वॉ० V, नं० ७, पृ० ३६२

२. पँचमढ़ी-दर्शन, 'इतिहास' प्रसंग

का क्रम बहुत मंद गति से चलता था तथा सांस्कृतिक अवस्था के नितान्त प्रारंभिक एवं आदिम रूप भी उनमें अंकित मिलते हैं। गॉर्डन ने अधिक महत्त्व उन योद्धाओं और युद्ध-दृश्यों को दे दिया है जो उनकी दृष्टि से ५वीं से लेकर १०वीं शती ईस्वी के ऐसे इतिहास से सम्बद्ध हैं जिसका हमारे पास कोई साहित्यिक लेखा नहीं है।[1] भारतीय गुहा-कला में पशुओं और दानवों के चित्रण पर विचार करते हुए उन्होंने पँचमढ़ी की प्रथम चित्रण-श्रेणी के बाघ आदि पशुओं का रूपसाम्य मिर्ज़ापुर के लिखनिया-कोहबर के शिलाश्रयों के पशुओं से लक्षित किया और उनकी आदिम प्रकृति को भी पहचाना परन्तु उनका रचना-काल ईसवी सन् से पूर्व या बाद की एक शताब्दी के लगभग ही संभव माना जिसका कोई आधार नहीं दिया गया है।[2] मिर्ज़ापुर के शिला-चित्रों की तिथि, पुनर्परीक्षण और नवीन शोध के परिणामस्वरूप, ईसवी सन् के आरंभ-काल से और अधिक पहले अर्थात् प्रागैतिहासिक युग में प्राचीन और नवीन पाषाण-काल तक ले जाने की संभावना उत्पन्न हो गयी है क्योंकि वहाँ पाषाणास्त्रों और शव-समाधियों की अनेक श्रृंखलाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। इस क्षेत्र के विशेष शोधक हैं डॉ० राधाकान्त वर्मा जिनके मत पर आगे चलकर विचार किया जायेगा। पँचमढ़ी से मिर्ज़ापुर के क्षेत्र में अधिक प्राचीन पाषाणास्त्र उपलब्ध हुए हैं जिनसे वहाँ के वातावरण की प्रागैतिहासिक संभावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। गॉर्डन की यह धारणा कि योरोपीय शिला-चित्रों से भारतीय शिला-चित्रों का कोई वास्तविक साम्य नहीं है[3] मिर्ज़ापुर में शिलांकित हाथ की छापों की उपलब्धि से अंशतः खंडित हो गयी है, ऐसा मुझे लगता है। गॉर्डन का ध्यान उनकी ओर नहीं गया।

सन् १९३९ में 'इंडियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स' के दसवें खंड में प्रकाशित अपने लेख में, जो 'साइंस ऐण्ड कल्चर' के महादेव पहाड़ियों वाले लेख से चार वर्ष पूर्व छपा था, उन्होंने एक और तर्क वहाँ के चित्रों को ऐतिहासिक युग से सम्बद्ध करने के पक्ष में दिया था जो

---

१. सा० क०, वॉ० V, नं० १०, पृ० ५८४
सम्बद्ध अंग्रेजी उद्धरण प्रस्तुत ग्रंथ के खंड ६ में, पृ० ३३६ पर देखा जा सकता है।

२. The panthers from Likhania Shelters, Mirzapur, have a strong family likeness to those from Panchmarhi shown below, and date possibly from the 1st century B. C. to 1st century A. D.

—वही, नं० ११, पृ० ६६७

३. Similarly there is no true resemblance between any of the Indian rock-paintings and those of Europe.

—इंडियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स, वॉ० X, पृ० ४१

बाद में अन्य प्रमुख तर्कों की तरह दोहराया नहीं गया, वह यह है कि एलोरा की नवीं बौद्ध गुफा में कुछ आदिम चित्र भी उपलब्ध होते हैं जो ८वीं शती ई० से पूर्व के नहीं हो सकते क्योंकि एलोरा की गुफाएँ ही उससे पूर्व नहीं थीं। यह चित्र गर्भ-गृह के द्वार के सपीपवर्ती भागों में गहरे लाल रंग से अंकित हैं और इनमें दो नर्तकियाँ तथा एक भालाधारी अश्वारोही प्रदर्शित है। गॉर्डन ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि ऐसे सभी चित्रों को अनुमानतः ५वीं से लेकर १०वीं शती ई० के बीच रखा जा सकता है।[१] एलोरा के चित्र गॉर्डन ने प्रकाशित नहीं किये और न सम्यक् रीति से उनका और पँचमढ़ी के चित्रों का साम्य निर्दिष्ट किया। फिर एलोरा के आस-पास शिला-चित्रों की कोई व्यापक परम्परा नहीं मिलती जिससे उन चित्रों को सम्बद्ध करके देखा जा सके और अन्य क्षेत्रों की चित्रण-परम्परा से विभेद लक्षित किया जा सके। अश्वारोहियों के चित्र पंचमढ़ी में हैं अवश्य पर उनकी रूप-रेखा ऐतिहासिक युग से प्राप्त अश्वारोहियों से सभी स्तरों में सर्वथा अभिन्न नहीं है। नर्तकियों का पृथक् रूप से चित्रण शिला-चित्रों में कहीं नहीं मिलता, सह-नर्तन या सामूहिक नर्तन के दृश्य अवश्य प्राप्त होते हैं। साथ ही इस पूर्वोक्त बात पर ध्यान न देना कि स्वयं पंचमढ़ी की पांडव गुफाओं में आदिम प्रकृति के चित्र क्यों नहीं मिलते जो अगणित शिलाश्रयों और गुफाओं के बीच अत्यन्त प्रमुख और सुरक्षित स्थान पर स्थित हैं, और दूरस्थ एलोरा में क्यों मिलते हैं, ठीक नहीं। उन चित्रों को पँचमढ़ी के संदर्भ में कैसे निर्णायक माना जा सकता है यह समझना कठिन है। एलोरा से पूर्व जोगीमारा की प्रसिद्ध गुफा में ई० पू० तीसरी शती के जो चित्र उपलब्ध हुए हैं वे भी विषय-वस्तु और शैली आदि की दृष्टि से पँचमढ़ी के अधिकांश चित्रों के बाद के प्रतीत होते हैं। रायकृष्णदास और असितकुमार हालदार दोनों ने उनकी इतनी प्राचीनता होते हुए भी, उन्हें आदिम और प्रागैतिहासिक काल के बाद का माना है।[२] शिलाओं पर चित्र बनाने का क्रम बाद में भी चलता रहा, यह बात स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि सब शिला-चित्रों की रचना ऐतिहासिक युग में ही हुई। निष्कर्ष-रूप में गॉर्डन ने जहाँ यह मान लिया है कि इस क्षेत्र में अभी बहुत काम होना शेष है वहीं लगता है कि वे बुद्धि-संगत बात कह रहे हैं अन्यथा उनके अधिकांश कथन पूर्वाग्रह-

---

१. They cannot be earlier than the eighth century A. D. This indicates a probable dating from the fifth to tenth centuries A. D, for the bulk of the paintings.

—वही, पृ० ४१

२. (i) 'भारत की चित्रकला', पृ० ३
(ii) 'ललितकला की धारा', पृ० ६३ तथा फलक ६

युक्त दिखायी देते हैं। जैसा कहा जा चुका है अपने मन्तव्यों को उन्होंने अनेक स्थानों पर दोहराया है जिससे लगता है कि इस दोहराव के पीछे मात्र सत्य कथन की वृत्ति ही नहीं वरन् योरोप के प्रति अतिरिक्त लगाव भी निहित है। साम्य को, जो बहुधा ऊपरी स्तर का ही दिखायी देता है, गॉर्डन द्वारा काल-निर्धारण में बहुत महत्व दे दिया गया है और उस साम्य के आसपास अनेक रूप में जो वैषम्य की स्थिति मिलती है उसे प्रायः भुला दिया गया है या उपेक्षित कर दिया गया है। पँचमढ़ी क्षेत्र के तामिया शिलाश्रय का कबरा पहाड़ के चित्रों से साम्य और सिंघनपुर के चित्रों की महादेव पहाड़ियों के चित्रों से तुलना लगभग इसी प्रकार की है।[1] साम्य के लिए जो क्रिया-विशेषण उनके द्वारा बलपूर्वक प्रयुक्त किये गये हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने उसे अत्यधिक महत्व दिया है। वस्तुतः वही उनके चिंतन का प्रमुख आधार रहा है। यदि उनकी दृष्टि लुडविग गोल्ड शीटर (Ludwig Gold Scheider) की प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्ट विदाउट इपॉक्' (Art Without Epoch) में दी हुई सामग्री और उसकी वास्तविक प्राचीनता एवं रूप-साम्य से नितान्त आधुनिक लगने की भ्रमात्मकता पर गई होती तो वे कदाचित् उसपर इतना बल न देते तथा अन्यान्य बातों के साथ समता की पूरी संगति बैठाने के बाद ही काल का निश्चय करते।

'प्रिहिस्टॉरिक बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन कल्चर' नामक अपनी परवर्ती और प्रौढ़-तर कृति में गॉर्डन ने भारतवर्ष के समस्त प्रागैतिहासिकता-सूचक उपकरणों एवं साधनों की समकक्षता में शिलाचित्रों को गंभीरतापूर्वक प्रतिष्ठित किया जो एक सराहनीय, अग्रगामी एवं साहसपूर्ण कार्य कहा जायेगा परन्तु इस ग्रंथ में भी उनकी मूल धारणा में कोई विशेष परिवर्तन घटित नहीं हुआ क्योंकि चिन्तन का आधार और पद्धति प्रायः वही रही! उनके दृष्टिकोण में जो परिवर्तन दो दशकों में घटित हुआ और जिसे उनके विषय-प्रतिपादन में लक्षित किया जा सकता है, उसकी उपेक्षा करना उनके प्रति अन्याय होगा। यद्यपि इस ग्रंथ में भी भारतीय शिला-चित्रों की कालगत महत्ता के विषय में उनके पूर्ववर्ती मानसिक ऊहा-

---

१. (i) Tamia Shelter with paintings all in red, all of animals or enigmetic signs, shows the most striking similarity to Kabra Pahar.

—सा० क०, वॉ० V, नं० ५, पृ० २६६

(ii) That the paintings from the Raigarh shelters resemble quite strongly the early series from the Mahadeo Hills cannot in view of the evidence be well denied.

—वही, पृ० २७०

पोह् की झलक कई जगह मिलती है परन्तु उसमें अधिक संतुलन आ गया है, ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है। उसी पृष्ठ पर एक ओर जहाँ वे यह कहते हैं कि कोई ज्ञात भारतीय शिला-चित्र अथवा उत्कीर्ण चित्र विशेप पुरातन नहीं है, वहीं वे यह भी मान लेते हैं कि योरोप और अफ्रीका के वाद अव निस्संदेह प्राचीन प्रस्तरयुगीन कला के क्षेत्र में प्रविप्ट होने की पारी भारतवर्प की ही है।[1] इसी ग्रंथ की भूमिका में लेखक ने योरोपीय मध्यप्रस्तर युगीन आखेटकों द्वारा चित्र-निर्माण का सादृश्य प्रस्तुत करते हुए महादेव पर्वतमालाओं के आखेटकों को कुछ संदेह के साथ ही सही पर उसी प्रकार चित्रकर्मी माना है यद्यपि उनको अधिक से अधिक ई० पू० की प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में रखते हुए लघुपापाणास्त्रों का उपयोग करनेवाला वताया है।[2] पँचमढ़ी-क्षेत्र के विपय में इन अस्त्रों को लेकर गॉर्डन की धारणा कि इनका प्रयोग १०वीं शती ई० तक होता रहा अव पुनर्विचारणीय ही नहीं परिवर्तनीय भी हो गयी है। डॉ० संकालिया ने उनको अधिकांशतः लघुपापाणास्त्र कहना अनुपयुक्त समझ कर भिन्न कोटि में रखा है। उसकी प्राचीनता अधिक है क्योंकि वह समानान्तर पार्श्ववाले उपकरणों (Parallel sided tools) की कोटि है जो वास्तव में लघु-फलक-उद्योग (Short Blade industry) है और लघुपापास्त्रों से पृथक की जा सकती है। ये लघुफलक गॉर्डन आदि द्वारा उपलब्ध लघुपापाणास्त्रों के जनक हैं।[3] आगे चलकर

१. (i) ...none of the Indian rock paintings or engravings yet known is of considerable antiquity...

—प्रि० वँ० इं० क०, अ० VI, पृ० ९८

(ii) Very ancient rock paintings had been discovered in Europe, and yet more, many of which were held to be very old, had been found in Africa : without doubt it was now the turn of India to be included as a centre of palaeolithic art.

—वही, पृ० ९८

२. Here again there are no paintings nor engravings that can be said to have been without doubt the work of mesolithic hunters. By analogy with those in Europe who have left us pictures of their activities and also with the stag-hunters of the Mahadeo Hills who did likewise and who although they lived within the later half of the Ist milleniun B. C,, may well have used microliths.

३. प्रि० प्रो० इं० पा०, पृ० १२८ के अतिरिक्त पृ० १२७ का फुटनोट भी द्रप्टव्य है जिसमें पँचमढ़ी के लघुपापाणास्त्रों के सम्वन्ध में जी० आर० हण्टर के लेख का संदर्भ दिया गया है जो नागपुर-यूनिवर्सिटी जर्नल के पहले-दूसरे अंकों में १९३५-३६ में प्रकाशित हुआ था।

डॉ० संकालिया ने फुटनोट में गॉर्डन के मत का स्पष्ट निर्देश करते हुए लिखा है कि वास्तव में इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि लघुपाषाणास्त्र निर्जन अर्ध-वनाच्छादित प्रदेशों में १०वीं शती ईस्वी तक प्रयोग में लाये जाते रहे।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य स्थान पर भी गॉर्डन के मत की आलोचना की है। गॉर्डन के समय उक्त उद्योग के विषय में कदाचित् कुछ भी ज्ञात नहीं था। यह कहना भी उचित नहीं है कि लघुपाषाणास्त्र इसलिए अमहत्त्वपूर्ण हैं कि वे भारतवर्ष के हर कोने से प्राप्त होते हैं। डॉ० संकालिया के अनुसार आसाम, बंगाल, नेपाल, गंगाघाटी, पंजाब और केरल से अभी तक कोई भी लघु-पाषाणास्त्र प्राप्त नहीं हुआ है। उनके ग्रंथ में पृ० १३० पर दिये गये मानचित्र से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे क्षेत्र जिनमें ऐसे पाषाणास्त्र उपलब्ध होते हैं विशेष महत्त्व रखते हैं। उनमें उनके निर्माण की परम्परा पर्याप्त प्राचीन दिखायी देती है। इस विषय में डॉ० संकालिया से अधिक आधिकारिक मत और किसी विद्वान् का नहीं माना जाता है अत: उनकी बात को गॉर्डन की धारणा से ऊपर ही रखना होगा। पँचमढ़ी के चित्रों में जिस प्रकार पात्रों का स्वल्प अंकन हुआ है वैसे ही वहाँ के उत्खनन-कार्य द्वारा लघु-पाषाणास्त्र कुछ थोड़े से पात्र-खंडों सहित (Microliths with a little pottery) प्राप्त हुए हैं। यह तथ्य चित्रकर्मी और पात्र एवं पाषाणास्त्र-निर्माता मानवों को एक मानने के पक्ष में है; जिसको स्वीकार करने में गॉर्डन को संकोच होता रहा है। इस उत्खन-कार्य का उल्लेख भी डॉ० संकालिया के पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठों में मिलता है और उक्त प्रसंग से ही सम्बद्ध है। गॉर्डन के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का प्रमाण केवल भारतीय शिला-चित्रों के प्रसंग में ही नहीं, हड़प्पा-मोहेनजोदड़ो संस्कृति आदि इतर प्रसंगों में भी उपलब्ध होता है। भारतवर्ष किसी सर्वथा मौलिक उद्भावना या सृजन में समर्थ हो सकता है, यह बात गॉर्डन के लिए अकल्पनीय थी इसीलिए उन्होंने सुमेरी और एलामी सभ्यता के भारत में आगमन को सिंधु-घाटी की नगर सभ्यता के आरंभ के लिए अनिवार्य माना है।[2] यहाँ भी भारतीय नगर-रचना की उन-निजी विशेषताओं को उन्होंने बिल्कुल उपेक्षित कर दिया है जो भारत से बाहर कहीं उपलब्ध नहीं होतीं। यही दृष्टिकोण शिला-चित्रों के काल-निर्णय में भी अपनाया गया है जिससे भारतीय सृजनशीलता के गौरव की वास्तविक प्रतिष्ठा में मनोवैज्ञानिक बाधा पड़ी है और बहुत से भारतीय पुरातत्वज्ञों का मन यहाँ के शिला-चित्रों की ओर से उदासीन हो गया जिससे वे अभी तक मुक्त नहीं हो सके हैं।

---

१. वही, पृ० १२६; 'इन्वेस्टिगेशन्स', पृ० १५० पर भी खंडन मिलता है।

२. प्रि० वँ० इं० क०, पृ० ५६

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है गॉर्डन ने श्रेणी-क्रम अथवा चित्रों के विभिन्न स्तरों से सम्बद्ध शृंखलात्मक विभाजन को काल-निर्णय का सर्वप्रमुख आधार माना है और इसमें भी उन्हीं चित्र-श्रेणियों को प्रमाणभूत एवं केन्द्रीय माना है जो महादेव पर्वतमालाओं में पायी जाती हैं।[1] मैं गॉर्डन की इस मूल स्थापना से ही असहमत हूँ क्योंकि रायगढ़, मिर्ज़ापुर और आदमगढ़ आदि जो क्षेत्र उन्हें ज्ञात थे और भोपाल, चम्बलघाटी आदि जो उनके बाद प्रकाश में आये उन सबकी कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं जिन्हें अन्यत्र निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। रायगढ़ क्षेत्र में प्रतीकांकन की अधिकता, धनुष तथा परवर्ती विकास, अश्वारोहण आदि का अभाव, क्षेपांकन विधि का प्रयोग, नितान्त आदिम प्रकृति के बिना काँटों के दण्डाकार अस्त्र, धातु-प्रयोग से पूर्व का पाषाणकालीन प्रागैतिहासिक वन्य वातावरण आदि अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य क्षेत्रों से बहुत दूर तक पृथक् कर देती हैं। वहाँ पशु-चित्र आरोहण की अवस्था से पूर्व के ही मिलते हैं। अतः मात्र आयताकार मानव शरीर या लहरीली रेखाओं के रचना-साम्य के आधार पर उसे पँचमढ़ी के समक्ष नहीं रक्खा जा सकता और न गॉर्डन की इस धारणा से सहमत हुआ जा सकता है कि वहाँ भी दण्डाकार भाले धातु के रहे होंगे। मिर्ज़ापुर की स्थिति रायगढ़ और पँचमढ़ी के बीच आती है क्योंकि वहाँ आदिम आखेट-दृश्य भी मिलते हैं और धनुर्धर एवं अश्वारोही भी। भोपाल आदि क्षेत्रों की स्थिति प्रायः मिर्ज़ापुर जैसी मिश्रित दिखायी देती है। रायसेन, भोपाल तथा सागर आदि के क्षेत्रों का सूक्ष्म निरीक्षण करके श्यामकुमार पाण्डे ने मुझे एक पत्र में लिखा है कि "मैं गॉर्डन महोदय की सिरीज़ में भी परिवर्तन करना आवश्यक समझता हूँ।" मुझे भी बहुत समय से बराबर ऐसा अनुभव होता रहा है कि गॉर्डन का श्रेणी-विभाजन काल-निर्धारण की दृष्टि से अनुमानाश्रित ही अधिक है, प्रामाणिक कम। इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए उनके द्वारा फैलाये गये उस श्रेणी-जाल पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होगा जिसे उन्होंने उत्तरोत्तर विकसित करते हुए भारतीय शिला-चित्रों की प्राप्ति के

---

१. (i) As the whole question of the dating of these paintings does to a great extent turn on the sequence estadlished in Mahadeo Hills, its merits are examined in some details.

—वही, पृ० ६६

(ii) The very considerable number of paintings recorded in the Mahadeo Hills round Panchmarhi, in Madhya Pradesh, will help to put the whole matter of Indian rock-paintings into its proper perspective.

—वही,

अन्यान्य क्षेत्रों से भी सम्बद्ध करने की चेष्टा की है।

समग्र रूप से गॉर्डन ने भारतवर्ष में प्राप्त शिला-चित्रों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है जिनमें से पहली दो प्रागैतिहासिक जीवन को व्यक्त करती हैं तथा बाद की दोनों संधिकाल का संस्पर्श करती हुई ऐतिहासिक युग तक का संक्रमण कर जाती हैं। उन्होंने चारों ही श्रेणियों के प्रारंभिक और उत्तर (Early and late) दो-दो रूप माने हैं और उनमें सभी प्रकार का वैविध्य समाविष्ट करने का यत्न किया है। सभी श्रेणियाँ जीवन के उत्तरोत्तर समृद्ध होते हुए विकास-क्रम से सम्बद्ध हैं पर उनकी पहचान अधिकतर चित्र-रचना शैली के आधार पर निर्दिष्ट की गयी है। पहली की विशेषता योजनाबद्ध आकृतियाँ (Schematic figures) मानी गयी हैं किन्तु दूसरी को शैली के स्थान पर विषयवस्तु अर्थात् आखेट-जीवन से सम्बद्ध किया गया है। प्रकारान्तर से पहली श्रेणी की आकृतियों में आखेट-अवस्था से पूर्व के जीवनस्तर का चित्रण अपेक्षित माना गया है परन्तु पँचमढ़ी के जो अतिशय अलंकृत शैली के चित्र इस श्रेणी से सम्बद्ध किये गये हैं उनसे उस जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। खंड २, फलक VII पर मुद्रित आकृतियाँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। ऐसे अलंकृत चित्र स्तर-क्रम में पँचमढ़ी में चूँकि सबसे नीचे आते हैं अतः उन्हें प्रथम श्रेणी के रूप में स्वीकार करने के लिए गॉर्डन विवश हुए परन्तु यदि वे स्वतन्त्र रीति से सामने रक्खे जायँ तो कदापि उन्हें आखेट-दृश्यों वाले या उस जीवन के द्योतक चित्रों से पूर्व रखना संभव नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्यत्र जो भी आखेट-जीवन के चित्र मिले गॉर्डन ने उन्हें उनसे परवर्ती ही माना, चाहे उनकी प्राचीनता के पक्ष में अन्य कारण कितने ही प्रबल क्यों न हों। सिंघनपुर में धनुष-बाण के अभाव को भी इसीलिए उन्होंने यथेष्ट महत्ता नहीं दी। इतना ही नहीं पँचमढ़ी के उस श्रेणी के चित्रों में भी उसके अभाव की कल्पना कर ली।[१] वहाँ आयताकार मानवाकृतियाँ भी धनुष लिए चित्रित हैं (द्र० खंड ४, फ० VI, चि० सं० २)। गलत धारणा के कारण उन्हें सिंघनपुर के आखेटकों के हाथ के दण्डाकार भालों को धातु-निर्मित मानने में कोई संकोच नहीं हुआ जब कि वैसा मानना किसी तत्सम्बन्धी स्थानीय कारण से आवश्यक नहीं लगता। लहरदार रेखा सिंघनपुर की मानवाकृतियों में अत्यन्त अल्पमात्रा में मिलती है और वह आयताकार ही नहीं त्रिकोणात्मक आकृति में भी चित्रित है अतः मात्र उसी के साम्य से सिंघनपुर की उन मानवाकृतियों को

---

१. True we do not find a single archer depicted, but only one or two can be assigned to the 1st series, all the rest have staff-like spear which we find in the hunting scene at Singhanpur

—वही, पृ० १०३; तथा पृ० १०५ भी द्रष्टव्य

प्रारंभिक प्रथम श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, विशेषतः तब जब कि पँचमढ़ी में लहरदार रेखाएँ बड़ी विशाल आकृतियों में पूरे आयत को अतिशय अलंकृत रूप में भरने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। पँचमढ़ी में यदि दूसरी श्रेणी से सम्बद्ध आखेट-दृश्य इनके बाद मिलते हैं तो आवश्यक नहीं है कि सिंघनपुर का आखेट-दृश्य भी उनसे परवर्ती ही माना जाय। इसी तरह गॉर्डन ने कबरापहाड़ और कोहबर के पशुओं को तामिया के पशुओं के समकक्ष रखकर उत्तर-प्रथम श्रेणी से सम्बद्ध माना है। यही नहीं आदमगढ़ के दसवें शिलाश्रय के सबसे निचले स्तर वाले प्राचीनतम हाथी को भी इसी कोटि में रख दिया है जबकि सिंघनपुर में हाथी का अंकन हुआ ही नहीं है। कबरापहाड़ के प्रारंभिक चित्रों में भी वह अनुपलब्ध है। गॉर्डन ने इस प्रथम श्रेणी के चित्रों के निर्माण की पूर्व सीमा पहले से कुछ बढ़ा कर ७००' ई० पू० तक मान ली है यद्यपि उसमें भी उन्हें संदेह ही बना रहा।[१] किन्तु इसी के साथ वे धातु-फलक वाले अत्यन्त विकसित काँटेदार भालों के प्रयोग को प्रदर्शित करनेवाले गैंडे के प्रसिद्ध आखेट-दृश्य को ८०० ई० पू० तक ले जाते हैं तो उनके काल-निर्धारण की पद्धति की असमर्थता और असंगति सर्वथा स्पष्ट हो जाती है।[२] उसे ५०० ई० पूर्व का मान लेने पर भी पाषाणयुग और धातुयुग में कितना अंतर बच रहता है इसकी विडम्बना यहाँ द्रष्टव्य है। गॉर्डन आरंभ से ही यह मान बैठे हैं कि सिंघनपुर, मिर्ज़ापुर आदि के सारे चित्र उनके श्रेणी-क्रम से बाहर नहीं हो सकते और उसमें पहली तथा दूसरी श्रेणी में कई सहस्राब्दियों का अन्तर होना असंभव है क्योंकि उनकी दृष्टि में पहली श्रेणी के प्रारंभिक और उत्तर रूपों तथा उसके बाद दूसरी श्रेणी तक के संक्रमण को स्पष्टतया प्रदर्शित किया जा सकता है।[३] पँचमढ़ी के विषय में गॉर्डन की धारणा भले ही मूल्यवान् हो परन्तु सिंघनपुर तथा अन्य स्थानों के चित्रों में

---

१. ...the very earliest of all these paintings cannot be taken back earlier C. 700 B. C. and this may well prove to be too early.

—वही, पृ० १०८

२. Roughly 800 B. C. is the earliest date that can be claimed for the harpoons or spearheads, but it is likely that they are later than this, and 500 B, C., or some what later, is a reasonable date for this painting.

—वही पृ० १०६

३. The transition early to late 1st and on to early 2nd is clearly demonstrable, and the early Ist, which point is extremely important, cannot be held to be of a period separated from all the rest by several millenia.

—वही, पृ० १०१

संक्रमण की स्थितियाँ इतनी स्पष्टता मे प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं और न उन्हें इतनी सरलता से पँचमढ़ी के संदर्भ से जोड़ा ही जा सकता है। कारणों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

होशंगाबाद के 'जिराफ-ग्रुप' के विषय में भी उनका अनिश्चय पर्याप्त रोचक प्रतीत होता है। एक ओर तो वे उसे लम्बग्रीव साँभर हिरनी मानते हैं क्योंकि उसका पीछा करने वाले सवार का घोड़ा भी लम्बी गरदन का बनाया गया है जिससे प्रेरित होकर चित्रकार ने उसी के साम्य से हिरनी की गरदन जिराफ जैसी बना दी पर दूसरी ओर वे उसे इतनी दूर तक वास्तविक जिराफ का चित्र मान लेते हैं, जैसा मनोहरलाल मिश्र ने सिद्ध किया है, कि ८वीं से १०वीं शती ई० के बीच के किसी शक्तिशाली शासक द्वारा उसके बाहर से मँगवाने की संभावना भी स्वीकार कर लेते हैं।[१] भारतवर्ष में जिराफ की उपस्थिति यदि वस्तुतः मान ली जाय तो उसे ईस्वी सन् के इतने बाद की शताब्दियों में लाना अनिवार्य क्यों है इस का कोई तर्कसंगत कारण उन्होंने नहीं दिया है। क्योंकि शिला-चित्रों के अश्वारोही उनकी दृष्टि में इतने ही परवर्ती हो सकते हैं, कदाचित् इसीलिए उन्होंने ऐसी अद्भुत कल्पना कर ली जिसका कोई आधार नहीं है। मेरे विचार से उनके द्वारा निर्धारित तीसरी और चौथी चित्र-श्रेणियों की काल-सीमा भी बहुत विश्वनीय अथवा अकाट्य नहीं है।

पिगॉट तथा अन्य विदेशियों के मत

स्टुअर्ट पिगॉट की पुस्तक 'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया' गॉर्डन के लेखों और ग्रंथ के अन्तराल में, पहली बार १९५० में, प्रकाशित हुई। फिर उसके अनेक संस्करण हुए। उस समय गॉर्डन के मत का प्रभाव सब पर छाया हुआ था और कोई नयी सामग्री भी ऐसी सामने नहीं आयी थी जिससे स्वतः उसका खंडन हो जाता अतः जैसा स्वाभाविक था, पिगॉट ने पूरी तरह गॉर्डन का समर्थन किया। भारतीय पाषाण-काल का परिचय देते हुए उन्होंने चलताऊ ढंग से कुछ पंक्तियाँ शिला-चित्रों के बारे में भी कह दीं। उनके अनुसार किसी प्राचीन प्रस्तर-युगीन प्रमाण का उनमें अभाव तो है ही साथ ही गॉर्डन के मतानुरूप निष्कर्षात्मक साक्ष्य ऐसा मिलता है कि ५वीं शती ई० पू० से पहले किसी चित्र को नहीं रख सकते। उनकी तुलना फ्राँस और स्पेन की अति प्राचीन चित्र-श्रेणियों से की गयी है

१. It has without doubt the general appearance of giraffe... It would have been an animal imported by some powerful ruler during the 8th to 10th centuries A. D.

—वही, पृ० ११०

परन्तु उतनी पुरातन पाषाण-कालीन मानव संस्कृति भारत में अब भी खोज का विषय है।[1]

पर लायोंहार्ट आडम द्वारा उनकी 'आदिम कला' विषयक पुस्तक के सन् १९५४ के संस्करण में जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनसे अप्रत्यक्ष रीति से गॉर्डन के लेखों में व्यक्त मत का खंडन हो जाता है। उन्होंने भारतीय शिला-चित्रों के काल-निर्णय के प्रश्न को गॉर्डन के निष्कर्षों के प्रकाशन के बाद भी 'समाधान रहित समस्या' नाम दिया है। आडम के अनुसार आदमगढ़ के चित्रों से स्पेन के 'अपर पैलियोलिथिक' भित्ति-चित्रों का तीव्र स्मरण आता है परन्तु इसे उनकी वैसी प्राचीनता का प्रमाण नहीं माना जा सकता है।[2] गॉर्डन ने तो अपनी ओर से सारी समस्या सुलझाकर एक प्रकार का वर्गीकरण कर ही दिया था पर लगता है आडम को उससे संतोष नहीं हुआ। यद्यपि शिला-चित्रों के जिन शोधकों का नाम उन्होंने लिया है उनमें गॉर्डन का नाम नहीं है तथापि यह नहीं माना जा सकता कि वे उनके मत से अपरिचित थे क्योंकि चित्रांकित अस्त्रों आदि का जो साम्य परवर्ती मूर्तियों में उत्कीर्ण अस्त्रों से गॉर्डन द्वारा लक्षित किया गया उसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख करते हुए उनके मत का विरोध किया है।[3] आडम की दृष्टि गॉर्डन से अधिक संतुलित है।

भारतीय विद्वानों का मत

पंचानन मित्र कदाचित् पहले भारतीय पुरातत्वज्ञ हैं जिन्होंने, कॉकबर्न तथा ऐण्डर्सन आदि प्रारंभिक विदेशी शोधकों की धारणा से परिचित होकर, यहाँ के शिला-चित्रों के विषय में, उनसे कुछ असहमत होते हुए, निजी मत व्यक्त किया। उनके लेखों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि चित्र प्राचीन प्रस्तर-युग के उत्तर काल से ही सम्बद्ध हो

---

१. प्रि० इं०, पृ० ३५, १९५२ का संस्करण।

२. On the other hand, although some of the earliest rock-paintings (at Adam Garh) are strongly reminiscent of the upper palaeolithic wall pictures of Spain, this cannot be taken as a proof that they are of equal antiquity. The fact is that the chronological classification of the Indian rock paintings is still an unsolved problem.

— प्रिमिटिव आर्ट, पृ० ११७

३. The details of primitive inplements and garments, etc., depicted in some of the wall paintings in Central India bear a close resemblance to similar objects in stone sculptures of comparatively recent date. But this does not necessarily mean that the paintings belong to the same beriod as the sculptures.

—वही—

सकते हैं न कि ऐतिहासिक युग के मध्यकाल से, जैसा माना गया है। उनके अनुसार यह चित्र भारत में विंध्याचल गुफाओं के पास स्थित और बाँदा क्षेत्र में पायी जाने वाली उत्तर मैग्डालीनियन और एज़ीलियन तथा कैप्सियन संस्कृतियों पर अवश्य वहुत प्रकाश डालेंगे क्योंकि उक्त क्षेत्र मान्य एज़ीलियन निवास-स्थान हैं।[१] मित्र महोदय को ऐण्डर्सन ने अपने द्वारा खोजे गये रीवां के आस-पास से प्राप्त हुए अनेक पाषाण-अस्त्र दिखाये जिनके एज़ीलियन युग से सम्बद्ध होने की सम्भावना थी। फलतः आखेट-दृश्यों को मित्र ने ऐसे एज़ीलियन आखेटकों की कृति माना जिन्हें काँटेदार भाले बनाना ज्ञात था। उन्होंने अनेक अस्त्रों के नाम गिनाते हुए गुफाओं को प्रागैतिहासिक उपकरणों के संग्रहालयों (Museums) की उपाधि दी।[२] गैंडे के आखेट वाले दृश्यों को विशेष महत्ता देते हुए उन्होंने कॉकवर्न के इस मत का समर्थन नहीं किया है कि वे पाषाण युग के होते हुए भी वहुत बाद के हैं।[३] लाइडेक्कर (Lydekkar) के साथ कैटेलॉग का संदर्भ देकर उनके द्वारा यह मत व्यक्त किया गया कि प्लीस्टोसीन और प्रागैतिहासिक भारत में उन क्षेत्रों में गैंडा पाया जाता था जो बाद में निःशेष हो गया। यह शिला-चित्र उस समय के हैं जब वह पाया जाता था।[४] चित्रों के अन्य पक्षों पर लेखक ने उनके रचना-काल को इतना ही प्राचीन मान कर प्रकाश डाला है। लेखक ने योरोपीय काल-विभाजन से सम्बद्ध शब्दों को भारतीय संदर्भ में निस्संकोच प्रयुक्त किया है जिससे लगता है कि वह उनकी भौगोलिक स्थितियों के अन्तर की उपेक्षा कर रहा है। मैं समझता हूँ कि यहाँ के संदर्भ में एज़ीलियन आदि शब्दों की काल-सीमा योरोप से सर्वथा एक नहीं होगी क्योंकि दोनों में आधारगत भेद है।

श्रीनिवास-आयंगर ने भी भारत में पाषाण-युग की स्थिति पर विचार करते हुए योरोपीय काल-विभाजन को दृष्टि में रक्खा है। कला के प्रसंग में उन्होंने जो कुछ लिखा है

---

१. From what can be gathered from the descriptions in the papers we can come to the conclusion that they belong to the late Paleolithic times and not medieval historical times as the writer was led to grope into. There are bound to shed much light on the late Magdalenian and Azilian and Capsian Cultures in India for the Vindhyan hills and Banda (which is near these caves) are recognised Azilian Stations.

—प्रिहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० १५१

२. वही, पृ० १५२
३. वही, पृ० १५३
४. वही, पृ० १५४

उसमें योरोपीय संदर्भ ही प्रमुख है। वैसे चित्र भारतवासियों द्वारा भी बनाए गए होंगे यह कथन पूर्व-प्रकाशित चित्रों की शोध के प्रति अज्ञान का सूचक लगता है पर आगे जे० सी० ब्रॉउन के मत को उद्धृत करके यह व्यक्त कर दिया गया है कि वे स्वयं कदाचित् उनको नव पाषाण-काल की कृति मानने के पक्ष में थे। रायगढ़ और मिर्ज़ापुर के चित्रों के अस्तित्व से भी वे अपरिचित नहीं थे।[1] आयंगर ने वैदिक युग को नव पाषाण-काल का परवर्ती बताया है और कपगल्लु से प्राप्त प्रमाणों के विशेष संदर्भ में उसकी इयत्ता २०००० ई० पू० से ५००० ई० पू० तक मानी है।[2] परन्तु गॉर्डन ने रायचूर-क्षेत्र के चित्रों के सादृश्य से कपगल्लु के कर्षण-चित्रों का समय १००० ई० पू० से अधिक स्वीकार नहीं किया है।[3] दोनों की धारणाएँ कितनी भिन्न हैं, यही द्रष्टव्य है। आयंगर का मत पुराना पड़ गया है पर गॉर्डन की धारणा भी अब नयी नहीं रह गयी है।

अमरनाथ दत्त के विचारों की चर्चा सामान्य रीति से गॉर्डन के मत की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए की जा चुकी है परन्तु जितने अध्यवसाय और आत्मविश्वास के साथ उन्होंने प्राथमिक अन्वेषण-कार्य को अग्रसर किया उसे देखते हुए उनके मत को अधिक निकट से देखने की आवश्यकता है। उनकी कल्पनाशीलता के निराकरण में ऐसे वास्तविक तथ्यों की, जो पहली बार उन्हीं के माध्यम से प्रस्तुत किये गये, उपेक्षा करना उचित नहीं है। ऐसे तथ्यों में ब्रूस फूट के उद्धरण द्वारा उभार कर सामने रखी गयी धनुष-बाण के अभाव की समस्या है। सिंघनपुर के चित्रों में आखेट अस्त्र के रूप में धनुष-बाण का अंकन हुआ ही नहीं है।[4] ब्रूस फूट के अनुसार भारतीय प्राचीन और नवीन पाषाण-युगों के बीच अगणित शताब्दियों का एक बड़ा व्यवधान रहा है। दत्त ने हचिन्सन की पुस्तक 'प्रिहिस्टॉरिक मैन ऐण्ड दि बीस्ट' का प्रमाण देकर उसमें व्यक्त किये गये इस संदेह की चर्चा की है कि संभवतः प्राचीन पाषाण-काल में मनुष्य धनुष से परिचित ही नहीं थे। स्वयं दत्त महोदय ने अपनी

---

१. दी स्टोन एज इन इण्डिया, पृ० २४ तथा ४०

२. Considering the extreme slowness of human advancement in the lithic times 20000 B.C. to 5000 B.C. cannot be a very wrong estimate of the date of New Stone Age.

—वही, पृ० ५४

३. प्रि० बैं० इं० क०, प० ११४

४. Even the bow and the arrow are conspicuous by their absence as weapons in the hands of the hunters.

—प्रि० रे० रा० सिं०, पृ०४

ओर से सिंघनपुर के चित्रों को अतिशय रहस्यमयता और प्राचीनता से युक्त बताते हुए उन्हें आदिम और प्रागैतिहासिक कहा है तथा उनका निर्माण कितनी शताब्दियों पूर्व हुआ होगा, इसे ईश्वर के ज्ञान पर छोड़ दिया है।[४] अधिकतर उन्होंने दूसरों के मतों का सहारा लेकर ही अपनी धारणा व्यक्त की है। मर्मेड से सादृश्य, कपि-मानव की आकृति की खोज, ग्लिप्टोडन की कल्पना आदि से ही उनका मत अविश्वसनीय लगने लगता है।

प्लेट नं० III पर जो अनुमानित काल ब्रिटिश म्यूज़ियम के तत्कालीन विशेषज्ञों द्वारा उन्होंने सिंघनपुर के रेखा-प्रतीकों के विषय में प्राप्त किया है वह ३५०० वर्ष तक जाता है क्योंकि उसका निर्धारण सुमेरी प्रतीक-चिन्हों की तुलना के आधार पर किया गया है।

मनोरंजन घोष ने दत्त की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और विवेकपूर्ण कार्य किया है अतः इस विषय में उनके विचार कुछ अधिक महत्त्व रखते हैं। अपने मोनोग्राफ के दूसरे अध्याय में चक्रधरपुर के समीपवर्ती भाग से प्राप्त एवं कैप्टेन बीचिंग्स (Captain Beechings) द्वारा १८६८ ई० में संकलित सामग्री को उन्होंने दो भागों में बाँटा है। एक में प्राचीन और नवीन पाषाण-काल की सामग्री है तथा दूसरे में लौह-युग की। इनकी तिथि के विषय में लेखक कोई निश्चित धारणा नहीं बना सका। जो तीन निष्कर्ष उसने निकाले उनमें से अन्तिम असुर जाति से सम्बद्ध है। लेखक ने शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित असुरों को इस क्षेत्र की असुर जाति से एक कर दिया है। आर्यों का समाधि-स्थल वर्गाकार होता है जब कि असुरों का गोलाकार। इस विभेद का समर्थन शतपथ और इस क्षेत्र के अवशेष, दोनों से ही होता है। इस अध्याय की ३८ वस्तुओं में चित्रों का कोई भी उल्लेख नहीं हुआ है। अध्याय तीन, जो सिंघनपुर के चित्रों से सम्बद्ध है, के अंत में, गुफाओं के भीतर से तथा पहाड़ी के निचले भाग से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री का परिचय देते हुए, वहाँ के चित्रों का काल-निर्देश भी किया गया है। २५ पाषाणास्त्र प्राचीन प्रस्तर-युग के हैं तथा ४ परवर्ती काल के भी मिले हैं। इनके अतिरिक्त २ पात्र-खंड तथा ३ अन्य प्रस्तर निर्मित वस्तुएँ भी उल्लिखित हैं। चित्रों के काल पर योरोपीय चित्रों की सापेक्षिता में विचार किया गया है। घोष के अनुसार वहाँ के चित्रों के रचना-काल का निर्णय कभी चित्रित पशुओं के संदर्भ से, कभी चित्रमय गुफाओं से उपलब्ध पाषाणास्त्रों की प्रकृति से तथा कभी उनके साथ पाये जाने वाले अश्मीभूत पदार्थों से किया जाता है परन्तु यहाँ भारत में उनकी सूचना के अनुसार गुफाओं में कोई चित्र मिले ही नहीं हैं, सब शिलाश्रयों में मिले हैं जहाँ के तल में गहरा जमाव हो ही नहीं पाता। घोष की इस बात का प्रतिवाद प्रारंभ में क्षेत्र-

४. वही, पृ० १-३

परिचय के अन्तर्गत किया जा चुका है अतः इसी बात पर आधारित निष्कर्ष कोई महत्ता नहीं रखता। सिंघनपुर में उन्हें २ फुट से अधिक का जमाव शिलाश्रय-तल में नहीं मिला जिसके कारण स्तरों की स्थिति से सम्बद्ध कोई साक्ष्य पाना वहाँ संभव ही नहीं हुआ।

सिंघनपुर के सभी चित्र घोष के अनुसार किसी एक युग की रचना नहीं हैं। जो चित्र अधिक प्राचीन हैं वे ऊँचाई पर बने हैं और जो परवर्ती हैं वे निचले भाग में हैं। पूर्ववर्ती चित्र या तो पशुओं के हैं या उनके आखेट के और वे संभवतः प्राचीन प्रस्तर-युग से सम्बद्ध हैं। बाद वाले चित्र ९वीं या १०वीं शती ई० के हैं।[१]

योरोपीय पाषाणास्त्रों से तुलना करने पर शिलाश्रय के भीतर से प्राप्त तीन अस्त्र प्रारंभिक रूप के प्रतीत होते हैं पर योरोप और भारत की पाषाण-कालीन संस्कृतियाँ एक ही युग से सम्बद्ध हैं इसका कोई निश्चय नहीं है। हैकेट और वाइने द्वारा अन्यत्र से प्राप्त सामग्री के आधार पर ब्लैन्फोर्ड कुछ पाषाणास्त्रों को योरोप के वैसे ही अस्त्रों से पूर्व काल का मानते हैं।[२] उनके इस कथन से यह सिद्ध है कि वे पाषाणास्त्रों और चित्रों में सम्बन्ध स्वीकार करते हुए दोनों की रचना का श्रेय एक ही मानव-समूह को देने के पक्ष में हैं, जो सहस्रों वर्ष पूर्व कभी वहाँ रहता रहा होगा। योरोपीय और भारतीय पाषाण-कालों की सापेक्षिक स्थिति में, भौगोलिक कारणों से, कुछ अन्तर मानना ही होगा पर इधर ऐसे बहुत से प्रमाण मिल चुके हैं जिनके आधार पर भारतवर्ष में मानव-अस्तित्व की, सहस्राब्दियों से भी अधिक की प्राचीनता प्रायः असंदिग्ध मानी जाने लगी है। गॉर्डन सिंघनपुर के समस्त चित्रों को नवीन प्रस्तर-युग से सम्बद्ध करते हैं जबकि पूर्वोक्त सभी भारतीय विद्वान् उन्हें प्राचीन प्रस्तर युग का मानते हैं और मुझे उनका मत ही उपयुक्त

---

१. The rock-paintings noticed above are not of one age. The earlier paintings are those which were found at a higher level. The later paintings are either of animals or hunting of animals and they, probably, belong to late palaeolithic period. The later paintings are of 9th or 10th Century A.D.

—मेम्वायर्स ऑफ दि आरकियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, नं० २४, पृ० १४

१. Compared with the palaeoliths of Europe the three implements found in the shelter appear to be of early form, but it is by no means certain that palaeolithic culture in India is of the same age as in Europe. Indeed, the study of Heckett's Bhutra boucher and Wynnes's agate chip has led Mr. Blanford to assign these Indian implements to an earlier date than their European counterparts.

—वही

दिखायी देता है। किन्तु जिन चित्रों को घोष ने ९वीं–१०वीं शती का कहा है, वे मुझे उतने परवर्ती प्रतीत नहीं होते क्योंकि यह काल तो शिला-चित्रों की उत्तर सीमा घोषित करता है जिस तक हुआ विकास यहाँ मिलता ही नहीं है।

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के चित्रों का जो काल-निर्देश घोष ने किया है वह भी पुनर्विचारणीय है क्योंकि कॉकवर्न आदि के द्वारा देखी हुई सोन नदी के तट वाली लिखनिया उन्होंने देखी ही नहीं थी जिसमें प्राचीनतर चित्र अंकित मिलते हैं। मोनोग्राफ में अहरौरा और विजयगढ़ की ओर वाले चित्रों की ही चर्चा हुई है अतः घोष की यह धारणा कि वहाँ के चित्र ४थी से १०वीं शती ई० के बीच के हैं केवल आंशिक रूप से ही सत्य कही जा सकती है।[१] मिर्ज़ापुर में सर्वत्र शिलालेख नहीं मिलते जिनकी समकालीनता का लाभ चित्रों को प्रदान किया जाय। मिर्ज़ापुर-क्षेत्र से अब ऐसे अनेक प्रमाण मिल चुके हैं जिनसे यहाँ के अनेक स्थानों के चित्र घोष द्वारा प्रस्तुत चित्रों से कहीं अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं। घोष ने सब को ऐतिहासिक युग के भीतर ले लिया है जब कि बहुत से चित्र धातु-युग से पूर्व के प्रागैतिहासिक वातावरण को व्यक्त करते हैं और उसी के प्रतीत होते हैं।

होशंगाबाद के चित्रों के विषय में भी घोष का मत मुझे अमान्य लगता है क्योंकि उन्होंने स्तरों के विकास-क्रम को पूरी तरह दृष्टि में रक्खे बिना ही सब को एक साथ ९वीं या १०वीं शती ई० का कह डाला है।[२] इस मत का विरोध डी' एन्यू ने नागपुर म्यूज़ियम के बुलेटिन में किया है। आदमगढ़ की खुदाई के परिणाम सामने आने पर वहाँ के चित्रों की कलागत स्थिति अधिक स्पष्ट होगी। डॉ० संकालिया ने जिन स्थानों के लघु-पाषाणास्त्रों को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है उनमें आदमगढ़ भी है। उनकी धारणा है कि वर्षों में निश्चित समय बताना तो कठिन है परन्तु उसे १०,००० से लेकर ४००० ई० पू० के बीच माना जा सकता है।[३] यह असंभव है कि इन अस्त्रों से और चित्रों से कोई सम्बन्ध

---

१. The paintings described above are all of late date ranging from the 4th century A. D. to the 10th A.D. They are contemporary with the inscriptions found in the locality.
—वही पृ० २०

२. The paintings described above belong to 9th or 10th Century A.D.
—वही पृ० २१

३. This review shows that a few areas in India the microliths claim a fairly good (geological) antiquity This is Tinnevelly or at Birbhanpur or even at Langhnaj and Adamgarh might mean the latest Pleistocene times or the beginning of Holocene. The exact age in years is difficult to guess, but may be placed between 10,000—4000 B.C.
—प्रि० प्रो० इं० पा०, पृ० १५१

ही न रहा हो क्यों कि ऐसा सम्बन्ध विशेषज्ञों द्वारा प्रायः सर्वत्र विचारणीय और संभाव्य माना गया है तथा बहुधा वह प्रामाणिक सिद्ध भी हुआ है अतः मेरे विचार से आदमगढ़ के पूर्ववर्ती स्तरों से कुछ चित्र इस काल-सीमा में अवश्य आ जाने चाहिए। ऐसी स्थिति में घोष का मत मुझे अवास्तविक ही प्रतीत होता है। लगता है उन पर गॉर्डन का मत छाया हुआ है।

मनोहरलाल मिश्र ने भी अपने लेख में होशंगाबाद के शिला-चित्रों के रचना-काल की समस्या को उठाया है। उन्होंने अपना मत देने से पहले डी' एब्रू (D' Abreau) के इस मत का उल्लेख किया है कि वहाँ के चित्र स्पष्टतः दो ऐसे वर्गों में बाँटे जा सकते हैं जिनमें परस्पर हज़ारों वर्षों का व्यवधान है। पहला वर्ग जिसमें एकवर्णी या वाह्य-रेखा से बनी आकृतियाँ आती हैं, प्राचीन प्रस्तर युग से सम्बन्ध रखता है जबकि दूसरा वर्ग शिरोभूषा तथा अन्य विशेषताओं के कारण ९वीं या १०वीं शती ई० का लगता है। इसके अनन्तर गॉर्डन द्वारा अपने पूर्ववर्ती शोधकों के प्रति, चित्रों को अधिक प्राचीन मानने अथवा वैमत्य के कारण, लगाये गये निराधार आरोपों का प्रतिवाद किया गया है।[1] इस साहसपूर्ण कार्य के लिए लेखक की सराहना की जानी चाहिए क्योंकि बहुत-से विद्वान् भी दास-वृत्ति के कारण विदेशी इतिहासकारों के पूर्वाग्रहपूर्ण मतों को शिरोधार्य करते दिखायी देते हैं। प्रश्न वास्तव में देशी-विदेशी का न होकर तथ्य और सत्य के अन्वेषण का है जिसके लिए तटस्थता और निर्वैयक्तिकता अनिवार्य होती है। कोई भी ज्ञान आत्मदान के बिना संभव नहीं है। आत्मदान भी एक सीमा तक आत्म-विलयन की अपेक्षा रखता है। मिश्र ने गॉर्डन पर प्रत्यारोप भी लगाया है कि जो कुछ उन्होंने आरोपित किया है वह वस्तुतः उनके अपने मानस का प्रतिबिम्ब है और उन्हें ऐसे विचारों की जवाबदेही करनी होगी जो एक देश को पुरातनता का श्रेय पाने ही नहीं देना चाहते हैं। जैसे आत्मपरक धारणाएँ, पूर्वाग्रह एवं पक्षपात अनुचित हैं वैसे ही बिना वैज्ञानिक तर्कों के दूसरों के कार्य की अवज्ञा करना भी।

स्वयं मनोहरलाल ने दो के स्थान पर तीन कालों से चित्रों को सम्बद्ध करना उचित समझा है और वे हैं—उच्च प्राचीन प्रस्तर-युग, नवीन प्रस्तर-युग तथा इतिहास-युग। अपनी ओर से उन्होंने केवल नव पाषाण-काल या नवीन प्रस्तर युग को ही बीच में समाविष्ट

---

१. Major Gordon...has made baseless accusitions against some of the previous workers who have assigned an earlier date to such paintings and with whom, naturally his views have not concurred.

जर्नल ऑफ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वॉ० ६, पृ० २७

लिया है अन्यथा उनकी विचारधारा डी' एग्र्यू से सबसे अधिक मिलती है। इस के पीछे जो निर्धारक तत्व निहित हैं वे हैं--चित्रों में प्राप्त शैली-भेद, वर्णभेद, अस्त्रों की आकृतियों एवं शिरोभूषाओं की भिन्नता, चित्रों का एक पर एक आक्षिप्त स्तर-क्रम और अन्त में इन शिलाश्रयों में पाये जाने वाले प्राचीन पाषाणास्त्र जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि यह शिलाश्रय समय-समय पर मानव-निवास के केन्द्र बनते रहे हैं।[1] मिश्र ने पूर्व सीमा का ही विस्तार किया है परन्तु उत्तर सीमा १०वीं शती के लगभग ही मानी है। मुझे इसमें भी कुछ संदेह लगता है जैसा पहले भी कहा जा चुका है।

दक्षिण के पुरातत्वज्ञ वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार का मत भी गार्डन के मत से भिन्नता रखता है किन्तु उन्होंने चित्रों को मनोहरलाल की तरह नव पाषाणकाल तथा उसके बाद के धातु-युग से भी सम्बद्ध न मानकर प्राचीन पाषाणकाल से ही सम्बद्ध माना है और उसी संदर्भ में 'प्रिहिस्टॉरिक साउथ इंडिया' नामक अपनी पुस्तक में उनका परिचय दिया है। शैली आदि की दृष्टि से बहुत श्रेष्ठ न मानते हुए भी लेखक ने उनकी तुलना एक ओर मिश्र देश के पात्रों पर अंकित आकृतियों से की है और दूसरी ओर कुछ चित्रों के तूली-कर्म को स्पेन के गुफा-चित्रों के रचना-विधान से तुलनीय बताया है।[2] दीक्षितार की दृष्टि में योरोपीय चित्रों के अतिरिक्त विशेषकर सिंघनपुर के चित्र ही भारतीय पुरातन कला के प्रतिनिधि रूप में थे। यद्यपि आदमगढ़ तथा मिर्ज़ापुर के चित्र भी प्रकाश में आ ही चुके थे पर उन्होंने उनका उल्लेख नहीं किया है। कदाचित् इसीलिए उनका प्रस्तुतीकरण और निष्कर्ष एकांगी प्रतीत होता है। उससे केवल प्राचीनता का पक्ष ही सामने आता है, परम्परा पीछे छूट जाती है। ब्रूस फूट के मत के प्रतिवाद में दीक्षितार ने सिंघनपुर की कला को प्राचीन प्रस्तर-युगीन कहा है।

भारतीय प्राचीन इतिहास में रुचि रखनेवाले डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने भी दो-तीन स्थानों पर योरोपीय चित्रों की समकक्षता में भारतीय चित्रों को प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है परन्तु उससे ऐसा नहीं लगता कि लेखक ने स्वयं इस दिशा में कोई गंभीर

---

१. Thus the difference in style of drawings, differences in the colours used, the varying natue of weapons, the head-gears of men, the superposition of one set over the other and lastly the presence of palaeoliths in these rock-shelters—all these—prove beyond doubt that these rock-shelters were resorted to by men at different periods, ranging from the Upper Palaeolithic to about 10ht century after Christ and more probably at three different periods, the Upper Palaeolithic, the Neolithic and the Historic. —वही, पृ० ९८

२. —पृ० ५६-६८

अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है। उपाध्याय-जी के अनुसार—"स्पेन की अल्तामाइरा दक्षिणी फ्रांस और मिर्ज़ापुर की गुफाओं की चित्रित दीवारें तो आज से प्रायः २५ हज़ार वर्ष पहले की हैं। उनका समय ई० पू० १० हज़ार से ३० हज़ार वर्षों के बीच कहीं भी रक्खा जा सकता है। और यह काल-गणना मात्र उस नवपाषाणकालीन मानव की है जिसके बहुत पूर्व ही पाषाणकालीन मानव आखेट के लिए हरबे-हथियारों की मूठ अपने अवकाश के समय जानी-अनजानी आकृतियों से सजाने लगा था।"[1] इस उद्धरण का अन्तिम वाक्य, जहाँ तक मैं समझता हूँ, मिर्ज़ापुर से सम्बन्धित न होकर केवल योरोपीय स्थानों से सम्बन्ध रखता है क्योंकि हथियारों की मूठों तथा अस्थियों आदि के ऊपर आकृतियाँ रचने के पुरातन प्रमाण वहीं से मिले हैं। एक दूसरी जगह पुनः ऐसा ही सादृश्य दिखाते हुए उन्होंने योरोपीय और भारतीय समस्त शिला-चित्रों को 'बर्बर मानव की भाव-चेतनाएँ' व्यक्त करनेवाला कहा है जिसमें 'भय, पूजा और उल्लास' मुख्य हैं।[2] इधर योरोपीय विद्वान् इसी बात पर संदेह प्रकट करने लगे हैं कि कैसे ऐसी उत्कृष्ट कलाकृतियों के सर्जक मानवों को 'आदिम' कहा जाय, पर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय को उन्हें 'बर्बर' कहने में किंचित् भी संकोच नहीं हुआ। अन्यत्र उन्होंने उन चित्र-कर्मियों के लिए 'आदि मानव' शब्द का प्रयोग किया है और उसके 'समाज' में 'हज़ारों वर्ष' से चली आ रही कला को, योरोप से भारत तक व्याप्त बताया है।"[3] समग्र रूप से कहा जा सकता है कि भगवतशरण उपाध्याय योरोपीय और भारतीय शिला-चित्रों के बीच मूल प्रेरणा और रचनाकाल दोनों दृष्टियों से कोई विभेद करना उपयुक्त नहीं समझते हैं; परन्तु पूर्वोक्त दोनों विद्वानों के विपरीत वे उस काल को मात्र नवपाषाणकाल के मानव से सम्बद्ध करते हैं। यह एक विचित्र स्थिति है कि जिसे आदि मानव की रचना कहा जा रहा है उसे प्राचीन पाषाणकाल से सम्बद्ध न करके नवपाषाणकालीन कहा गया है। स्वयं योरोप के विचारक वहाँ के चित्रों को प्राचीन पाषाणकाल से सम्बद्ध न करते हों ऐसी बात नहीं है, वरन् उनका तो आग्रह है कि योरोप ही चित्रकला का जनक है और उतने पुराने चित्र और कहीं नहीं हैं। उपाध्याय जी ने योरोप को तो प्राचीन पाषाणकालीन कला के गौरव से वंचित किया ही, साथ-साथ भारत को भी उस अधिकार से हीन कर दिया। किमाश्चर्यमतः परम् !

प्रसिद्ध चित्रकार असितकुमार हालदार ने चक्रधरपुर के समीपवर्ती क्षेत्र से उपलब्ध

---

१. सम्मेलन पत्रिका, कला अंक, 'विश्व-कला की मंज़िलें' नामक लेख, पृ० ३३

२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, चतुर्थ खण्ड, तृतीय अध्याय, पृ० ६२५

३. भारती, अप्रैल, १९६१ में प्रकाशित लेख 'आदि मानव की खोजें', पृ० ११६

प्रागैतिहासिक सामग्री को ३०,००० वर्ष के लगभग पुराना मानने वाले इतिहासकारों की ओर संकेत किया है।[१] इसी के ठीक बाद सुवर्णरेखा नदी के तट में शिलांकित चित्रों का उल्लेख किया है जिनमें सहस्राब्दियों पूर्व भारत में आयी हुई 'प्रोटो-आस्ट्रेलियन' जाति का जीवन अंकित है।[२]

कलाकार लेखक ने यह निर्देश नहीं किया है कि उसने अपनी पुस्तक में संकेतित इतिहासकारों एवं नृतत्त्वशास्त्रियों के मत कहाँ से ग्रहण किये हैं और न कोई उद्धरण ही दिया है जिसके आधार पर विचार किया जा सके। ऐसी दशा में उसके द्वारा मिर्जापुर के चित्रों के विषय में कहा हुआ वाक्य ही निष्कर्ष रूप में समग्र दृष्टिकोण का परिचायक माना जा सकता है जिसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर १०वीं शती ई० तक के पूरे काल-विस्तार को अपने में समेट लिया गया है।[३] इस मत में काल-निर्धारण की कोई मौलिक चेष्टा नहीं है।

डॉ० बी० बी० लाल तथा अन्य पुरातत्त्वज्ञों की धारणाएँ

इसके विपरीत डॉ० बी० बी० लाल ने स्वातन्त्र्योत्तर पुरातत्त्व की उपलब्धियों एवं विकास का परिचय देते हुए भारतीय शिला-चित्रों के काल-निर्धारण का जो सुझाव, समस्या की जटिलता को समझकर दिया है वह कहीं अधिक उपादेय प्रतीत होता है। यों भी उनके जैसे अधिकारी विद्वान् की धारणा इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। काल-निर्णय की नयी विधियों का परिचय देते हुए प्रस्तुत विवेचन के आरम्भ में ही उनकी विचारधारा का कुछ संकेत किया जा चुका है। डॉ० लाल का कहना है कि मध्य भारत में प्राप्त होने वाले शिला-चित्र बहुत समय से काल-क्रम निर्धारण के विशेष संदर्भ में, अत्यन्त विवादास्पद रहे हैं। कुछ को वे पश्चिमी योरोप के प्राचीन प्रस्तरयुगीन चित्रों जैसे पुरातन लगे, पर कुछ अन्य को वे किसी एक काल-खंड से सम्बद्ध नहीं दिखायी दिये। वास्तव में कुछ गुफाओं में छः चित्रण-स्तर तक लक्षित किये जा सकते हैं। इन चित्रों का

१. द्रष्टव्य इसी ग्रंथ के पृ० ४८ का फुटनोट।

२. 'Anthropologists think that they represent a proto-Australian stock which came to India many millenniums ago. There are also some traces of their early settlement to indicate this.

—आ० हे० आ०, पृ० १६

३. They generally range from the pre-historic dates to those of the 10th century.

—वही, पृ० १७

व्यवस्थित अध्ययन एक बड़ी आवश्यकता के रूप में सामने आ रहा है और यह हर्ष का विषय है कि उसमें प्रगति हो रही है। इसी के साथ गुफा-तलों का उत्खनन-कार्य भी इस आशा में सम्पन्न किया जा रहा है कि उससे तलवर्ती जमाव में कोई ऐसा सूत्र मिल जाए जिससे किसी चित्र के सांस्कृतिक क्षितिज की सूचना मिल सके, यथा—चित्रकार द्वारा प्रयुक्त कोई चित्रण-सामग्री अथवा चित्रित सतह का कोई उखड़ा हुआ हिस्सा। ऐसे सूत्रों की खोज के क्रम में अनेकानेक नयी चित्रमय गुफाएँ प्रकाश में आयी हैं, जैसे मध्य प्रदेश में चीवरनाला।[1]

उक्त कथन से कुछ बातें तो परिचित हैं, पर कुछ पहली बार प्रस्तुत की गयी हैं। डॉ० लाल ताम्रास्त्रों के विशेषज्ञ हैं और उन्होंने मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के गैंडे के आखेट-दृश्य में अंकित अस्त्रों का रूप-साम्य ताँबे के बने काँटेदार भालों या हार्पूनों से लक्षित करते हुए निष्कर्ष निकाला कि इन भारतीय ताम्रास्त्रों के निर्माता एक ऐसी जाति के लोग थे जो आर्यों के आगमन से पूर्व ही गंगा-घाटी में बसी हुई थी और वे लोग संभवतः 'प्रोटो आस्ट्रेलायड' थे। उनका यह अभिमत उनके अपने लेखों में तो प्रकट हुआ ही है परन्तु मैंने उसको डॉ० वाई० डी० शर्मा द्वारा लिखित पुरातात्त्विक अवशेष-विषयक लेख में भी समाविष्ट पाया।[2]

सागर-विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष श्री कृष्ण-दत्त वाजपेयी ने 'आवचंद के गह्वर-चित्र' नामक अपने लेख में गॉर्डन के मत से असहमति प्रकट करते हुए उनके द्वारा निर्धारित ७०० ई० पू० से १०वीं शती ई० तक के समय के

---

१. The paintings occurring in the rock-shelters of India have in the past been a matter of great controversy in so far as *their chronological horizon* was concerned. To some they were as old as the Palaeolithic paintings of Western Europe, while to others they were not of a single period, in fact, in certain cases as many as six strata can be made out. A systematic study of these paintings is, therefore, a great desideration and the same, one is glad to note, is underway. In addition, excavations of the cave floors are also being undertaken in the hope that some clue might be found in the deposits, for example the painter's paraphernalia or a fragment of the peeled off rock-surface bearing some paintings, indicating the cultural horizon of the paintings. In this hunt have also been brought to light quite a few new caves with paintings, for example at Chibbar-nala in Madhya Pradesh.

—इण्डियन आर्कियॉलोजी सिन्स इण्डिपेंडेंस, पृ० २७

२. (i) रिप्रिन्ट, आर्कियालॉजिकल रिमेन्स मानूमेन्टस ऐण्ड म्यूज़ियम्स (१९६४)—पृ० १२
(ii) डॉ० लाल के मत के लिए द्रष्टव्य, ऐंशिएण्ट इण्डिया, नं० ९, १९५३, पृ० ८८-९६

विषय में लिखा है—"परन्तु यह समय-निर्धारण जिन आधारों पर किया गया है वे प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते।"[1] वाजपेयी जी ने स्वयं कोई विचार-सामग्री अपनी ओर से प्रस्तुत नहीं की, किन्तु उन्हें आबचंद तथा सागर-क्षेत्र के अन्य शिलाश्रयों के चित्र देखकर ऐसा लगा अवश्य कि जो वातावरण उन चित्रों में अंकित है वह गॉर्डन द्वारा निर्दिष्ट काल-सीमा से अवश्य ही पूर्व का है, क्योंकि ई० पू० ७०० तक के इतिहास के वे एक मान्य विशेषज्ञ हैं। मुझे उनसे सागर से १४ मील दूर बरौंदा नामक एक नये चित्र-स्थान की सूचना मिली है।

उड़ीसा के पुरातत्त्वज्ञ श्री परमानंद आचार्य ने सुन्दरगढ़ इलाके के चित्रों को रामगढ़ और चक्रधरपुर के चित्रों का समसामयिक माना है। सुन्दरगढ़ से उन्हें जो पाषाणास्त्र मिले हैं वे उन्हीं की शब्दावली में 'प्रत्न-प्रस्तर-युग के बाद नव्य युग' के हैं। 'नव्य युग' से उनका तात्पर्य नवीन पाषाणकाल से है।[2]

भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के उत्तरी वृत्त के निरीक्षक एस० आर० राव ने पन्ना और रीवाँ क्षेत्र के चित्र देखकर लक्षित किया कि उनका, विशेषकर एक समूह-नर्तन वाले चित्र का, साम्य ताम्र-प्रस्तरयुगीन पात्रों पर अंकित आकृतियों से है जिसका समय ई० पू० प्रथम और द्वितीय सहस्राब्दी माना जाता है।[3] लेख के साथ प्रकाशित चित्र उन्हीं नर्तित आकृतियों का है और उसके नीचे भी यही बात लिखी हुई है। इस लेख के लेखक विशन कपूर ने शीर्षक में इन चित्रों को प्रागैतिहासिक कहा है, परन्तु अंत में इन्हें आर्य-युग का बताने वाले विद्वानों के मत का भी संकेत कर दिया है।[4]

काशी-विश्वविद्यालय के पुरातत्व-विभाग के अध्यक्ष प्रो० ए० के० नारायण ने कुछ समीपवर्ती जिलों का सर्वेक्षण करने के क्रम में मिर्ज़ापुर-क्षेत्र का भी सर्वेक्षण किया। उसी बीच उन्हें अनेक प्रकार की पुरातन सामग्री प्राप्त हुई तथा एक नया चित्रमय शिलाश्रय भी ज्ञात हुआ जिसकी स्थिति सोनबरसा ग्राम से छः मील दक्षिण की ओर तथा चुनार के दक्षिण-पूर्व में लगभग नौ मील दूर जंगल-महल के पास है। प्रो० नारायण को इसके पश्चिमी भाग से 'ऑकर कलर्ड वेयर' संज्ञक कुछ पात्र-खंड भी मिले जिनसे चित्रों के रचना-काल का अनुमान किया जा सकता है। राबर्ट्सगंज में उन्हें अनेक पाषाणयुगीन स्थान सोन नदी के

१. भारती, वर्ष २, अंक २, पृ० ३ (सागर-विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका)

२. राष्ट्रभाषा, रजत–जयन्ती अंक, पृ० ३७-३८

३. 'प्रिहिस्टॉरिक केव पेण्टिंग्स' नामक लेख, लिंक, फरवरी ३, १९६३

४. वही, पृ० ३७

तट के समीप मिले जहाँ चित्रों की उपस्थिति पहले से ही ज्ञात है। एक दर्जन नये शिलाश्रय भी उपलब्ध हुए जिनमें आखेट और युद्ध के दृश्य अंकित हैं। उनका कहना है कि इनकी स्थिति कॉकार्न और मनोरंजन घोष को भी ज्ञात नहीं थी। बरेला, जो खुरैला ग्राम से लगभग डेढ़ मील पूर्व है तथा रावर्ट्सगंज से जिसकी दूरी ३५ मील के करीब है, लघु पाषाणास्त्रों के निर्माण-केन्द्र का सहवर्ती है जिससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि लघु-पाषाणास्त्रों के प्रयोक्ता लोग ही इन चित्रों के रचयिता होंगे। सौदाग-वन में, जिसकी स्थिति खुरैला से लगभग डेढ़ मील उत्तर की ओर है, उन्हें दो चित्र-समूहों का पता चला है और उनके निकट भी वैसे ही लघु पाषाणास्त्र मिलते हैं। सर्वेक्षक के अनुसार जो चित्र नवपाषाण-काल के बाद के दौर बने वे बहुत विकसित और सुगठित हैं।[1] समाचारपत्र में प्रकाशित ये सूचनाएँ वास्तव में कितनी प्रमाणिक हैं, यह कहना तभी संभव है जब या तो कोई स्वयं उनकी वैसी ही शोध करे अथवा पूरे विवरण और छायाचित्रों के साथ सर्वेक्षण की रिपोर्ट सामने आये; परन्तु सामान्य रूप में यों भी जो कुछ सूचित किया गया है वह मुझे अनुल्लेख-नीय नहीं लगा क्योंकि उससे कुछ तो ज्ञान-वृद्धि होती ही है। प्रो० नारायण को मिर्ज़ापुर क्षेत्र के चित्र नवपाषाणकाल से अधिक प्राचीन नहीं लगे और न उन्हें वैसी संभावना ही प्रतीत हुई, यह बात ध्यान देने योग्य है, विशेषत: तब जब प्राचीन पाषाणकालीन अस्त्रों की खोज उसी क्षेत्र से की जा चुकी है और आगे भी उसकी संभावनाएँ कम नहीं हैं। वहाँ जो मेगालिथ मिलते हैं उनकी ओर भी सर्वेक्षण की इस अखबारी रिपोर्ट में कोई संकेत नहीं किया गया है।

डॉ० राधाकान्त वर्मा का मत

प्रयाग-विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व-विभाग से मिर्ज़ापुर-क्षेत्र की पाषाणयुगीन

१. From the former one, some sherds of Ochre Coloured Ware have been recorded and a rock-shelter containing primitive paintings, was noticed on the eastern portion of the site.

......A dozen new rock-shelters, containing primitive paintings usually depicting hunting and fighting scenes...were also discovered.

It is believed that these paintings may roughly be assigned to two different periods, and some microlith using people were responsible for the paintings of later phases. ......The painting of later phase are much developed and well formed.

—दि लीडर, अगस्त ७, १९६२, पृ० ३

संस्कृतियों की शोध का व्यवस्थित कार्य डॉ० राधाकान्त वर्मा द्वारा विधिवत् सम्पन्न किया जा चुका है। उनके शोध-ग्रंथ में शिला-चित्रों के काल-निर्णय एवं रचना-क्रम की समस्या पर जो प्रकाश डाला गया है वह महत्त्वपूर्ण और मननीय है। उन्होंने अपने अध्ययन-क्षेत्र के सभी चित्रों को रचना और विकास-क्रम की दृष्टि से चार उपरि-स्थितिपरक कालावधियों (Four Super-position Periods) में विभाजित किया है। यह विभाजन गॉर्डन के श्रेणी-क्रम का स्मरण दिलाता है और उसी से अनुप्रेरित प्रतीत होता है। कालावधियों के निर्धारण में विकसन और अविकसन दोनों की स्थितियों का विचार किया गया है। चित्रण के सभी स्तरों को उन्होंने गॉर्डन की तरह विकास से सम्बद्ध नहीं किया है। संभव है ऐसा करने के पीछे पँचमढ़ी और मिर्ज़ापुर के क्षेत्रों की चित्रण-परम्परा को पृथक् करने वाला कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य निहित हो, क्योंकि सामान्यतया सभी आक्षेपण-स्तर किसी न किसी रूप में विकास को ही द्योतित करनेवाले माने जाते रहे हैं। डॉ० वर्मा ने उनकी क्रमात्मक स्थिति को निम्नलिखित रूप में दो प्रकार का माना है[1]—

१. समान वर्ण और शैली के, एक पर एक आक्षिप्त, चित्रण-स्तर
—(एक कालावधि)—विकास की द्योतक नहीं।

२. असमान वर्ण और शैली के, एक पर एक आक्षिप्त, चित्रण-स्तर
—(दूसरी कालावधि)—विकास की द्योतक।

उनके अनुसार केवल स्तरों के विचार से समस्त चित्रण-प्रक्रिया को कम से कम चार कालावधियों में बाँटा जा सकता है। उनकी विशेषताएँ इस प्रकार निर्दिष्ट की गयी हैं।[2] प्रथम में सशक्त और यथार्थ रूपात्मक पूरक शैली (flat wash) में बनी रक्तवर्णी पशु-आकृतियाँ आती हैं। द्वितीय, लघु आकार की शैली-बद्ध आकृतियों से सम्बद्ध हैं और उसमें विषय-वस्तु का विस्तार, शैली-भेद तथा रंग-प्रयोग की विविधता भी मिलती है। एकाकी पशु आरोहित पशुओं द्वारा स्थानान्तरित होते दिखायी देते हैं। तृतीय कालावधि में प्रतीकवाद, घनवाद तथा कुछ ज्यामितिक आकारों में निबद्ध आकल्पनों की रूप-रचना हुई जिनमें विविध प्रतीक, वृत्त, बिन्दु आदि सम्मिलित हैं। मैलापन लिये हुए श्वेत वर्ण की वे आकृतियाँ, जिनका शैली-साम्य द्वितीय कालावधि के चित्रों से लक्षित होता है चतुर्थ कालावधि में गिनी गयी हैं।

यह विभाजन मिर्ज़ापुर-क्षेत्र के अनेक नवज्ञात शिलाश्रयों एवं गुफाओं के चित्रों पर

---

१. स्टोन एज कल्चर्स ऑफ मिर्ज़ापुर, अध्याय IX, पृ० ३१७

२. वही, पृ० ३२०

व्यापक रूप से कहाँ तक लागू होता रहेगा यह नहीं कहा जा सकता परन्तु जितने स्थल शोधकर्त्ता ने निरीक्षित किये हैं उनके विषय में इसका औचित्य सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। पहली बार डॉ० राधाकान्त वर्मा द्वारा यह कार्य पूरा हुआ जिससे वहाँ के चित्रों का काल निश्चय करने में एक क्रम-बद्ध आधार सुलभ हो गया। स्वयं शोधकर्ता ने मिर्ज़ापुर के शिला चित्रों के रचना-काल की समस्या पर जो मत व्यक्त किया है वह नीचे प्रस्तुत किया जाता है। डॉ० वर्मा के अनुसार चित्रों के उद्भव की कोई निरपेक्ष तिथि (absolute date) देने का उपक्रम वर्तमान स्थिति में संभव नहीं है क्योंकि अभी तिथि निर्धारण योग्य पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकी है।[१] शिलाश्रय नं० ४ जो सहवइया के पास है और एन० एस० नं० १ जो बघईखोर के समीप है मुख्यतया इसी दृष्टि से उत्खनित किये गये कि उनमें कुछ ऐसी सामग्री मिल सकेगी जिससे इस समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। परन्तु दुर्भाग्यवश खुदाई से ऐसा कोई निर्णयात्मक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ। फिर भी उनसे प्रकारान्तर से इस क्षेत्र की बहुमुखी कलात्मक गतिविधि के समापन काल का निश्चय करने में अवश्य सहायता मिली है।[२]

इस उत्खनन से यह सत्य उद्घाटित हुआ है कि जो मनुष्य इन निभृत शिलाश्रयों में आकर बस गये थे वे पाषाणयुगीन आर्थिक दशा में भोजन संचित करने की अवस्था से सम्बद्ध थे और उनका सारा जीवन उनके आखेट की उपलब्धियों पर निर्भर था।[३] यहाँ तक डॉ० वर्मा ने जो बात कही है वह प्राचीन पाषाणकाल के मानवों पर भी लागू होती दिखायी

---

१. No absolute dating of the emergence of art of painting in this region can be attempted at present, due to paucity of the datable material.

—वही, पृ० ३२५

२. The excavations in the rock-shelter No. 4 at Sahabaia and N. S. No. I at Baghaikhor were undertaken mainly with a view that they would throw some light on this aspect but unfortunately the excavations did not yield any conclusive evidence. Still, they have indirectly helped us in establishing an end of the artistic activity in this region.

—वही

३. The excavation has revealed the fact that the people who came and settled on the bare rocks, were in the food-gathering stage of stone age economy whose entire existence depended on the results of their hunting.

—वही

देती है परन्तु आगे के वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि वे लघुपाषाणास्त्र निर्मित करते थे और उन्हीं के प्रयोग से आखेट करते थे। शिलाश्रयों में इन पाषाणास्त्रों की स्थिति और समीपवर्ती खुली निवास-भूमि से इनकी उपलब्धि का संदर्भ तथा इस उद्योग की अन्य स्थानों पर प्राप्त लघुपाषाणास्त्र-उद्योग से तुलना इस बात को व्यक्त करती है कि इसका सम्बन्ध उत्तर पाषाण-युग अथवा मध्य प्रस्तर-युगीन स्वरूप से है।

डॉ० राधाकान्त वर्मा की इस खोज से डॉ० वी० वी० लाल की यह धारणा प्रायः कट जाती है कि आखेट-दृश्यों में प्रयुक्त अस्त्र ताम्रास्त्र रहे होंगे। काँटेदार भाले पाषाणास्त्रों के प्रयोग से भी निर्मित किये जाते थे और ताम्रास्त्रों का विकास प्रारम्भ में कदाचित् उन्हीं के आदर्श पर हुआ होगा ऐसा मानना उचित लगता है। ऐसी दशा में मिर्ज़ापुर के शिलाचित्रों से यह निष्कर्ष निकालना अनुमान के क्षेत्र की ही वस्तु अधिक प्रतीत होती हैं, वास्तविकता कम।

डॉ० वर्मा का यह विचार है कि गुहावासी मनुष्य मूलतः वहीं के निवासी न होकर यायावर प्रकृति के थे और मिर्ज़ापुर क्षेत्र की गुफाओं और शिलाश्रयों में आखेट-वृत्ति के कारण कुछ समय के लिये आ बसे थे। यह तथ्य इस बात पर आधारित है कि लिखनिया, कोहबर जैसे शिलाश्रयों के भीतर कोई तलवर्ती गहरा जमाव नहीं मिला और लघुपाषाणास्त्र भी निवास-स्थलों के भीतर कम, बाहर ही अधिक मिले हैं। उन्होंने उक्त दोनों शिलाश्रयों के विषय में लिखे गये अपने एक स्वतन्त्र लेख के चित्र-निर्माणकर्ताओं को स्पष्टतः यायावर कहा है।[२] किन्तु साथ ही इतना और जोड़ दिया है कि इस तथ्य को स्वीकार करने से

---

१. They made minute implements of microliths and hunted with the aid of these implements. The context of the occurance of the microtiths in the shelters and neighbourhood in open air habitation sites and a comparison of this industry with those found at other places indicates that the microlithic industry belongs to the Late Stone Age or Mesolithic phase.

—वही, पृ० ३२५-२६

२. The rock-shelters of Likhunia and Kohbar do not seem to have been permanent habitation sites of the artists...... Both the rock-shelters have no soil and no habitation deposit was found by me. A few microliths were however, discovered at distance...... This also gives weight to the contention that the creators of these paintings were nomads and hunters and these shelters were small camp-sites.

—दि लीडर, हिल सप्लीमेन्ट, मई २८, १९६१

शिलाश्रयों का महत्त्व किसी भी दशा में कम नहीं होता।

मिर्ज़ापुर-क्षेत्र में ही लघुपाषाणास्त्रों के अतिरिक्त बड़े और अधिक पुराने पाषाणास्त्र भी मिलते हैं, अतः मेरे विचार से इस संभावना से इनकार करना कठिन है कि वहाँ के प्रथम चित्रण-स्तर से सम्बद्ध कुछ विशाल पशु-चित्र प्राचीन पाषाण-युग के भी हो सकते हैं, परन्तु राधाकान्त जी ने कदाचित् अतिशय सजगता और संयमित कथन की प्रवृत्ति के कारण ही इसे प्रकट नहीं किया।

वि० श्री० वाकणकर का मत और निष्कर्ष

डा० राधाकान्त वर्मा का शोध-कार्य केवल एक ही क्षेत्र तक सीमित था और शिलाचित्र ही मुख्य विषय नहीं थे किन्तु वाकणकर की खोज का केन्द्र प्रमुख रूप से शिला-चित्र ही हैं और उनका क्षेत्र भी सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने फ्रांस और स्पेन जाकर वहाँ के शिला-चित्रों का स्वयं अनुशीलन करके एक सजग तुलनात्मक दृष्टि का भी विकास कर लिया है अतएव उनके निष्कर्ष अनेक दृष्टियों से अधिक महत्त्व रखते हैं। वाकणकर ने अपना मत सुव्यवस्थित रूप से अपने अंगरेजी और फ्रेंच पत्रकों में व्यक्त किया है परन्तु इससे पूर्व विभिन्न पुरातात्विक टिप्पणियों तथा स्फुट लेखों के माध्यम से भी उनकी धारणाएँ प्रकाश में आती रही हैं। अभी कुछ समय पूर्व जब उन्होंने प्रयाग आकर मेरा आतिथ्य ग्रहण किया और विश्वविद्यालय में भारतीय शिला-चित्रों के विषय में ही अपना भाषण दिया तो मुझे उनसे काल-निर्णय की जटिल समस्या पर विस्तृत परामर्श करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ और हमारे बीच कई दिन तक चर्चा होती रही।

वाकणकर की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि वह चित्रित पाषाण-खंड है जो उन्हें १९५९ में मध्यप्रदेश सरकार के पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में किये गये चम्बलघाटी-क्षेत्र में मोड़ी के तीसरे शिलाश्रय से तलवर्ती जमाव की आठवीं तह के उत्खनन से प्राप्त हुआ और जिसपर एक वृत्त अंकित है। उससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि किसी न किसी प्रकार का चित्रण उस काल में अवश्य प्रचलित था। इसके साथ ही तल से जो रक्तवर्णी रंग प्राप्त हुआ है वह वही है जिससे ऊपर की शिला पर चित्रांकन किया गया है। सौभाग्यवशात् उस शिलाश्रय पर दो ही प्रकार के चित्र मिलते हैं और उक्त सामग्री पूर्ववर्ती चित्रों से ही सम्बद्ध है। इन प्राचीनतर चित्रों में एक पशु और कुछ शैली-

वद्ध मानवाकृतियाँ बनी हैं।[1]

इस उपलब्धि से बहुत से उन पुरातत्ववेत्ताओं की धारणा काल्पनिक सिद्ध हो जाती है, जो स्वयं दिशा विशेष में प्रवृत्त हुए बिना ही गतानुगतिक रीति से यह मत व्यक्त करने में संकोच नहीं करते हैं कि भारतवर्ष में प्रागैतिहासिक चित्र हैं ही नहीं, जो हैं वे वनजातियों द्वारा इतिहासकाल में बनाये गए हैं।

उत्खनित तल के परीक्षण से ज्ञात होता है कि सबसे निचली तहें उन निवासियों से सम्बद्ध हैं जो दूसरी श्रेणी के पाषाणास्त्र (series II tools) प्रयोग में लाते थे। दसवीं तह से, जो पथरीली सतह पर स्थित है, कुछ खुरचे, रुखानी, पाषाण-यन्त्र, सुधारे हुए फलके आदि टूटे-फूटे पत्थरों के टुकड़ों के साथ प्राप्त हुए हैं। उनमें एक त्रिकोण और ट्रेपेज़ भी सम्मिलित है। नवीं सतह से भी कुछ ऐसी ही वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। आठवीं तह से एक निहाई का पत्थर मिला है जिसपर लघुपाषाणास्त्र निर्मित किये जाते थे और इसी तह से रक्तवर्णी कणिकाओं का वह पुंज भी प्राप्त हुआ है जो चित्र-रचना के लिए रंग बनाने के काम में आता रहा होगा।[2] इस प्रकार उत्खनन द्वारा यह बात बहुत कुछ निश्चित हो जाती है कि चित्रों के रचयिता लघुपाषाणास्त्र के निर्माता और प्रयोक्ता लोग ही थे जिनका अस्तित्व इतिहास-युग से पूर्व स्थित पाषाण-काल से सम्बन्ध रखता है। यही निष्कर्ष डॉ० राधाकान्त वर्मा के द्वारा भी निकाला गया। अतः अब यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय शिलाचित्रों को सम्यक् प्राचीनता एवं प्रागैतिहासिकता का श्रेय न देनेवाला मत भ्रामक, निराधार और पूर्वाग्रह युक्त है।

वाकणकर ने शिला-चित्रों के विकास-क्रम को सात स्तरों में विभाजित किया है जो पूर्वोल्लिखित स्तर-विभाजनों की अपेक्षा अधिक वास्तविक लगता है।

---

१. Few inches apart from this heap, a stone was recovered which had a painted circle on it and this is the most important evidence. It gives a clear indiction that some type (*of*) painting was definitely practiced during this period. The pigment of the hamatite found in the deposit and of the painting above on the rock is the same. Fortunately this shelter contains only two types of paintings. ...evidently if there is any possibility of association with the finds, it is only of the earlier ones. These earlier drawings represent a bovide and few stylised human figures.

—पेन्टेड रॉक शेल्टर्स ऑफ इण्डिया, पृ० २५१

२. —वही, फिगर ८ तथा तत्सम्बन्धी विवरण, पृ० २५०

जिस रूप में इन स्तरों से सम्बद्ध चित्र उनके अँगरेजी पत्रक में निर्दिष्ट हैं उसमें चित्रों के संयोजन की असावधानी के कारण अनेक त्रुटियाँ हैं जिनसे उसकी उपादेयता प्रायः समाप्त हो गयी है। यह त्रुटियाँ मुख्यतया भोपाल, कैमूर और आदमगढ़ के नाम-निर्देशन में हुई हैं जो पहले ही रखे गये हैं।[1] समस्त भारतीय शिला-चित्रों में उन्होंने आदमगढ़ के शिलाश्रय नं० १ के हाथीवाले धुँधले चित्र को सर्वाधिक प्राचीन माना है और उसे सबसे पहले स्तर का निश्चित किया है। दूसरे स्तर में उसी शिलाश्रय पर एकदम ऊपर की ओर बना हुआ विशाल महिष तथा भोपाल और चम्बलघाटी क्षेत्र के कुछ महाकाय पशुओं को स्वीकार किया है। मानवाकृतियाँ और आखेट-दृश्य तीसरे स्तर से आरम्भ हुए बताये गये है और पँचमढ़ी, मिर्ज़ापुर तथा सिंघनपुर की विविधता एवं शैली-भेद को अप्रधान मान लिया गया है। मुझे लगता है कि यहाँ भी विवेक अपेक्षित है भले ही स्तरों की संख्या कुछ बढ़ जाय। इसी प्रकार मुझे सिंघनपुर के प्रसिद्ध आखेट-दृश्य को मिर्ज़ापुर के गैंडेवाले आखेट-दृश्य के समकक्ष तथा लिखनिया--२ के आखेट-दृश्य के बाद रखना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सिंघनपुर में फलकरहित दंडायुध का प्रयोग है जबकि अन्य उक्त दृश्यों में काँटेदार भालों या हार्पूनों का प्रयोग हुआ है। धनुर्धरों को भी उन्हीं की समकक्षता प्रदान की गयी है। शंख लिपि और ब्राह्मी लिपि के साथ बने चित्र पाँचवे स्तर में, अश्वारोही और आकल्पन छठे में तथा त्रिकोणात्मकता लिये पशु-चित्र एवं अन्य परवर्ती चित्र सातवें स्तर से सम्बद्ध किये गये हैं। मुझे यहाँ भी कुछ अन्य स्तरों की संभावना प्रतीत होती है। जैसे गॉर्डन के श्रेणी-विभाजन का प्रमुख आधार पँचमढ़ी के चित्र रहे हैं वैसे ही यह स्तर-विभाजन आदमगढ को मुख्य आधार मानकर किया गया है। जैसे गॉर्डन ने आदमगढ़ आदि अन्य क्षेत्रों को अपनी दृष्टि में रक्खा वैसे ही वाकणकर ने भोपाल और चम्बलघाटी के क्षेत्रों को भी अपने दृष्टिकोण के निर्धारण में सहायक बनाया। समग्र रूप से यह अनुक्रम और इससे निर्धारित विकास की अवस्थाएँ सही दिशा का निर्देश करती हैं पर गॉर्डन के श्रेणी-विभाजन की तरह यह श्रेणी-विभाजन भी सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। इसमें मिर्ज़ापुर के चित्रण-स्तरों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है और न कबरापहाड़ जिसे वे 'गजमार' कहते हैं, के चित्रण-वैविध्य के साथ न्याय हो सका है। अखिल भारतीय स्तर पर आशा है वे अपने शोध प्रबन्ध में उसे अधिक औचित्य के साथ पुनर्व्यवस्थित कर सकेंगे। उनका कार्य अप्रतिम है और जितना प्रयत्न उन्होंने भारतीय शिला-चित्रों के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में किया है उतना अभी तक गॉर्डन के बाद और किसी ने नहीं किया।

---

१. —वही, फिगर ७, पृ० २४८

स्वरूप और रचना-विधि की दृष्टि से वाकणकर द्वारा शिला-चित्रों के जो दस वर्ग बनाये गये हैं वे यद्यपि काल-क्रमात्मक नहीं है तथापि एक प्रकार का विकास-बोध उनमें लक्षित होता है ।[१] यह तथ्य उसी पत्रक की फिगर ६ और ७ के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही सामने आ जाता है। विकास-क्रम के कुछ स्तर या उपस्तर और निर्दिष्ट हो जाने से दोनों में और अधिक संगति आ जायेगी ।

उपर्युक्त स्तर-विभाजन और शैलीगत वर्गीकरण के अतिरिक्त वाकणकर ने दोनों की सापेक्षिक स्थिति निर्दिष्ट करने के तीसरे और चौथे तथा पाँचवें और छठे स्तर को एक साथ संयुक्त करके प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सात के स्थान पर बने पाँच स्तर-वर्गों को उन्होंने निवासपरक कालावधियों (occupational phases) के रूप में ग्रहण किया है तथा पूर्वोक्त दसो वर्गों एवं उनके अन्तर्गत निर्दिष्ट विविध रूप भेदों या प्रकारों (types) को प्रदर्शित करने का श्रम-साध्य एवं विवेकपूर्ण कार्य किया है। उन पाँच स्तर-वर्गों में क्रमशः १, ५, ११, ६ और ४ प्रकार समाविष्ट किये गये हैं। मध्य वर्ग सबसे अधिक विविधता युक्त है और प्रारम्भिक सबसे कम ।[२] उन्हें यहाँ प्रस्तुत करना दुष्कर है अतः जो वास्तव में इस विषय के जिज्ञासु हों वे उनके अँगरेजी पत्रक को ही देख लें। वह मुद्रित एवं वितरित हो चुका है।

यह स्वाभाविक है कि इस सारे विभाजन एवं वर्गीकरण के पीछे काल-निर्धारण की चेष्टा भी निहित रही हो। उसका स्पष्ट रूप फिगर ७ के सामने वाले पृष्ठ पर दिये गये आठ विचार-बिन्दुओं में व्यक्त हुआ है जो प्रायः उसी से सम्बद्ध हैं ।[३]

लेखक ने इसे दूसरे ढंग से सामने रक्खा है। उसका कहना है कि पूर्वोक्त काल-क्रमात्मक वर्गीकरण करते समय निम्नलिखित आठ बातें उसकी दृष्टि में रही हैं—

१. चौथे स्तर से सम्बद्ध या उस कालावधि के चित्र दूसरी और तीसरी शती ई० पू० से पहले के हैं क्योंकि उनपर अशोक कालीन ब्राह्मी जैसी लिपि में अभिलेख आक्षिप्त है।

२. मोड़ी के शिलाश्रय की शिला नं० २ की आकृतियाँ, जो पूर्ववर्ती चित्रों के ऊपर बनी हैं, ताम्र-प्रस्तर-युगीन पात्र-चित्रों (chalcolithic drawing on pottery) से तुलनीय लगती हैं। इन पात्रों का समय 'रेडियो कार्बन डेटिंग' के द्वारा १५०० ई० पू० प्रमाणित किया जा चुका है।

---

१. —वही, फिगर ६ तथा तत्सम्बन्धी विवरण, पृ० २४५-४७

२. —वही, पृ० २४७ के निचले अंश में निर्दिष्ट स्तर-वर्ग

३. —वही, पृ० २४६

३. मोड़ी की शिला नं० ३ के नीचे हुए उत्खनन द्वारा जो चित्रित पाषाण-खंड तथा रक्तवर्णी कणिका-पुंज प्राप्त हुआ हैं वह पर्याप्त प्राचीन है और द्वितीय निवासपरक कालावधि का है।

४. सबसे पुराने चित्रों में यायावरीय आखेटक जीवन की प्रवृत्ति दिखायी देती है, कृषि-कर्मपरक जीवन की नहीं।

५. क्षेत्र विशेष में जिन पशुओं की उपलब्धि अब नहीं होती अथवा जो निःशेष हो चुके हैं जैसे हाथी, गैंडा, महामहिष (bison) तथा सिंह आदि, उनका चित्रण बहुत पहले उस काल में हुआ होगा जब वहाँ के निवासियों ने उन्हें वनों में सजीव रूप में प्रत्यक्ष देखा होगा। हाथी तो परिचित है पर गैंडा इन क्षेत्रों में बहुत पहले ही निःशेष हो हो चुका था और उसकी अश्मीभूत अस्थियाँ नदी तट की रेती और खंडित पाषाणों के नीचे मिली हैं। सिंह भी अनेक शताब्दियों पूर्व ही इस क्षेत्र से विलुप्त हो चुका है।

६. सर्वाधिक प्राचीन चित्रों पर एक प्रकार की सूक्ष्म ओप (some sort of fine patina) चढ़ी हुई मिलती है जिसकी सृष्टि होने में बहुत समय लगा होगा।

७. चित्रण के विभिन्न स्तर एक पर एक आक्षिप्त चित्रों के रूप में विभिन्न शिलाश्रय-समूहों में देखे जाते हैं। क्योंकि यह प्रायः असम्भव है कि सभी स्तर किसी एक ही शिलाश्रय में मिल जाएँ अतएव उनकी खोज में प्रवृत्त होना पड़ता है; वह भी किसी एक समूह के शिलाश्रयों को ध्यान में रखकर। यह शिलाश्रय कभी बहुत पास-पास होते हैं या वे उसी लघुतर भौगोलिक इकाई में स्थित होते हैं।

८. इतिहास-युग में निर्मित शिला-चित्रों का काल-निर्णय अभिलेखों की सहायता से सरलतापूर्वक किया जा सकता हैं तथा इस कार्य में उसी क्षेत्र की या सहवर्ती अन्य क्षेत्र की मूर्तियों में प्राप्त होने वाले रूप-साम्य का सहारा भी लिया जा सकता है।

यह सभी बातें महत्त्वपूर्ण हैं और पर्याप्त अनुभव के आधार पर निष्कर्ष रूप में सामने रक्खी गयी हैं। जब दूसरी कालावधि की स्थिति १५०० ई० पू० सिद्ध हो जाती है तो पहली उससे पूर्व ही हो सकती है। अनुमानतः उसे दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के उस छोर तक या उससे भी पहले तक ले जाया जा सकता है। गॉर्डन द्वारा निर्दिष्ट पूर्व-सीमा तो दूसरी कालावधि के द्वारा अतिक्रमित और असिद्ध हो जाती है। पहली की व्याप्ति तो उससे भी कई शताब्दी या सहस्राब्दी पूर्व तक मानी जायेगी। इस प्रकार वाकणकर के प्रमाण-पुष्ट एवं सुव्यवस्थित अनुसंधान कार्य से भारतीय शिला-चित्रों के काल-निर्णय की समस्या का बहुत अंशों में समाधान हो जाता है। प्रस्तुतीकरण की कुछ सामान्य त्रुटियों को छोड़कर उनकी सामग्री विश्वसनीय है और उनके निष्कर्ष साधार।

अपने फ्रेंच पत्रक में फिगर ३ के रूप में उन्होंने जो सामग्री चित्र-रूप में प्रस्तुत की है वह और भी अधिक समृद्ध एवं ज्ञानवर्द्धक है।[1] यह पत्रक अँगरेजी पत्रक के एक वर्ष बाद प्रकाशित हुआ अतः स्वाभाविक है कि इसमें कुछ और परिपक्वता मिले। इसमें उन्होंने आदमगढ़ वाले धुँधले हाथी और दोहरी रेखाओं में बने महामहिष तथा प्रथम कालावधि से सम्बद्ध अन्य पशु-चित्रों के रचनाकाल की पूर्वसीमा स्पष्टतः १०,००० वर्ष ई० पू० तक मानी है और यह लगभग ५००० वर्ष तक की व्याप्ति रखती है। सम्बद्ध पाषाणास्त्रों की आकृति-प्रकृति और चित्रों के शैली-भेद के समन्वित आधार पर इसके तीन उपविभाग किये गये हैं। पात्रांकित चित्रों से साम्य रखनेवाले शिला-चित्रों की कालावधि भी १५०० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक प्रदर्शित की गयी है। यह ताम्र-प्रस्तर-युगीन सिंधुघाटी सभ्यता से समकक्षता रखती है। इस पत्रक में वाकणकर ने यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि अनेक भारतीय शिला-चित्र मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा संस्कृति से पूर्व युग के हैं और वे इस रूप में विशेष महत्ता रखते हैं। प्राचीन प्रस्तर-युग से उन्होंने अभी तक ज्ञात किसी चित्र को सम्बद्ध नहीं किया है क्योंकि उनके निष्कर्ष उत्खनन के परिणामों पर आधारित रहे हैं। अभी तक उन्हें शिलाश्रयों के तलों की खुदाई से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला है जिससे वे चित्रों को उस काल में रख सकें; इसीलिए संयमित मत व्यक्त किया गया है। दस हज़ार वर्षों तक की प्राचीनता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है विशेषतः तब जब उसके विपक्ष में भारी पूर्वाग्रह बना दिया गया हो। मैं इसे असंभव नहीं मानता कि आगे के शोधकों को प्राचीन प्रस्तर-युग के चित्र भी मिल जायँ या सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात चित्र ही उससे सम्बद्ध प्रमाणित हो जायँ। 'स्पैन' में प्रकाशित रॉबर्ट आर० आर० ब्रुक्स के साथ मिलकर लिखा गया उनका अँगरेजी लेख देशी और विदेशी शोधकों की परम्परा का मिलन-बिंदु है और आगे भारतीय शिलाचित्रों की शोध की दिशा में आनेवाले नवयुग का सूत्रपात करता है।[2]

भारत में आदि मानव का अस्तित्व

शिला-चित्रों के सम्बन्ध में यदि कोई सर्वसामान्य तथ्य है तो वह यह कि वे प्रकृति-विनिर्मित न होकर मनुष्यकृत है। अतः चित्रों के रचना-काल की पूर्व सीमा वास्तव में भारतवर्ष में मनुष्य के अस्तित्व के प्रमाण से जुड़ी हुई है। यह सही है कि नितान्त प्रारंभिक अवस्था में ही यहाँ के मनुष्य ने चित्रण आरम्भ नहीं कर दिया होगा परन्तु यह भी उतना

---

१. पेन्टर्स रूपेस्त्रे इंदियाने, पृ० १३३

२. स्पैन, सितम्बर १९६५, वॉ०VI, नं० ६

ही सत्य है कि संसार के इतर क्षेत्रों की तरह उसमें भी चित्रण-कला की प्रवृत्ति का आरम्भ जितना अनुमानित किया जाता है उससे और पहले सम्भव है क्योंकि संसार में मानव-सभ्यता का विकास बहुत कुछ समान स्तर पर हुआ है।

मानव के उद्भव और विकास के समग्र इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि चित्रकला के संस्कार सर्वप्रथम उन क्रोमान्यों (Cro-Magnon) संज्ञक मानवों में विकसित हुए जिनका प्रवेश योरोप में ७०,००० वर्ष के आसपास हुआ। वे मूलत: योरोप के निवासी नहीं थे। योरोप में वे अफ्रीका और पश्चिमी एशिया से गये। यह घटना सहस्राब्दियों पूर्व घटित हुई।[1] यदि इससे भी पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि वंश वृक्ष की जिस शाखा से मनुष्य का विकास हुआ वह पहले दो भागों में विभक्त हुई, एक 'होमो एरेक्टस' और दूसरा 'होमो सेपियन्स' अर्थात् मेधावी मानव। यही दूसरा आधुनिक मनुष्य के रूप में विकसित हुआ। वर्तमान युग में अस्तित्व रखनेवाली समस्त मानव-जाति एकमात्र इसी समूह से सम्बद्ध है। इसे वैज्ञानिक 'होमो सैपियन्स सैपियन्स' कहते हैं जिसका तात्पर्य है 'परम बुद्धिमान मानव'।[2] जैसा कहा जा चुका है प्रथम चित्रकार मेधावी मानव ही सिद्ध हुआ और उसी की परम्परा में वर्तमान समय तक के सारे चित्रकार आते हैं। भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक चित्रों के रचयिता भी इन्हीं के वंशधर थे।

भारत में मानव अस्तित्व का प्राचीनतम प्रमाण कब और कहाँ से मिलता है इसकी पर्याप्त चर्चा नृतत्वशास्त्रियों एवं पुरातत्वविदों ने की है। औरों के मतों को छोड़कर मैं केवल सर्वमान्य भारतीय पुरातत्वज्ञ डॉ० संकालिया का वह मत उद्धृत करता हूँ जो उन्होंने 'गुजराती साहित्य परिषद्' के २१वें अधिवेशन (१९६१-६२) में इतिहास और पुरातत्व विभाग के 'प्रमुख' पद से दिये गये अपने व्याख्यान में व्यक्त किया था।[3]

---

१. (i) Cro-Mangnons were the worlds first artists

(ii) Cro-Magnon Man migrated into Europe about 70,000 years ago. He came from Africa or western Asia.

—दि डान ऑफ मैन, क्रोमान्यों मैन

२. The branch that was Man split once more, becoming two species, *Home erectus* and *Homo sapiens*. ......Finally, *Homo Sapiens* developed into modern Man. All people alive today belong to this single group called *Homo Sapiens Sapiens* by scientists.

—वही, ह्यूमन फैमिली ट्री

३. हवे जो ओल्डुवाई (Olduvai) नां मानवो अने हथियारो सत्तर लाख वर्ष जूनां होय, तो आपणां हथियारो ओछांमां ओछां दस लाख वर्ष जूनां होवानो संभव छे।

'अब यदि ओल्डुवाई के मानव और हथियार सत्तर लाख वर्ष पुराने हों तो अपने हथियारों का कम से कम दस लाख वर्ष पुराना होना संभव है।'

डॉ० संकालिया को वर्तमान प्रचलित मान्यता के अनुसार आदिमानव का मूल-स्थान अफ्रीका लगता है। वहीं से धीरे-धीरे अन्य देशों में उसका प्रसार हुआ।[1] जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है उनकी धारणा है कि गुजरात में साबरमती और मही नदी के कगारों में मिट्टी और पत्थरों के जो स्तर बन गये हैं उनके अनुशीलन से यह अनुमान होता है कि आदि-मानव इन्हीं नदियों के किनारे आकर बस गया होगा। उन्होंने वातावरणीय पुरातत्व (Environmental Archaeology) के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विद्वान डॉ० जोयनर (Dr. Zeuner) को भारत आमन्त्रित करके उनका मत भी प्राप्त किया। उन्होंने मही नदी के मुहाने खंभात की खाड़ी का निरीक्षण किया और वे भी इस अनुमान से सहमत हुए कि साबरमती और मही नदी के किनारों में जिनसे आदिमानवों के हथियार मिलते हैं वे स्तर उस समय बने जब विश्व में द्वितीय आन्तर-हिम-युग प्रवर्तित था।[2] चाहे जो हो डॉ० संकालिया को इसमें शंका नहीं है कि हिन्द-गुजरात के आदिमानव का अफ्रीका के मानव के साथ सम्बन्ध अवश्य था। यह सम्बन्ध कैसा-क्या था और किस रीति (मार्ग) से घटित हुआ यह बहुत खोज की अपेक्षा रखता है।[3]

प्रायः ऐसा होता है कि जो विद्वान जिस भूभाग का होता है उसे वही भाग आदिमानव से सम्बद्ध दिखायी देने लगता है परन्तु डॉ० संकालिया जैसे उच्च कोटि के विद्वान् पर यह बात लागू नहीं होती। उन्होंने ज्ञात तथ्यों के आधार पर एक सुविख्यात एवं सर्वमान्य विदेशी विशेषज्ञ के समर्थन के साथ अपनी बात सामने रक्खी है और आगे उस दिशा में शोध की

---

१. कारण के हमणां प्रचलित मान्यता प्रमाणे आदिमानवनुं मूल स्थान आफ्रिका लागे छे त्यांथी धीरे धीरे मानवनों बीजा देशोमां प्रसार थयो हशे.

—वही व्याख्यान

२. अेमणे ज्यां आगल् महीनी भेखडो खंभातना अखात पासे समुद्र ने मले छे ते स्थाननुं निरीक्षण कर्युं अने ते अेवा अनुमान पर आव्या के साबरमतीना अने महीना जे थरोमां आदिमानवोनां हथियारो मले छे ते थर ज्यारे जगतमां बीजो आन्तर-हिम युग प्रवर्ततो हतो त्यारे बंधाया हता.

—वही

३. गमे तेम हो, परन्तु हिंद-गुजरातनो आदिमानव आफ्रिकाना मानव साथे संबन्ध जरूर धरावतो अेमां शंका नथी. आ सम्बन्ध केम, क्यारे अने केवी रीते (कये मार्गे) थयो हतो ते वधारे शोध मांगी ले छे.

—वही

आवश्यकता भी व्यक्त की है। यहाँ केवल यही बात महत्त्वपूर्ण है कि भारतवर्ष में आदि-मानव का अस्तित्व पश्चिमी भाग में हज़ारों ही नहीं लाखों वर्ष पूर्व था और उसकी रचनाशीलता जागृत थी जिसका प्रमाण उसके द्वारा निर्मित पाषाणास्त्रों से प्राप्त होता है। गुजरात-क्षेत्र में अभी तक कहीं शिलाचित्र नहीं मिले हैं अतः उपर्युक्त तथ्य उनके निर्माण-काल की खोज की एक पृष्ठभूमि ही प्रस्तुत करता है। चित्रों की प्राचीनता को अनावश्यक रीति से पीछे ले जाना उसकी चर्चा का उद्देश्य नहीं है। प्रश्न केवल संभावना का है। निश्चय तो प्रमाण प्राप्ति और उनकी विधिवत् मान्यता सिद्ध होने के अनन्तर ही किया जाता है। मेरा अभिप्राय केवल इतना है कि मानव के सांस्कृतिक विकास की खोज में भारतवर्ष का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है और इस तथ्य को यथेष्ट मान्यता मिलनी चाहिए। सभी कुछ आगन्तुकों के प्रभाव की देन है ऐसा मानना मानसिक दासता का सूचक है। जिन्होंने भारत को कुछ समय के लिए पराधीन बनाया उन्होंने बहुत से उपकारों के साथ कभी-कभी एक उपकार यह भी किया कि मौलिकता का सारा श्रेय बाहरी प्रभावों को दे दिया। मुझे यह बात सर्वांश में कभी विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती क्योंकि भारतीय कला-चेतना का जो परिचय मैंने पाया है उसमें उद्भावना-शक्ति और मौलिकता का अदम्य प्रसार दिखायी देता है। इधर कुछ विदेशी विद्वान् भी उसकी खोज में प्रवृत्त होने लगे हैं यह संतोष की बात है। स्टुअर्ट पिगॉट द्वारा सम्पादित 'दि डॉन ऑफ सिविलाइज़ेशन' के प्रारंभिक लेख में ग्रैहम क्लार्क ने पाषाण कालीन सभ्यता का परिचय देते हुए लिखा है कि एकदम प्राकृतिक पत्थर जैसे लगनेवाले सबसे आदिम पाषाणास्त्र दक्षिणी अफ्रीका से तथा भारत से लेकर योरोप तक के भूमाग से मिले हैं।

जिस प्रकार डॉ० संकालिया ने साबरमती और मही नदी के किनारे आदिमानव के अस्तित्व को प्रमाणित किया है वैसे ही नर्मदा नदी की घाटी का निरीक्षण करने वाले डॉ० खत्री आदि शोधकों ने उसमें ऐसे अनेक अस्थि-पंजर, दाँत, पाषाणास्त्र और विविध प्रकार के प्राचीन अवशेष प्राप्त किये हैं जिनसे भारत के विंध्य-क्षेत्र में भी मानव अस्तित्व लाखों वर्ष पूर्व अनुमानित किया जाने लगा है।[1] यह क्षेत्र तो शिला-चित्रों का अपना ही क्षेत्र

---

१. Dr Khatri who has been surveying the Narmada Valley for the last three years for the remains of early man, has claimed the discovery of a tooth (molar) of a man who lived 5,00,000 years ago, The discovery of the tooth is claimed to be epoch-making because it is for the first time that the molar of the early man who lived so many years ago has been found in India. In Africa, Europe, and Java however fossils of man had been discovered earlier. Besides

कहा जा सकता है ऐसी दशा में वहाँ मनुष्य के प्राचीनतम अस्तित्व की सीमा-रेखा चित्रों के काल-निर्णय को कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित करेगी। डॉ० खत्री की उपलब्धियों की अखबारी सूचना नीचे उद्धृत करदी गयी है। यदि वे सारी अस्थियाँ और दाँत वास्तव में प्रामाणिक और उतने ही प्राचीन सिद्ध होते हैं, जितने समाचार में कहे गये हैं तो उनसे भारत में मानव तथा निःशेष पशुओं के अस्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा। डॉ० संकालिया ने अपने बड़े ग्रंथ में डॉ० ए० पी० खत्री की शोध के उन अनेक विवरणों का संदर्भ दिया है जो इं० आॅ० रिव्यू में सन् १९५८ से ६१ तक प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने उनके उस शोध-ग्रंथ का भी उपयोग किया है जो मालवा की पाषाण-युगीन संस्कृतियों के विषय में लिखा गया है और जिसमें नर्मदा तथा चम्बल की घाटियों का पुरातात्विक सर्वेक्षण विधिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है।[1] दरियाई घोड़े के अवशेषों की प्राप्ति भारत और अफ्रीका के उस नैकट्य का स्मरण दिलाती है जो भूगोलवेत्ताओं की दृष्टि से कभी वास्तविक और भौगोलिक तथ्य रहा होगा। ऐसी दशा में जिराफ के अस्तित्व की कल्पना का भी सर्वथा निषेध करना संभव नहीं है भले ही जिन निःशेष पशुओं की अस्थियाँ अब तक मिली हैं, उनमें वह न हो। मेरा यह अभिप्रायः कदापि नहीं है कि आदमगढ़ का जिराफ-ग्रुप उतना प्राचीन है. क्योंकि भारत के किसी अन्य शिलाचित्र में अभी तक जिराफ का अंकन नहीं मिला है, मैं केवल इसी तथ्य को सामने रखना चाहता हूँ कि उसे गॉर्डन की तरह ८वीं १०वीं शती ई० तक लाने की आवश्यकता नहीं है और न उन वस्तुओं को अकारण असंभव मानने की, जिनसे प्राचीनता का पक्ष समर्थित होता हो। जब भारत में मनुष्य के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण उसे हजारों ही नहीं लाखों वर्ष तक के विकास की भूमिका प्रदान करते प्रतीत हो रहे हैं तो मुझे यह मान कर चलना अधिक युक्ति-संगत लगता है कि उसके कृतित्व के चित्रादि अन्यान्य अवशेष भी पर्याप्त प्राचीन हो सकते हैं। विशेषतः तब जब वे संसार के इतर देशों में पाषाण युगीन सिद्ध हो चुके हैं। विश्वव्यापी स्तर पर देखा जाय तो मनुष्य का विकास प्रायः सर्वत्र लगभग समान क्रम से एक समानान्तर दिशा में हुआ है। विभेदक क्षेत्रीय विशेषताओं के होते हुए भी अनेकमुखी समानता कुछ अधिक ही लक्षित होती है।

वैज्ञानिक परीक्षण और पर्यवेक्षण के इस युग में उसकी सानुपातिक स्थिति को पूरी

---

the tooth, Dr. Khatri has also discovered a huge tusk of an extinct elephant and skulls of some extinct animals like hippopotamus, old horse, ancestral bull and primitive swine.

—दि लीडर, जनवरी ११, १९६१

१. प्रि० प्रो० इं० पा०, पृ० ५४

व्याप्ति में स्वीकार करते हुए प्राचीनता का निश्चय करने की अपेक्षा है। डॉ० संकालिया ने अपने पूर्वोक्ति ग्रंथ में अफ्रीका के पाषाणास्त्रों को सत्रह लाख वर्ष तक का कहा है और उनकी तुलना में भारत के पाषाणास्त्रों को उसकी आधी प्राचीनता का श्रेय दे ही दिया है।[1] यदि कुछ पुरातन अवशेष किन्हीं सुनिश्चित ज्ञात कारणों से विशेष प्राचीन सिद्ध नहीं होते तो उनकी तद्विषयक महत्ता पर आग्रह करने का कोई अर्थ नहीं है किन्तु इसके विपरीत कुछ ज्ञात प्रमाण, सानुपातिक स्थिति तथा आकृति-प्रकृति, वातावरण आदि मिला-जुला कर प्राचीनता का पक्ष उभारते हैं तो उसको सहज रीति से स्वीकार न करके विरोधमूलक आग्रह प्रदर्शित करना भी संगत नहीं लगता। मुझे अनेकवार यह बहुत विचित्र प्रतीत हुआ जब कतिपय मान्य पुरातत्वज्ञों ने ही यहाँ के शिला-चित्रों के पहले 'प्रागैतिहासिक' विशेषण लगाने पर आश्चर्य प्रकट किया। वस्तु सत्य यह है कि भारतीय शिला-चित्रों में मानव-जीवन के नितान्त प्रारंभ से लेकर धातु-युग तक के प्रायः सभी प्रारंभिक सांस्कृतिक विकास-स्तर स्पष्ट चित्रित मिलते हैं, जिनकी ओर प्रस्तुत ग्रंथ में, खंड-विभाजन तथा विविध खंडों का परिचय देते हुए, वरावर संकेत किया जाता रहा है। धातु की खोज और उसके व्यावहारिक उपयोग से पूर्व के वातावरण को व्यक्त करने वाले सभी चित्र मेरे विचार से प्रागैतिहासिक ही कहे जायेंगे। इस समस्या पर आरंभ में ही प्रकाश डाला जा चुका है। निर्वसन वन्य अवस्था में भ्रमणशील खाद्य-संचयपरक जीवन-वृत्ति कितनी सहस्राब्दियों तक चलती रही यह कहना कठिन है। इसी प्रकार निष्फलक दण्डाकार आयुधों को पाषाण-फलक-युक्त वनाकर आखेट में उत्तरोत्तर शक्ति और कौशल का अर्जन, धनुष-वाण का अप्रतिम आविष्करण तथा लघु पाषाणास्त्रों के साथ उनका संयोजन एवं अधिक कुशल संधान, आरोहण एवं पालन से पूर्व दुर्धर्ष पशुओं का आखेट, कृषि-कर्म से पहले उसी तरह वैल का शिकार और मांस-भक्षण कितनी शताब्दियों तक सहज रूप में प्रचलित रहा इसका निश्चय भी कष्ट-साध्य है। यह सव कुछ लिपि-ज्ञान से पूर्व ही घटित हुआ अतः इसे भी इतिहास की सीमा से पहले ही मानना होगा। नर्तन-वादन, यातु-प्रयोग, मधु-संचय आदि का सम्वन्ध विकास के किसी एक स्तर से न होकर अनेक स्तरों से है और इनकी प्राचीनता भी असंदिग्ध है ऐसी दशा में काल-निर्णय के क्रम में ईसवी सन् के इधर उधर की दस-पन्द्रह शताब्दियों तक अपने को सीमित कर लेने की विवशता मुझे निराधार और निरर्थक दिखायी देती है। कोई निश्चित तिथि भले ही निर्दिष्ट न की जा सके परन्तु भारतीय शिला-चित्रों की प्राचीनता को इतिहास-पूर्व युगों तक ले जाने वाले निम्नलिखित वहुविध तथ्य मननीय एवं अविस्मरणीय हैं।

---

१. प्रि० प्रो० इं० पा० पृ० २७८

स्थिति और वातावरण

१. दुर्गम, गहन वनों एवं कठोर निर्जन पर्वतीय स्थानों तथा अनिवसित एकांत नदी-तटों में अनेक चित्रमय गुफाओं एवं शिलाश्रयों की स्थिति ।

२. इतिहास-युगीन परिचित निवास-केन्द्रों से भिन्न प्रकृति की गुहावासी अविकसित जीवन-प्रणाली, भिन्न कार्य-क्षेत्र, भिन्न आवाश्यकताएँ एवं उद्देश्य ।

३, कुछ गुफाओं और शिलाश्रयों के उन भागों में, जिन तक पहुँचना कठिन है, चित्रांकन ।

अभावमूलक विशेषताएँ

४. ज्ञात लोक-गाथाओं एवं ऐतिहासिक घटना-संदर्भों का अभाव।

५. वैदिक-पौराणिक परम्परा तथा सिंघुघाटी-सभ्यता की अनेक परिचित कल्पनाओं, देवी देवताओं, उपासना-विधियों यज्ञादि कृत्यों तथा देवासुर-संग्राम जैसी पुराण-प्रसिद्ध घटनाओं का अभाव ।

६. क्षेत्र-विशेष के शिला-चित्रों में धनुष-वाण के चित्रण का अभाव।

७. वैदिक-अवैदिक, सिंघुघाटी तथा लौकिक एवं आदिवासी कला और संस्कृति में सुपरिचित 'सर्प' के चित्रण का नितान्त अभाव ।

सानुपातिक स्थिति

८. कृषि के हल आदि उपकरणों, पात्र, नाव, बैलगाड़ी आदि विकसित जीवन-प्रणाली की वस्तुओं का अविकसित अथवा अल्पविकसित अवस्था से सम्बद्ध वस्तुओं की तुलना में पर्याप्त न्यून अनुपात में चित्रण; प्रतीकों के प्रयोग में भी अनुपात-भेद ।

शैलीगत विभेद

९. विशिष्ट एवं अपरिचित शैली, जिसकी प्रकृति, रूप-कल्पना एवं अलंकरण-विधि में स्वच्छन्दता उद्भावना-शक्ति की प्रचुरता तथा निजी सुदीर्घ परम्परा का बोध होता है।

१०. प्रमुख व्यापक शैली के भीतर अनेक उप-शैलियों का विकास और उनकी पारस्परिक संगति एवं समन्वय । अधिकतर आकृतियों का पृथक्-पृथक् चित्रण ।

वस्तु-वैशिष्ट्य

११. आयुधों की आकृति से उनकी प्रकृति, निर्माण-प्रक्रिया और उसमें प्रयुक्त आधारभूत बहुविध पदार्थ (काष्ठ, प्रस्तर, धातु) के अनुमान के साथ अस्त्र-शस्त्रों के स्वरूप

विकास का बोध।

१२. निःशेष अथवा अल्प-प्राप्त पशुओं का यथार्थ अंकन जिससे उनके रूप-भेद और जाति-भेद का भी आभास मिलता है।

१३. शिरोभूषा, कटि-वस्त्र और आयुध-धारण की विधियों में वैविध्य एवं अधिकतर उसकी आदिम प्रकृति। पशु-मुखाच्छादनों का विचित्र प्रयोग।

१४. अपरिचित पशुओं का वाहन रूप में प्रयोग।

१५. आखेट की आदिम विधि समूहबद्ध होकर अथवा एकाकी रीति से पशु-वध, कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः बिना आरोहण किये पैदल ही आखेट करना।

१६. झूलदार घोड़ों और रकाबों जैसी परवर्ती काल से सम्बद्ध मानी जाने वाली कुछ वस्तुओं के अपवाद को छोड़कर प्रायः इतिहास-युग से पूर्व की ही वस्तुओं का अधिक चित्रण।

१७. गुफाओं तथा शिलाश्रयों के भीतरी तल से उत्खनन द्वारा विधिवत् अथवा यों ही आकस्मिक रीति से प्राप्त पुरातन सामग्री, पाषाणास्त्रों आदि से चित्रों की रचना-संगति और स्तर-सम्बन्ध की संभावना।

१८. चित्रित पाषाण-खंड जैसे पूर्व निर्दिष्ट निश्चियात्मक प्रमाणों का तल विशेष से उत्खनन।

१९. चित्रण-स्थलों के समीपवर्ती बाहरी भूभाग में स्थित निर्माण-केन्द्र और उनसे प्राप्त पाषाणास्त्र, पात्र-खंड, धातु निर्मित वस्तुएँ और शव-समाधियाँ तथा विविध प्रकार के अस्थि-अवशेष जिनकी प्राचीनता अनेक कारणों से सहज सिद्ध है तथा वैज्ञानिक रीति से भी प्रमाणित की जा सकती है।

चित्रण के उपकरण

२०. चित्रों की रचना में प्रयुक्त गेरू, लौह-द्रव, सफेदी, श्वेत रसवाली वनस्पति, कूँची के उपयोग में आने वाले बाँस आदि उपकरण जो प्रायः चित्रण-केन्द्रों के पास ही उपलब्ध हो जाते हैं, चित्रकारों के आदिम और स्थानीय संदर्भ को सिद्ध करते हैं। उत्खनन से प्राप्त होने पर यही उपकरण प्राचीनता की भी सूचना देते हैं। चित्र सीधे शिला पर बने हैं, उनके निर्माण से पूर्व वज्रलेप जैसे किसी शास्त्रोक्त लेप का प्रयोग नहीं हुआ है।

चित्रों की वर्तमान दशा

२१. सभी शिला-चित्र ऐसी अश्मीभूत अवस्था में मिलते हैं कि उन्हें भिगोकर या

रगड़कर मिटाया नहीं जा सकता। जिस शिला पर वे अंकित हैं, शताब्दियों पूर्व वे उसके अविच्छिन्न अंग बन कर एकात्म हो चुके हैं।

२२. कुछ चित्रों पर ओप या 'पैटीनेशन' झलकने लगा है जो अनेक शताब्दियों के बाद ही संभव होता है, कभी-कभी सहस्राब्दियों के बाद क्योंकि इसकी उत्पत्ति समीपस्थ खनिज पदार्थ विशेष के कारण होती है, ऐसा माना जाता है।

चित्रण का स्तर-क्रम

२३. अनेक स्थलों पर चित्रों के ऊपर चित्र बनाये गये हैं और इस प्रकार चित्रण के अनेक स्तर मिलते हैं जो रचना-काल की दृष्टि से अनिवार्यतः पूर्वापर-क्रम से बँधे रहते हैं। शैली-भेद, वस्तु-भेद तथा वर्ण-प्रयोग आदि के अन्तर के आधार पर इन स्तरों को विविध कालावधियों से सम्बद्ध करना आवश्यक है जिनके बीच शताब्दियों का व्यवधान भी संभव है।

२४. इन स्तरों की क्षेत्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय स्थिति, संगति, संख्या, रचना-विधि आदि के अनुशीलन से अनेक सम्बन्ध सूचक और प्रभावमूलक परिणाम निकाले गये हैं जिनकी उपेक्षा करना संभव नहीं है क्योंकि काल-निर्णय बहुधा उनकी सापेक्षता में किया गया है।

उत्खनन का स्तर-क्रम

२५. कुछ चित्रमय शिलाश्रयों और गुफाओं में प्राप्त तलवर्ती जमाव का पुरातात्विक विधि से उत्खनन कराया गया है जिसमें अनेक स्तर मिलते हैं। यह स्तर तथा उनसे प्राप्त पाषाणास्त्र आदि का सम्बन्ध विभिन्न कालावधियों में वहाँ निवास करने वाले मानवों से जोड़ा जाता है और मानव कृतित्व के इतर प्रमाण चित्रण-स्तरों से भी उन्हें सम्बद्ध किया जाता है जो स्वाभाविक है परन्तु सर्वथा निश्चित नहीं क्योंकि बहुधा यह प्रदर्शित करना कठिन हो जाता है कि किस तल-स्तर से किस चित्रण-स्तर को सम्बन्धित किया जाय। कभी कभी निश्चयात्मक प्रमाण भी मिल जाते हैं जैसे रंग और चित्रित पाषाण-खंड आदि।

लिपि की सापेक्षता

२६. ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ चित्रों पर स्फुट लिपि-चिन्ह या पूरे अभिलेख अंकित हैं। लिपि का काल-निर्णय अंकन-विधि आदि के आधार पर सरलता से किया जा सकता है और उसकी सापेक्षता में चित्रों की प्राचीनता भी अनुमानित की जा सकती है। यह प्रमाण अधिक निश्चयात्मक माना जाता है क्योंकि चित्र लिपि-काल से पूर्व के ही हो

सकते हैं, बाद के नहीं। कहीं कहीं लिपि-चिन्ह चित्रों के सहवर्ती और प्रायः उसी प्रकार की रेखाओं द्वारा बने मिलते हैं जिस प्रकार की रेखाएँ उन चित्रों में प्रयुक्त हुई हैं। इससे कुछ चित्रों का रचना-काल लिपि-काल के समानान्तर स्वतः निर्धारित हो जाता है। कंकाली माता के टीकले में 'दवूकेन कारितम्' और भीम वेटका में 'सिंहकस्स लेण' लिखा मिला है जिससे चित्रकार का नाम और शिलाश्रय के स्वामी का नाम भी ज्ञात हो जाता है।

२७. ऐसा एक भी उदाहरण अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया और न स्वयं मेरे देखने में आया है जिसमें लिपि-चिन्हों या अभिलेखों के ऊपर शिला-चित्र बने मिलते हों। यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे सिद्ध होता हैं कि अधिकांश शिला-चित्र लिपि के उद्भव एवं अस्तित्व के पूर्व के हैं, कुछ सहवर्ती भी हो सकते हैं परन्तु परवर्ती एक भी नहीं। शिलाओं पर पहले चित्र-लेखन ही होता था, लिपि-लेखन नहीं। लिपि के इतिहास से भी यही सिद्ध होता है कि उसका विकास चित्र-लिपि से हुआ और चित्र-लिपि का चित्रण-कला से। चित्रकला ही समस्त लिपि-विकास का मूल स्रोत है, यह बात सुविदित है। चित्रकला की सुदीर्घ परम्परा जो शिला-चित्रों के परिप्रेक्ष्य में कहीं अधिक दीर्घ दिखायी देने लगी है, इस बात का साक्ष्य उपस्थित करती है कि लिपि का विकास मूलतः भारतवर्ष में स्वतन्त्र रीति से घटित मानना निराधार नहीं है, भले ही उसके समस्त विकास-क्रम को चित्रण-परम्परा में लक्षित कर पाना अभी संभव न हुआ हो।

२८. भारतीय शिला-चित्रों के साथ 'ब्राह्मी लिपि' तथा उसी की परम्परा के अन्य रूपों तथा 'शंख लिपि' का सम्बन्ध प्रमाणित हुआ है। 'सिंधुघाटी लिपि' के अक्षरों के साथ शिला-चित्रों का सह-अस्तित्व अभी तक कहीं लक्षित नहीं हुआ है पर यह असंभव नहीं है कि दोनों में आगे कोई संगति प्रमाणित हो सके और वैसा कोई उदाहरण भी मिल जाय क्यों कि प्रतीक-साम्य तो मिलता ही है।

साम्य की समस्या

२९. भारतीय शिला-चित्रों का साम्य योरोपीय तथा आस्ट्रेलिया के चित्रों से निर्दिष्ट किया गया है और इसके विरुद्ध मत भी व्यक्त किये गये हैं। यातु-कर्मियों का चित्रण, मुखाच्छादनों का प्रयोग, आखेट-दृश्य, मानवाकृतियाँ, प्रतीक चिन्ह, हाथ की छापें, पाषाण-कालीन अस्त्र-प्रयोग, कुछ निःशेष पशुओं का अंकन तथा पशुओं की चित्रण-विधि में पार्शव-दृष्टि से शरीर और सम्मुख दृष्टि से शृ ंगों का आलेखन तथा ऐसी ही कतिपय अन्य वस्तुएँ जैसे चित्रण-स्तरों की अनेकता आदि उपेक्षणीय प्रतीत नहीं होती। साथ ही यह भी सत्य है कि भारतीय चित्रों में न वैसा शक्ति पूर्ण पशु-चित्रण मिलता है और न वैसे बाइसन और

अश्व, ऊनी गैंडे और ऊनी हाथी अथवा मैमथ आदि महाकाय आदिम पशु भी यहाँ अनुपलब्ध हैं। वैसे टैक्टीफार्म भी अंकित नहीं हैं और न उतनी पुरातन, रहस्यमय, केवल अभिचारक, गहन अंधकारमय, नितान्त दुर्गम गुफाएँ ही यहाँ मिलती हैं। वे, आगे उपलब्ध हो सकेंगी, इसकी भी संभावना कम ही है।

३०. शिला-चित्रों में अंकित आकृतियों का रूपगत और प्रकृतिगत साम्य कुछ ज्ञात ऐतिहासिक चित्रों, पात्रांकनों एवं मूर्तियों से भी प्रदर्शित किया गया है तथा उसके आधार पर चित्रों के रचनाकाल की उत्तर-सीमा का निर्धारण किया गया है। वनजातियों की कला और रूप-कल्पना विधि से समता दिखायी गयी है। मेरी दृष्टि पंचमार्क सिक्कों में अंकित कतिपय प्रतीक-चिन्हों तथा मानवाकृतियों की ओर भी गयी है जिनका सादृश्य अनेक शिला-चित्रों में मिलता है। सिंधुघाटी-सभ्यता के भी अनेक प्रतीक तथा देवता, वृक्ष-पूजा एवं आखेट के दृश्य परम्परा के विस्तार और साम्य को कुछ अंशों में निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं परन्तु यह साम्य-सामग्री अभी इतनी पर्याप्त नहीं है कि इसके आधार पर कोई ठोस और व्यापक निष्कर्ष निकाला जा सके। साम्य-निर्देश केवल इतना ही प्रकट करता है कि शिला-चित्रों के निर्माण की सुदीर्घ परम्परा धीरे धीरे आद्यैतिहास और इतिहास काल के सांस्कृतिक प्रसार में अन्तर्निहित हो गयी, यहाँ तक कि उसका मूल-स्रोत और स्वरूप भी तिरोहित हो गया। शिला-चित्रों की खोज और अध्ययन से सही वस्तु-स्थिति का बोध होने लगा है तथा भारतीय परम्परा की अधिक संगत व्याख्या संभाव्य प्रतीत होने लगी है। स्वयं काल-निर्णय सांस्कृतिक दृष्टि से जिस सापेक्षता का आश्रय ग्रहण करके अस्तित्ववान् है उसका वास्तविक अन्वेषण और अनुशीलन अब होने जा रहा है, जिसमें साम्य और वैपम्य दोनों पर ध्यान देना आवश्यक होगा, तभी सत्य हाथ में आ सकेगा।

प्रागैतिहासिक चित्रों में कला-तत्व और भारतीय शिला-चित्र

भारतीय शिला-चित्रों का प्रस्तुत अध्ययन, व्यापक सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास-बोध से सम्पृक्त होते हुए भी कला-दृष्टि को केन्द्र में रख कर किया गया है। सभी खंडों के चित्र-परिचय में मुख्यतया यही दृष्टिकोण अपनाया गया है तथा चित्रों के कलात्मक विन्यास और शैलीगत स्वरूप की व्याख्या, जहाँ जितनी आवश्यक लगी, दे दी गयी है। ऐसी स्थिति में इस अध्याय में मुझे विषय-विस्तार न करके संक्षेप में केवल उन्हीं महत्वपूर्ण समस्याओं एवं विशेषताओं को समग्ररूप से सामने रखना है जिनकी उपेक्षा करना अध्ययन को जान-बूझकर अपूर्ण छोड़ देना होगा। यों, जिस त्वरा से साथ इधर नयी गुफाओं और शिलाश्रयों की चित्र-राशि प्रकाश में आ रही है, और आगे भी उसके अधिकाधिक परिवृद्ध होने की आशा विश्वास में परिणत होती जा रही है, उसको देखते-समझते हुए किसी पूर्णता का दंभ करना निरर्थक ही है। प्रश्न केवल एक आवश्यक कर्त्तव्य के निर्वाह का है जो मुझे उचित लगता है।

कलात्मकता की समस्या और उद्देश्य

सामान्य ही नहीं अपने को विशेषज्ञ समझने वाले व्यक्तियों ने भी शिला-चित्रों की कलात्मकता के प्रति शंका प्रकट की है। उनका कहना है कि जैसे लोक-गीत और लोक-कथा को आभिजात्य एवं वहुमान्य शास्त्रीय अर्थ में 'साहित्य' मानना ठीक नहीं है उसी प्रकार इन प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों को भी कला के प्रतिष्ठित और परिनिष्ठित अर्थ मे सम्पृक्त करना उचित नहीं है। इस शंका का आधार और भी प्रवल दिखायी देने लगता है जब शिला-चित्रों के कतिपय मान्य विशेषज्ञ एवं शोधक इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इन चित्रों की रचना का उद्देश्य कलापरक अथवा सौन्दर्य-दृष्टि मूलक न होकर केवल उपयोगिता वादी, अभिचारपरक अतिविश्वासों से अनुप्रेरित और आदिम अर्थ में धार्मिक ही था। अतः उनको कला-कृति के रूप में देखना सही देखना नहीं है। कहा गया है कि चित्र लोगों को पसंद आने के लिए नहीं वनाये जाते थे, उनकी रचना पशुओं को वशीभूत करने

वाली शक्तियों को प्रसन्न करने से लिए की जाती थी। और इसीलिए वे एक दूसरे पर बना दिये जाते थे। वास्तव में चित्रण के अनेक स्तरों एवं उनके एक पर एक आक्षिप्त होने के अनेक कारण हैं जिनमें स्थानाभाव और उसी क्षेत्र में विभिन्न युगों में विभिन्न मानव-समूहों या जातियों का निवास तथा उनके द्वारा पूर्ववर्ती चित्र-निर्माण परम्परा का संवहन, यह दो मुख्य हैं। इन दोनों कारणों की उपेक्षा करके केवल अभिचारपरक मनोवृत्ति को अनेक स्तरीय चित्रण का कारण मानना उचित नहीं है। वैसा तभी माना जा सकता है जब उसी चित्रकार द्वारा एक आकृति पर बिना समय के व्यवधान के कोई ऐसी आकृति बनायी गयी मिले जो केवल यातु-कर्म से संगति रखती हो। प्रायः एक स्तर से दूसरे स्तर की आकृति में, कोई अर्थगत अनिवार्य सम्बन्ध नहीं मिलता। वस्तुगत और शैलीगत समानता कहीं-कहीं अवश्य मिल जाती हैं। संभव है योरोपीय शिला-चित्रों में यह बात अधिक लक्षित हो सकी हो पर उससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि आक्षेपण का एक मात्र कारण वही है। यों एक चित्र का दूसरे पर बनाया जाना स्वयं एक ऐसी बात है जो कला-चेतना के विरुद्ध प्रतीत होती है परन्तु परिस्थितिगत विवशता यो देखते हुए सौन्दर्य-दृष्टि का सर्वथा अभाव कल्पित करना यथार्थ-सापेक्ष दिखायी नहीं देता।

सबसे मुख्य बात यह है कि सौन्दर्य-बोध और उपयोगिता परम्परा विरोधी प्रत्यय नहीं हैं; और इतिहास की जड़ों में कितना ही प्रवेश क्यों न किया जाय यह सिद्ध करना संभव नहीं है कि मात्र उपयोगिता ही मानव को कलात्मक सृजन की प्रेरणा देती रही है तथा सौन्दर्य-बोध का मानवीय सृजन शीलता से मौलिक सम्बन्ध नहीं है। प्रसिद्ध कला-विशेषज्ञ हर्बर्ट रीड ने इस समस्या पर अपना निर्भ्रान्त मत व्यक्त किया है जो अनुपेक्षणीय है।

वह कला जो कार्य-व्यापार से विच्छिन्न होती है, सदा आत्म सजगता में लीन हो जाने के भय से ग्रस्त रहती है। फिर भी कला वहाँ से आरंभ होती है जहाँ कार्य-व्यापार समाप्त होता है। जहाँ कार्यमूलक रूप अपनी व्यापारगत क्षमता में समान होते हैं, वहाँ ऐसी स्थिति में भी सौन्दर्य-बोध के सहारे चयन का अवकाश रहता है।[२] लेखक का मन्तव्य सर्वथा

---

१. The pictures were not meant to be admired by men. They were meant to please the animal spirits. That is why pictures were often painted one over another.

—दि डान ऑफ मैन, 'कोमान्यो आर्ट' के प्रसंग से

२. Art without function is always in danger of developing self-consciousness; nevertheless art begins where function ends. Where functional forms are equal in operative efficiency, there is still room for the aesthetic sensibility to make a choice.

—आर्ट ऐन्ड सोसायटी, पृ० ६६

स्पष्ट है। सौन्दर्य चेतना का वस्तुत: एक स्वतन्त्र आयाम है जिसमें मनुष्य की बोध-वृत्ति इतर ऐन्द्रिक अनुभवों के समान ही प्रवृत्त होती है और अपनी अनुभूति की विशिष्टता को उसकी मूल्यवत्ता के साथ पहचानती है। वह मनुष्य की प्रकृति का सहज एवं अनिवार्य अंग है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को समझकर ही यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य का बौद्धिक विकास उसमें निहित सौन्दर्य-चेतना के अस्तित्व के लिए नहीं है।

जिस प्रकार उपयोगिता और कार्य-व्यापार की रूपात्मक सीमाओं के द्वारा सौन्दर्य-बोध का निषेध नहीं किया जा सकता उसी तरह बौद्धिकता की विकसित अवस्था भी उसके लिए अनिवार्य नहीं कही जा सकती। आदिम जातियों की कला का विश्लेषण करके हर्बर्ट रीड इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सौन्दर्य-चेतना अधिकांश मनुष्यों में उनकी बौद्धिक स्थिति से निरपेक्ष रूप में प्राप्त होती है।[१] कला अस्तव्यस्तता से पलायन है; वह जड़ता की संकल्पशून्यता में जीवन की लय का सन्निवेश है।[२]

प्रागैतिहासिक चित्रकला में रूप-संयोजन के साथ जीवन का प्रचुर समावेश मिलता है जो कला की उक्त परिभाषा को पूरी तरह चरितार्थ करता है। ऐसी दशा में उसे कला न मानना अनुचित प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि आदिम अवस्था में मनुष्य अपने सौन्दर्य-परक क्रिया-कलाप को जीवन के अन्य व्यापारों से पृथक् करके नहीं देखता था। कला उसकी जीवन-प्रक्रिया का सहज अंग थी। वह एक जटिल क्रिया थी जिसमें आदिम मनुष्य की सारी शक्ति उसके रहस्यात्मक जगत् की इकाई में केन्द्रित मिलती है। अविभाजित जीवन-प्रणाली में सौन्दर्य-वृत्ति का सन्निवेश उसकी पहचान को मिटाता नहीं है और न वह व्यक्तित्वों में प्रकट होने वाली उसकी विविधता को ही समाप्त करता है। यह सुझाना कि आदिम मनुष्य के संदर्भ में सौन्दर्यपरक प्रवृत्ति अस्तित्व ही नहीं रखती थी क्योंकि वह उसके प्रति सजग नहीं था वास्तव में सजगता के तथ्य को सत्ता के तथ्य से उलझा देना है। मनुष्य सभ्यता के आदिम स्तर से जो भी साक्ष्य प्राप्त हुआ है वह यही प्रदर्शित करता है कि सौन्दर्य-प्रवृत्ति मानव-

---

१. That the aesthetic sense is inherent in most people irrespective of their intellectual standing is clearly shown by a consideration of the art of primitive peoples.

—दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृ० ५३

२. Art is an escape from chaos ......it is indetermination of matter seeking the rhythm of life.

—वही, पृ० ३३

मस्तिष्क का अविनाशी घटक-तत्व है।[१] 'मीटिंग प्रिहिस्टारिक मैन' के लेखक वॉन कोनिग्सवाल्ट ने भी पृ० १६० पर यही मत व्यक्त किया है कि यातुमूलकता के होते हुए भी चित्रों से सौन्दर्य-चेतना को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। शिला-चित्र उपयोगिता से इतर तत्वों का अस्तित्व भी प्रमाणित करते हैं।

उपर्युक्त निर्भ्रान्त तात्विक स्थापना से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य वृत्ति को मानवीय चेतना का सहज और अविभाज्य अंग मानना ही उचित है, चाहे प्रारंभिक अवस्था में वह इसके प्रति सजग रहा हो अथवा नहीं। कला के क्षेत्र में थोड़ा बहुत जो भी प्रवेश मैंने किया है उसके आधार पर मैं स्वयं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सौन्दर्य की प्रवृत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व का वैसा ही आन्तरिक रूप व्यक्त करती है जैसा उन्नयन की प्रवृत्ति से प्रकट होता है। यही कारण है कि मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की प्रत्येक ज्ञात अवस्था उसके सौन्दर्य-बोध का भी निश्चित परिचय देती है। उच्चतर सौन्दर्य-चेतना, मेरी दृष्टि से, वाह्य जीवन पर उसकी प्रभुत्व-सम्पन्नता के साथ घटित होने वाले मानसिक विकास का अनुसरण करती रही है। जो उन्मेष आदिम कला में मिलता है वह अप्रतिम है। दुर्गम और अन्धकारमय गुफाओं में मनुष्य ने, स्वल्प साधनों किन्तु अपार एवं अप्रतिहत संलग्नता से, जो चित्र अंकित किये हैं वे भले ही उसके अतिविश्वासमूलक अभिचारपरक कृत्यों से सम्बद्ध रहे हों परन्तु सारी विषमताओं और यातु-क्रियाओं का अतिक्रमण करके जो संतुलन, संयोजन, सामंजस्य और शक्ति रूप-विन्यास में समाविष्ट कल्पना-वैचित्र्य के साथ उनमें आ सकी है वह आकस्मिक और सर्वथा बोध-रहित प्रतीत नहीं होती क्योंकि उसकी स्थिति अपवाद रूप में नहीं एक नियमित परम्परा के रूप में मिलती है। अभिचार-कृत्य के लिए मात्र चित्रण अपेक्षित हो सकता है पर उसमें रूपात्मक सुव्यवस्था तथा उसकी उत्कृष्टता

---

१. That the primitive does not differentiate his aesthetic activity as such. It is simply part of his life-activity—a complex activity involving all his faculties in a world of mystic perception which is a single unity. But the inculsion of the aesthetic faculty in an undifferentiated life-process does not destroy its identity, nor its variability in individuals. *To suggest that the aesthetic impulse does not exist* for the primitive because he can by no means be aware of it, is to confuse the fact of consciousness with the fact of existence. All this evidence from the primitive stage of human culture goes to show that the aesthetic impulse is one of the "irreducible components of the human mind."

—दि आर्ट ऐण्ड सोसायटी, पृ० ५३

और शक्तिमत्ता अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। जैसे पूजा-भाव मूर्ति की सुन्दरता से निरपेक्ष रह कर भी सक्रिय होता दिखायी देता है उसी प्रकार अभिचार-कृत्य भी निकृष्ट कला से सम्पन्न हो सकते थे। परन्तु जब हम आज की कला-चेतना से सम्पन्न तथा नये पुराने प्रायः सभी प्रतिमानों से परिचित होकर भी यह अनुभव करते हैं कि आदिम युग की अनेक कला-कृतियाँ निजी विशेषता रखते हुए, अभिव्यंजना-शक्ति और रूप-संयोजन में असाधारण, उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण हैं, तो उनमें कला-तत्व के निषेध की धारणा निस्सार सिद्ध हो जाती है। उनके भीतर अपने सामयिक संदर्भ की सीमाओं से ऊपर उठ कर सार्वलौकिक और समयातीत होने की क्षमता है और उन्होंने उस मानवीय भाषा को अपना माध्यम बनाया है जो विश्वव्यापी स्तर पर सहज बोध-गम्य है। अपना ऐसा मत व्यक्त करते हुए मैक्स राफायल ने यह भी माना है कि बहुत से प्रागैतिहासिक शिला-चित्र आज भी स्पष्टतया बोध-गम्य नहीं हैं और उनका अर्थ निश्चित नहीं है।[1] राफायल की यह धारणा मेरे विचार से योरोपीय शिला-चित्रों पर ही नहीं संसार के अन्य देशों के चित्रों पर भी लागू होती है, जिनमें भारत भी आता है। यहाँ के भी अनेक शिला-चित्र समय की सीमा के ऊपर उठे हुए दिखायी देते हैं। उनमें विविध प्रकार के भावों का समावेश मिलता है जिसकी व्याख्या यातुमूलक आवश्यकता के रूप में करना संभव नहीं है। हर्ष-विषाद, भय, उत्साह आदि के साथ लीला-भाव भी चित्रित मिलता है।

भारतीय शिला-चित्रों से प्रारंभिक परिचय रखने वाले पर्सी ब्राउन जैसे कलाविद् जो योरोपीय चित्रों की सापेक्षता में उन्हें बहुत श्रेष्ठ कला तत्व से समन्वित नहीं मानते हैं, वे भी उनमें ऊर्जस्वी अभिव्यक्ति और स्वतःस्फूर्त प्रतिपादन लक्षित करते हैं।[2]

आदिम कला के विशेषज्ञ फ्रैंज़ बॉस ने अपने इसी विषय के ग्रंथ की भूमिका में वर्त-

---

१. However, this art is also effective because of its timeless qualities. As few other arts did, it overcame its historical conditions and spoke a universally human, universally understandable language. True, many paleolithic paintings still escape clear intellectual interpretation.

प्रि० के० पे०, पृ० ५०

२. The artistic character of these paintings is not high, it is hardly of the same quality as the pre-historic cave paintings of France and Spain......The drawings show same method of brush work. The chief artistic feature......lies in their spiritual expression and spontaneity of treatment.

—इण्डियन पेंटिंग, पृ० २५४

मान आदिम जातियों की कला के संदर्भ में उसके सार्वभौमिक और सार्वजनीन रूप की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ उल्लिखित की हैं और सौन्दर्यपरक आनन्द को मनुष्य मात्र के द्वारा अनुभूत सत्य माना है। उनकी दृष्टि में प्राविधिक रूपों के बीच प्रवीणता एवं पूर्णता का निर्णय स्वयं एक सौन्दर्य परक निर्णय है तथा कलात्मक और कलात्मकता-पूर्व रूपों के बीच विभाजक रेखा किस जगह खींची जाय, यह बात वस्तुगत आधार पर कह पाना अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि यह निश्चित करना हमारे लिए संभव नहीं है कि कहाँ से सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति आरंभ होती है, कहाँ से नहीं।[१] आदिम कला के क्षेत्र से सम्बद्ध यह बात प्रागैतिहासिक चित्रकला पर भी बहुत दूर तक लागू होती है इसमें संदेह नहीं। इसके विपरीत 'आर्ट ऐण्ड सोशल लाइफ' नामक पुस्तक के रचयिता ने 'श्रम कला से प्राचीनतर है' का प्रतिपादन करते हुए सिद्ध किया है कि उपयोगिता की दृष्टि सौन्दर्य-दृष्टि से पुरानी है।[२] वर्तमान आदिम जातियाँ इतिहास-पूर्व युग की जीवन प्रणाली को बहुत अंशों में अपनाये हुए हैं या कुछ ही शताब्दियों पूर्व उनमें विशेष परिवर्तन घटित हुआ है। परिवर्तन की गति प्राचीन काल में यों भी बहुत मद्धिम दिखायी देती है, कम से कम वर्तमान युग की अत्यन्त क्षिप्र विकासशालता के आगे तो वह और भी मंद लगती है। इस धीमी प्रगति और वन्य जीवन की प्रकृति तथा अनेक रूपों में परम्परा-संवहन की प्रवृत्ति के कारण आदिम-कला की चर्चा प्रगैतिहासिक चित्रों के संदर्भ में अनुचित और अप्रासंगिक नहीं समझी जानी चाहिए। अनेक कला-मर्मज्ञों ने ऐसी चर्चा इससे पहले की है। फैंज़ वॉस ने वुंट (Wundt) का मत उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से कला का स्थान भाषा और मिथक के मध्य में आता है। यह बात मनोविश्लेषण-शास्त्रियों ने अनेक बार बलपूर्वक कही है अतएव मानना होगा कि आदिम जातियों की मनोदशा से प्रागैतिहासिक मानवों की चित्त-वृत्ति का कुछ मेल अवश्य रहा होगा। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समस्त प्रागैतिहासिक चित्रकला आदिम कला की कोटि में आती है।

प्रागैतिहासिक कला के अनेक विशेषज्ञों ने जिनमें गॉर्डन-चाइल्ड, ब्रूई, मैक्स राफायल और ग्रैहम क्लार्क आदि का नाम आसानी से लिया जा सकता है, यह बात सप्रमाण सिद्ध

---

१ The judgement of perfection of technical form is essentially an aesthetic judgement. It is hardly possible to state obviously just where the line between artistic forms should be drawn, because we cannot determine just where the aesthetic attitude sets in.

—प्रिमिटिव आर्ट, पृ० १०

२. वही, पृ० ६५-६६

की है कि इतिहास-पूर्व युग में भी कला के शिक्षण एवं अभ्यास की सुदीर्घ परम्परा विकसित हो चुकी थी। उन्होंने तो प्रागैतिहासिक कला-विद्यालयों की भी कल्पना की है जिनमें चित्रण सिखाया जाता रहा होगा। जिनका पुरातन कला से गहरा परिचय नहीं है उन्हें यह बात अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक ही लगेगी और वे इसे मानने के लिए सहसा कभी प्रस्तुत नहीं होंगे। गॉर्डन चाइल्ड ने लिखा है कि उच्चतर पाषाण-काल के आखेटकों की कला-प्रवृत्ति उनके जीवन की सबसे अधिक आश्चर्योत्पादक और प्रसिद्धि-प्राप्त विशेषता है। उनकी अनेकशः कृतियाँ अपने में श्रेष्ठ कलात्मक गुणों से युक्त दिखायी देती हैं। रोजर फ्राई जैसे महान आधुनिक कलाकार शिला-चित्रों को औत्सुक्य उत्पादक वस्तुओं के रूप में नहीं वरन् कला की श्रेष्ठ उपलब्धियों के रूप में देखते थे। इन कला-कृतियों को सजीवता प्रदान करने में कलाकारों को अतिशय कष्ट उठाना पड़ा होगा। हमारे पास पूर्वाभ्यास के प्रमाण स्वरूप बिखरे हुए पत्थरों पर बनाये गये प्रारंभिक रेखांकन एवं सामान्य आलेखन भी उपलब्ध हैं जो गुफा के भीतर बाद में बनी मुख्य कृति की तैयारी में बनाये गये प्रारूप रहे होंगे।[१] भारतीय संदर्भ में यह बात अभी पूरी तरह प्रमाणित भले ही न हो परन्तु विशाल और श्रम-साध्य चित्र किसी पूर्वाभ्यासजन्य विकसित कौशल के बिना यहाँ भी नहीं बने होंगे, यह असंदिग्ध है। आदमगढ़ के दसवें शिलाश्रय पर समानान्तर दोहरी रेखाओं में बना महामहिष तथा अन्य अनेक चित्र जो कबरा पहाड़ और पँचमढ़ी आदि क्षेत्रों के शिलाश्रयों में बड़ी ऊँचाई पर बने हैं, उत्कृष्ट रचना-कौशल और श्रम-साध्यता का निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। गॉर्डन चाइल्ड की कही हुई बात प्रामाणिक रीति से तो योरोप पर ही लागू होती है पर उसकी संभावनापूर्ण व्याप्ति इतर देशों तक भी मानी जा सकती है।

ए० एच० ब्रूई ने, बिना कलात्मक मनोवृत्ति के जिसमें सौन्दर्य-प्रियता आवश्यक है, किसी महान् कला की सत्ता और विकास की संभावना स्वीकार नहीं की है। वे भी इतिहास

---

१. The most surprising and celebrated aspect of Upper Palaeolithic Cultures is the artistic activity of the hunters. ......In many instances, their products are in themselves of high artistic merit. Great modern artists like the late Roger Fry admire cave paintings not as curiosities but as masterpieces. ...... The artist has evidently been at great pains to make his representation life-like. We even possess trial pieces, rough sketches on loose blocks of stone, made in preparation for the actual masterpiece on the cave wall.

—मैन मेक्स हिमसेल्फ, पृ० ६१-६२

से बहुत पूर्व पाषाण-युगीन सहस्राब्दियों में कला-चेतना और उसकी व्यवस्थित शिक्षण-संस्थाओं की स्थिति मानते हैं ।[१] इतना ही नहीं उन्होंने चित्र-रचना के विविध उपकरणों और उनकी अनेक प्रकार की प्रयोग-विधियों की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या भी की है ।[२] जिन विधियों की ओर उन्होंने निर्देश किया है, उनमें से सब तो नहीं परन्तु अनेक ऐसी हैं जिनका भारतीय शिला-चित्रों में भी प्रयोग मिलता है । कबरापहाड़ की क्षेपांकन-विधि में असंभव नहीं है कि नली से फूंक कर रंग विकीर्ण किया जाता रहा हो । योरोप में तो इस प्रकार की रचना-विधि निश्चित रूप से प्रचलित थी ।

मैक्स राफायल ने, जिनके मत का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है, ने पाषाण-युगीन कलाकारों की क्षमता को सीमित करने वाले आरोपों का शक्ति के साथ खंडन करते हुए लिखा है कि जो अभाव बताये जाते हैं, वास्तविकता हमें उनके ठीक विपरीत मिलती है । शिला-चित्रों में हमें न केवल समूहांकन मिलता है वरन् ऐसे संपुंजन भी प्राप्त होते हैं जो गुफा की पूरी दीवार या छत को आच्छादित किये हुए हैं । हमें स्थान (दिक्) का निदर्शन और बीती हुई घटनाओं के ऐतिहासिक चित्र भी मिलते हैं पर यदि कुछ नहीं मिलता है तो आदिम कला ही नहीं मिलती है ।[३] राफायल ने जो कुछ कहा है उससे उनकी भ्रान्त धारणाओं का सीधा खंडन हो जाता है जो शिला-चित्रों को कला की कोटि में ही नहीं मानना चाहते अथवा यदि मानते भी हैं तो आभिजात्य कला के श्रेष्ठ संस्कारों से रहित आदिम कला की कोटि में स्थान देते हैं । मेरी दृष्टि से राफायल अतिवाद के दूसरे बिन्दु पर हैं क्योंकि शिला-चित्रों में आदिम तत्वों का सर्वथा निषेध करना संभव नहीं है । प्रागैतिहासिक युग में भी कुछ दौर

---

१. Without the artistic temperament, with its adoration of beauty, no great art could exist nor develop. ......That there were colleges of artists, far from each other, but subject to the same conventions and same fashions is also certain...... This Art was born from a spark of genius in some few Men, before these institutions existed.

—फो० ह० सें० के० आ०, पृ० २३-२४

२. —वही, पृ० ४४-४५

३. The exact opposite of all this is true : we find not only groups but compositions that occupy the length of an entire cave wall or the surface of a ceiling, we find representation of space, historical paintings and even the golden section but we find no primitive art.

प्रि० के० पे०, पृ० १

ऐसे आये हैं जब चित्रकला आदिम-कला की सीमाओं से ऊपर उठकर भी, उसकी जैसी शक्ति लिए हुए, एक विचित्र किन्तु प्रौढ़ रूप में व्यक्त हुई है। भारतीय शिला-चित्रों में मिश्रित स्थिति मिलती है। आदिम प्रवृत्ति के चित्र प्रचुर मात्रा में अंकित मिलते हैं परन्तु सुरुचि और परिष्कृत रूप-बोध वाले चित्र भी अलभ्य नहीं हैं। उनका अनुपात अवश्य कम है पर उनकी सत्ता इस बात को सिद्ध करती है कि भारतीय प्रागैतिहासिक चितेरे भी समय और साधनों की सीवा से ऊपर उठने की यथेष्ट शक्ति रखते थे। संतुलन और संपुंजन की चारुता और कल्पनाशीलता उनका प्रधान गुण दिखायी देती है। स्वभाव का सूक्ष्म अंकन उनकी महत्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है जो प्रारंभिक काल से लेकर बाद तक प्रायः अखंड रूप में विकसित होती रही। राफायल ने प्रागैतिहासिक कलाकार की तुलना आधुनिक कलाकार से करते हुए लिखा है कि वह यातुधान या अभिचारी की विशेष सम्मान्य स्थिति में था जब कि आज वह समाज से बहिष्कृत सा होकर उसकी केन्द्रीय उपयोगिता से बाहर रहकर जीने को विवश हो गया है।[१] यह कथन इस अर्थ में तो ठीक लगता है कि कलाकर उस युग में चित्र-रचना की शक्ति रखने के कारण दैवी-शक्ति का प्रतिनिधि और नियामक माना जाता था तथा आखेट-जीवी समाज की उस समय की स्थिति में वह अद्वितीय महत्ता रखता था परन्तु यह महत्त्व उसके दोहरे व्यक्तित्व और चित्र के साथ सम्बद्ध यातुमूलक विश्वासों के कारण इतना अधिक माना जाता था, केवल चित्रकार होने के नाते नहीं। ऑड्रिक ने ठीक ही लिखा है कि जादू के साथ उस कला का जादू भी चला गया।[२] मुझे नाम स्मरण नहीं है पर किसी ने भिन्न दृष्टि से कला और यातु-क्रिया के सम्बन्ध को देखते हुए लिखा है कि आज भी जो कला का प्रभाव पड़ता है वह क्या जादू के प्रभाव जैसा नहीं है। चाहे जिस रूप में देखें कला के साथ उसके असाधारण प्रभाव की प्रतीति सदा से होती रही है। सेसिल डेलीविस ने यातुमूलक व्याख्या को मानते हुए भी कलाकार की स्थिति को राफायल की तरह गौरव नहीं दिया है। उनके अनुसार आदिम चित्रकार समाज द्वारा उन वस्तुओं से वंचित

---

१. In the Old Stone Age, the artist was sorcerer, a privileged member of his clan, today the artist is a pariah, an outcast, forced to live on the margin of society.

—वही, पृ० ५१

२ With magic went the art.

—प्रि० पे०, पृ० ४

रखे जाते थे जिन्हें वे रूपायित करके उपलब्ध मान लेते थे।[1] लीविस ने जो घुमावदार बात कही है उससे तो राफायल का सारा कौतुक ही समाप्त हो जाता है क्योंकि एक मत कलाकार को समाज-बहिष्कृत विपन्न और संघर्परत रूप में प्रस्तुत करता है जब कि दूसरा मत उसे समाज का अग्रणी' नियामक और प्रभुता-सम्पन्न सदस्य घोषित करता है। लीविस की सूझ अच्छी और विचारणीय है पर जो प्रमाण अभी तक मिले हैं उनके आधार पर यथार्थ राफायल के ही पक्ष में प्रतीत होता है।

ग्रैहम क्लार्क ने भी शिला-चित्रों में देशकालव्यापी सुस्पष्ट शैली-भेद देखकर यह संकेत ग्रहण किया कि उस युग की कला का संवहन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा होता था। परन्तु ऐसा समाज पूरे समय के लिए कलाकारों को नियुक्त करने का सामर्थ्य नहीं रखता होगा और यह सोचना ग़लत होगा कि चित्रण 'कला कला के लिए' होता था।[2] समाधान के रूप में वही यातुमूलक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है जिसके अनेक प्रमाण योरोपीय चित्रों में मिलते हैं। निष्कर्ष रूप में, उक्त चारों प्रमुख व्याख्याताओं के मत पर कहा जा सकता है कि योरोप के शिला-चित्रों में कलात्मकता इतनी विकसित मात्रा में मिलती है कि उसे किसी न किसी रूप में शिक्षण-सापेक्ष मानना अनिवार्य हो जाता है। वह कला नहीं है या है तो केवल साधारण लोक-कला नहीं है ऐसा समझना और उसपर आग्रह करना बौद्धिकता का द्योतक नहीं है। रही भारतीय चित्रों की बात तो उनमें भी प्रायः वे सभी बातें उपलब्ध हो जाती हैं जिससे अभ्यासजन्य कला-परम्परा और यातुमूलक कर्मकांड का अस्तित्व तथा पारस्परिक सम्बन्ध प्रमाणित होता है। यहाँ के लिए यह कहना अवश्य कठिन है कि शिक्षण-परम्परा भी वैसी ही रही होगी, क्योंकि वैसे प्रस्तर खंड जिनपर योंही अभ्यासार्थ रूपांकन किया गया हो, मेरे

---

१. About the primitive artist two guesses are almost certain to be correct. First that he produced natural objects in the belief that thus he would gain control over those objects. Second, corollary to the first point, that the primitive artists were men for some physical reason denied the control over objects which was possessed by their fellow men.

—ए होप फॉर पोएट्री, पृ० ८८

२. The existence of well defined styles, in region and time, suggests that the art was transmitted from master to pupils. But such a society could not maintain full-time artists, and it would be quite wrong to assess the paintings as art created for arts' sake······

—दि डान ऑफ सिविलाइज़ेशन, पृ० २२ तथा १६ पर भी

देखने में नहीं आए हैं। उसी विषय का चित्रण और उत्कीर्ण अवश्य प्रमाणित होता है जिसमें चित्रण प्रधान और उत्कीर्णन अभ्यासार्थ किया गया प्रतीत होता है। द्रष्टव्य—खंड-५ फलक X, चित्र सं. १, पृ. ३२६, अपूर्ण चित्र भी अनेक मिलते हैं जैसे कबरापहाड़ के कुछ पशु-चित्र द्रष्टव्य—पृ.२०५। देश-भेद से प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों की कलागत समस्याओं में कोई मौलिक अन्तर आ जाता हो ऐसा मुझे नहीं लगता। कारण यह कि सांस्कृतिक विकास की दिशा और क्रम प्रायः एक-सा ही मिलता है फलतः मूल समस्याएँ भी बहुत भिन्न नहीं हैं। सारे प्रागैतिहासिक कला विकास में भारत के भीतर किसी भी क्षेत्र में कलात्मक परिपक्वता आयी ही नहीं, और योरोप या अफ्रीका में वह सर्वत्र मिलती है, ऐसा सोचना भ्रामक है। यहाँ जो बात विशेषतः सामने लाने का यत्न किया गया है वह यह कि शिला-चित्रों की कला को मात्र लोक-कला, आदिम कला अथवा प्रकृत्या हीन कला ही मान लेना विषय मे अभिज्ञता के नाम पर अनभिज्ञता प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे कला के इतर क्षेत्रों में हीनता और श्रेष्ठता मिश्रित रूप में मिलती है वैसी ही स्थिति शिला-चित्रों की भी है। उद्देश्य के विषय में भी, न तो यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य बोध था ही नहीं और न यह कि केवल सौन्दर्य बोध ही उनका प्रेरक था और कुछ नहीं।

प्रागैतिहासिक चित्रों की विविध शैलियाँ और उनका विकास-क्रम

इस समस्या के उत्तरांश अर्थात विकास-क्रम की स्थिति पर काल-निर्णय के प्रसंग में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। गॉर्डन, डॉ० राधाकान्त वर्मा तथा वाकणकर एवं कुछ अन्य शोधकों के द्वारा रायगढ़, पँचमढ़ी, होशंगाबाद, मिर्जापुर और चम्बलघाटी आदि क्षेत्रों में जो स्तर-क्रम निर्धारित किया गया है वह चित्रों के शैली-पक्ष को ही आधार बनाकर किया गया है। परन्तु दृष्टिकोण काल-निर्धारण पर केन्द्रित होने के कारण शैली की निजी समस्याओं को प्रधानता नहीं मिल सकी। शैलियों का सूक्ष्म विश्लेषण और विभाजन, उन की विशेषताओं का सम्यक् निदर्शन तथा उनके विविध रूपों के विकास के पीछे निहित मौलिक उद्भावना-शक्ति का प्रामाणिक परीक्षण नहीं किया गया है। वास्तव में यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब चित्रों की यथावत् अनुकृतियाँ अथवा बहुवर्णी छायाचित्र, कुछ स्थितियों में दोनों ही, प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों। फिर इसके लिए जितनी बारीकी से चित्रों के यथार्थ रूप को अनुकृत एवं वर्गीकृत करने की आवश्यकता है वह भी अभी यथेष्ट रीति से सम्पन्न नहीं हुआ है। किसी भी क्षेत्र के सब चित्र प्रकाश में नहीं आ सके हैं। चित्र परिचय देते हुए प्रस्तुत ग्रंथ के अन्तर्गत समाविष्ट चित्रों की महत्वपूर्ण शैलीगत विशेषताओं

को यत्किंचित लक्षित और निर्दिष्ट करने की चेष्टा की गयी है पर उसकी भी सीमाएँ रही हैं। अभी तक काल-निर्णय की समस्या ही प्रधान मानी जाती रही है और उसमें संदिग्धता वनी रहने के कारण चित्रों के शैली-पक्ष को प्रमुख रूप से प्रस्तुत करने की प्रेरणा भी अधिक नहीं हुई है। वस्तुतः इस पर भविष्य में उसी प्रकार गंभीरतापूर्वक कार्य किया जाना अपेक्षित है जैसा पाषाणास्त्रों को लेकर किया जा रहा है अथवा जैसा योरोपीय चित्रों को लेकर किया जा चुका है। आगे भारतीय शिला-चित्रों के शैलीगत वैविध्य को संक्षेप में क्रमशः प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। साथ ही शैली विशेष के स्वरूप का सम्यक् बोध कराने की दृष्टि से सम्बद्ध चित्रों एवं छाया-चित्रों की ओर आवश्यकतानुसार संकेत भी कर दिया गया है।

शिला-चित्रों के व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर निम्नलिखित पाँच चित्रण शैलियाँ प्राथमिक महत्त्व से युक्त सिद्ध होती हैं-

I. पूरक शैली
II. अर्धपूरक शैली
III. रेखा शैली
IV. अलंकृत शैली
V. क्षेपांकन शैली

इनके मिश्रण से यह पाँच यौगिक शैली-रूप और सामने आते हैं जो एकाकी अंकनों की अपेक्षा समूहांकनों में विशेष रूप से लक्षित होते हैं–

१. पूरक शैली+अर्धपूरक शैली
२. पूरक शैली+अलंकृत शैली
३. अर्धपूरक शैली+अलंकृत शैली
४. अर्धपूरक शैली+रेखा शैली
५. पूरक शैली+रेखा शैली

यदि पूरक-विधियों के उन समस्त रूपों का आकलन किया जाय, जो पूरक और अर्धपूरक शैलियों तथा उनके वहुविध मिश्रणों में प्राप्त होते हैं, तो उनमें अगणित भेद-उपभेद किये जा सकते हैं। मुख्य शैलियों के स्वरूप-विस्तार में उनमें से कुछ अनुपेक्षणीय भेदों का समावेश कर लिया गया है।

'विधि' और 'शैली' दो स्वतन्त्र शब्द हैं जिनसे विविध प्रकार की रचनात्मक विशेषताओं का परिचय मिलता है। 'विधि' उद्भावनामूलक पूर्व अवस्था का द्योतन कराती है जब कि 'शैली' से प्रयोगसिद्ध, व्यापक एवं परिपक्व अवस्था का बोध होता है। ऐसी

अनेक अंकन-विधियाँ हैं जो कालान्तर में शैली विशेष के रूप में प्रचलित होकर व्यापक स्वीकृति पा सकीं। अतएव चित्रण शैलियों से अंकन विधियों को पृथक् करना अनुपयुक्त नहीं है। शिला-चित्रों के संदर्भ में जो अंकन विधियाँ महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय प्रतीत होती हैं वे इस प्रकार हैं-

(i) **एकाकी अंकन**—शिला-चित्रों में प्रायः पशुओं, मानवों और इतर वस्तुओं का अंकन स्वतन्त्र इकाई के रूप में होता रहा है। अश्वारोही आदि अपवाद युग्मक इकाई के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं।

(ii) **समूहांकन**—पशु-समूह अथवा मानव-समूह का जहाँ भी चित्रण मिलता है वहाँ वह एकाकी अंकन की प्रकृति के विरोध में न होकर उसी पर आधारित दिखायी देता है। अतः समूह का अर्थ है अनेक स्वतन्त्र इकाइयों का संघटन। परवर्ती कला में जैसे आगे-पीछे की स्थिति आकृतियों को दूसरे के ऊपर सम्मिलित रूप से चित्रित करके प्रदर्शित की जाने लगी वैसी विधि प्रागैतिहासिक चित्र-कला में नहीं मिलती।

(iii) **आवद्ध अंकन**—यह विधि रचना की दृष्टि से आकल्पनात्मक प्रकृति को व्यक्त करती है भले ही इसके पीछे उद्देश्य कुछ और भी निहित रहा हो। एक या अनेक आकृतियों को कभी आयत और कभी वृत्त से घेर देने की प्रवृत्ति, जो लोक-कला में बहु-प्रचलित है, शिला-चित्रों में भी कहीं-कहीं पायी जाती है। (द्र० मा० फ० X चित्र सं० १ तथा पू० प्र० फ० III, चित्र सं० १ एवं प० प० फ० XXXIV)।

(iv) **संश्लेषात्मक अंकन**—आकृति विशेष से सम्बद्ध वस्त्र, आयुध तथा भूषा-उपकरण; उँगलियाँ, केश, हाथ-पैर आदि शारीरिक अवयव सब कुछ एक दूसरे से सम्बद्ध रूप में ऐसे चित्रण करना कि वह आकृति एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में उभर कर सामने आ सके। अधिकांश चित्र इसी विधि से बने मिलते हैं।

(v) **विश्लेषणात्मक अंकन**—कहीं-कहीं आकृतियों के वेश-भूषा परक उपकरणों और आयुधों को ही नहीं अवयवों तक को परस्पर विच्छिन्न रूप में अंकित किया गया है (द्र०, मा० फ० V चित्र सं० ५, एवं फ० VI चित्र सं० २ तथा प० प० फ० X चित्र सं० १ एवं XXI चित्र सं० १)। ऐसे अंकन में विश्लिष्ट वस्तुओं एवं अवयवों के सामीप्य के कारण विच्छेद उनके काल्पनिक सम्बन्धन में इतना बाधक नहीं हो पाता कि आकृति का अर्थ ही प्रकट न हो सके।

(vi) **रूपानुसारी अंकन**—जहाँ चित्रित रूप मूल वस्तु के भौतिक रूप का अनुसरण करता हुआ चलता है वहाँ इसी अंकन-विधि की स्थिति मिलती है। इसके तीन रूप लक्षित होते हैं।

१. यथार्थ २. काल्पनिक ३. पारदर्शी

यथार्थ रूप वास्तविक जगत के परिप्रेक्ष्य का आश्रय ग्रहण करता है। शिला-चित्रों में शुद्ध परिप्रेक्ष्य मुख्यतः मानवाकृतियों के चित्रण में मिलता है। पशुओं का अंकन मिश्रित परिप्रेक्ष्य से हुआ लगता है। कुछ वस्तुओं के चित्रण में ऊर्ध्व दृष्टि का भी परिचय मिलता है जैसे गाड़ी के पहिए आदि। यह मिश्रण यथार्थ रूपात्मक होते हुए भी कल्पना द्वारा घटित होता है। अतः इसे अंशतः काल्पनिक भी कहा जा सकता है। वैसे प्रतीकों और देवाकृतियों में कल्पना का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्ध में पूजा-प्रतीक वाले खंड के चित्र विशेप रूप से द्रष्टव्य हैं। पारदर्शी रूप-चित्रण आधुनिक शब्दावली में एक्सरे-दृष्टि से किया गया चित्रण कहा जा सकता है। पर प्रागैतिहासिक युग में यथार्थ के अनुभवजन्य रूप और कल्पना के सोद्देश्य प्रयोग के द्वारा ऐसा पारदर्शी अंकन भी संभव हो सका यह आश्चर्य का ही विपय है। इसे चित्रकारों की असाधारण रूप से जागृत अन्तर्दृष्टि का प्रमाण कहा जा सकता है (द्र० प० प० फ० VI चित्र सं० १ एवं फ० XXX चित्र सं० २)। इन चित्रों में वंद मुँह वनाते हुए भी भीतर के दाँत प्रदर्शित हैं तथा रीढ़ की हड्डी और उसके जोड़ तक दिखाये गये हैं। इतना गहन वस्तु-वोध संभवतः परवर्ती चित्रकला के किसी भी स्तर में नहीं मिलता।

(vii) **भावानुसारी अंकन**--शिला-चित्रों की रूप-योजना सर्वथा भाव-रहित नहीं कही जा सकती। कुछ चित्रों में तो भाव का उससे सम्बद्ध मुद्राओं के साथ स्पष्ट चित्रण मिलता है। भय, आवेग, उद्वेग, उल्लास, उन्माद, सहानुभूति, श्रद्धा, प्रेम, मैत्री तथा क्रीड़ा-परिहास आदि अनेकानेक भावों का प्रभावपूर्ण अंकन हुआ है। किन्तु यहाँ इन विशेप भावों के प्रदर्शन से भिन्न सामान्य भावात्मक मनोभूमि पर प्रतिष्ठित कभी सहज और कभी अतिरंजनात्मक रूप में व्यक्त होने वाले अंकन की ओर ध्यान दिलाना ही अभीष्ट है। शिला-चित्रों में अवयवों के अंकन में अनेक प्रकार की अतिरंजना मिलती है जो वहुधा चित्रण के पीछे निहित भाव के कारण उत्पन्न प्रतीत होती है। कुछ स्थलों पर उसे रूढ़, परम्परागत एवं शैलीवद्धताजन्य भी माना जा सकता है, पर मूलतः उसे भाव से सर्वथा असम्पृक्त नहीं माना जा सकता।

(viii) **गतिशील अंकन**--अधिकतर शिला-चित्र जीवन की अप्रतिहत सक्रियता से समन्वित दिखायी देते हैं इसीलिए उनमें गति का विशेप योग मिलता है। चित्र अपने में स्थिर माध्यम होकर भी कैसे गतिशीलता को सफलतापूर्वक व्यक्त करता है, यह प्रागैतिहासिक चित्रकला में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जिन मुद्राओं में आकृतियों को रूपायित किया गया है वे प्रायः गतिशील अवस्था से सम्बद्ध रही हैं। कम चित्र ऐसे मिलते हैं जिनमें नितान्त स्थिर

दशा का चित्रण हुआ हो। गति का बोध कराने में अतिरंजना का भी प्रचुर प्रयोग किया गया है।

अंकन विधियों के इस संक्षिप्त परिचय के अनन्तर प्रारंभ में निर्दिष्ट पाँच प्रमुख चित्रण-शैलियों का वर्णनआवश्यक प्रतीत होता है। इन मुख्य शैलियों में अनेक पूर्वोक्त विधियों का अन्तर्भाव मिलता है इसीलिए पहले अंकन-विधि के विविध रूपों पर दृष्टिपात करने के बाद शैलियों का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है।
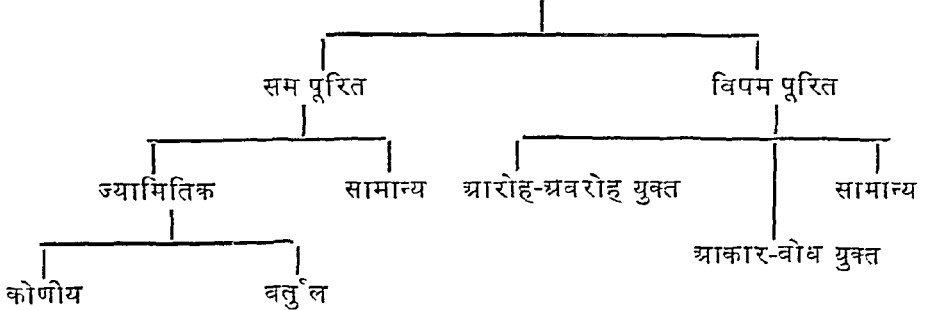
भारतीय शिला-चित्रों को समग्र रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि यह पूरक शैली चित्रण की सब से अधिक व्यापक और आदिम शैली है। कहा जाता है कि मनुष्य ने अपने रूप का प्राथमिक बोध अपनी छाया देख कर ही प्राप्त किया होगा तथा अन्य वस्तुओं की छाया पर भी उसका ध्यान अवश्य ही केन्द्रित हुआ होगा। सुबह और शाम के झुटपुटे में अथवा गहन वनों के स्वाभाविक अन्धकार में सजीव आकृतियों का बोध प्रायः छाया-रूप ही होता है और आदिम मनुष्य का उससे घनिष्ठ परिचय रहा होगा। फलतः जो रूप कला की आदिम अवस्था में उद्भूत हुए उनमें केवल बाह्य आकार की ही प्रधानता रही और भीतरी आवयविक रूप-रेखा अनावश्यक दिखायी दी। पूरक शैली अर्थात् केवल एक रंग द्वारा आपूरित अंश से वस्तु-बोध कराने की व्यापक और सहजतम विधि, इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई होगी। इस बात को उलट कर भी कहा जा सकता है कि अधिकतर एक रंग, जो प्रायः गैरिक होता था, सुलभ होने के कारण तथा चित्रण-कला की प्रारंभिक अवस्था में शिल्प कौशल के अविकसित होने से यही विधि संभव हो सकी। परन्तु सत्य दोनों के मध्य में स्थित दिखायी देता है, क्योंकि उपकरण मानसिक प्रक्रिया के आश्रित होकर ही कला में प्रयुक्त होते हैं। वे कला के नियामक अंशतः ही माने जा सकते हैं। इस शैली में गेरुए रंग के अतिरिक्त लाल रंग के कत्थई आदि अनेकानेक प्रकार प्रयुक्त हुए हैं

तथा पँचमढ़ी और उसके आस-पास के क्षेत्रों में सफेद रंग का भी व्यापक प्रयोग मिलता है। मटमैला, पीला, बैंगनी तथा काला रंग भी इस शैली में प्रयुक्त हुआ है। वर्ण-प्रयोग की दिशा में और भी वैविध्य मिलना संभव है।

पूरक शैली में प्राय: जिन रंगों का प्रयोग किया गया है वे अपारदर्शी प्रकृति के हैं। मिट्टी जैसे होने के कारण अंग्रेज़ी में उन्हें ऑकर (Ochre) कहा जाता है। उनके द्वारा आपूरित् भाग में नीचे की सतह का रंग नहीं झलकता है, साथ ही रग की गहराई उतार-चढ़ाव रहित प्राय: सर्वत्र एक जैसी प्रतीत होती है। इसी कारण ऐसे पूरण से युक्त सतह को 'समपूरित' कहा गया है (द्र० प० प० फ० XIII और XIV के चित्र) कुछ रंग इससे भिन्न प्रकृति के होते हैं। अधिक घुलनशीलता के कारण वे पारदर्शी हो जाते हैं। इनके द्वारा किया गया पूरण सामान्यतया विषम ही रहता है उसमें समता लाना कष्ट-साध्य होता है और वह प्रयत्नपूर्वक ही संभव है। शिला-चित्रों में जहाँ कहीं ऐसी स्थिति मिलती है उसे 'विषम पूरित' वर्ग में रखा जा सकता है। इसमें सामान्य से भिन्न दो अन्य प्रकार और मिलते हैं। एक में संतुलित क्रम से उतार-चढ़ाव लक्षित होता है। शारीरिक अवयवों को उभारने में इस विधि का प्रयोग किया गया है। (द्र० आ० दृ० VI चित्र सं० १) इससे भिन्न एक प्रकार और है जिसमें रंग का आरोह-अवरोह किन्हीं विशिष्ट आकारों या रूपों का बोध करता हो। चाहे वे पूरी तरह स्फुट होते हों अथवा न होते हों पर उनकी प्रतीति अवश्य होती है। जहाँ यह स्पष्ट और सोद्देश्य होकर प्रयुक्त हुआ है वहाँ चित्र यथार्थ रूप के बहुत निकट दिखायी देता है (द्र० प० प० फ० IV चित्र सं० १, २ तथा XXIV चित्र सं० १)। ज्यामितिकता विषमपूरित चित्रों में नगण्य रूप से मिलती है परन्तु समपूरित चित्रों में वह 'कोणीय' और 'वर्तुल' दो रूपों में स्पष्ट लक्षित होती है। पूरक शैली में चित्र का बाह्याकार विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि उसी से आकृति का बोध होता है। कलात्मकता के कारण बहुधा उसमें ज्यामितिक रूप प्रकट हो उठता है। जब यह रूप कोनेदार उभारों से युक्त होता है तो इसे 'कोणीय' कहा जा सकता है और जब इसमें गोलाइयाँ उभरती हों तो 'वर्तुल'। इस संदर्भ में क्रमश: पशु-पक्षी खंड से फलक VII का पहला और तीसरा चित्र द्रष्टव्य है। कहीं-कहीं 'कोणीय' और 'वर्तुल' रूपों का मिश्रण भी हुआ है पर उससे कोई कलात्मक उपलब्धि न होने के कारण उसे वर्गीकरण में स्थान नहीं दिया गया है।

पूरक शैली सरलतम होते हुए भी अभिव्यक्ति में पर्याप्त सक्षम सिद्ध हुई है और इस शैली में निर्मित अनेक शिला-चित्रों में न केवल आकार प्रकट होता है वरन् उससे भाव और मुद्रा का भी सम्यक् बोध होता है। उसका रूप 'सिलहूट' चित्रों जैसा छाया-भास दिखायी देता है।
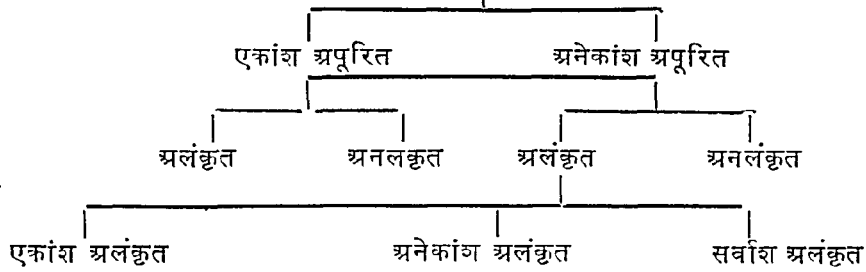
अर्धपूरक शैली वस्तुतः पूरक शैली का ही एक ऐसा प्रकार है जिसमें आपूरण चित्र के पूरे विस्तार में न करके उसके भीतरी भाग में एक या अनेक अंश अपूरित अथवा रिक्त छोड़ दिये जाते हैं। इसे उसके भेद या उपभेद रूप में प्रस्तुत न करके एक स्वतन्त्र शैली के रूप में मान्यता देने के मुख्यतया दो कारण हैं। एक है इसका प्रयोग बाहुमूल्य तथा दूसरा, अलंकरण के संयोग से उत्पन्न विशिष्ट कलात्मक प्रभाव। जहाँ अपूरित अंश अथवा अंशों में कुछ भी अलंकरण नहीं होता वहाँ रिक्त अंश स्वयं अलंकार रूप प्रतीत होते हैं। अतएव समग्र रूप से इस शैली की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार ही करना ही उचित है। इस शैली के अस्तित्व से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि इसमें पूरण-प्रक्रिया को अधूरा क्यों रहने दिया जाता है? यदि शिला-चित्रों की व्याख्या केवल यातुमूलक आधार पर की जाय तो अपूरित अंशों की स्थिति, प्रकृति, अलंकृति तथा रूपात्मक संगति को समझना-समझाना संभव नहीं होगा किन्तु यदि सौन्दर्य-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में उन्हें देखा जाय तो कला के सैद्धान्तिक आधार पर उनकी बुद्धिसंगत व्याख्या संभव ही नहीं, संतोषप्रद भी लगती है। मेरे विचार से सौन्दर्य-बोध को प्रधान मान कर ही शिला-चित्रों की सम्यक् व्याख्या की जा सकती है। यातुमूलकता का सम्बन्ध केवल उसकी विषय-वस्तु और उद्देश्य से हो सकता है और वह भी आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। कला की रचना-प्रक्रिया में किसी भी स्तर पर यह कल्पना नहीं की जा सकती कि सौन्दर्य-बोध का आत्यन्तिक अभाव रहा होगा, क्योंकि रूप-विन्यास का एक आयाम सौन्दर्यपरक होता ही है और कला के क्षेत्र में वही विशेष विचारणीय एवं महत्वपूर्ण होता है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि भी उसी को केन्द्र में रख कर सही ढंग से स्पष्ट की जा सकती है।

अर्धपूरक शैली में कुछ अंश अपूरित छोड़ देने का एक स्थूल कारण श्रम और रंग बचाने की प्रवृत्ति है। स्वल्प श्रम और सामग्री से अमित प्रभाव उत्पन्न करने वाले रूपाकार की सृष्टि करने का संकल्प भी कलाकार की सृजन-सामर्थ्य और सहज प्रकृति के अनुकूल

होता है। फिर यदि अपूर्णता से और अधिक पूर्णता का वोध उत्पन्न किया जा सके तो वह एक कलात्मक उपलब्धि ही कही जायेगी। भारतीय शिला-चित्रों में यह कलात्मक विधि अन्यतम रूप में मिलती है और इसे एक प्रधान विशेषता मानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। प्रारंभ में कुछ दूर तक अपूरण श्रम और रंग बचाने की प्रवृत्ति से भले ही किया गया हो पर वही एक मात्र इसका कारण नहीं है। अलंकरण की प्रवृत्ति पर आधारित प्रभाव वैशिष्ट्य उत्पन्न करने की कामना, अपूर्णता से पूर्णता का वोध कराने की भावना तथा एक नवीन रचना विधि की उद्भावना एवं अनुसरण का परितोष भी कारण रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। कहना न होगा कि कला की दृष्टि के यह कारण अधिक महत्ता रखते हैं।

'एकांश अपूरित' के 'अलंकृत' और 'अनलंकृत' रूपों के उदाहरण पशु-चित्रों में सरलता से मिल जाते हैं (द्र० प० प० फ० XI तथा फ० XIX के अनेक चित्र)। 'अनेकांश-अपूरित' से भी उक्त दोनों रूप प० प० फ० VI पर क्रमशः चित्र सं० १ और २ में देखे जा सकता है यद्यपि दूसरा चित्र आदर्श उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इस विभाजन में अलंकृत वर्ग के तीन उपरूप निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें से 'एकांश अलंकृत' को प० प०, फ० II, चित्र सं० १, 'अनेकांश अलंकृत' को आ० दृ०, फ० IV, चित्र सं० १, तथा 'सर्वांश अलंकृत' को प० प०, फ०, VI, चित्र सं० १ में लक्षित किया जा सकता है। 'एकांश अलंकृत' का और अच्छा उदाहरण मिल सकता तो अधिक उपयुक्त होता। यदि अलंकरण विधियों के आधार पर देखा जाय तो और भी भेद-प्रभेद संभव हैं पर वे आवश्यक नहीं हैं क्योंकि इस शैली का मूल आधार अपूरण है, उसका अलंकृत पूरण किस प्रकार किया गया, यह बात गौण। है ऐसा प्रभेद-विस्तार जिसमें मौलिक विशेषता या आधार तिरोहित हो जाय, ह्रासोन्मुखी मनोवृत्ति का ही परिचायक होता है।
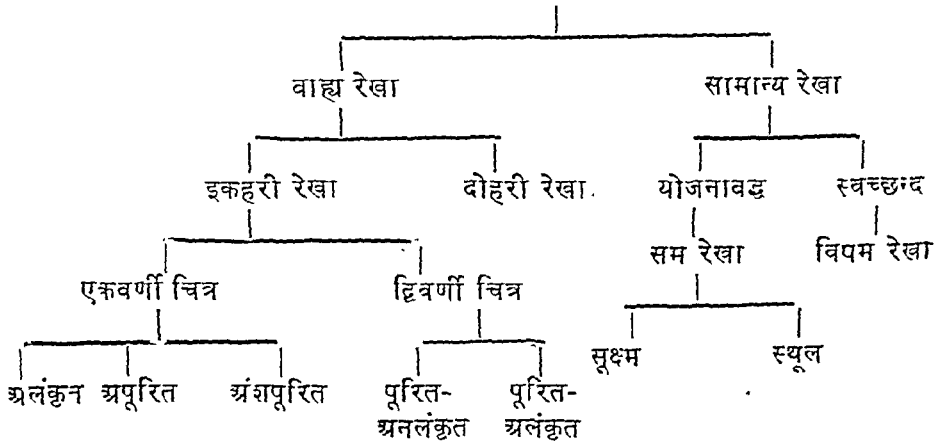
भारतीय कला-दृष्टि ने रेखा को चित्रांकन में तत्वतः सर्वोपरि महत्ता दी है और चित्रों के सौन्दर्य-परीक्षण एवं मूल्यांकन में भी उसे प्रथम स्थान प्रदान किया है। शिला-चित्रों में रेखांकन का अद्भुत और वैविध्यपूर्ण प्रयोग उक्त धारणा को और अधिक पुष्ट करता है तथा उसकी पृष्ठभूमि को अकल्पनीय विस्तार दे देता है। प्रागैतिहासिक कला में रेखा की शक्ति का भरपूर उपयोग किया गया है तथा उसे विशिष्ट गरिमा भी प्राप्त हुई है। रेखा का अस्तित्व प्रातिभासिक है अतः उसमें मनोव्यापार और कल्पना का योग अनिवार्यतः रहता है। यद्यपि कलागत सभी रूपों में कल्पना का न्यूनाधिक समावेश होता ही है किन्तु रेखा-शैली में कल्पनात्मकता का विशेष प्रस्फुटन होता है; मुख्यतया वहाँ, जहाँ उसमें लय का अन्तर्भाव मिलता है। इस शैली के भेद-विस्तार में कल्पना और लय आदि तत्त्वों का आधार ग्रहण न करके चित्रण-प्रक्रिया में रेखा की विभिन्न स्थितियों एवं उपयोग को आधारभूत माना गया है, क्योंकि अन्य शैलियों का स्वरूप भी प्रायः वैसे ही प्रस्तुत किया गया है।

वाह्यरेखात्मक चित्रण को वाह्यरेखानुकृतियों में देखना भ्रमात्मक होगा। कारण यह है कि अधिकांश वाह्यरेखा रूप में प्रस्तुत अनुकृतियाँ पूरक, अर्धपूरक तथा अलंकृत शैली के चित्रों की हैं। इन शैलियों के चित्रों का तद्वत् अंकन उतना सुगम नहीं होता जितना उनकी वाह्यरेखा मात्र का। अनुकृतियाँ इसीलिए अधिकतर वाह्यरेखाओं में ही की गयी हैं। वाह्यरेखात्मक चित्रण में चित्रकार रूप की कल्पना ही वाह्यरेखा के माध्यम से करता है और उसकी अभिव्यक्ति भी तदनुरूप होती है। भीतरी भाग का पूरित-अपूरित अथवा अलंकृत-अनलंकृत होना गौण बात है। इस प्रकार के प्रायः समस्त चित्र इकहरी वाह्य रेखा में बने मिलते हैं। अनुकृतियों में मोटी वाह्यरेखा को कहीं-कहीं दोहरी रेखा से प्रदर्शित किया गया है पर वास्तव में वह इकहरी रेखा ही है। भारतीय प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों में मूलतः दोहरी रेखा में बना कदाचित् एक ही चित्र मिलता है जो महामहिष का है (द्र०, प० प०, फ० V)। इतने विशाल पैमाने पर दोहरी रेखा का प्रयोग कलात्मक साहस और विश्वास का परिचायक है जो अभ्यास के बिना संभव नहीं होता। इकहरी रेखाओं में बने चित्रों में भी पर्याप्त अभ्यासजन्य सन्तुलन और परिष्करण लक्षित होता है। एकवर्णी वाह्यरेखात्मक चित्रों का अलंकृत रूप प० प० फ० XXX चित्र सं० १ में, अपूरित रूप प० प० फ० X चित्र सं० ३ में तथा अंशपूरित रूप उसी खंड के फ० IX के पहले चित्र में देखा जा सकता है। यह अंशपूरित अन्तिम रूप पर्याप्त वैचित्र्यपूर्ण और क्षेत्र-विशेष में बहुप्रचलित दिखायी देता है। वाकणकर के फ्रेंच पत्र के पृ० १३६ पर मुद्रित चित्र में दोनों हिरनों के मुँह रंगपूरित होने के साथ-साथ उनके शरीर पर आकर्षक रेखालंकरण

भी प्रदर्शित है जो शैली की दृष्टि से एक मिश्रित स्थिति का द्योतक है। द्विवर्णी चित्रों में प्रायः एक रंग से पूरण और दूसरे रंग से रेखांकन किया मिलता है और यह रंग सफ़ेद और लाल ही अधिक मिलते हैं या कुछ भेद से युक्त उन्हीं के अन्य प्रकार होते हैं। जहाँ वाह्यरेखा और भीतरी रंग-पूरण के अतिरिक्त और किसी प्रकार का अलंकरण नहीं मिलता वहाँ 'द्विवर्णी पूरित-अनलंकृत' रूप दिखायी देता है, जैसे पंचमढ़ी के अनेक चित्रों में उदाहरणार्थ ध० यो० फ० VII चित्र सं० २ को लिया जा सकता है। ऐसे चित्रों में कुछ के पूरित भाग पर भी अवयवों, वस्त्रों तथा उपकरणों एवं आयुधों को प्रदर्शित करने वाली रेखाएँ वनी मिलती हैं जो परवर्ती विकास की सूचना देती हैं। इन चित्रों का रूप समग्रता और सूक्ष्मांकन परक रूप-वोध को व्यक्त करता है जो मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में अपनी चरम परिणति पर पहुँच गया। कुछ द्विवर्णी चित्रों में केवल वाह्यरेखा ही अन्यवर्ण की मिलती है, जो उनके पूरक रूप को विशेष वल के साथ मर्यादित करती हुई प्रतीत होती है। यह पूर्वोक्त विकास और पूरकशैली के वीच की स्थिति है। वाह्यरेखा पर वल अधिक होने के कारण इसे रेखा-शैली में समाहित किया गया है। अन्यथा यही स्थिति पूरक-शैली के द्विवर्णी रूप की कल्पना करते हुए उसके भेद विशेष* का आधार मानी जा सकती है। जिसमें ऐसी कोई द्विधा संभव नहीं है वह स्थिति 'द्विवर्णी पूरित अलंकृत' में लक्षित होती है (द्र०, प० प० फ० VIII चित्र सं० १)। रंजित पृष्ठ-भूमि पर नाना प्रकार की आकृतियों और आकल्पनों की सृष्टि करते हुए रेखाओं द्वारा योजनावद्ध रीति से अलंकरण की प्रवृत्ति लोक-कला में व्यापक रूप से मिलती है, परन्तु शिला-चित्रों में योजनावद्ध ही नहीं वह स्वच्छन्द रीति का भी अनुसरण करती है जो उन्मुक्त आदिम वातावरण के अनुरूप है। रूप-विन्यास और अलंकरण में स्वच्छन्दता का सन्निवेश शिला-चित्रों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है और रेखा-शैली में भी उसे पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली है।
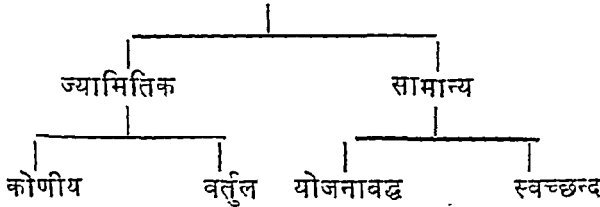
अलंकृत-शैली और उसके भेद-विस्तार का पूरा समावेश पूर्वोक्त तीनों शैलियों के अन्तर्गत न्यूनाधिक मात्रा में हो जाता है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इसे एक स्वतन्त्र शैली के रूप में प्रस्तुत क्यों किया गया है। वास्तव में यह सत्य है कि अन्य

प्राथमिक शैलियों में मिश्रित होकर अलंकरण की प्रवृत्ति जितनी व्यक्त हुई है उतनी स्वतन्त्र रीति से नहीं हो सकी। इसका कारण कदाचित् यह है कि प्रागैतिहासिक चित्र-कला में आधुनिक कला की तरह ढाँचे (Structure) का बोध-प्रधान रहा है। अलंकरण प्रायः उसका सहायक तथा पूरक होकर ही अपनी उपादेयता सिद्ध कर सका। पर यदि सारी स्थिति को सामने रखकर देखा जाय और प्रतीक चिह्नों की आलंकारिक प्रकृति को अपेक्षित महत्त्व दिया जाय तो यह मानना कठिन होगा कि शिला-चित्रों में अलंकृत शैली का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ है। भले ही वह प्रयोग अल्प हो पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता है अवश्य। और यदि अलंकरण के बहुविधि रूपों पर दृष्टिपात किया जाय तो भी यही सिद्ध होता है कि उनकी सृष्टि इस प्रवृत्ति के निजी एवं केन्द्रीय आधार पर हुई है। वे सारे रूप यहाँ प्रस्तुत करना संभव नहीं है, क्योंकि उनके सूक्ष्म अध्ययन के लिए जितनी प्रामाणिक प्रतिकृतियों एवं अनुकृतियों की अपेक्षा होती है, वे अभी उपलब्ध नहीं हैं, दूसरे अलंकृति स्वतन्त्र शैली का आधार भले ही सिद्ध हो जाय परन्तु विशेष गौरव उसे मध्यकाल के राजसी वातावरण में ही प्राप्त हो सका, जब ढाँचा अलंकरण में बहुत कुछ खो गया या उसके नीचे दब गया। शिला-चित्रों में यह स्थिति अपवाद रूप में भी कुछ कठिनाई से ही मिल पाती है। उनमें अलंकार चित्र के मूल ढाँचे से अधिक प्रधान शायद ही कभी हुआ हो।
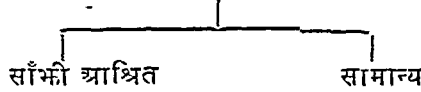
क्षेपांकन-शैली का प्रयोग शिला-चित्रों में बहुत ही कम हुआ है परन्तु यह इतनी विशिष्ट है कि इसका अन्तर्भाव किसी दूसरी शैली के भीतर करना संभव नहीं। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से इसका और भी अधिक महत्व सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें किसी माध्यम को बीच में रखकर उसका रूप, मूल आकृति के बाहरी भाग में रंग-क्षेपण के द्वारा उभार दिया जाता है, और वह बिना रंग के ही पूरी तरह प्रतीत होने लगती है। योरोपीय शिलाचित्रों में भी इसी विधि से हाथों की छापें अंकित मिलती हैं। कोहबर और सोरहोघाट में शिलांकित छापें भारतीय शिला-चित्रों में इस दृष्टि से अप्रतिम हैं।' इस सम्बन्ध में आ० दृ०, फ० XVIII चित्र सं० १ तथा पू० प्र०, फ० VIII चित्र सं० ३ का परिचय द्रष्टव्य है। यह छापें क्षेपांकन शैली के 'सामान्य' रूप को द्योतित करती हैं, क्योंकि इनमें प्रकृति-प्रदत्त हाथ का आधार लेकर उसकी आकृति उभारी गयी है। जहाँ इसके विपरीत मनुष्य-निर्मित, चमड़े या किसी अन्य सपाट वस्तु की बनी आकृति का प्रयोग आधार-रूप

में किया जाय वहाँ भिन्न स्थिति होती है जिसे 'साँझी आश्रित' संज्ञा दी गयी है। 'साँझी' शब्द ब्रज की इसी पद्धति की लोक-कला का प्रचलित शब्द है जिसे अंग्रेज़ी के 'Stencil' शब्द का समानार्थी माना जा सकता है। साँझी अर्थात् संधि-युक्त वस्तु। चित्रण में इन्हीं संधियों या कटावों से रंग क्षेपित किया जाता है। साँझी शब्द क्षेपांकन का केवल वही रूप व्यक्त करता है जिसमें संधि के आकार को ही रंग भरकर उभारा जाय पर इस विधि में बिना संधि की, कटी हुई आकृतियाँ भी प्रयुक्त हो सकती हैं और हुई भी हैं अतः इसका ग्रहण व्यापक अर्थ में ही हुआ है। कोई और अच्छा प्रचलित शब्द मिला नहीं।' मैं समझता हूँ कि इसमें अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने का सामर्थ्य है। कबरा पहाड़ के कुछ चित्र साँझी के प्रयोग से ही बने प्रतीत होते हैं। रंग-क्षेपण किसी कूँची से मुँह से फूँक कर किया जाता जैसा कुछ विशेषज्ञों ने अनुमान किया है। इस शैली के और चित्र मिलने पर वर्गीकरण में कुछ विभेद-विस्तार संभव है।

प्रागैतिहासिक चित्रों के अन्वेषकों एवं अध्येताओं के आगे यह बात स्पष्ट रही है कि शैली-साम्य हज़ारों मील दूर स्थित क्षेत्रों में भी लक्षित होता है, और सम्बन्ध एवं प्रभाव निर्धारण के लिए मात्र उसका निर्धारण पर्याप्त नहीं है। इसके साथ यह प्रश्न भी विचारणीय रहा है कि क्या शैली-वैविध्य किसी निश्चित विकास-क्रम में पिरोया जा सकता है? विभिन्न शैलियों में कोई पूर्वापर सम्बन्ध रहा है अथवा वे काल-निरपेक्ष होकर एक-दूसरे की समवर्ती रही है, अथवा प्रारंभ में उनमें कोई क्रम रहा हो और बाद में वे समवर्ती रूप में भी प्रयुक्त होती रही हों।

डॉ० राधाकान्त वर्मा ने अपने अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध में आक्षेपण स्तरों से सम्बद्ध चार काल माने हैं जिनकी ओर काल निर्णय के प्रसंग में दृष्टिपात किया जा चुका है। उनका निष्कर्ष है कि विकास की गति यथार्थ रूपात्मक चित्रण से शैली-बद्धता की ओर और उससे प्रतीकात्मकता की दिशा में रही है जो पुनः यथार्थवाद की ओर प्रत्यावर्तन हुआ।[1] यहाँ यथार्थ का तात्पर्य प्राकृतिक से है। ज्यामितिकता को प्रतीकात्मकता के साथ रखा है और तीसरे चित्रण स्तर की विशेषताओं के रूप में 'सिम्बॉलिज़्म' और 'क्यूबिज़्म' का उल्लेख किया है। पहले स्तर में 'नेचुरलिज़्म' तथा दूसरे में आकारगत लघुता के साथ शैलीबद्धता आदि को विशेषता कहा गया है तथा चौथे स्तर को इसी दूसरे स्तर के अनुरूप बताया गया

---

१. Cyclic development in the style of painting from naturalistic to stylistic to symbolic, then again back to naturalism.

—स्टोन एज कल्चर्स ऑफ मिर्ज़ापुर, पृ० ३२०

है। उनका यह विवरण और उसके आधार पर निकाला गया शैली-विकास सूचक पूर्वोद्धृत निष्कर्ष परस्पर पूरी संगति नहीं रखते हैं। संगति तब पूरी होती जब चौथे स्तर में पहले स्तर की विशेषता मिलती, साथ ही शैलीबद्धता से ज्यामितिकता को पृथक् किया गया होता। ज्यामितिक अंकनों में भी शैलीबद्धता होती ही है। साथ ही उन्हें केवल प्रतीकात्मक चित्रण तक सीमित नहीं किया जा सकता। जैसा शैली-विवेचन में मैंने स्पष्ट कर दिया है कि पूरक शैली में भी ज्यामितिकता का समावेश मिलता है। डॉ० वर्मा ने शैलीगत विकास-क्रम को जितने सीधे और सरल रूप में प्रस्तुत कर दिया है उतना वह है नहीं, भले ही कार्य क्षेत्र-विशेष तक सीमित क्यों न हो। वाकणकर ने अपने अंग्रेज़ी पत्रक में फि० ७ के अन्तर्गत जो सामग्री विविध कालावधियों को सूचित करने के लिए दी है उसीसे डॉ० वर्मा की सरल विकास-रेखा खंडित हो जाती है। उससे वृत्त बनता हुआ तो प्रतीत नहीं ही होता है। योरोपीय शिला-चित्रों में यथार्थ रूपांकन का जितना आग्रह मिलता है उतना भारतीय चित्रों में नहीं है और न योरोप की १८वीं-१९वीं शती की कला जैसी, प्राकृतिक रूप-चित्रण पर आग्रह करने की प्रवृत्ति ही भारतीय चित्रकला में मिलती है। ऐसी दशा में जो आवर्तन-क्रम शैली-विकास की दृष्टि से योरोपीय कला के इतिहास का सत्य हो वह भारतीय कला के इतिहास में भी प्रमाणित किया जाय यह आवश्यक नहीं है और फिर योरोपीय कला-विशेषज्ञों की धारणा भी इतनी सीधी नहीं दिखायी देती। हर्बर्ट रीड ने समाज की सापेक्षता में कला के तीन पक्षों की विविक्तता एवं महत्ता स्वीकार की है।

१. सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप उपयोगी वस्तुओं के निर्माण से सम्बद्ध जातीय कला जिसमें आधार सामग्री की प्रकृति और रचना-प्रक्रिया बहुत दूर तक रूप का और कुछ दूर तक अलंकरण का निर्धारण करती है। औपयोगिक और मानसिक आवश्यकताओं द्वारा रूपों का चयन होता है तथा अलंकरण का संयोजन भी उन्हीं के द्वारा घटित होता है।

ऐसी कला सुखपरक (Hedonistic) होती है और वह शुद्ध ऐन्द्रिक सुख का विषय होती है तथा उसकी प्रकृति ज्यामितिक अथवा अमूर्त एवं निर्विषयात्मक होती है।

२. कला जो सामान्यतया स्वीकृत रहस्यात्मक विचारों को अभिव्यक्त करने के कारण जातीय होती है अथवा जिसका उपयोग ऐसे विचारों से सम्बद्ध धार्मिक कृत्यों के लिए सेवा भाव से होता है। वहाँ भी कहा जा सकता है कि सामाजिक रीति-रिवाज वस्तु-विशेष की आवश्यकता उत्पन्न करते हैं और उसका रूप अब भी उपकरणों और आधार-सामग्री द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु चयन-सिद्धान्त विशुद्ध ऐन्द्रिक संवेदन पर आश्रित न होकर

---

१. आर्ट ऐण्ड सोसायटी, पृ० ६९-७०

विचारात्मक अथवा प्रत्यय-विद्यात्मक (Ideological) होता है।

ऐसी कला उद्देश्यपरक (धर्मकृत्यात्मक, शिक्षात्मक, या प्रयोगात्मक) होती है तथा उसकी प्रकृति अनिवार्यत: प्रतीकात्मक होती है।

३. कला जो वैयक्तिक होती है, अपने माध्यम से व्यक्ति की संवेदनाओं और भावनाओं को अभिव्यक्त करती है। यदि वाह्य जगत् और मनुष्य के वीच सहानुभूतिपरक सम्वन्ध स्थापित हो जाता है तो कलाकार नैसर्गिक तत्त्व-वोध को उसकी अनिवार्य शक्ति के साथ व्यक्त करने के लिए वाध्य होता है। कलाकार इस प्रकार प्रतिनिधि वन जाता है और उतनी दूर तक कला फिर भी जातीय हो जाती है। ऐसी कला अभिव्यंजनापरक (expressive) और भावात्मक (emotive) होती है तथा अनिवार्यत: आवयविक (organic) एवं निरूपणात्मक (representational) प्रकृति की होती है।

रीड द्वारा सुविचारित रीति से प्रस्तुत कला के इस तथ्यात्मक वर्गीकरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। साथ ही यह भी कहना संभव नहीं है कि प्रागैतिहासिक कला में वैयक्तिक तत्त्व का सर्वथा अभाव रहा होगा। जिन गुफा-चित्रों को नितान्त यथार्थ रूपात्मक माना जाता था, सूक्ष्म एवं व्यवस्थित अध्ययन से वे भी प्रतीकात्मक सिद्ध हुए हैं। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि कला के क्षेत्र में कोई वर्गीकरण अथवा क्रम-निर्धारण आत्यन्तिक नहीं हो सकता क्योंकि मूलत: कला चेतनाश्रित है और चैतन्य की प्रकृति ही है, नियमों से वँध कर भी नियमन की सीमाओं से ऊपर उठ जाना। कलाकार जिन वंधनों, परम्पराओं एवं रचनात्मक रूढ़ियों का अनुसरण करता है या करता प्रतीत होता है वे उसकी सृजनशीलता की आवश्यकता के विरुद्ध कभी स्थित नहीं रह पातीं। जव विरोध का अनुभव कलाकार के संवेदनशील व्यक्तित्व को होने लगता है तो उसकी सृजन-शक्ति उसे अपने कथ्य के अनुरूप नये मार्ग के निर्माण की ओर निरन्तर प्रेरित करती रहती है। किसी भी युग की कला की व्याख्या, इस मौलिक तथ्य की उपेक्षा करके नहीं की जा सकती। प्रागैतिहासिक शिला-चित्र भी इसके अपवाद नहीं है। उनमें पर्याप्त सृजन-शीलता, अभिव्यंजना-शक्ति मौलिक उद्भावना, अन्तरंग सौन्दर्य-वोध, रूप-विन्यासगत वैचित्र्य, रचना-कौशल और परवर्ती युगों के कला-रूपों की तुलना में निजी वैशिष्ट्य मिलता है जो उसके निश्चित गौरव का प्रमाण है। आधुनिक कला जिन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में संलग्न है वे संसार के शिला-चित्रों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। स्वच्छन्दता, शक्तिमत्ता, निरीक्षण की सूक्ष्मता, ढाँचे के प्रति सजगता, निरन्तर प्रयोगात्मकता और माध्यम के ऊपर रचनाकार के अधिकार आदि की दृष्टि से उनका स्थान अप्रतिम है। भारतीय शिला-चित्रों में भी लगभग यह सव विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में स्पष्ट लक्षित होती हैं।

परिशिष्ट
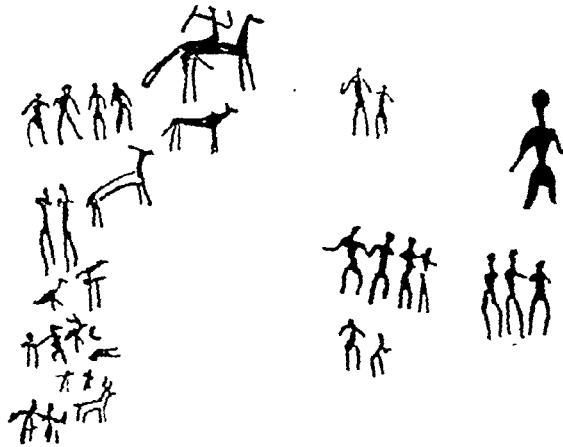
(पिछले पृष्ठ का चित्र)

दक्षिण में वेलारी-क्षेत्र के कुप्पगल्लु नामक स्थान पर अंकित चित्र। विशेष परिचय के लिए द्रष्टव्य पृ० ३५८।

अन्य प्रकार के भारतीय शिला-चित्र

वर्ण या रंग के घोल द्वारा चित्र-रचना की बहुप्रचलित एवं सुपरिचित परम्परागत विधि के अतिरिक्त प्राचीन काल में कुछ अन्य चित्रण-विधियाँ भी प्रचलित थी जिनका प्रयोग भारतीय शिला-चित्रों में मिलता है किन्तु उनके लिए कोई उपयुक्त नाम प्रयोग में आते रहे हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। मूर्ति-निर्माण के क्षेत्र में प्रयुक्त शब्दों से उन्हें अभिहित किया जा सकता है, यथा--

१. उत्कीर्ण-चित्र (Engravings)
२. तक्षण-चित्र (Carvings)
३. कर्पण-चित्र (Bruisings)

किन्तु इन अभिधानों से व्यक्त होने वाले अभिप्राय की इयत्ता और प्रकृति को निर्धारित करना कुछ कठिन दिखायी देता है क्योंकि जिन चित्रों को फॉसेट (Fawcett) ने ओरियन्टल रिसर्च सोसायटी के जर्नल (१९०१, वॉ० XXX) 'दि इंडियन ऐण्टीक्वेरी' में 'कार्विन्ग्ज़' कहा है उन्हीं को गॉर्डन ने अपनी पुस्तक प्रि. वै. इं. क. में 'रॉक एन्ग्रेविंग्ज़' शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित किया है (पृष्ठ ११७) तथा 'ब्रूजिंग्स' को भी उसी के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। पश्चिमोत्तर प्रदेश में सिंध नदी और हरो नदी के संगम के समीप पाकिस्तान में प्राप्त होने वाले चित्रों की रचना-विधि वही नहीं है जिसमें एदकल के फॉसेट द्वारा खोजे हुए पूर्वोक्त चित्र बने हैं पर दोनों को 'एन्ग्रेविंग्ज़' कहकर गॉर्डन ने इस अन्तर की उपेक्षा कर दी है अथवा एक को दूसरे का समानार्थी या अन्तर्वर्ती मान लिया है। मेरे विचार से जिन शिला-चित्रों में रगड़ने या खरोंचने की विधि विशेषतः प्रयुक्त हुई हो उन्हें 'कर्पण-चित्र', जिनमें धातु-अस्त्रों या किसी अन्य नुकीले उपकरण से खुदाई की गयी हो उन्हें 'उत्कीर्ण-चित्र' तथा जिनमें वैसे ही उपकरणों द्वारा काट-छाँट कर रूप को उभार दिया गया हो उन्हें 'तक्षण-चित्र' कहना अधिक उपयुक्त होगा। उभारवाले ऐसे चित्रों के लिए ही कभी 'अर्ध-चित्र' शब्द प्रयुक्त होता रहा होगा, ऐसी भी कला-विशेषज्ञों की धारणा है पर इसका सम्बन्ध उस काल से है जब भवनों का निर्माण अत्यन्त विकसित रूप में होने लगा था और

मूर्ति-कला तथा चित्र-कला उससे प्राय: अभिन्न होकर एक व्यापक कला-चेतना की त्रिवेणी के रूप में संवर्धित हो रही थीं। जिन चित्रों का संदर्भ यहाँ है वे उनसे सर्वथा भिन्न आदिम प्रकृति के हैं और विषय-वस्तु एवं रूप-रचना में 'वर्ण-विनिर्मित' प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों की कोटि में आते हैं। गॉर्डन का यह कथन कि उत्कीर्ण-चित्र समग्रत: शिला-चित्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत-क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं, अपने भौगोलिक संदर्भ में सही है।[१] शिला-चित्र विंध्य-क्षेत्र से ऊपर उत्तरी भाग में प्राप्त नहीं होते किन्तु उत्कीर्ण-चित्र गॉर्डन की निजी परिभाषा के अनुसार दक्षिण से लेकर उस पश्चिमोत्तर प्रदेश तक प्राप्त होते हैं जो अब पाकिस्तान में है।

१

पश्चिमोत्तर क्षेत्र के उत्कीर्ण-चित्र

पश्चिमोत्तरी चित्रों के विषय में गॉर्डन का एक स्वतन्त्र लेख रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ वंगाल के जर्नल में, १९४१ ई० में उसकी वॉ. VII के सातवें 'आर्टिकल' के रूप में प्रकाशित हुआ था जिसके साथ अनेक अनुकृतियाँ भी थीं। प्रस्तुत परिशिष्ट में प्राय: उन सभी को प्रतिकृत करके समाविष्ट कर लिया गया है। लेख का सारांश नीचे दिया जा रहा है।

'अटक ब्रिज' से लगभग छः मील, धार के उतार की ओर, सिंध और हरो नदी के संगम के समीपवर्ती भूभाग में चार-पाँच मील की दूरी तक उत्कीर्ण-चित्र उपलब्ध होते हैं और वे, मंडोरी (Mandori), गंडव (Gandab), घरियाला (Ghariala) तथा उससे कुछ दूर संगम के समीप स्थित एक नामहीन स्थान, चार जगह मिलते है। मंडोरी सर्वाधिक विख्यात है।

चित्रण-विधि की दृष्टि से यह चित्र विशेप महत्वपूर्ण हैं। वे भारी-भारी शिला-खंडों के श्यामल सपाट अंशों पर संभवत: किसी धातु के अस्त्र से खरोंच कर वनाये गये हैं पर उसमें गहरायी नहीं के वरावर है। खरोंचने के अतिरिक्त चित्रांकन की एक और विधि भी मिलती है जिसमें रुखानी जैसे किसी अस्त्र से लगातार प्रहार करके रूप उभारा गया है। इस शैली के चित्र भी अन्य चित्रों के समकालीन ही हैं।

चित्रण-विधि की प्रमुख विशेपता यह है कि रगड़-रगड़ कर शिला को भिन्न रंग में परिणत कर दिया गया है। विना गहराई के भी चित्र स्पष्ट दिखायी देते हैं। शिला की स्याह वैंगनी पीठिका पर पीलापन लिये हुए भूरे रंग का चित्रण आकर्पक प्रतीत होता है। अनेक चित्रित आकृतियाँ ऐसी हैं जो विपय की दृष्टि से असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। मानवाकृतियाँ अनगढ़ हैं और उनमें संक्षेपण अपनी सीमा को पार कर गया है। पुरुप चित्रों की अधिकता है। हाथी, घोड़े और ऊँट पर सवार मनुष्य प्राय: अंकित है। समूहांकन कम ही मिलता है।

१. Rock engravings are on the whole much more wide spread than rock paintings.
——प्रि० वें० इं० क०, पृ० ११३

अधिकतर वह युग्म तक सीमित रहता है। सशस्त्र योद्धाओं के भी अनेक चित्र मिलते हैं। अस्त्रों में भाला, ढाल आदि की अधिकता है, धनुष-वाण केवल एक ही चित्र में प्रदर्शित है। स्त्री-चित्र बहुत ही कम हैं। पशुओं के चित्रों में भी नर-चित्रों पर अधिक वल दिया गया है। दोहरे कूबड़ वाले ऊँट भी चित्रित हैं। अन्य पशुओं की तुलना में वैल प्रमुख है। वैलों के विशिष्ट चित्रण को लेखक के अनुसार क्रीट द्वीप की वृषभ-पूजा से सम्वद्ध करना ठीक नहीं होगा। प्रतीक-चिह्न विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। मंडोरी के पास खरोष्ठी अभिलेखों से काल-निर्णय की समस्या स्वतः हल हो जाती है पर इनकी ओर दृष्टि ही कठिनाई से जा सकी। प्रथम अभिलेख समीपवर्ती चित्र का नितान्त समकालीन है। इसमें हाथी पर सवार व्यक्ति के हाथों में एक ओर स्त्री और दूसरी ओर पुरुष की आकृतियाँ सधी हुई हैं। अभिलेख पढ़ने में वड़ी कठिनाई हुई। अ–शो–र–टि–रे (टे), शि अक्षर पहले में तथा त (र) ष–प–ल–स आदि दूसरे में पढ़े गये। संदिग्ध रूप कोष्ठांकित हैं। गॉर्डन के मत से यह प्रारंभिक शक-काल अर्थात् लगभग ५० ई० पू० के लगते हैं। क्योंकि अभिलेख कुछ चित्रों के समकालीन हैं अतः समान्यतया इस क्षेत्र के सभी चित्रों का रचनाकाल २०० ई० पू० से २०० ई० तक, लगभग चार शताब्दियों का माना जा सकता है। गुफाओं के समीप कोई पुरातात्त्विक सामग्री ऐसी नहीं मिली जिससे काल-निर्णय में सहायता मिलती। कुछ सामग्री वौद्ध-काल की भी मिली है। लेख के अंत में मैक्सवेल द्वारा १८८२ ई० में खोजे गये चर्गुल नामक स्थान के चित्रों की चर्चा की गयी है जो उन्हें शाहवाज़गढ़ी के समीपस्थ अवशेषों की खोज करते समय दृष्टिगत हुए थे। यह चित्र डोडा पहाड़ी (Doda Hill) के एक शिलाश्रय में अंकित हैं।

●

गॉर्डन द्वारा प्रकाशित रूपों पर आधारित अनुकृतियाँ

अपहरण-दृश्य

●

एक पुरुष घाघरे वाली स्त्री को साथ लिए जा रहा है और दूसरा उनका पीछा कर रहा है।

○

गडव

एक निर्वसन युग्म

○

मंडोरी

सवार और चरवाहे तथा पशु

०
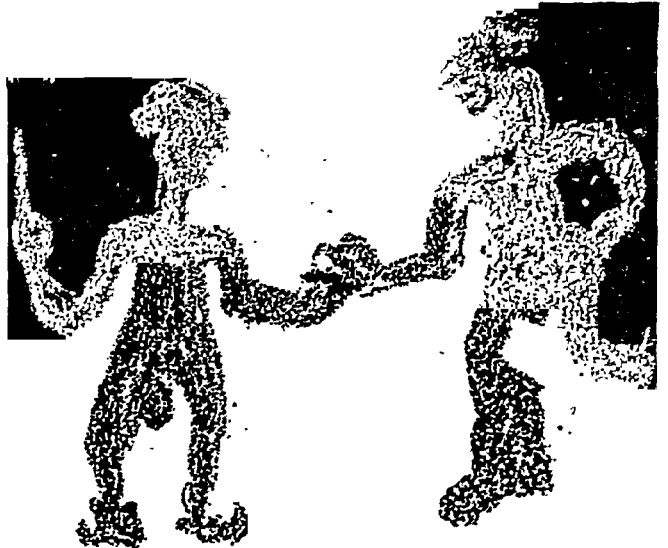
गंडव

शैलीबद्ध आकृतियां

और

प्रतीक-चित्र

०

घरियाला

आखेट-दृश्य

●

शार्दूल और योद्धा

○

गंडव

आकृतियाँ और प्रतीक

○

मंडोरी

बैलगाड़ी का अद्वितीय चित्र
जिसमें पहिये पार्श्व-दृष्टि से
तथा शेष भाग ऊर्ध्व-दृष्टि से
विनिर्मित है

०

मंडोरी
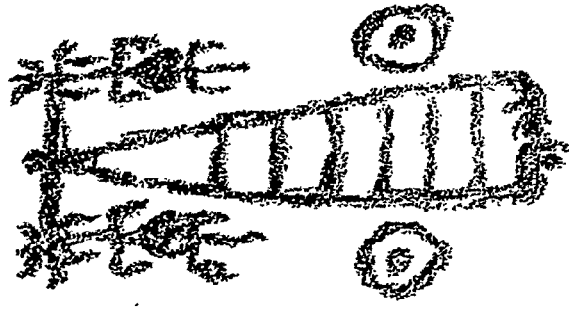
दोनों हाथों में दो मानवाकृतियों
को सम्हाले गजारोही विचित्र
देवता तथा खरोष्ठी अभिलेख
'असोरक्षिते'

०

मंडोरी

गजारोही
तथा
अन्य योद्धागण

०

मंडोरी

साँड़ और बैल

०

गंडव

बैल और आदमी
हाथ में रस्सी का फंदा लिए हुए

०

वरियाला
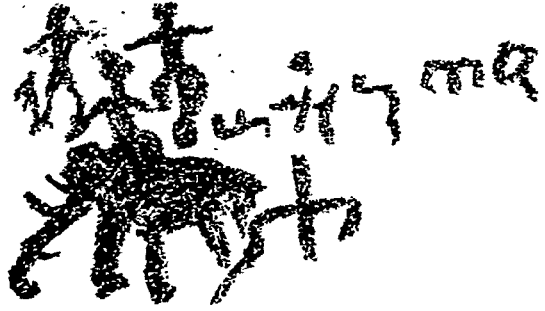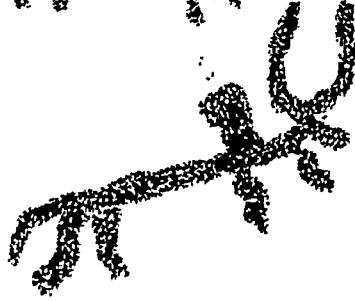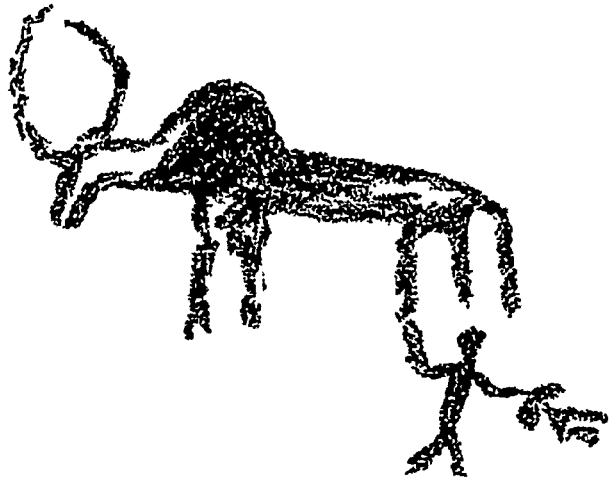
उन्नत-स्कंध बैल
०
घरियाला

बैल
आदमी को सींगों पर उठाये हुए
०
घरियाला

दीर्घ-शृंग बैल
०
घरियाला

२

दक्षिण-क्षेत्र के शिला-चित्र

दक्षिण के वहुविध शिला-चित्रों के विपय में प्रामाणिक सूचना और विवरण फॉसेट, अल्चिन, गॉर्डन, वाकणकर तथा नागराजराव आदि के द्वारा प्रस्तुत एवं प्रकाशित शोध-सामग्री से प्राप्त होता है। फॉसेट के लेख का संक्षेप इस परिचयात्मक टिप्पणी के अन्त में दे दिया गया है। अल्चिन की 'डेवलपमेंट ऑफ अर्ली कल्चर्स इन रायचूर डिस्ट्रिक्ट' नामक प्रसिद्ध कृति के अतिरिक्त और भी विशेप अध्ययन अनेक रूपों में प्रकाश में आया है। गॉर्डन ने अपने ग्रंथ प्रि० वै० इं० क० में अल्चिन के कृतित्व से पर्याप्त लाभ उठाया है। उन्होंने अल्चिन द्वारा की गयी शोध से सम्वद्ध स्थानों में कोप्पल, पिक्लीहल, मस्की, विल्लारयण, गुड्डा तथा वेंकल फॉरेस्ट का उल्लेख किया है। इन स्थानों में शोधक को वर्ण-चित्र और उत्कीर्ण-चित्र दोनों ही मिले पर किस प्रकार के चित्र कहाँ मिले यह वात इस विवरण से स्पप्ट नहीं होती। वाकणकर से इस सम्वन्ध में चर्चा करने पर ज्ञात हुआ कि उत्कीर्ण-चित्र इडैक्कल के अतिरिक्त कुप्पगल्लु (वेन्याड्), वसवन्न (वँगलौर), नेल्लूर (मद्रास और आंध्रप्रदेश की सीमा पर तटवर्ती स्थान) तथा संगनकल्लु (वेलारी के समीप) में भी उपलब्ध होते हैं। वर्ण-चित्रों की उपलब्धि वीला सरगम (नेल्लूर से उत्तर), कोडैक्कानल (नीलगिरि के पास), डाइकर्मेल्ली, टेक्कलकोटा (वेलारी से उत्तर), सीतलफडी (वादामी की प्रसिद्ध गुफाओं से कुछ मील दूर) तथा किप्किधा (हम्पी के पास, पंपामूल, हैदरावाद) में प्राप्त हुए हैं। इन विविध प्रकार के चित्रों की खोज करने वालों में अल्चिन के अतिरिक्त डॉ० सुव्वा राव, नागराज राव, जोशी आदि अनेक पुरातत्वज्ञों ने योग दिया है और इनमें से अनेक ने डॉ० संकालिया के परामर्श से लाभ उठाया है यद्यपि चित्रों पर स्वतन्त्र रूप से कार्य उनके निर्देशन में वाकणकर ही कर रहे हैं। दक्षिण में उत्कीर्ण-चित्र अधिक मात्रा में मिलते हैं यह उपर्युक्त विवरण से प्रकट हो जाता है। भारत के मध्यवर्ती भाग में उत्कीर्ण-चित्रों का अभाव उत्तर और दक्षिण की तुलना में विशेप ध्यान आकृप्ट करता है।

दक्षिण भारत में स्थित

कुप्पगल्लु (बेलारी) का एक कर्षण-चित्र

धनुष-शृंग वृषभ

कुप्पगल्लु (बेलारी, दक्षिण भारत) के एक शिखर पर अंकित वृषभ का एक अद्वितीय चित्र, जिसके शृंगों में धनुष बँधे हैं तथा उनके बीच एक चिह्न अंकित है। खंडित रेखाएँ उसी शिखर पर अन्य पूर्वलिखित चित्रों की द्योतक हैं, जो अस्पष्ट हैं। प्रस्तुत रेखानुकृति गॉर्डन द्वारा प्रकाशित चित्र पर ही आधारित है। अल्चिन ने कुक के मत का उल्लेख करते हुए ऐसे चित्रों को उस क्रीड़ा से सम्बन्धित बताया है जिसमें उन्मत्त बैलों के सींगों से धनुष खींचने में वीरता मानी जाती थी।

इडैक्कल के उत्कीर्ण-चित्र

इडैक्कलमला (Edakalmala) या येडकलमला (Yedaculmala) नामक पर्वत श्रृंखला मालावार प्रान्त के वयनातु (Vayanatu) अथवा वेन्याड (Wynaad) नामक क्षेत्र में स्थित है जो यह गणपतिवत्तम् (Ganapativattam) नगर से दक्षिण-पश्चिम में है। यह नगर योरोपियन लोगों द्वारा सुलतान की वैटरी (Sultan's Battery) नाम से जाना जाता था क्योंकि टीपू सुल्तान ने यहाँ एक क़िला बनवाया था। सबसे ऊँची चट्टान 'वैटरी रॉक्' (Battery Rock) कहलाती थी। उसकी ऊँचाई स्थानीय धरातल से १५०० फीट तथा समुद्रतल से ४००० फीट से भी अधिक है। इसी चट्टान के पश्चिमी ढलान की ओर इडैक्कल गुफा स्थित है। इसके आस-पास रहने वाले चेट्टी (Chetty) जाति के लोग प्रति वर्ष बड़ी कठिनाई से ऊपर चढ़कर 'मुडियम पिल्ली' (Mudiampilli) नामक देवी की पूजा करते हैं। पहाड़ी की तलहटी में भी कुछ मंदिर हैं पर उनसे और इस देवी के मंदिर से कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इडैक्कलमला न केवल दो स्थानीय देवियों का पीठ है वरन् वहाँ 'कुट्टिचातन' (Kuttichatan) नाम से प्रसिद्ध अपदेवता का स्थान भी है। घरों, खेतों और खलिहानों को जला देने वाले इस सर्वनाशी देवता का निवास उस क्षेत्र में क्यों है इस विषय में एक कहानी प्रचलित है। पुरातन काल में कभी इडैक्कलमला की देवी एक महानाग की सहायता से सारे क्षेत्र को ध्वस्त किये रहती थी जिससे उद्धार करने के लिए नीलगिरि की ओर स्थित नेल्लकोट्ट (Nellakotta) पहाड़ी की देवी ने कुट्टिचातन को भेजा। कुट्टिचातन ने अपने धनुष-वाण की सहायता से उस महानाग का नाश करके वहीं अपना स्थान वना लिया। अम्बुकुट्टिवयल (Ambukuttivayal) नामक एक धान के खेत में पड़े लम्बे शिलाखंड को अभी तक इडैक्कलमला के लोग कुट्टिचातन का वाण वताते हैं।

पूर्वोक्त चेट्टी जाति के निवासी चीते के शिकार के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक चेट्टी अपने पास एक जाल रखता है और भाले से ही चीते को मारने में पटु होता है। चीते या तेंदुए के आने पर चेट्टी लोग अपने-अपने जाल चारों ओर से पूर कर सामूहिक रीति से भी आखेट करते हैं।

सन् १८९४ से १८९६ के बीच मालावार के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट पी० फॉसेट (P. Fawcett) तथा कॉलिन मैकेंज़ी (Colin Mackenzie) ने मिलजुल कर बड़ी कठिनाई के साथ इडैक्कल गुफा का उद्धार किया। इस प्रान्त में तीन प्रकार के कुरुम्वर (Kurumbar) रहते हैं और सभी गुफा को अत्यन्त पूज्य भाव से देखते हैं फलतः उन्होंने उसकी शोध को व्याघात मानकर उसमें कोई सहयोग नहीं दिया। केवल पनिया (Paniyas) जाति के लोगों में ऐसा भाव नहीं था अतएव उन्हीं की सहायता से गुफाओं का मार्ग प्रशस्त किया गया।

गुफा तक पहुँचने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग, कुप्पुमूडि (Kuppumudi) के 'कॉफ़ी' उत्पादक क्षेत्र, से पहाड़ी के पूर्व की ओर होकर है। सारा भूभाग वहुत ही पथरीला और कठोर है तथा उसमें गुम्वद जैसे भारी आकार का एक ठोस पथरीला शिखर कूवड़ की तरह निकला हुआ है। रास्ता पहाड़ी पर से होता हुआ एक लगभग सौ टन के वज़न की चट्टान के नीचे छोटे छेद से गुज़रता है जिसमें से निकलना भी कठिन हो जाता है। पश्चिम की ओर से जाने में जंगल आता है तथा चढ़ना और चलना भी वहुत पड़ता है। पर वहाँ के निवासी हिन्दू प्रायः इसी लम्वे मार्ग से जाना पसंद करते हैं क्योंकि शिला के नीचे से जाने में उन्हें पापों के प्रभाव से उसके नीचे दव जाने का भय लगा रहता है। गुफा पश्चिमी ढलान पर, शिखर से लगभग पचास गज दूर, स्थित है तथा पहाड़ी में ही न होकर पास ही पड़ी हुई एक महाशिला में है। गुफा का प्रवेश द्वार उत्तर पूर्व से है तथा उसकी ऊँचाई ६-७ फीट एवं चौड़ाई ४-५ फीट तक है। प्रवेश के वाद कई फीट नीचे भी उतरना पड़ता है।

इडैक्कल गुफा साधारण अर्थ में गुफा नहीं कही जा सकती क्योंकि यह लगभग ९६ फ ट लम्वी तथा २०-२२ फीट चौड़ी एक दरार है जो महाशिला और उसके खंडित अंश के वीच किसी प्राकृतिक दुर्घटना के फलस्वरूप वन गयी है। शिला का वाहरी किनारा करीव ५० फीट तक चला गया है। दरार की गहराई ३० फीट के आस पास है। वाहरी सिरे पर एक सैंकड़ों टन भारी चट्टान के गिर जाने से दरार का रूप गुफ़ा जैसा हो गया है। वीच में और भी छोटी चट्टानें आ गिरीं हैं। द्वार को छोड़कर गुफा का भीतरी भाग आकाश की ओर एकदम खुला है। जो शिला द्वार को छाये हुए है उस पर एक भारी वृक्ष है जिसकी जड़ें अन्दर तक फैली हुई हैं। गुफा के भीतर आच्छादित तल-भाग सपाट है किन्तु शेष खुली सतह छोटी-छोटी चट्टानों से भरी ऊवड़-खावड़ है। आच्छादित अंश के दोनों ओर की दीवालों में ही चित्र खुदे हुए हैं। खुले हुए अंश की दक्षिणी दीवाल में कुछ अभिलेख, छोटी आकृतियाँ तथा प्रतीक-चिह्न उत्कीर्ण हैं। भीतरी दीवालों के रेखा-चित्रों की तुलना में यह वाहरी सामग्री सर्वथा नयी प्रतीत होती है। न तो उसकी कटाई ठीक हुई और न

खुदाई ही उतनी गहरी है जितनी भीतरी भाग के चित्रों में मिलती है। फॉसेट महोदय द्वारा प्रस्तुत फोटोग्राफों का परीक्षण करके डॉ० हल्ट्ज (Hultzsch) ने पाँचों अभिलेखों को पढ़ा तथा चार को 'archaic character' का बताया और पाँचवे को कनाड़ी लिपि में लिखित घोपित किया। संस्कृत में अभिलिखित अंश इस प्रकार पढ़ा गया–

श्री विष्णुवर्म्म (नः) कुटुम्बीय कुल वर्द्धनस्य लि(ख)त (म्)

इसमें 'कुटुम्बीय' शब्द विष्णुवर्मन के कुल का द्योतक विशेप नाम प्रतीत होता है। तमिल का अभिलेख है––

पल पुलि तान्नन्तकारी

इसका अर्थ है 'वह जिसने बहुत से चीतों का संहार किया हो'। यह अर्थ इस प्रदेश की रहने वाली चेट्टी जाति द्वारा चीते के शिकार की पूर्वोक्त परम्परा से मेल खाता है।

खुदाई करके तल की खोज करने पर 'चित्रों की अतिशय प्राचीनता का प्रमाण जिस रूप में प्राप्त हुआ उसका वर्णन शोधक के शब्दों में ही द्रष्टव्य है–

The presence of the mould on the floor underneath the roof-rock gives indications of *an apparently great age for the carvings on the walls*, for it is four feet deep, and can only have come in from the top through the interstices of the rocks. It was certainly not brought in through the entrance, a fact of which we satisfied overselves on the spot. Now as the rainfall here is not more than 70 inches per annum, the mould must have taken a long time to accumulate to a depth of four feet, and the whole accumulation must have taken place after the rock-carvings had been completed and indeed after the place had been abandoned.[1]

गुफा की दीवारों पर लक्षित चित्र स्पष्ट रूप से मानवाकृतियों का बोध कराते हैं तथा उनमें अंकित पशुओं एवं व्यवहार में आने वाले अन्य पदार्थो के आकार भी सर्वथा स्पष्ट हैं। परन्तु वे एक दूसरे पर इस प्रकार छाये हुए हैं तथा परस्पर इतने संग्रथित हैं कि उनका अर्थ बहुत ध्यान पूर्वक देखने से ही खुल पाता है। इन रेखा-चित्रों में सबसे अधिक रोचक है मानवाकृतियों की विचित्र शिरोभूपा। पशुओं के बहुत से चित्र अस्पष्ट हैं। सूर्य का प्रतीक गोल रेखायुक्त चक्र तथा मांगलिक चिह्न स्वस्तिक दोनों अनेकानेक रूपों में उपलब्ध होते हैं।

कुछ चिह्न आयताकार और वर्गाकार हैं जो भारतीय ज्योतिप और तन्त्र में बराबर

---

१. दि इंडियन ऐण्टीक्वेरी, वा० XXX, १९०१, पृ० ४१३

पाये जाते हैं तथा जिनका प्रयोग संभवतः वाह्य कुप्रभाव से अपनी रक्षा करने के लिए जादू-टोने के रूप में होता रहा होगा। जैसा भारत में आज भी वहुधा देखा जाता है।

प्रतीक-चिह्न

प्राप्त प्रतीक-चिह्नों को सूर्य और अग्नि से सम्वद्ध माना जाता है। श्रीमती मरे एन्स्ली (Mrs. Murray-Ainslie) द्वारा लिखित एक लेख में एशियाई प्रतीकों का अध्ययन करते हुए उन पर प्रकाश डाला गया है। अनेक चिह्नों की आकृतियाँ स्वस्तिक पर आधारित हैं जिन्हें सूर्य का प्रतीक बताया गया है। कुछ चतुष्कोण प्रतीक तान्त्रिक यन्त्रों की तरह जादू-टोने से सम्बद्ध कहे गये हैं। इडैक्कल गुफा के चिह्न बहुत रोचक अर्थ से युक्त प्रतीत होते हैं परन्तु उस निहित अर्थ को निश्चयात्मकता के साथ उद्घाटित करने के लिए अनुमान के अतिरिक्त कोई अन्य प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं हुआ है। इनमें प्रतीकों की रूपात्मक विविधता भी लक्षित करने योग्य है।

चित्रण-विधि

इडैक्कल गुफा के चित्र साधारण गुफा चित्रों से भिन्न सर्वथा स्वतन्त्र और अति कष्ट-साध्य शैली में विनिर्मित प्रतीत होते हैं। ब्रूस फूट (Bruce Foote) महोदय के मत से न तो इन चित्रों को शिला पर काटकर बनाया न चोट देकर वरन् खरोंच-खरोंच कर इनकी रेखाओं को गहरा किया गया है। यह तथ्य बहुत ही मनोरंजक है। ध्यानपूर्वक परीक्षण करने पर भी काटने या तोड़ने का कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। घिस कर रेखाओं को पत्थर पर गहराते हुए रूप देना कितना दुष्कर एवं श्रम-जन्य कार्य है इसकी कल्पना करना भी कठिन है। फिर जिन उपकरणों का प्रयोग किया गया होगा उनकी उपलब्धि समीपवर्ती क्षेत्र के उत्खनन द्वारा होनी अब भी शेष है। दो एक पत्थर के औज़ार पी० फॉसेट (P. Fascett) तथा कॉलिन मैकेन्ज़ी (Colin Mackenzie) को प्राप्त भी हुए जिनमें से एक क्वार्ट्ज़ फ्लेक (Quartz Flake) है और दूसरा सुगठित ओपदार सेल्ट (Celt)। मृत्पात्र आदि और भी ऐसी सामग्री मिली है जिसे गुफावासी चित्रकारों से सम्बद्ध समझा जा सकता है। उसकी प्रामाणिकता पर जे० एलेन ब्राउन (J. Allen Brown) तथा ब्रूस फूट का अभिमत मान्य प्रतीत होता है। इडैक्कलमला गुफा के पश्चिमी भाग में पूर्व की ओर निर्देश करते हुए कुछ पत्थर की गोलाकृतियाँ उभरी हुई दिखायी देती हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि संभवतः इनमें गुफावासियों के अस्थि-पंजर समाधिलीन होंगे। समीपवर्ती निवासियों में कुरुम्बर लोग पनिया लोगों की अपेक्षा चित्रों से भयग्रस्त रहते हैं जिससे लगता है कि उन्हीं के पूर्वज इनके निर्माता होंगे। भय की भावना पूर्व-सम्बन्ध की द्योतक प्रतीत होती है।

पी० फॉसेट द्वारा प्रकाशित रूपों पर आधारित
दक्षिण भारत में स्थित
इडैक्कल गुफा के उत्कीर्ण-चित्रों की अनुकृतियाँ

प्रस्तुत चित्र में खंडित गोलाकृति जो सबसे ऊपर अंकित है, इडैक्कल की गुफा का रूप व्यक्त करती है। इसके टूटे हुए खंड की संधि की दीवारों में सारे रेखांकन लक्षित हैं। उसके नीचे विविध मुद्राओं में अंकित अनेक मानवाकृतियाँ हैं।
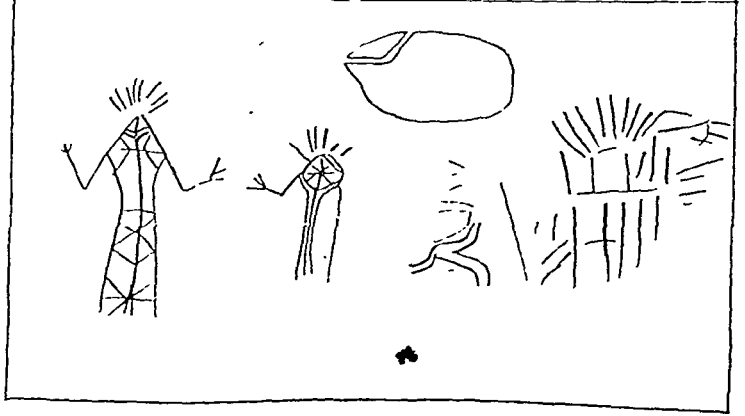
विविध रूप-योजना एवं सज्जा से युक्त मानवाकृतियाँ जो उपर्युक्त शिला-खंड में ही उत्कीर्ण है।
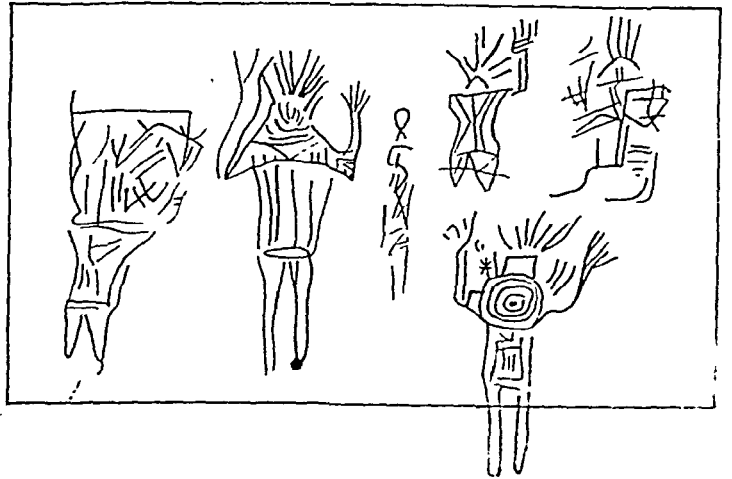
इडैक्कल गुफा में प्रस्तरांकित अनेक स्त्री-पुरुष आकृतियाँ।
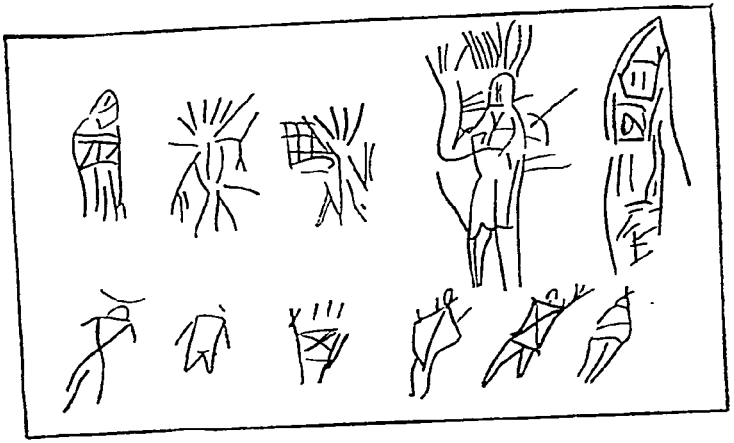
उसी गुफा में उत्कीर्ण नर्तन-रत सज्जा-युक्त अनेक स्त्री-पुरुष।
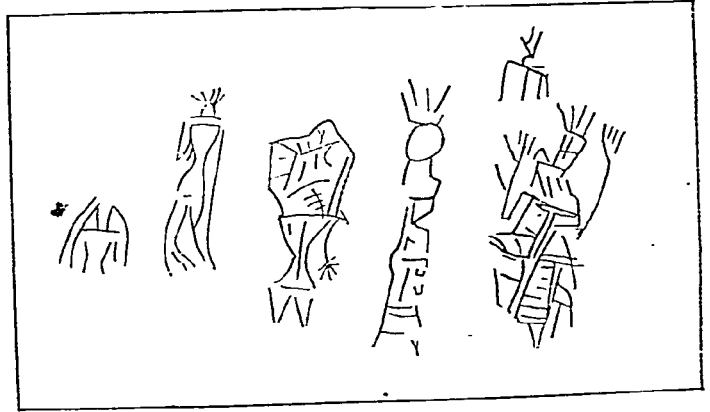
इडैक्कल की गुफा-भित्तियों पर पृथक्-पृथक् उत्कीर्ण पशु-चित्र, प्रतीक-चिह्न, तथा मानवाकृतियाँ।

संशोधन
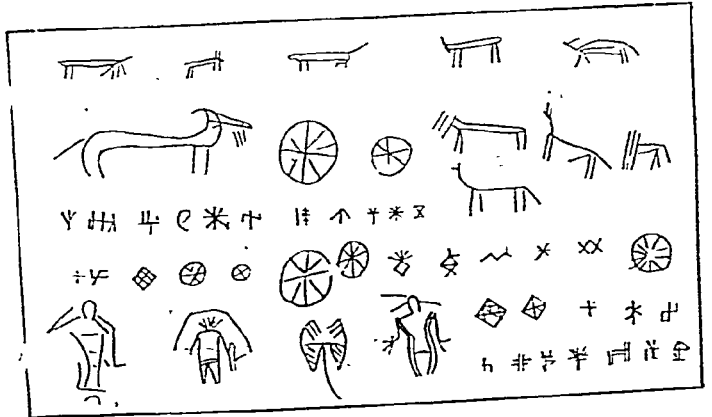
पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१२	पाद टिप्पणी-३	वहीं से ली गयी है जहां से पा० ४	
१९	नीचे से ७	सान्तान्देग्रर	सान्तान्देर
२०	" " ४	पेरोनी	पेर नों पेर
	" " ३	पाइरोनी	पेरोनी
	" " २	कार्तेलाक	कार्तेयाक
२२	ऊपर से २-३	ओवरमायर	ओवेमायर
२६	" " ८	दशा	दिशा
३०	" " १५	सरहत	सरहट
५५	" " ५	मोठी	मोड़ी
	पाद टिप्पणी-२	ब्रूस फूटे	ब्रूस फूट
५६	ऊपर से १३	कनवला	कँवला
७८	" " ४	में	ने
८६	नीचे से ८	सरहत	सरहट
१६७	" " १४	पंचममढी	पँचमढ़ी
१६९	ऊपर से ८	रामगढ़-क्षेत्र	रायगढ़-क्षेत्र
२२६	" " २	एण्डर्सन	ऐण्डर्सन
२३०	" " ८	छद्मुख	छद्ममुख
२६३	पाद टिप्पणी-२	ऑफ	टु
२७१	ऊपर से १०	चित्र सं० ३	चित्र सं० ३-४
२७४	" " ५	श्याममोहन पांडेय	श्यामकुमार पाँडे
२७७	" " १४	पँचमड़ी	पँचमढ़ी
३०१	" " ७	युद्ध-परशु	हस्त-परशु

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
४८४	नीचे से ७	प्रोगैतिहासिक	प्रागैतिहासिक
४६४	,, ,, ११	लिखिनिया	लिखनिया
	,, ,, १६	विधियाँ भी	विधियाँ ही
५१२	,, ,, १६	अलम्य	अलभ्य
५१५	पाद टिप्पणी-३	सी०	सो०
५१६	ऊपर से ७	अधिक	अधिक की
५२६	,, ,, ७	लद्यु	लघु
५३८	ऊपर से १	लिया	किया
५४३	,, ,, ३	कॉकर्न	कॉकवर्न
५४५	पाद टिप्पणी-२	Sahabaia	Sahabahia
	,, ,,	N. S.	R. S.
	,, ,, -३	excavation has	excavations have
५४६	पाद टिप्पणी-१	implements	Stone implements
	,, ,,	these	those
	,, ,,	occurance	occurrence
५५१	,, ,, ६	नि:शेष हो	नि:शेष
५५५	नीचे से ६	भूमाग	भूभाग
५५६	ऊपर से १	आस्तित्व	अस्तित्व
	,, ,, ३	उद्धत	उद्धृत
५५७	,, ,, २	पूर्वोक्ति	पूर्वोक्त
५६१	नीचे से ४	पार्शव	पार्श्व
५६२	,, ,, ६	साभ्य	साम्य
५६४	ऊपर से १३	यो	को
५७१	,, ,, ६	सीवा	सीमा
५८०	,, ,, १२	सकता	सकते

चित्र-मुद्रण की त्रुटियाँ

पृ० संख्या	फलक निर्देश	संशोधन
१३१	आ० दृ० XI	चि० सं० ४ उल्टा छप गया
१८६	प० प० III	फलक संख्या छपने से रह गयी
२१४	" " XXVIII	चित्र संख्या १ उल्टा छप गया

२६५ इस पृष्ठ पर ग़लत चित्र लग गया है। सही चित्र यहाँ नीचे दिया है।

३६७ गोलाकार चित्र का निचला भाग ऊपर होना चाहिए था।

अनुक्रमणिका* : व्यक्ति नाम

* कोष्ठकों में दी गई संख्याएँ भूमिका के पृष्ठों की द्योतक हैं।

अनुक्रमणिका* : भौगोलिक नाम

* कोष्ठकों में दी गई संख्याएँ भूमिका के पृष्ठों की द्योतक हैं।

सहायक सामग्री

हिन्दी पुस्तकें

१. जातक-कालीन भारतवर्ष : मोहनलाल महतो वियोगी
२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : पं० गोपीनाथ कविराज
३. पँचमढ़ी-दर्शन : दुर्गाप्रसाद जायसवाल
४. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ : श्रीराम गोयल
५. भारतीय चित्रकला : राय कृष्णदास
६. ,, ,, : वाचस्पति गैरोला
७. भारतीय प्रतीक-विद्या : डॉ० जनार्दन मिश्र
८. भारतीय वेश-भूषा : डॉ० मोतीचन्द्र
९. भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश : शिवशेखर मिश्र
१०. भाषा और समाज : डॉ० रामविलास शर्मा
११. मानव और संस्कृति : डॉ० श्यामाचरण दुबे
१२. राष्ट्रभाषा रजत-जयंती ग्रंथ : सं० डॉ० हरेकृष्ण महताब
१३. रूपदर्शिका : असितकुमार हालदार
१४. साहित्यिक पारिभाषिक शब्दावली : सं० प्रेमनारायण टंडन
१५. हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव : मन्मथ राय
१६. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : प्रथम भाग, खंड ४ (ना० प्र० सभा)
१७. हिन्दू-परिवार मीमांसा : हरिदत्त वेदालंकार

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

१८. धर्मयुग, १४ जून, १९५९
लेख, भारत की चित्रकला : वि० श्री० वाकणकर

१९. नवयुग, दीपावली विशेषांक, १९५८
लेख, आदिमानव की कला : श्री रविशंकर रावल

२०. भारती (भारतीय विद्या-भवन), अप्रैल, १९६१
लेख, आदिमानव की खोजें : डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

२१. भारती (सागर विश्वविद्यालय) वर्ष २, अंक २, १९६२
लेख, आबचंद के गह्वर-चित्र : प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

२२. मध्यप्रदेश संदेश, जून १९६२
लेख, नरयावली के गह्वर-चित्र : श्यामकुमार पाण्डे

२३. विश्ववाणी, संस्कृति विशेषांक सिरीज़, दिसम्बर, १९५१
लेख, प्रस्तर-युगीन आदिवासी कला : विश्वम्भरनाथ पांडेय

२४. सम्मेलन पत्रिका, कला विशेषांक, १९५८
लेख, भारत के कला-मंडप : न० चतुर्वेदी
विश्वकला की मंज़िलें : डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

२५. संस्कृति, पुरातत्व विशेषांक, जनवरी, १९६२

अंग्रेजी पुस्तकें

1. Aesthetic, (2nd Ed.1953), *by Benedetto Croce*
2. Aesthetics Today (1961) *Ed. Morris Philipson*
3. Archaeology And Society (4th Ed. 1960), *by Graham Clark*
4. Art And Scientific Thought, *by Martin Johnson*
5. Art And Society (1st Ed. 1937), *by Herbert Read*
6. The Arts Today, *Ed. Geoffrey Grigson*
7. Asura India (1926), *by Ananta Prasad Banerji Shastri*
8. Classification and Significance of the Symbols On the Silver Punch-marked Coins of Ancient India, Part I (1935), *by Durga Prasad*
9. The Creative Process (1955), *Ed. Brewster Ghiselin*
10. Dating the Past, *by F. E. Zeuner*
11. The Dawn of Civilization, *Ed. S. Piggot*
12. The Dawn of Man, *by Bernard E. Nurry*
13. The Development of Hindu Iconography, *by Jitendra Nath Banerji*
14. The Fear of the Dead in Primitive Religion, *by Sir J. G. Frazer*
15. Four Hundred Centuries of Cave Art, *by A. H. Breuil* (France, 1952)
16. The Grass Roots of Art, *by Herbert Read*
17. The Idea of Prehistory, *by Glyn Daniel*
18. India : Five Thousand years of Indian Art, *by H. Goetz*
19. India in Maps. 1950. Publications Division, Government of India
20. Indian Archaeology Since Independence, *by Dr. B. B. Lal*
21. Indian Archaeology To-day (Ist Ed. 1962), *by Dr.H. D. Sankalia*
22. Indian Cave Paintings, *by D. H. Gordon* (J. R. A. S. of Bengal, Vol. IX, 1943)
23. Indian Painting (1953), *by Percy Brown*

24. The Indo-Sumerian Seals Deciphered (3100-3200 B.C.—1st Ed. 1925), *by L.A. Waddell.*
25. The Lascaux Cave-Paintings, *by Fernand Windels*
26. Man Makes Himself (3rd Ed. 1956), *by V. Gordon Childe*
27. The Meaning of Art, *by Herbert Read*
28. Meeting Prehistoric Man, *by G. H. R. Von Koenigswald*
29. The Migration of Symbols, *by D. A. Mackenzie*
30. Modern Man in Search of a Soul (1961), *by C. G. Jung*
31. Mohenjo-Daro and the Indus Civilization, Vol. II & III, (1st Ed. 1931), *Ed. Sir John Marshall*
32. Myths and Symbols in Indian Art and Civilization (3rd Ed. 1953), *by Heinrieh Zimmer.*
33. Notes Towards the Definition of Culture, *by T. S. Eliot*
34. On the Track of Prehistoric Man, *by Herbert Kuhn Hutchinsen*
35. The Philosophy of History in our Time (1959), *Ed. Hans Meyerhoff*
36. The Old Stone Age : A study of Palaeolithic Times, *by M. C. Burkitt*
37. Our Heritage in Art (1st Ed. 1952), *by Asit Kumar Haldar*
38. Philosophy in a New Key, *by Susanne K. Langer*
39. Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, (1st Ed. 1962) *by Dr. H. D. Sankalia*
40. Prehistoric South India, (1st Ed. 1957), *by V. R. Ram Chandra Dikshitar*
41. Prehistoric Cave Paintings, (2nd Ed. 1946), *by Max Raphael*
42. Prehistoric Religion, (1st Ed. 1957), *by E. O. James*
43. A Few Prehistoric Relics and Rock-Paintings of Singanpur, (1st Ed. 1931), *by A. N. Dutta*
44. Prehistoric India, *by P. Mittra*
45. Prehistoric India, *by Stuart Piggott*
46. Prehistoric Background of Indian Culture, (1958), *by D. H. Gordon*
47. Prehistoric Painting, (1st Ed. 1948), *by Alan Houghton Brodrick*
48. Primitive Art, (3rd Ed. 1954), *by Leonhard Adam*
49. Primitive Art, (2nd Ed. 1955), *by Franz Boas*
50. Religion of Babylonia and Assyria, Vol. II, *Ed. Morris Jastrow*
51. Rigvedic Culture of the Prehistoric India, Vol. I (2nd Ed. 1946), *by Swami Shankarananda*
52. The Rock Art of South Africa, (1st Ed. 1964), *by A. R. Willcox*
53. Rock-Paintings of Southern Andalusia, *by H. Breuil & M. C. Burktt*
54. The Script of Harappa and Mohenjodaro, (1st Ed. 1934), *by G. R. Hunter*
55. The Stone Age in India, (1st Ed. 1926), *by P. T. Srinivasan Ayyengar*
56. Stone Age Cultures of Mirzapur (Unpublished Thesis), *by Dr. Radha Kant Vern*

गजेटियर

57. Imperial Gazeteer of India, Vol. II, New Edition, 1909
58. Mirzapur, A Gazeteer, 1911. District Gazeteer of the U. P. of Agra and Oudh. Vol. XXVII, *by D. L. Drake, Brockman*

जर्नल और उनमें प्रकाशित महत्वपूर्ण लेख

59. Journal of Asiatic Society of Bengal, Vol. LII, Part II, Natural Science No. 1, 1883
On the recent existence of Rhinoceros Indicus......animal, *by J. Cockburn*
60. Journal of Benaras Hindu University, Vol. IX, 1944
On a Figure of Giraffe in the Palaeolithic Rock-Paintings of Hoshangabad. *by Manohar Lal Misra*
61. Journal of Royal Asiatic Society. 1899
Cave Drawings in the Kaimur Range, North-West Provinces, *by J. Cockburn*
62 Journal of Asiatic Society of Bengal, New series, Vol. VIII, 1907
Rock Drawings in Banda District, *by C. A. Silberrad*
63. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal, Vol. IV, 1918
Singanpur Rock Paintings, *by C. W. Anderson*
64. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal, Vol. VII (Letters), 1941
Rock Engravings of Middle Indus, *by D. H. Gordon*
65. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal, Vol, IX, 1943
Indian Cave Paintings, *by D. H. Gordon*
66. Nagpur University Journal
(*i*) Interim Report on the Excavations in the Mahadeo Hills, No. 1, 1935
(*ii*) Final Report on the Excavation in the Mahadeo Hills, No. 2, 1936, *by G. R. Hunter*
67. Proceedings of Asiatic Society of Bengal 1884, Abstract of two articles, *by J. Cockburn*
1. On the recent extinction of a Species of Rhinoceros in Rajmahal Hills and Bos Gaurus in the Mirzapur District.
2. On the durability of haematite drawings of Sandstone Rocks.

बुलेटिन, मुख-पत्र एवं अन्य नियतकालीन प्रकाशन

68. Ancient India (Bulletin of Archaeological Survey of India), No. 3, Jan. 1947
No. 9, Special Jubilee Number, 1953
69. Cultural Forum, Dec. 1961
Hundred years of Indian Archaeology

70. **Indian Antiquary,** Vol. XXX, 1901
Notes on Rock Carvings in the Edakal Cave, Wynaad. *by F. Fawcett*

71. **Indian Archaeology—A Review,** *Ed. A. Ghosh* (from 1956 to 1961)
Various Excavation Reports and New Sites etc.

72. **Indian Art and Letters,** Vol. V, No. 6, 7, 10, 11 & Vol. X; 1936
Articles *by D. H. Gordon*

73. **The Leader,**
Glimpses of Tribal Art, *by Dr. T. B. Naik,* Jan. 23, 1959
Early Man in Narmada Valley, Jan. 1961
New Sites of Archaeological Signifiicance, Aug. 7, 1962

74. **Link,** Feb. 3, 1963
Prehistoric Cave Paintings

75. **Rhythm,** Vol. XII, No. 2, 1964
Sahara Rock Art Enigmas, *by V. Mirimonov*
Painter's Visit to the Painted Rock Shelters of Mirzapur, Vol. XIV, No. 1, 1966, *by Dr. Jagdish Gupta*

76. **Science and Culture,** Vol. V
I · The Date of the Singanpur Rock Paintings, No. 3, 1939, *by Lt-Col. D. H. Gordon*
II The Rock Paintings of Kabra Pahar, Raigarh State, No. 5, 1939, *by Lt-Col. D. H. Gordon*
III The Artistic Sequence of the Rock Painting of the Mahadeo Hills, No. 6, 1939, Same article continued in No. 7, 1940, *by M. E. and D. H. Gordon*
IV Warfare in Indian Cave Art, No. 10, 1940, *by Lt-Col. D. H. Gordon*
V Animals and Demons in Indian Cave Art, No. 11, 1940, *by M. E. and D. H. Gordon*

77. **Span,** September 1965, Vol. VI, No. 9
Stone Age Paintings in India, *by Vishnu S. Wakankar and Robert R. R. Brooks*

78. **The Times Literary Supplement,** June 25, 1964

मेम्वायर्स तथा प्रतिमुद्रित अंग्रेजी और फ्रेंच लेख

79. **Memoirs of the Archaeological Survey of India,** No. 24, 1932
—Rock-Paintings and Other Antiquities of Prehistoric and Later Times, *by Rai Saheb Manoranjan Ghosh*

80. **Painted Rock Shelters of India.** *by Vishnu S. Wakankar*
In 'RIVISTRA DI SCIENZE PREISTORICHE', Vol., XVII, Fasc., 1–4, 1962

81. PEINTURES RUPESTRES INDIENNES *par V. S. Wakankar*
Extrait de la revue 'OBJECTS et MONDES', Tome III, Fasc 2, ETE, 1963

82. Protohistoric Remains, *by Dr. Y. D. Sharma*
Reprinted from :—Archaeological Remains Monuments and Museums (New Delhi, 1964)

कोश-ग्रंथ

83. English Sanskrit Dictionary—*V. S. Apte*
84. Pears Cyclopaedia—*Ed. Powell Rees*
85. Sanskrit English Dictionary—*Monier Williams*
86. Vedic Index to Names and Subjects, *by Macdonell and Keith*